प्रकाशक
ग्रन्थमाला-कार्यालय
बाँकीपुर



मुद्रक
हिन्दुस्तानी प्रेस
पटना

आत्म-निवेदन

परिवर्द्धनशील हिन्दी-साहित्य में इतना उपकरण प्रस्तुत हो गया है कि उसका शास्त्र नया कलेवर धारण कर सकता है। किन्तु किसी भी अवस्था में प्राचीनों की अक्षय्य सम्पत्ति से मुख मोड़ना श्रेयस्कर नहीं है। डाक्टर सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त अपने 'काव्य-विचार' की प्रस्तावना में लिखते हैं कि "भरत से लेकर विश्वनाथ या जगन्नाथ पर्यन्त हमारे देश के अलंकार-ग्रन्थों में साहित्य-विषयक जैसी आलोचना दीख पड़ती है वैसी ही आलोचना दूसरी किसी भाषा में आज तक हुई है, यह मुझे ज्ञात नहीं"।

हमारे हिन्दी-साहित्य पर प्राचीन संस्कृत का परंपरागत प्रभाव तो प्रत्यक्ष है ही, साथ ही आधुनिक शिक्षा-दीक्षा के कारण उसपर पाश्चात्य साहित्य का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका है। अतः प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र की विवेचना को सम्मिलित रूप से अपनाकर, दोनों दृष्टिकोणों से देखकर ही कविता का स्वाद लेना होगा, सौन्दर्य का साक्षात्कार करके उसके आनन्द का उपभोग करना होगा। साहित्य को सम्यक् रूप से हृदयंगम करने के लिये वर्तमान हिन्दी-साहित्य की सूक्ष्म समीक्षा करके नये काव्यशास्त्र या अलंकारशास्त्र (Poetics) का निर्माण होना चाहिये; तुलनात्मक दृष्टि से काव्यशास्त्र का नया प्रतिसंस्कार होना आवश्यक है।

इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रख करके पाँच खण्डों में "काव्यालोक" का प्रकाशन आरंभ किया गया था। उनमें से अर्थ-विचार का एक खण्ड (द्वितीय उद्योत) प्रकाशित हो चुका है। प्रथम उद्योत छप रहा है। अन्य उद्योत भी प्रायः प्रस्तुत हैं पर कई कारणों से इनके छपने में विलंब प्रतीत होता है। इधर रोगाक्रान्त शरीर जजर हो गया है। आँखों की ज्योति भी बिदा माँगने लगी है। अतः मन में विचार आया कि 'काव्यप्रकाश' 'साहित्य-दर्पण' जैसा पाँचों उद्योतों का सारांश लेकर एक ग्रन्थ प्रस्तुत किया जाय, जिसमें काव्यशास्त्र की सारी बातें नवीन विचारों और नवीन उदाहरणों के साथ आ जाँय। उसी विचार का परिणाम यह 'काव्यदर्पण' है।

काव्यालोक (द्वितीय उद्योत) की समीक्षा में समीक्षक मित्रों ने कई प्रकार की बातें कहीं थीं जिनका सार मर्म यह है—'इसमें पंडिताऊपन अधिक है'। 'इलियट आदि की पुस्तकें देखने पर इस पुस्तक का दूसरा ही रूप होता'।

'नवीन विचारों के प्रति ग्रन्थकार अनुदार है' इत्यादि। भाव यह कि या तो मैं 'अंग्रेजीपन' अधिक लाता या 'मूर्खतापन' अधिक दिखलाता। दूसरा, तीसरा, आदि इसके अनेक रूप हो सकते थे, पर जिस रूप में मैं लिखना चाहता था उसको बदलना अभीष्ट न था। इसी प्रकार किसी ने कुछ कहा और किसी ने कुछ। मैं इन मित्रों का इसलिये आभारी हूँ कि उनकी निर्दिष्ट पुस्तकों में से जिन पुस्तकों को नहीं पढ़ा था उन्हें पढ़ा, उनसे कुछ लाभ भी अवश्य हुआ। पर वे भी मेरी गति को मोड़ न सकीं; उनसे यथेष्ट तात्त्विक लाभ न हुआ। इसी प्रकार किसी-किसी ने उसकी प्रशंसा के पुल बाँध दिये और किसी-किसी ने निन्दा की नदी बहा दी। इन मित्रों ने भी एक प्रकार से मेरा उपकार ही किया है।

इस पुस्तक को प्रस्तुत करने में पाश्चात्य समीक्षा से भी लाभ उठाया है फिर भी संस्कृत के आचार्यों के आकर ग्रन्थों को ही मूलाधार रक्खा है। क्योंकि पाश्चात्य विचार या सिद्धान्त चक्कर काटकर इन्हीं सिद्धान्तों पर आ जाते हैं। 'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' के अनुरूप ही तो रस्किन की यह व्याख्या है—'कविता कल्पना के द्वारा रुचिर मनोवेगों के लिये रमणीय क्षेत्र प्रस्तुत करती है'। भूमिका तथा मूल पुस्तक में ऐसे अनेक उद्धरण उपलब्ध होंगे जो हमारे कथन की पुष्टि करेंगे।

पुस्तक की भूमिका को तुलनात्मक दृष्टि से तौलने के लिये ही तूल दिया गया है। उसमें जो सामग्री एकत्र की गयी है वह इस दृष्टिकोण से मनन करने के योग्य है। आप उसमें उन तत्त्वों को पावेंगे जिनकी आलोचना का प्रारंभ अभी-अभी पाश्चात्य साहित्य में हुआ है। आठ-नौ सौ वर्ष पहले अभिनवगुप्त अपनी आलोचना में जो बातें लिख गये हैं वे आधुनिक युग की पाश्चात्य आलोचना में पायी जाती हैं। शुक्लजी तो रिचार्डस् की आलोचना में भारतीय विचार-धारा को ही बहती हुई पाते हैं। कुन्तक की बातों को ही आज 'वाल्टर पेटर' कह रहे हैं। हम भारतीयों के लिये यह गौरव की बात है। भले ही अपने को भूले हुए नवीन भावुक इस भारतीय भावना को भी भूल बैठे हों। प्रगतिवादी समीक्षकों को इसकी समीक्षा वा परीक्षा करनी चाहिये।

भूमिका के वर्ण्य विषयों को संक्षिप्त करने की कामना रखने पर भी कुछ विषयों ने लेख का रूप धारण कर लिया है। यह आवश्यक इसलिये समझा गया कि जिज्ञासुओं को उस विषय का विशेष रूप से कुछ ज्ञान हो जाय। इस प्रकार की वृद्धि से यह भूमिका भी छोटी-सी पुस्तक हो गयी है।

भूमिका में उन्हीं विषयों के कुछ शीर्षक पाठक पावेंगे जिनका वर्णन मूल

पुस्तक में है। पर वे शीर्षक-मात्र ही एक हैं। उनके अन्तर्गत आलोचना के रूप में नवीन विचारों का समावेश किया गया है। मूल पुस्तक में इनके लिये यथेष्ट अवसर नहीं था; यद्यपि सर्वत्र इसका निर्वाह नहीं हो सका है। क्योंकि स्थान-स्थान पर समीक्षा की भी चाशनी चखने को मिलेगी। आप चाहें तो इनको भी मूल पुस्तक का पूरक अंश ही समझ लें।

मूल पुस्तक में वे ही विषय आये हैं जिनका विस्तृत वर्णन 'काव्यालोक' के अनेक खंडों में होगा। प्रकाशित द्वितीय खंड के विषय संक्षेपतः जैसे इसमें आ गये हैं वैसे ही अप्रकाशित खंडों के भी विषय आये हैं। किन्तु 'काव्यालोक' में इनके क्या रूप होंगे, अभी नहीं कहा जा सकता। 'दर्पण' की छायाओं में रस के अनेक विषयों के लेने का लोभ संवरण न कर सका। इससे पुस्तक का कलेवर बढ़ गया और इसका परिणाम यह हुआ कि अलंकार के विषयों और उनके उदाहरणों को कम कर देना पड़ा। 'साधारणीकरण' और 'लौकिक रस और अलौकिक रस' ये लेख के रूप में विस्तृत रूप से प्रकाशित हुए थे। उन्हें ज्यों का त्यों ले लिया गया है। यद्यपि पहला छ छायाओं में बाँट दिया गया है तथापि वे पुस्तक की अन्य छायाओं के अनुरूप नहीं हुए हैं।

काव्यदर्पण में साहित्यशास्त्र के सभी विषयों का यथायोग्य प्रतिपादन किया गया है। प्राचीन विषयों के अतिरिक्त नये विषय भी इसमें आये हैं। वे आधुनिक कहे जा सकते हैं। प्राचीन काव्यशास्त्र में विशेषतः इनका उल्लेख नहीं पाया जाता। कितने प्राचीन विषयों को नया रूप दिया गया है या उनका नये दृष्टिकोण से स्पष्टीकरण किया गया है। प्राचीन विषयों का नया प्रतिपादन मतभेद का कारण हो सकता है।

आलंबन विभाव में नायिका और नायक के अनेक भेदों का प्रदर्शन छोड़ दिया गया है। किन्तु नवीन काव्यों में इनका अभाव नहीं है। कुछ ऐसे सोदाहरण भेद यथास्थान आ गये हैं। आधुनिक उदाहरणों के साथ इस विषय पर एक अन्य पुस्तक के संकलन का विचार है। रस-प्रकाश में ३२ संख्या तक विषय-निर्द्धारण है और ३३ से ५० संख्या तक रसविवेचन है। इससे इनको दो प्रकाशों में विभक्त करना चाहता था पर शीघ्रता में ऐसा न हो सका, ध्यान बँट गया। काव्यगत रससामग्री और रसिकगत रससामग्री का पृथक्करण कुछ नया-सा प्रतीत होगा! आशा है, रस के विस्तृत विवेचन से साहित्य-रस-रसिक तथा साहित्य-शिक्षार्थी अधिक लाभ उठावेंगे।

अलंकारों के लक्षण-निर्माण और उदाहरण-समन्वय बड़ा ही विषम और जटिल व्यापार है। कुछ अलंकार ऐसे हैं जिनका स्वरूप-भेद इतना

सूक्ष्म है कि बुद्धि काम नहीं करती। अनेक उदाहरण ऐसे हैं जिनके पढ़ते ही ऐसा ध्यान में आता है कि यह तो अमुक अलंकार का भी उदाहरण हो सकता है। जिन अलंकारों के मँजे हुए उदाहरण परंपरा से एक ग्रंथ से दूसरे ग्रन्थ में उद्धृत होते चले आते हैं उनके लिये तो एक बचाव है पर आधुनिक उदाहरणों के लिये यह भी संभव नहीं। इस दशा में हम अपने निर्वाचित नवीन उदाहरणों की यथार्थता के संबन्ध में साधिकार कुछ कह भी कैसे सकते हैं। फिर भी उनकी परख में कम माथापच्ची नहीं की गयी है। अलंकारों का सूक्ष्म विवेचन, उनकी विशेषता, एक का दूसरे में अन्तर्भाव आदि अनेक विषय 'काव्यालोक' के लिये छोड़ दिये गये हैं।

पुस्तक के प्रतिपाद्य विषयों के सभी लक्षण सरल गद्य में लिखे गये हैं। उदाहृत कठिन पद्यों का स्पष्ट अर्थ दे दिया गया है। फिर उन पद्यों का लक्षण-समन्वय भी गद्य में ही किया गया है। इस व्याख्यात्मक समन्वय ने लक्षणोदाहरणों को सुबोध तो बना ही दिया है, अन्यान्य उदाहरणों को हृदयंगम करने का पथ भी प्रशस्त कर दिया है। अतः प्रतिपादित विषय जिज्ञासुओं की जिज्ञासा को परितुष्ट करने में समर्थ होंगे, ऐसी आशा की जा सकती है।

इसमें 'प्रश्न' जैसे नूतन अलंकार का, 'अपह्नुति' के 'विशेषापह्नुति' जैसे नये भेद का तथा भूमिका के 'पर्यायोक्त' अलंकार के विवेचन जैसे विवेचन का निदर्शन करा दिया गया है।

इस पुस्तक में आये हुए प्रायः सभी उदाहरण प्रसिद्ध नवीन कवियों के नवीन काव्यों से चुने गये हैं। फिर भी मैं प्राचीनों की सरल-सरस कविताओं को यत्र-तत्र उद्धृत करने का लोभ संवरण न कर सका। नाम-मात्र के ही इसमें ऐसे उदाहरण आये हैं जो अन्यत्र कहीं उदाहृत हैं। सर्वत्र लेखकों या ग्रन्थों के नाम दे दिये गये हैं। बिना नाम के उदाहरण मेरे न समझे जाँय, इसलिये अपनी तुकबंदियों के साथ 'राम' लगा दिया है। उदाहरणों के अभाव में 'अनुवाद' के नाम से संस्कृत के कुछ अनूदित उदाहरण भी आ गये हैं। दोष-प्रकरण के उदाहरणों में कवियों का नाम-निर्देश जान-बूझकर ही छोड़ दिया गया है।

हम हिन्दी के आचार्य या आचार्यायमाण ग्रन्थकारों के ग्रन्थों के खण्डन-मण्डन या गुणदोष-विवेचन के विशेष पक्षपाती नही हैं। क्योंकि उन्होंने जहाँ तक समझा, लिखा। वे उसके लिये प्रशंसार्ह हैं। इनकी विशेष समालोचनात्मक चर्चा करके मैं अपने ग्रन्थ का महत्त्व बढ़ाना नहीं चाहता

और न यही चाहता कि इस ग्रन्थ के विशिष्ट विषयों का निर्देश करके इसकी विशेषता बतायी जाय। इसकी उपयोगिता का अनुभव साहित्य-रस-रसिक करेंगे, मेरे कहने से नहीं, अपने मन से—

नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते।

एक-दो स्थलों पर एक-दो साहित्यिक विद्वानों के विचारों की जो विवेचना अनिच्छित रूप से हो गयी है उसका यह उद्देश्य कदापि नहीं कि उनके दोष दिखलाये जाँय और उनका परित्याग कर दिया जाय। नहीं, ऐसा कदापि नहीं है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि सज्जनों के मतों के दोष दिखलाकर उन्हें छोड़ न देना चाहिये, बल्कि उनको सुधारकर ग्रहण कर लेना चाहिये। पहले जिसकी स्थापना हो चुकी है, आगे उसमे नयी योजना करने से मूल की स्थापना का ही फल उपलब्ध होता है।

तस्मात् सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति॥

सामान्यतः मूल पुस्तक मे, विशेषतः भूमिका में जो उद्धरण हैं उनका अनुवाद वा सारांश मूल ग्रन्थ और मूल भूमिका मे दे दिया गया है। उद्धरण पादटिप्पणी में हैं या जो नहीं हैं उनका स्थान-निर्देश कर दिया गया है। इससे पाठक उद्धरण की उपेक्षा करके भी मूल ग्रन्थ से लाभान्वित हो सकते हैं। भूमिका मे उद्धरणों की अधिकता का कारण मेरा तुलनात्मक दृष्टिकोण ही है। मैने इनसे सिद्ध कर दिया है कि हमारे आचार्यों की काव्य-तत्त्व-मीमांसा, विश्लेषण-वैभव तथा अन्तर्दृष्टि की गंभीरता नवीन आलोचकों की अपेक्षा किसी विषय में किसी प्रकार न्यून नहीं है। पाश्चात्य समालोचक वा टीकाकार उस तत्त्व को अभी पहुँच रहे हैं जहाँ हमारे आचार्य बहुत पहले पहुँच चुके थे। अवान्तर बातों में युगानुसार भले ही ये पाश्चात्य समीक्षक आगे बढ़े हुए हों।

इन उद्धरणों का संग्रह अंग्रेजी, बँगला, मराठी तथा हिन्दी की पुस्तकों तथा सामयिक पत्र-पत्रिकाओं को पढ़कर किया गया है। इन सबों में अधिकता समालोचनात्मक पुस्तकों की है। इनका यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है। अपने संग्रह से भी अनेक उद्धरण लिये गये हैं। अनेक उद्धरणों में पुस्तकों तथा पत्रिकाओं के नाम न रहने से अथवा लिखने के समय भूल जाने से नाम न दिये जा सके।

मैं इन सब ग्रन्थों, ग्रन्थकारों तथा पत्र-पत्रिकाओं का ऋणी हूँ, विशेषतः मराठी 'रसविमर्श' का, जिससे मूल 'रस-प्रकाश' के लिखने में तथा बँगला 'काव्यालोक' का, जिससे विस्तृत भूमिका के लिखने में यथेष्ट प्रेरणा मिली है और जिनसे अनेक उद्धरण प्राप्त हुए हैं।

मैंने अभिन्नहृदय मित्र आचार्य श्री केशवप्रसाद मिश्र के पुस्तकालय से तथा अनेक विषयों पर उनसे वाद-विवाद करने से यथेष्ट लाभ उठाया है। कविवर आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री ने छपे फार्मों को पढ़ देने की कृपा की है जिससे पुस्तक के गुण-दोष तथा मुद्रणाशुद्धि का दिग्दर्शन हो गया है। एतदर्थ इन मित्रों का अन्तःकरण से आभारी हूँ। ग्रन्थमाला के व्यवस्थापक श्री अयोध्याप्रसाद झा ने अधिकांश फार्मों के अन्तिम प्रूफ पढ़े हैं जिससे छापे की अशुद्धियाँ कम रह गयी हैं। हमारे प्रीतिभाजन साहित्यिक श्री शुकदेव दुबे 'साहित्यरत्न' और श्री जयनारायण पाण्डेय ने पुस्तक के दो—ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों की अनुक्रमणिकायें प्रस्तुत करके बड़ी सहायता की है। मैं इन उपकारी मित्रों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इस बार भूमिका की अनुक्रमणिकायें न दी जा सकीं। पृथक् पुस्तकाकार निकालने के कारण कुछ उद्धरणों की पुनरावृत्ति हो गयी है।

मैं जानता हूँ कि शीघ्रता से पुस्तक प्रस्तुत करने तथा छपाने में अनेक त्रुटियाँ रह गयी हैं। मेरे जैसे जल्दबाज, अस्थिर तथा असावधान एकाकी के कार्य में त्रुटियों का होना स्वाभाविक है। मैं इस विषय में विज्ञ साहित्यिकों के परामर्श का कृतज्ञता-ज्ञापन-पूर्वक स्वागत करूँगा, जिससे संस्करणान्तर में इसके सारे दोष दूर हो जाँय।

मैं अपनी भूल-भ्रान्ति को जानते हुए और यह भी जानते हुए कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' बरसों रात-दिन स्वास्थ्य खोकर जो श्रम किया है, विश्वास है, सहृदय विद्वान् उसका आदर करेंगे। यदि यह कहने का मुझे अधिकार न हो, लेकिन प्राचीन सूक्ति के रूप में इतना निवेदन करने का तो मुझे अवश्य अधिकार है कि विद्वद्वृन्द कृपा करके वा साहित्यिक के नाते मेरे इस निबंध की परीक्षा करें।

अभ्यर्थके मय्यनुकम्पया वा साहित्यसर्वस्वसमीहया वा।
मदीयमार्या मनसा निबन्धममुं परीक्षध्वममत्सरेण॥

विनीतवशंवद

रामदहिन मिश्र

काव्यशास्त्र की भूमिका

१ उपक्रम

संसार-विषवृक्षस्य द्वे एव मधुरे फले।
काव्यामृतरसास्वादः सङ्गमः सज्जनैः सह ॥

इस संसार-रूपी विष-वृक्ष के दो ही मीठे फल हैं—एक तो काव्यामृत का रसास्वाद और दूसरा सज्जनों का सहवास।

संसार के मधुर फल का—काव्यरूपी अमृत के रस का आस्वाद लेनेवाले—काव्यानन्द के उपभोक्ता—सहृदय होते हैं। सहृदय को ही आप चाहे भावुक कहें, चाहे विदग्ध, चाहे सचेतस। सहृदय काव्य में तन्मयीभवन की योग्यता रखनेवाले होते हैं।

आनन्दवर्द्धनाचार्य ने सहृदयत्व की व्याख्या के अवसर पर स्वयं यह प्रश्न किया है कि "सहृदयता क्या काव्यगत रस-भाव आदि की ओर लक्ष्य न रखकर काव्य के आश्रित अर्थात् रचनागत समय-विशेष की अभिज्ञता है या रस-भावादिमय काव्य का जो मुख्य स्वरूप है उसके जानने की विशेष निपुणता[1]।" इसका उत्तर उन्होंने दूसरे पक्ष में ही दिया है। अर्थात् रस-भाव के ज्ञान में निपुण होना ही सहृदयता है। इससे स्पष्ट है कि रचना की अपेक्षा काव्य में रस-भाव की प्रधानता है। अतः निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि काव्यानन्द के लिये रस-भाव का ज्ञान होना आवश्यक है और वह काव्यशास्त्र से ही संभव है।

आचार्य दण्डी कहते हैं कि "जो शास्त्र नहीं जानता अर्थात् काव्य-गत मर्म के बोधक ग्रन्थों का अनुशीलन नहीं करता वह भला कैसे गुण-दोष को बिलगा सकता है? अन्धा यदि समझदार हो तो भी रूप-भेद को नहीं बतला सकता, सुन्दर-असुन्दर के निर्देश में कभी समर्थ नहीं हो सकता। अतः जिज्ञासुओं की व्युत्पत्ति के लिये, उनके ज्ञानसंचय के लिये विविध प्रकार की

---

१ किं रसभावानपेक्षकाव्यश्रितसमयविशेषाभिज्ञत्वम्, उत रसभावादिमय-काव्यस्वरूपपरिज्ञाननैपुण्यम्। ध्वन्यालोक

वचन-रचना के नियामक इस शास्त्र का निर्माण किया गया।"[१]

प्लेटो भी कहता है कि "काव्यानन्द के अधिकारी वे ही हैं जो संस्कृति और शिक्षा में महान् हैं।"[२]

मंखक कहते हैं कि "परिचित मार्ग से चलने में भी जो वाणी अशिक्षित है वह टेढ़ी-मेढ़ी राह से कैसे चल सकती है।"[३] अर्थात् जो अशिक्षित हैं वे साधारण रूप से भी काव्यरचना करने में भटक जा सकते हैं। ध्वनि-व्यंग्य-मूलक काव्य में तो पग-पग पर ठोकर खा सकते हैं।

कवि को ही नहीं पाठक और श्रोता को भी काव्यशास्त्र का ज्ञाता होना चाहिये। "साहित्य-विद्या के श्रम से वर्जित व्यक्ति कवि के गुण को ग्रहण ही नहीं कर सकते।"[४] यहाँ साहित्यविद्या काव्यशास्त्र का ही बोधक है। ऐसे तो तुकबंदियों और ग्राम-भावों के वक्ता और श्रोता का तो कहीं अभाव ही नहीं है।

२ एक आक्षेप

एक कवि का कहना है—

यहाँ पर मैं अपने ही विचार प्रकट कर रहा हूँ, इसलिए कहना अप्रासङ्गिक न होगा कि थोड़ी छन्दोरचना मेरे हाथों भी हो गई है। तुलसी दास की तरह खुल कर नहीं, वरन संकोच के साथ ही मुझे यहाँ कहना पड़ रहा है कि छन्दः शास्त्र के किसी ग्रन्थ का अध्ययन मुझ से अब तक नहीं बन पड़ा। रस और अलङ्कार जैसे कठिन विषय की जानकारी तो हो ही कैसे सकती थी जब विहारी सतसई जैसे सरस काव्य के सम्पूर्ण आस्वादन से भी अबतक वञ्चित रहना पड़ा है।[५]

हम जानते हैं कि कवि अभिमानी नहीं है पर उसको ऐसा

---

१ गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते नरः।
किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु॥
अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसंधाय सूरय.।
वाचा विचित्रमार्गाणां निवबन्धुः क्रियाविधिम्॥ दशरूपक

2 One man pre-eminent in virtue and education.

३ अशिक्षिता या प्रकृतेऽपि मार्गे वागीहते वक्रपथप्रवृत्तिम्।
पदे-पदे पंगुरिवाप्नुयात् किमन्यद्विना सा स्खलितोपघातात्॥

श्रीकण्ठचरित

४ कुण्ठत्वमायाति गुणः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु। विक्रमांकदेवचरित

५ सरस्वती अप्रैल १९४३

अभिमान होना स्वाभाविक है। प्रतिभाशाली के लिये यह सहज है। हम इसको मानते हैं। हमारे आचार्य भी कहते आये हैं। हेमचन्द्र ने स्पष्ट लिखा है कि "काव्यरचना का कारण केवल प्रतिभा ही है। व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके संस्कारक हैं, काव्य के कारण नहीं।"[1] तथापि यह साहित्यशास्त्र पर एक प्रकार का आक्षेप है, उसकी अनावश्यकता सिद्ध करने की चेष्टा है।

इसपर हमारा कहना यह है कि शक्तिशाली कवि के लिये भी किसी-न-किसी रूप में शास्त्रीय ज्ञान सहायक होता है और वे उसके प्रभाव से शून्य नहीं कहे जा सकते। हम पूछते हैं कि उपर्युक्त भाव प्रकट करनेवाला कवि या कोई कवि दावे के साथ कभी यह नहीं कह सकता है कि मैंने कविता लिखने के पूर्व दो-चार काव्यों को पढ़ा नहीं, सुना नहीं। पढ़ने-लिखने की बात को वे अस्वीकार नहीं कर सकते। यदि ऐसी बात है तो वे यह कैसे कह सकते कि मैंने यह न पढ़ा और वह न पढ़ा। लक्ष्य-ग्रन्थों को पढ़ना प्रकारान्तर से लक्षण-ग्रन्थों का ही पढ़ना है। लक्षण-ग्रन्थ तो लक्ष्य-ग्रन्थों पर ही निर्भर करते हैं। क्योंकि लक्ष्य-ग्रन्थों में वे ही बातें पायी जाती हैं जिनपर लक्षण-ग्रन्थों में विचार किया जाता है। दूसरी बात यह भी है कि उस वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है जिसमें बराबर काव्यचर्चा होती रहती है। एक प्रकार से इस चर्चा में शास्त्रीय विषयों की भी अवतारणा हो जाती है। लक्षण-ग्रन्थ तो साहित्य-शिक्षा का ककहरा है जिसके अध्ययन से उसमें सहज प्रवेश हो जाता है और लक्ष्य-ग्रन्थों के सहारे लक्षण-ग्रन्थ का ज्ञान प्राचीन लिपियों के उद्धार जैसा कठिन नहीं होता। लक्षण-ग्रन्थ—साहित्यशास्त्र का अध्ययन काव्यबोध का मार्ग प्रशस्त कर देता है। कुछ प्रतिभाशाली कवियों के कारण काव्यशास्त्र के अध्ययन की अनावश्यकता सिद्ध नहीं हो सकती।

२ दूसरा आक्षेप

एक प्रगतिवादी साहित्यिक लिखते हैं—

रस-सिद्धान्त आदि के विषय में अवश्य मेरा मतभेद है। क्योंकि नवीन मनोवैज्ञानिक संशोधन ने प्राचीन रस-सिद्धान्त में आमूल अन्तर (?) कर

---

1 प्रतिभैव च कवीनां काव्यकारणकारणम्। व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ नतु काव्यहेतू। **काव्यानुशासन**

वचन-रचना के नियामक इस शास्त्र का निर्माण किया गया।"[१]

प्लेटो भी कहता है कि "काव्यानन्द के अधिकारी वे ही हैं जो संस्कृति और शिक्षा में महान् हैं।"[२]

मंखक कहते हैं कि "परिचित मार्ग से चलने में भी जो वाणी अशिक्षित है वह टेढ़ी-मेढ़ी राह से कैसे चल सकती है।"[३] अर्थात् जो अशिक्षित हैं वे साधारण रूप से भी काव्यरचना करने में भटक जा सकते हैं। ध्वनि-व्यंग्य-मूलक काव्य में तो पग-पग पर ठोकर खा सकते हैं।

कवि को ही नहीं पाठक और श्रोता को भी काव्यशास्त्र का ज्ञाता होना चाहिये। "साहित्य-विद्या के श्रम से वर्जित व्यक्ति कवि के गुण को ग्रहण ही नहीं कर सकते।"[४] यहाँ साहित्यविद्या काव्यशास्त्र का ही बोधक है। ऐसे तो तुकबंदियों और ग्राम-भावों के वक्ता और श्रोता का तो कहीं अभाव ही नहीं है।

२ एक आक्षेप

एक कवि का कहना है—

यहाँ पर मैं अपने ही विचार प्रकट कर रहा हूँ, इसलिए कहना अप्रासङ्गिक न होगा कि थोड़ी छन्दोरचना मेरे हाथों भी हो गई है। तुलसी दास की तरह खुल कर नहीं, वरन संकोच के साथ ही मुझे यहाँ कहना पड़ रहा है कि छन्दः शास्त्र के किसी ग्रन्थ का अध्ययन मुझ से अब तक नहीं बन पड़ा। रस और अलङ्कार जैसे कठिन विषय की जानकारी तो हो ही कैसे सकती थी जब विहारी सतसई जैसे सरस काव्य के सम्पूर्ण आस्वादन से भी अबतक वञ्चित रहना पड़ा है।[५]

हम जानते हैं कि कवि अभिमानी नहीं है पर उसको ऐसा

---

१ गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते नरः।
किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु ॥
अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसंधाय सूरयः।
वाचा विचित्रमार्गाणा निववन्धुः क्रियाविधिम् ॥ दशरूपक

2 One man pre-eminent in virtue and education.

३ अशिक्षिता या प्रकृतेऽपि मार्गे वागीहते वक्रपथप्रवृत्तिम्।
पदे-पदे पंगुरिवाप्नुयात् किमन्यद्विना सा स्खलितोपघातात् ॥
श्रीकण्ठचरित

४ कुण्ठत्वमायाति गुणः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु। विक्रमांकदेवचरित

५ सरस्वती अप्रैल १९४३

अभिमान होना स्वाभाविक है। प्रतिभाशाली के लिये यह सहज है। हम इसको मानते हैं। हमारे आचाय भी कहते आये हैं। हेमचन्द्र ने स्पष्ट लिखा है कि "काव्यरचना का कारण केवल प्रतिभा ही है। व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके संस्कारक हैं, काव्य के कारण नहीं।"[1] तथापि यह साहित्यशास्त्र पर एक प्रकार का आक्षेप है, उसकी अनावश्यकता सिद्ध करने की चेष्टा है।

इसपर हमारा कहना यह है कि शक्तिशाली कवि के लिये भी किसी-न-किसी रूप में शास्त्रीय ज्ञान सहायक होता है और वे उसके प्रभाव से शून्य नहीं कहे जा सकते। हम पूछते हैं कि उपयुक्त भाव प्रकट करनेवाला कवि या कोई कवि दावे के साथ कभी यह नहीं कह सकता है कि मैंने कविता लिखने के पूर्व दो-चार काव्यों को पढ़ा नहीं, सुना नहीं। पढ़ने-लिखने की बात को वे अस्वीकार नहीं कर सकते। यदि ऐसी बात है तो वे यह कैसे कह सकते कि मैंने यह न पढ़ा और वह न पढ़ा। लक्ष्य-ग्रन्थों को पढ़ना प्रकारान्तर से लक्षण-ग्रन्थों का ही पढ़ना है। लक्षण-ग्रन्थ तो लक्ष्य-ग्रन्थों पर ही निर्भर करते हैं। क्योंकि लक्ष्य-ग्रन्थों में वे ही बातें पायी जाती हैं जिनपर लक्षण-ग्रन्थों में विचार किया जाता है। दूसरी बात यह भी है कि उस वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है जिसमें बराबर काव्यचर्चा होती रहती है। एक प्रकार से इस चर्चा में शास्त्रीय विषयों की भी अवतारणा हो जाती है। लक्षण-ग्रन्थ तो साहित्य-शिक्षा का ककहरा है जिसके अध्ययन से इसमें सहज प्रवेश हो जाता है और लक्ष्य-ग्रन्थों के सहारे लक्षण-ग्रन्थ का ज्ञान प्राचीन लिपियों के उद्धार जैसा कठिन नहीं होता। लक्षण-ग्रन्थ—साहित्यशास्त्र का अध्ययन काव्यबोध का मार्ग प्रशस्त कर देता है। कुछ प्रतिभाशाली कवियों के कारण काव्यशास्त्र के अध्ययन की अनावश्यकता सिद्ध नहीं हो सकती।

२ दूसरा आक्षेप

एक प्रगतिवादी साहित्यिक लिखते हैं—

रस-सिद्धान्त आदि के विषय में अवश्य मेरा मतभेद है। क्योंकि नवीन मनोवैज्ञानिक संशोधन ने प्राचीन रस-सिद्धान्त में आमूल अन्तर (?) कर

---

1. प्रतिभैव च कवीनां काव्यकारणकारणम्। व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ नतु काव्यहेतू। काव्यानुशासन

दिये हैं। (उदाहरणार्थ फ्रायड वात्सल्य को भी रति भाव मानता है ; या जुगुप्सा या घृणा भी एक प्रकार की रतिभावना ही है।) अतः चूँकि रस-सिद्धान्त कोई अटल वस्तु नहीं हैं ; छंद, अलंकार, भाषा आदि वाह्य रूपों के समान इनकी भी नये सिरे से व्याख्या होनी चाहिये।[1]

यह केवल अंग्रेजी साहित्य पर निर्भर रहने का ही परिणाम है। रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान ने जो नया दृष्टिकोण उपस्थित कर दिया है वह क्या है, इसका पूर्ण प्रतिपादन हो जाना चाहिये था। रससिद्धान्त में एक यह नयी बात जुड़ जाती या उसका रूप ही वदल जाता। उदाहरण की बात से तो यह मालूम होता है कि उससे कोई रससिद्धान्त नहीं बनता। आमूल अन्तर की वात तो कोई अर्थ ही नहीं रखती। यह तो लेखिनी के साथ बलात्कार है।

फ्रायड की यह कोई नयी बात नहीं है। वाटसन Behaviorism नामक ग्रन्थ में यह वात लिख चुका है जिसका सारांश यह है कि "यौन-रति, पुत्रादिविषयक रति (वात्सल्य) आदि सहजातीय सारी चित्तवृत्तियाँ एक ही श्रेणी की हैं।"[2]

'वात्सल्य' तो रति है ही, पर समालोचक के कहने का अभिप्राय यह मालूम होता है कि वात्सल्य में जो रति है वह कामवासनामूलक ही है। चाहे वह सहेतुक हो वा अहेतुक। इसकी पूर्ति स्पर्श, आलिंगन, चुम्बन आदि से की जाती है। यही फ्रायड का सिद्धान्त है। वह तो यह भी कहता है कि "वालक के स्तन चूसने और नग्न वक्षस्थल पर उन्मुक्त भाव से पड़े रहने पर एक परम अज्ञात और अप्रकट काम-वासना-धारा दोनों ही प्राणियों, माता और सन्तान, के बीच प्रवाहित होती रहती है।"

हम इस सिद्धान्त को नहीं मानते। हमारे सम्बन्ध में, संभव है, यह कहा जाय कि हम अपनी संस्कृति, सभ्यता तथा शिक्षा-दीक्षा के

---

१ 'साहित्यसंदेश' अगस्त १९४६

2. Love responses include "those popularly called 'affectionate' 'good natured' 'kindly'......as well as responses, we see in adults between sexes. They all have common origin". [आग्डेन के 'A B C of Psychology का उद्धरण।]

कारण ऐसा कहते हैं, सो ठीक नहीं। मैग्डुगल आदि अनेक मनोवैज्ञानिक फ्रायड के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं। इनकी बात अलग छोड़िये। फ्रायड के पट्ट शिष्य 'युंग' का इस विषय में बराबर मतभेद बना रहा और कभी उसमें अंतर नहीं आया।

फ्रायड का यह भी कहना है कि रति वा प्रेम एक ही शब्द है जो दोनों के लिये प्रयुक्त होता है। किन्तु हमारे यहाँ इसके अनेक प्रकार हैं; इसकी भिन्न-भिन्न व्याख्यायें हैं। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि यह एक ही शब्द है और सर्वत्र एक ही भाव का द्योतक है।

यदि रति कान्ताविषयक होती है तो विभाव आदि से परिपुष्ट होकर शृङ्गार रस में परिणत होती है और यही रति मुनि, गुरु, नृप, पुत्र आदि में होती है तब उसे भाव की संज्ञा दी जाती है। सोमेश्वर का कहना है कि "स्नेह, भक्ति, वात्सल्य रति के ही विशेष हैं।"[1] समान में जो रति होती है उसका नाम है स्नेह; उत्तम, श्रेष्ठ तथा मान्य व्यक्तियों में जो रति होती है उसे भक्ति और माता, पिता आदि की सन्तान में जो रति होती है उसे वात्सल्य कहते हैं।

रूप गोस्वामी ने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में मुख्य भक्ति रस के जो पाँच विभाग किये हैं उनमें वात्सल्य का पृथक् रूप से उल्लेख है। वे हैं—शान्त, प्रीत (दास्य) प्रेयः (सख्य) वात्सल्य और मधुर वा उज्ज्वल (शृङ्गार)।

वेन ने भी अपने Rhetoric नामक ग्रन्थ में शृङ्गार रति से वात्सल्य रति को एकदम भिन्न माना है। उसने लेखन-कला के उपकारक जिन भावनाओं का उल्लेख किया है उनमें प्रेम (Love of sexes) और वात्सल्य (Parental feeling) का पृथक् पृथक् रूप से उल्लेख किया है और इनके उदाहरण भी दिये हैं। यहाँ रति पर कुछ विचार कर लिया जाय।

व्यास देव ने रति की उत्पत्ति अभिमान से मानी[2] है। यह सांख्यशास्त्र के अनुकूल है। यह मनोविज्ञान-सम्मत भी है। क्योंकि आत्मप्रवृत्ति (Ego-instinct) एक प्रधान प्रवृत्ति है और उसका आविष्कार व्यापक रूप से होता है। सभी विकारों का संबंध

---

१ स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति रतेरेव विशेषः।

२ अभिमानाद्रतिः सा च······। अग्निपुराण

अभिमान से है और रति अहंकार का उत्कट प्रकार है। भोज ने भी कहा है कि "अहंकार ही शृङ्गार है, वही अभिमान है, वही रस है और उसीसे रति आदि उत्पन्न होते हैं[1]।" अहंकार सांसारिक पदार्थों से सम्बन्ध रखता है और वे पदार्थ रति, शोक आदि भावों की उत्पत्ति के कारण हैं।

शृङ्गारिक रति की परिभाषा ही भिन्न है। वह वात्सल्य में संघटित नहीं हो सकती। "अनुरागी युवक-युवतियों की एक दूसरे के अनुभव-योग्य जो सुखसंवेदनात्मक अनुभूति है वही रति है[2]।" "मनोऽनुकूल विषयों में सुख-संवेदनात्मक इच्छा को भी रति कहते हैं[3]।" इस रति का आप जहाँ चाहें प्रयोग कर सकते हैं। शृङ्गार में भी कर सकते हैं और अन्यान्य विषयों में भी। जुगुप्सा या घृणा स्थायी भाव वाला वीभत्स रस भी काव्य में मनोऽनुकूल होने के कारण रति में आ ही जाता है। अनेक ऐसे कारण हैं जिनसे वात्सल्य में कामवासना वा शृङ्गारिक रति भावना की बात उठ ही नहीं सकती। गर्भाधान से ही माता के मन में वात्सल्य का प्रादुर्भाव हो जाता है। गर्भस्थ शिशु की गति से माता के मन और शरीर में वात्सल्य जाग उठता है। माता गर्भस्थ शिशु की चिन्ता से सदा चिन्तित रहती है। वह ऐसा कोई काम नहीं करती कि गर्भस्थ शिशु को कुछ भी क्षति पहुँचे। माता उसके लालन-पालन के विचार से पुलकित हो उठती है। संतान की भावी रूपरेखा की कल्पना से उसके आनन्द का पारावार नहीं रहता। अपनी गोद में शिशु की क्रीड़ा का विचार मन में आते ही उसका हृदय नाच उठता है। क्या इस वात्सल्य में उक्त कुत्सित प्रेरणा का कहीं भी स्थान है?

कृष्ण मथुरा चले गये हैं। वहाँ सब प्रकार का सुख है। किसी चीज की कमी नहीं। फिर भी यशोदा को चिन्ता है—

> प्रात समय उठि माखन रोटी को बिनु माँगे दैहैं।
> को मेरे बालक कुँअर कान्ह को छिन-छिन आगो लैहैं।

---

१ तच्च आत्मनोऽहंकारगुणविशेषं ब्रूमः। स शृङ्गार. सोऽभिमानः स रसः। तत एव रत्यादयो जायन्ते। शृंगारप्रकाश

२ परस्परस्वसंवेद्य-सुखसंवेदनात्मिका।
याऽनुभूतिर्मिथः सैव रतिर्यूनोः सरागयोः। भावप्रकाशन

३ मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनात्मिका। इच्छा रतिः······। भा० प्र०

यह तो वात्सल्य का ही प्रभाव है। यशोदा के हृदय में पैठकर देखिये। वहाँ वात्सल्य ही उफना पड़ता है। दूसरा कुछ नहीं है।

माता-पिता का वात्सल्य स्नेह का सार, चेतना की मूर्ति तथा सुधारससेक-सा होता है। अतः फ्रायड की रति वात्सल्य में नहीं मानी जा सकती।

४ तीसरा आक्षेप

एक प्रगतिवादी सुप्रसिद्ध साहित्य-समालोचक लिखते हैं—

साहित्य विकासमान है और वह एक महान सामाजिक क्रिया है। इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि प्राचीन आचार्यों ने भविष्य देखकर जो सिद्धान्त बताये थे। आज वे नये साहित्य पर पूरी-पूरी तरह लागू नहीं हो सकते। उन्हें लागू करने से या तो पैमाना फट जायगा या अपने ही पैर तराशने होंगे।[1]

साहित्य के विकासमान होने और महान् सामाजिक क्रिया होने में किसी का कुछ विरोध नहीं। पर सबूत की बात मान्य नहीं है। पहले साहित्य है, पीछे शास्त्र। पहले लक्ष्य-ग्रन्थ हैं तो पीछे लक्षण-ग्रन्थ। इसका पक्का और अखण्डनीय प्रमाण यही है कि उदाहरण उन्हीं आदर्श लक्ष्य-ग्रन्थों से लिये जाते हैं, उनके भेद किये जाते हैं और उनके गुण-दोषों की विवेचना की जाती है। आचार्य भविष्य-द्रष्टा नहीं होते। जो उनके सामने होता है उसीसे अपनी बुद्धि लड़ाते हैं और शास्त्र का रूप देते हैं। इस दृष्टि से साहित्य दर्शन वा विज्ञान नहीं है। यह बात लोकोक्ति के रूप में मानी जाने लगी है कि 'कलाकार समालोचकों के जन्मदाता होते हैं।' इससे प्राचीन आचार्यों को भविष्यवादी कहना बुद्धिमानी नहीं है। अभी पुराने सिद्धान्त पूरे-पूरे लागू हो सकते हैं। पैमाना फटने की तो कोई बात ही नहीं। पैर नहीं, बुद्धि की तराश-खराश होनी चाहिये जरूर।

वे ही आगे लिखते हैं—

काव्य के नौ रसों से नये साहित्य की परख नहीं हो सकती। परखने की कोशिश की जायगी तो उसका जो नतीजा होगा वह नीचे के वाक्यों से देख लीजिये—

(१) यदि किसी उपन्यास में किसी कुप्रथा की बुराई है तो वह वीभत्स-प्रधान माना जायगा।

---

१ 'हंस' सितंबर १९४६

(२) जो बुराई शोषक के कारण शोषित में आती है वह करुणा का ही विषय होती है।

(३) आजकल के उपन्यासों में यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है कि उनमें कौन-सा रस प्रधान है, किन्तु रस की दृष्टि से उनका विश्लेषण किया जा सकता है।

(४) (सेवासदन में) हिन्दू-समाज में वेश्याओं के प्रति आदर-भावना है, वह वीभत्स का उदाहरण है।

(५) गबन का मूल उद्देश्य है—स्त्रियों का आभूषण-प्रेम तथा पुरुषों के वैभव-प्रदर्शन का दुष्परिणाम और पत्नी का पातिव्रत-प्रेरित नैतिक साहस और सुधार भावना का उद्घाटन करना। रस की दृष्टि से हम इसको शृंगाराभास से सच्चे शृंगार की ओर अग्रसर होना कहेंगे।

(६) कुछ उक्तियाँ राजनीति से सम्बन्धित होने के कारण वीररस की कही जायँगी।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि नये साहित्य पर पुराने सिद्धान्त लागू करने में काफी कठिनाई होती है और इस कठिनाई का सामना करने पर भी साहित्य के समझने में कितनी मदद मिलती है, यह एक सन्देह की ही बात रह जाती है। जीवन की धारायें एक दूसरे से ऐसी मिली-जुली हैं कि नौ रसों की मेड़ बाँधकर उन्हें अपने मन के मुताबिक नहीं बहाया जा सकता। प्रेमचन्द के साहित्य ने यह सिद्ध कर दिया है कि इस नये साहित्य को परखने के लिये युग के अनुकूल नये सिद्धान्त ढूँढ़ने होंगे।[1]

विवेचक विद्वान् ने संस्कृत-साहित्य के मनोयोग-पूर्वक अध्ययन-मनन से काम नहीं लिया। नहीं तो वे कुछ दूसरे ढंग से इन बातों को लिखते। इनके सम्बन्ध में हमारा निम्नलिखित विचार है—

काव्य के नौ रसों से नये साहित्य के परखने की बात कोई भावुक साहित्यिक कैसे कह सकता है। काव्यदर्पण में ही नौ के स्थान में ग्यारह रसों की संख्या दी गयी है। इनके अतिरिक्त बीसों रसों के नाम आये हैं। अनेक आचार्यों ने संचारी भावों को भी रस-श्रेणी में लाने की चेष्टा की है। आप भी अन्य रसों की कल्पना करके नये साहित्य में आये हुए भावों को अपनी भावुकता से विभाव आदि द्वारा रसावस्था तक पहुँचावें। आपकी कलम कौन पकड़ता है! यह तो साहित्यशास्त्र की मर्यादा की बात होगी।

---

1 'हंस' सितंबर १९४६

(१) किसी कुप्रथा की बुराई के होने से ही कोई उपन्यास वीभत्स-प्रधान नहीं हो सकता। उपन्यास भर में कुप्रथा की बुराई हो तो भी वह वीभत्स-प्रधान नहीं हो सकता। किसी प्रकार की कुप्रथा की बुराई का वर्णन वीभत्स के लक्षण में नहीं आता। ऐसा उपन्यास उपदेशात्मक की श्रेणी में आवेगा और इसका शिव पक्ष प्रबल माना जायगा। इस उपन्यास का रस वही होगा जैसा कि उसके वर्णन से पाठकों के मन पर प्रभाव पड़ेगा। मान लीजिये कि अबला पर अत्याचार की प्रबलता होने से क्रोध उपजेगा, समाज में विधवा की दीनता दिखलाने पर करुणा उत्पन्न होगी। यह जान रक्खें कि घृणा की व्यञ्जना से ही वीभत्स रस होता है।

(२) शोषक के कारण शोषित में जो बुराई आती है वह करुणा का विषय नहीं। वह बुराई प्रतिकार की भावना में फूट पड़ती है जो क्रोध का विषय है। गाँधीजी के शुद्ध, शान्त, सात्विक सत्याग्रह में भी क्रोध की ही भावना काम करती है। गाँधीजी भले ही इसके अपवाद माने जायँ। जहाँ शोषक के प्रति शोषित की जो विवशता, असमर्थता और कादरता होगी, वहीं करुणा को स्थान मिल सकता है। केवल बुराइ की भावना करुणा का ही विषय नहीं हो सकती।

(३) रस की दृष्टि से विश्लेषण की बात मानी गयी है। साधुवाद। रामायण और महाभारत जैसे महाग्रन्थों के मुख्य रस अविदित नहीं रहे तो कीट-पतंगों जैसे स्थायी क्षुद्र ग्रन्थों के मुख्य रसों का पता लगना कोई कठिन बात नहीं है। इसके लिये काव्य-शास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। पाश्चात्य आलोचना का अनुशीलन प्राच्य रसतत्त्व के समझने में कभी सहायक नहीं होगा।

(४) हिन्दू-समाज में वेश्याओं के प्रति आदर-प्रदर्शन से वीभत्स रस नहीं हो सकता। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि सेवासदन में वीभत्स रस है।। 'मृच्छकटिक' नाटक में 'वसन्तसेना' वेश्या है और उसके चरित्र का चारु चित्रण है। इससे क्या वह नाटक वीभत्स रस का है ? आश्चर्य ! महान् आश्चर्य !! पात्र के उच्च-नीच होने से कोई काव्य या नाटक या उपन्यास दूषित नहीं होता। उसका चित्रण ही उसे उच्च-नीच बनाता है। कोई साहित्यिक शरच्चन्द्र के 'चरित्रहीन' की नायिका के आचरण से उसे कुत्सित उपन्यास कह सकता है ?

(५) आपके मस्तिष्क में पाश्चात्य विचार उछल-कूद मचा रहे हैं और हाथ में कलम है, जो चाहे कह डालें और लिख डालें, पर हम कहेंगे कि आपने जो शृङ्गार-रसाभास की ओर से सच्चे शृङ्गार की ओर अग्रसर होना लिखा है वह ठीक नहीं है। क्या शृङ्गार है और क्या उसका रसाभास है, इसका यथेष्ट वर्णन 'काव्यदर्पण' में है। पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं। आभूषण का प्रेम आदि रसाभास में नहीं जाते। भूषणार्थ मान-मनौअल होने से तो शृङ्गार रस ही है। झूठा आडम्बर, कृत्रिम प्रदर्शन तो हास्य-रस में भी जा सकता है। पैनी दृष्टि होने से ही रस की परख हो सकती है। जैसे-तैसे जो कुछ लिख देना रस-विवेचन नहीं कहा जा सकता।

(६) राजनीति से सम्बन्धित होने के कारण कुछ उक्तियाँ वीर रस की समझी जाँय, यह कहना तो नितान्त असंगत है। इससे रस की छीछालेदर होती है; उसकी अप्रतिष्ठा होती है। राजनीतिक उक्तियाँ विचार की दृष्टि से भली-बुरी कही जा सकती हैं। वहाँ रस का क्या काम? हाँ, राजनीतिक विचारों को कविता की भाषा में कहा जाय तो उसमें रस आ सकता है पर उसी दशा में जब कि विचार से भाव दब न जाय। 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है', इस उक्ति में भावना है। पर रस नहीं। ऐसी उक्तियों में भी यह विचार करना होगा कि रस के साधक साधन पूर्णतः प्रतिपादित हैं या नहीं। केवल राजनीति का सम्बन्ध वीर रस का साधक नहीं; वे उक्तियाँ कैसी हू क्यों न हों।

जब समालोचना के नये-नये सिद्धान्त साहित्य के समझने में वैसे सहायक नहीं होते तो रस-सिद्धान्त ने क्या अपराध किया है जिसकी हजारों बरसों से परीक्षा हो चुकी है। साहित्यिकों से यह अविदित नहीं कि अनुकरण-वाद से लेकर आज तक कितने पाश्चात्य सिद्धान्त—इज्म उत्पन्न हुए; फूलने-फलने की बात कौन कहे, विकसे तक नहीं और बरसाती कीड़ों की भाँति क्षणजीवी हो गये। यदि एक ही सिद्धान्त से परख होती तो समालोचना के इतने भेद नहीं होते, होते ही नहीं, होते जा रहे हैं। क्या इनमें से कोई रस-सिद्धान्त की समकक्षता कर सकता है। पाश्चात्यों ने भी इसका लोहा मान लिया है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् सिल्वाँ लेवी कहते हैं—

"कला के क्षेत्र में भारतीय प्रतिभा ने संसार को एक नूतन और श्रेष्ठ

दान दिया है जिसे प्रतीक रूप से 'रस' शब्द द्वारा प्रकट कर सकते हैं और जिसे एक वाक्य में इस प्रकार कह सकते हैं कि कवि प्रकट (express) नहीं करता, व्यञ्जित वा ध्वनित (suggest) करता है।[1]

नौ रसों की मेंड़ बाँधने को कोई नहीं कहता। नौ रसों की महिमा तो इसलिये है कि इनके भाव सहजात हैं; इनमें व्यापकता है; स्थायित्व है और ये सर्वजनोपभोग्य हैं। कुछ आचार्यों ने जैसे एक एक रस को प्रधानता दी है वैसे कुछ आचार्यों ने इनका विस्तार भी किया है। भरत के आठ रसों में अपनी प्रभुता से 'शान्त' ने भी अपना स्थान बना लिया। अब दस-ग्यारह की प्रधानता मानी जाने लगी है। समय पर और भी आगे आवेंगे। युग के अनुकूल प्रगतिवादी कुछ नये सिद्धान्त ढूँढ़ निकालें तो गौरव की बात होगी। पर यह सहज साधना से संभव नहीं। शुक्लजी जैसे साधक समालोचक भी इस विषय में असमर्थ ही रहे।

नौ रसों से नये साहित्य की परख होती है और होती आ रही है। रस और भाव मनोवृत्ति-मूलक हैं। मनोवृत्तियों या मनोवेगों की कोई सीमा निर्द्धारित नहीं हो सकती। फिर भी उनके निरीक्षण और परीक्षण का ही परिणाम रस-भाव का संख्या-निरूपण है। ये भाव स्थायी और संचारी में बँटे हुए हैं। रसावस्था को प्राप्त करने-वाले भाव नौ ही क्यों, और भी हो सकते हैं पर मुख्यता इनकी ही मानी गयी है। संचारियों की भी अनन्तता है पर तेंतीस संचारी प्रधान माने गये हैं। इससे अधिक संचारियों की भी कल्पना की गयी है। दया, श्रद्धा, सन्तोष, स्वाधीनता, विद्रोह, त्याग, अभिमान, सेवा, सहिष्णुता, लोभ, निन्दा, समता, कोमलता, दुष्टता, जिघांसा, संतोष, प्रवंचना, दंभ, तृष्णा, कौतुक, प्रीति, द्वेष, ममता आदि। आज एक नया भाव भी उत्पन्न हुआ है जिसे स्पष्ट रूप से नाम दिया गया है—'हिन्दू-मुस्लिम फीलिंग'। तेंतिस तो इनकी न्यून संख्या है। अन्य भावों की कल्पना आचार्यों के मन में थी और वे समझते थे कि इनमें ही अन्यों का अन्तर्भाव हो जा सकता है।[2]

---

१ 'विशाल भारत' जनवरी १९३८ पृ० ९०

२ अन्येऽपि यदि भावाः स्युः चित्तवृत्तिविशेषतः।
अन्तर्भावस्तु सर्वेषां द्रष्टव्यो व्यभिचारिषु। भावप्रकाशन

मनोभावों को मेंड वाँधकर बहाने की तो कोई बात ही नहीं और न कोई ऐसा करने का आग्रह ही कर सकता है। रामायण और महाभारत में तथा प्राचीन काव्यों और नाटकों में भावों की जो विविध व्यंजना है वह आधुनिक साहित्य में दुर्लभ है। तथापि जीवन की जटिलताओं और अभिव्यक्ति की कुशल कलाओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि स्थायी और संचारी की सीमित क्षेत्र से बाहर भी इनका संश्लेषण-विश्लेषण होना चाहिये। साहित्य भावों के उत्थान-पतन का ही तो खेल है; प्रतिभा-प्रसूत भावों का ही तो विलास है। इस दृष्टि से भी साहित्य को सदा समझने की चेष्टा होती रही है और उसकी सहृदयाह्लादकता कूती गयी है। हमें यह कहने में हिचक नहीं कि नाना भङ्गियों से काव्य-साहित्य का जो विश्लेषण किया गया है उसमें रस-सिद्धान्त की महत्ता मानी गयी है। काव्य के पढ़ने-परखने, सोचने-समझने और संश्लेषण-विश्लेषण के अनेक मार्ग हो सकते हैं; अनेक दृष्टि-भंगियाँ काम कर सकती हैं; अनेकों सिद्धान्त बन सकते हैं और बने हैं। यदि ऐसी बात न होती तो शेक्सपीयर पर सैकड़ों पुस्तकें नहीं लिखी जातीं। समालोचना-साहित्य की इतनी भरमार नहीं होती। प्रसादजी और गुप्तजी पर नयी पुस्तकों का निकलना भी यही सिद्ध करता है। यदि सिद्धान्तों की विभिन्नता नहीं होती तो आज काव्य-लक्षणों की विभिन्नता अपनी सीमा को पार न कर जाती; जितने मुँह उतने काव्यलक्षण न होते। हम तो कहेंगे कि रस-सिद्धान्त ऐसा चक्रव्यूह है जिससे बाहर होना बड़ा कठिन है। रसात्मकता या रागात्मकता ही एक ऐसी वस्तु है जो काव्य-साहित्य को इस नाम का अधिकारी बनाती है।

चौथा आक्षेप

एक दूसरे प्रगतिशील साहित्यिक के कुछ विचार ये हैं—

साहित्य-शास्त्रियों का कथन है कि कविता के तीन आवश्यक तत्त्व हैं—(१) संगीत, (२) रस और (३) अलंकार।

उनका यह शास्त्रीय मत है कि इन तत्त्वों से रहित रचना कविता नहीं हो सकती।......संगीत कविता का तत्त्व नहीं है।......आज रसोद्धार का कोई नाम तक नहीं लेता।......रसपरिपाटी जीवित कविता की गति में बाधक होती है ? वह अवरोध है और एकमात्र राजाश्रित

कवियों की बनायी हुई है। वह आदि कवि के काव्य में नहीं मिलती ! नहीं बाद को मिलती। यदि रस काव्य की आत्मा होता तो वह सबकी कविता में मिलता। तथापि रस भी कविता का आवश्यक तत्त्व नहीं है...... वह (अलंकार) काव्य का आवश्यक तत्त्व नहीं है......कविता कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो शाश्वत है और अपरिवर्तनशील है। वह मनुष्य के साथ स्वयं निरन्तर विकसित हो रही है।......यदि आज की प्रगतिशील शक्तियों की अवहेलना करके कविता पुनः अपने अतीत के तत्त्वों का प्रदर्शन करती है तो वह कविता मृत कविता होगी।.......इसलिये मजदूर-किसान के जीवन की समस्यायें उनके भाव और विचार, उनके संघर्ष के तरीके, उनका समस्त आन्दोलन और उनकी समस्त प्रतिक्रियायें कविता के आवश्यक तत्त्व हैं। ......अब कविता जन-साधारण की वस्तु है और जन-साधारण के तत्व ही उनके आवश्यक तत्व है।[1]

इन पंक्तियों से हमारी असहमति इस कारण से है कि ये विचार की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं और इनका लेखक प्रगतिवाद का अन्ध पक्षपाती है। अन्य कारण ये हैं—

प्राच्य आचार्यों ने संगीत को काव्य का तत्त्व नहीं माना है। छन्द और गुण के ही धर्म हैं जिनसे कविता संगीतात्मक होती है। पाश्चात्य आचार्य और समालोचक भले ही इसे काव्यतत्त्व मानते हों। वे सभी काव्यतत्त्व की दृष्टि से इसे मानते हों सो बात नहीं। कितने श्रुति-सुखदायक होने के कारण ही संगीतात्मकता को मानते हैं, काव्य-तत्त्व की दृष्टि से नहीं। 'रस' काव्य का एक आवश्यक तत्त्व है जो सर्वसम्मत है। पर समालोचक महाशय इसे नहीं मानते। अलंकार एक तत्त्व माना गया है पर आवश्यक रूप से नहीं। मम्मट का लक्षण यही बतलाता है।[2] वामन ने अलंकार को काव्य का तत्त्व माना है पर उन्होंने अलंकार को सौन्दर्य कहा है।[3] इस प्रकार संगीत और अलंकार आवश्यक तत्त्व नहीं हैं। रस काव्य का तत्त्व है। सरस कविता की मर्यादा ही सर्वोपरि है।

इन तत्त्वों से रहित कविता भी कविता हो सकती है। आचार्यों ने ऐसा कहीं नहीं कहा है कि इनसे रहित रचना कविता नहीं हो

१ पारिजात दिसम्बर १९४६।   २ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

३ सौन्दर्यमलंकारः। काव्यालंकार

सकती। जहाँ किसी काव्यांक की प्रधानता हो, जहाँ स्वाभाविक उक्तियाँ हों, वहाँ भी कविता मानी जाती है। ऐसी रचनायें भी कविता की श्रेणी में आती हैं जिनमें सूक्तियाँ होती हैं।

आपने रस को काव्य का तत्त्व न मानने के कारणों का जो निर्देश किया है वह उपहासास्पद है। रस न तो डूबा है, न लुप्त है और न कहीं गड़ा है कि उसका उद्धार किया जाय और कोई उसके लिये चेष्टा करे। रसपरिपाटी यदि जीवित कविता का बाधक होती तो आज भी इतनी रसवती रचनायें नहीं होतीं। कट्टर प्रगतिवादी भी ऐसी रचना करते हैं। रस ही रचना को यथार्थ कविता बनाता है। क्योंकि आनन्द-दान ही उसका प्रधान उद्देश्य है। भावहीन रचना भावुकों को क्या, साधारण पाठकों को भी नहीं रमा सकती। शुष्क विवरण कविता कहलाने का हकदार नहीं है। हृदयाकर्षण की शक्ति जिस रचना में नहीं वह रचना यदि कविता है तो सच्ची कविता झख मारने के सिवा और क्या कर सकती है! रस-परिपाटी राजाश्रित कवियों की बनाई हुई नहीं। वह दो हजार बरस से ऊपर की है—भरत के पहले से चली आती है। आदि कवि वाल्मीकि के आदि काव्य रामायण मे जिसको रस प्रतीत नहीं होता उसे क्या कहा जाय, समझ में नहीं आता। उसने बड़ी धृष्टता से उपर्युक्त ये वाक्य कह डाले हैं—'वह आदि कवि के काव्य में नही मिलती और नहीं बाद को मिलती'। रघुवंश, शकुन्तला, उत्तररामचरित आदि तो चूल्हे-भाँड़ में गये, जो रामायण रसों की खान है उसमें भी रस नहीं है। रस-परिपाटी को समालोचक ने समझ क्या रक्खा है—नायिका-भेद या अलंकार। ये रस-परिपाटी या रस-परम्परा या रससिद्धान्त या रसवाद के नाम से अभिहित नहीं होते।

रस ही काव्य की आत्मा है। इसमें मीन-मेष नहीं। जो रसात्मक काव्य हैं वे उत्तमोतम काव्य हैं। जिनमें वाच्य की वा अलंकार की प्रधानता है वे द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के काव्य समझे जाते हैं। क्योंकि सहृदयों के आनन्द-दान की विशेषता तथा न्यूनता ही इसका मूल है। काव्य में व्यञ्जना की प्रधानता को आधुनिक आचार्य भी मानते हैं। व्यञ्जनाओं में रसव्यञ्जना ही प्रधान है और वह ध्वनि-काव्य होता है। अलंकार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि रस की अपेक्षा निम्न-श्रेणी के व्यङ्ग-काव्य हैं।'

कविता शाश्वत उस अंश तक है जहाँ तक उसका सत्य से

सम्बन्ध है। सत्य अशाश्वत नहीं होता। सत्य का प्रतिपादन कविता का एक महान् उद्देश्य है। इस दृष्टि से वह अपरिवर्तनशील भी है। कविता का अभिव्यञ्जना, शैली आदि से जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ तक वह परिवर्तनशील है। अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में ही समयानुसार अन्तर आ सकता है, उसके अन्तस्तत्त्व में नहीं। करुणा या वात्सल्य की जो अनुभूति भरत-काल में थी वही अब भी है। भारत मे ही क्यों, विदेशों में भी अनुभूति का यही रूप पाया जायगा। कविता का शाश्वत रूप यही है और मुख्य है। इससे कविता शाश्वत और अपरिवर्तनशील है। कविता मनुष्य प्रकृति के साथ अपना रूप-रंग बदलती है, इसे कौन नही मानता।

अतीत के तत्त्वों के प्रदर्शन के कारण कोई कविता मृत नहीं हो सकती। आज भी ऐसी कवितायें हो रही हैं और जीवित हैं और उनमें जीवन के लक्षण पाये जाते हैं। प्रगतिशील कविताओं की सृष्टि ही निर्जीव मालूम होती है। प्रगतिशील साधनों को लेकर कविता की जाय, इसमें किसी को आपत्ति ही क्यों होगी। हमारे विचार से तो यह कहना अच्छा है कि वर्तमान काल में जन-जीवन को भी एक तत्त्व मानना चाहिये। यह नहीं कि मजदूर-किसान के जीवन की समस्यायें, उनके भाव और विचार, उनके संघर्ष के तरीके, उनका सशस्त्र आन्दोलन, उनकी समस्त प्रतिक्रियायें कविता के आवश्यक तत्त्व हैं। ये कविता के विषय हो सकते हैं, तत्त्व नहीं ह, यद्यपि वे उनके जीवन से संबंध रखते हैं। जान पड़ता है, समालोचक इनका अन्तर नहीं जानता या मानता। साहित्य वा काव्य के तीन ही तत्त्व हैं—भावतत्त्व, कल्पनातत्त्व और बुद्धितत्त्व। ये सभी को विशेषत: पाश्चात्य समीक्षकों और विचारवालों को मान्य हैं। प्रातिभ ज्ञान भी एक विलक्षण तत्त्व है जिसका कल्पना से पृथक् अस्तित्व है।

उक्त प्रगतिवादी रसपरिपाटी को कविता की गति में बाधक समझते हैं पर अन्य कट्टर प्रगतिवादी रस को कविता के लिये आवश्यक समझते हैं। आप रूढ़ियों को तोड़ दें, अंधविश्वास को अंधे कुएँ में डाल दें, अतीत को तलातल में उतार दें और प्राचीन परम्पराओं को परलोक में पार्सल कर दें, यदि समाज का मंगल हो। इसमें किसी को आपत्ति क्यों होगी। पर साहित्य-काव्य को

प्रपोगंडा का रूप न दें। देखिये, आपके कामरेड क्या कहते हैं—

(क) हमारे वर्तमान जीवन में अतीत की नीलिमा और भविष्य की लालिमा की झाँकी मिलती रहती है। इसलिये अतीत के निष्कासन से वर्तमान की व्याख्या नहीं हो सकती।

(ख) कोई भी साहित्य साम्प्रदायिक रंग में रँगकर, किसी दल-विशेष के गले की आवाज बनकर कुछ काल के लिये उसका प्रचार (Propaganda) तो अवश्य कर सकता है पर सहृदय के गले का हार नहीं हो सकता। (इसमें सहृदय शब्द ध्यान देने योग्य है।)

(ग) 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के प्रति किसी भी सहृदय को आपत्ति या विराग नहीं होना चाहिये। हमारे यहाँ वीभत्स भी, जिसमें मज्जा, चर्बी, हाड़-मांस आदि का वर्णन किया जाता है, 'नव रस' में परिगणित किया जाता है। वीभत्स रस में भी और रसों की तरह समान रूप से भावानुभूति मानी गयी है। इस प्रकार यदि प्रगतिवाद में नग्न यथार्थवाद का रसात्मक वर्णन हो तो वह काव्य की श्रेणी में ही आवेगा।[1]

एक पुस्तक के इस उद्धरण पर भी ध्यान जाना चाहिये—

(१) स्थायी साहित्य की विविधता पर जब हमारी दृष्टि जायगी तो स्वाभाविक रूप से काव्यात्मक सब लक्षणों को सबल अंग के रूप में स्वीकार करना होगा।

(२) रशियन सिद्धान्त से आलोचित साम्यवाद का प्रतीक, प्रगतिवाद सस्ती भावुकता को ढोने की अधिक सामग्री एकत्रित करता है। यह प्रगतिवादी साहित्य प्रौढ़ता या विशिष्टता की पूर्णता से दूर है। अतः काव्य की सजीव आत्मा की अभिव्यक्ति उसमें नहीं है।

(३) सस्ती भावुकता का सम्बन्ध काव्य से नहीं हो सकता। रोमांस को लेकर काव्य अपना स्थान निरूपित नहीं कर सकता।[2]

अब समालोचक महोदय को अपने वाक्य के इस अंश को 'कविता जन-साधारण की वस्तु है······।' इस रूप में बदल देना चाहिये—जन-साधारण की भाषा में जन-साधारण की भावनाओं का ही रागात्मक या रसात्मक वर्णन होना चाहिये। क्योंकि आजकल का जनजीवन ही कविता का मुख्य विषय हो रहा है।

१ 'साहित्यिक निबंधावली'। २ 'प्रगतिवाद की रूप-रेखा'।

दुःख है कि इन उक्त प्रगतिवादी मित्रों ने न तो संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का यथेष्ट अध्ययन ही किया और न मनन ही किया। केवल अंग्रेजी समालोचना-ग्रंथों का ही इन्हें भरोसा है। यदि ये मित्र तुलनात्मक अध्ययन करते तो कभी ऐसी बाते न कहते। आज कितने 'साहित्यदर्पण' जैसे सर्वजन-प्रिय उपलब्ध ग्रन्थ पढ़ने को लालयित हैं? अभी उसके हिन्दी अनुवाद का दूसरा संस्करण भी समाप्त नहीं हुआ है। उधर देखिये तो अरस्तू के काव्यशास्त्र के अनेकों प्रकार के संस्करण होते चले जा रहे हैं। क्या वे सर्वप्रथम प्राचीन पाश्चात्य आचार्य नहीं हैं? आप प्राचीन आचार्यों को लेकर अपना नया दृष्टि-कोण उपस्थित कीजिये। उनका सामञ्जस्य बैठाइये। न बैठे तो मतभेद को प्रश्रय दीजिये। इन विवेचकों को तो इसीमें आनन्द आता है कि जहाँ तक हो प्राचीन आचार्यों पर कीचड़ उछालें। इसीमें वे आत्म-प्रतिष्ठा समझते हैं। यदि ऐसी बात न होती तो ऐसे वाक्यों के लिखने की क्या आवश्यकता थी कि 'इन संचारी-व्यभिचारी भावों को रटा-रटाकर हम अपने विद्यार्थियों को साहित्य की प्रगति से दूर रखने का विफल प्रयास कर रहे हैं।' ऐसा लिखनेवालों का ज्ञान तो बस इतना ही है कि वे साधारणीकरण को 'कला कला के लिये' का सिद्धान्त मानते हैं। संचारी-व्यभिचारी के रटने से तो कुछ साहित्यिक ज्ञान भी होता है पर आधुनिक पुस्तकों के पढ़ने से साहित्य का वह ज्ञान भी नहीं होता। इसमें सन्देह नहीं कि इन ग्रन्थों से साहित्य की मार्मिक विवेचना की शक्ति प्राप्त होती है। तात्विक ज्ञान की अपेक्षा इसका महत्त्व कम है। शास्त्रीय विद्या से तत्त्व-ज्ञान तथा विवेचनात्मक ज्ञान दोनों ही उपलब्ध होते हैं। प्राचीन आचार्यों ने जो बातें कही है, पाश्चात्य आचार्य उसके विरोधी नहीं हैं, बल्कि वे उसके समर्थक हैं। एक उदाहरण लें—

ध्वन्यालोककार ने लिखा है कि "कथा के आश्रयभूत रामायण आदि ग्रन्थ सिद्धरस के नाम से विख्यात हैं। उनमें वर्णित विषयों में स्वेच्छा से रस-विरोधिनी कोई कल्पना न करनी चाहिये"[1]। ब्रैडले इसी बात को कहता है कि "कोई कलाकार यदि यथार्थता में कोई परिवर्तन,

---

[1] सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी। ध्वन्यालोक

(वह सुप्रसिद्ध दृश्य का हो, वर्णन का हो वा ऐतिहासिक चरित्र-तथ्य का हो) वहाँ तक करता है कि उसकी रचना हमारे सुपरिचित विचारों को धक्का दे तो वह गलती करता है"[१]।

सारांश यह कि केवल तोड़-फोड़ करने या छींटे उड़ाने से काम न चलेगा। अरस्तू के पोयेटिक्स पर जैसी बूचर की टीका है वैसी ही संस्कृत के साहित्य-ग्रन्थों पर टीका होनी चाहिये; नयी-नयी व्याख्यायें की जानी चाहियें। इससे इनकी उपयोगिता बढ़ायी जा सकती है। ऐसा होने से आज जैसे अधकचरे समालोचकों का अवतार न होगा। प्राचीन आचार्यों की अवहेला से प्रगति नहीं, अधोगति की ही संभावना है।

कवि

कवि साधारण व्यक्ति नहीं होता। आज कवियों की भरमार है, पर सभी कवित्व-शक्ति-शाली हैं; कहा नहीं जा सकता। दर्पणकार कहते हैं कि "एक तो मनुष्य-जन्म होना दुर्लभ है; दूसरे, उसमें विद्या का होना दुर्लभ है। कविता करना उससे और दुर्लभ है तथा उसमें शक्ति होना तो अत्यन्त दुर्लभ है"[२]। इसी भाव से मिलती-जुलती एक अंग्रेज की भी यह उक्ति है कि "सभी ईश्वर-कृपा से बोलते हैं और बहुत थोड़े ही गाते हैं। पर कवि तो अपने विचार में ही डूबा रहता है"[३]।

कवि जो कुछ जागतिक वस्तु को देखता है वह चर्मचक्षु से ही नहीं, बल्कि हृदय की दृष्टि से भी। जिसपर उसकी जादू की छड़ी घूम जाती है वह असुन्दर से सुन्दर और सुन्दर से सुन्दरतर हो जाती है। कवि मनुष्य के भाव-जगत् में एक प्रकार से युगान्तर पैदा कर देता है और उसे ऐसा अलौकिक बना देता है कि वह हमारे आनन्द और मंगल का कारण हो जाता है। ऐसे कवि की कविता—सौन्दर्य-सृष्टि कभी मलिन नहीं होती। कीट्स की भी यही उक्ति है—

---

1 If an artist alters a reality (e. g a well-known scene or historical character) so much that his product clashes violently with our familiar ideas he may be making a mistake :— —*Oxford Lectures On Poetry,*

२ नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा। —साहित्यदर्पण

3 God giveth speech to all, song to the few.
The poet is hidden in the light of thought.

"सुन्दर वस्तु सदा के लिये सुखदायी है"[१]। "कवि केवल स्रष्टा ही नहीं शिक्षक भी है,"[२]यही वर्ड्सवर्थ का भी कहना है।

काव्य या कविता

काव्य का स्वरूप खड़ा करने के लिये उसके अनेक लक्षण क्यों न बनाये जायँ, पर "यथार्थतः कवि की अपनी प्रतिभा से प्रसूत निपुण शब्दमय शिल्प का नाम ही काव्य है"। इसीसे भामह का कहना है कि "काव्य कवि की दिव्य देह ही है"[३]।

पुराणपंथियों के रस, रीति, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि में से किसी एक विषयवाली रचना कविता कही जाय या नवीनमार्गियों के जीवन दर्शन, आनन्ददान, हृदयोद्गार, मनोवेग, अनुभूति, जनजीवन आदि में से किसी एक का तत्त्व जिस रचना में हो वह कविता के नाम से पुकारी जाय, इनमें कुछ सार नहीं। "कवि-वाङ्-निर्मिति ही कविता है,"[४] इसके सर्ववादि-सम्मत होने में कोई सन्देह नहीं। कविता का महत्त्व इसीसे समझिये कि "कवियों की कविता की समकक्षता न ब्रह्मविद्या कर सकती है और न राजलक्ष्मी"[५] ही। शेली ने भी कहा है कि "कविता यथार्थतः अलौकिक"[६] सी है।

काड्वेल ने साधारणी-करण-रूप काव्य का लक्षण किया है जिसका आशय यह है कि "काव्य मनुष्यों का उद्भिद्यमान आत्मचेतना है, किन्तु व्यक्ति रूप में नहीं, अन्यान्य व्यक्तियों के साधारण भावों के साझीदार के रूप में है"[७]।

पाठक

कविता केवल कवि की ही सृष्टि नहीं, एक प्रकार से पाठक की भी सृष्टि समझी जाती है। कविता पाठकों के हृदय में न पैठ सकी तो

---

1 A thing of beauty is a joy for ever.

2 The poet is a teacher; I wish to be considered as a teacher or as nothing.

३ कान्तं काव्यमयं वपुः। ४ कवि वाङ्निर्मितिः काव्यम्।

५ न ब्रह्मविद्या न च राजलक्ष्मीः तथा यथेयं कविता कवीनाम्।

6 Poetry is indeed something devine. *A defence of poetry.*

7 Poetry is the nascent self consciousness of man, not as an individual but as a sharer with others of a whole world of common emotion.

वह कविता ही किस काम की ! कवि सार्थक-जन्मा तभी है जब कि पाठक तो पाठक, जाति और देश के जीवन में स्फूर्ति पैदा कर दे, उनके हृदय में घर बना ले। एक कवि कहता है कि "कविता के रसमाधुर्य को कवि अर्थात् सहृदय पाठक ही जानता है न कि उसका रचयिता कवि। जैसे कि भवानी के भ्रूविलासों को भवानीभर्ता भव ही जान सकते हैं न कि भवानी के जनक भूधर—हिमालय"[१]। कवि-चित्त और पाठक-चित्त के सहयोग से ही कविता की सृष्टि होती है।

कैसी रचना पाठकों को प्रभावित कर सकती है, इसके सम्बन्ध में एमर्सन का कहना है कि "किसी रचना का जन-समाज पर कितना प्रभाव पड़ता है, इसका परिमाण उसके विचार की गहराई से किया जा सकता है।......यदि पृष्ठ के पृष्ठ आपको कुछ न दे सके तो उनका जीवन फतिगों से अधिक नहीं ठहर सकता"[२]। यद्यपि गेटे के कथनानुसार "कवि की आवश्यकता अन्तर से ही पूरी हो जाती है, वाह्य उपकरण की आवश्यकता नहीं होती"[3] तथापि एमर्सन का कहना है कि "अगर तुम लिखना सीखना चाहते हो तो राह-बाटों में उसे सीख सकते हो। इससे चलती चीजें ही हाथ न लगेंगी, ललित कलाओं की उद्देश्य-सिद्धि भी होगी। अक्सर लेखकों को जन-समाज के पाई-बागों में जाना चाहिये। लेखक का घर कालेज नहीं, बल्कि जन-समाज"[४] है।

कहने का अभिप्राय यह कि जनसमाज के मन में बसना चाहते

---

१ कवितारसमाधुर्यं कविर्वेत्ति न तत्कविः।
भवानी-भ्रुकुटीभङ्गं भवो वेत्ति न भूधरः॥

2 The effect of any writing on the public mind is mathematically measurable by its depth of thought......if the pages instruct you not, they will die like flies in the hour.

3 Sufficiently provided from within, he has need of little from without —*Goethe on the poet.*

4 If you would learn to write 'tis in the street you must learn it. Both for the vehicle and the aims of fine arts, you must frequent the public squire. The people. and not the college, is the writer's home. *Society and Solitude*

हो तो उनके मन के लायक लिखो; पाठकों के उपयुक्त लिखो ; जिससे तुम्हारी रचना सार्थक प्रमाणित हो।

इस दशा में यह कहना असंगत नहीं कि कलाकार की कला केवल उनकी कलम की ही करामात नहीं, उसमें पाठकों का भी कुछ हिस्सा होना चाहिये।

साहित्य-रक्षा के लिये जैसे निरपेक्ष समालोचक की आवश्यकता है वैसे ही गुणी ग्राहक पाठक की भी। समालोचक कलाकार और पाठक की मध्यस्थता करके दोनों को नियन्त्रित करने की चेष्टा करता है। इसके अभाव में ही कुशल कलाकार को कराहकर यह कहने को वाध्य होना पड़ता कि "निरवधि देश-काल में कोई न कोई मेरी कृति का पारखी मुझ-जैसा पैदा होगा ही"[1]।

पाठक की सहृदयता

कविता पढ़ने के सभी अधिकारी नहीं समझे जाते। काव्या-स्वादन के अधिकारी वे हैं "जो विमल-प्रतिभान-शाली हैं"[2] अर्थात् तेजस्वी कल्पना-शक्ति-शाली हृदयवाले हैं—वस्तु के साक्षात्कार की सामर्थ्य रखनेवाले हैं। कवि-सम्मेलनों के श्रोता जो किसी कविता पर वाह! वाह!! की आँधी उड़ा देते हैं, वह इस बात का सूचक नहीं कि सबके सब कविता के अन्तरंग में पैठकर ऐसा करते हैं। इनके आनन्द का कारण अधिकांश में कवि की गलाबाजी और कविता पढ़ने का ढंग ही है। जो कविता के मर्म में पैठते हैं वे कभी ऐसा नहीं करते।

कोई कविता पढ़कर पाठक या श्रोता तभी आनन्द उपभोग कर सकते हैं जब कि वे कविवर्णित प्रत्येक दृश्य, शब्द, अभिव्यक्ति, अर्थ को हृदयंगम कर सकें; कवि ने जिस दशा में कविता लिखी है उस अवस्था का कल्पना करके उसके भाव को प्रत्यक्ष कर सकें। पाठक या श्रोता में ऐसी कल्पना करने की जितनी शक्ति होगी उतना ही वे आनन्द लाभ कर सकते हैं। कार्लाइल ने कहा है कि "अभिनिवेश-पूर्वक कविता पाठ करने के समय हम कवि ही हो जाते हैं।" इसीको तन्मयी-भवन-योग्यता कहते हैं जो सहृदय में ही संभव है।

---

१ उत्पत्स्यते सपदि कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी। भवभूति

२ विमल-प्रतिभान-शालि-हृदयः। अभिनवभारती

काव्य-पाठक के सम्बन्ध में आरिस्टाटिल के टीकाकार बूचर ने भी लिखा है कि "प्रत्येक सुकुमारकला एक ऐसे द्रष्टा और श्रोता से आत्म-निवेदन करती है जो परिष्कृत रुचि-सम्पन्न और शिक्षित समाज के प्रतिनिधि-स्वरूप हैं। वह उस कला का सर्वेसर्वा समझा जाता है जैसे कि नैतिक-दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति नीतिशास्त्र का अधिकारी होता है"[1]।

कविता आवश्यक है

मेकाले का यह कहना युक्ति-युक्त नहीं मालूम पड़ता कि "सभ्यता की जैसे-जैसे वृद्धि होगी वैसे-वैसे कविता का ह्रास होता जायगा"[2]। इस उक्ति की यथार्थता इसीमें दीख पड़ती है कि सभ्यता की चटकीली चाँदनी में कविता का वह रूप नहीं रहेगा जो परंपरागत चला आता है और जिसका सौन्दर्य और स्थायित्व एक प्रकार से सुनिश्चित है। आधुनिक युग में यह देखा भी जा रहा है। इसके ये भी कारण हो सकते हैं—कविता की भरमार होना, जैसी-तैसी रचना करना, मनमाने बे-माने शब्दों का एक पंक्ति में रख देना और कला के नाम पर कविता को कलंकित करना।

जो कुछ हो, पर यह नहीं कहा जा सकता कि सभ्य-युग में कविता का ह्रास हो रहा है। हाँ, ह्रास की बात तब मानी जा सकती है जब कि उसका अनादर हो। अच्छी कविताओं के पाठक कम हों। जो हों वे उधार-मँगनी लेकर पुस्तकें पढ़नेवाले हों। यह ठीक है कि समाज के अनादर से मनुष्यों की मानसिक शक्ति लुप्त हो जाती है। कवि वा लेखक समालोचक की सृष्टि करता है और समालोचक कवि और पाठक में सामञ्जस्य स्थापित करता है। यों भी कह सकते है कि समालोचक कलाकारों को संयत और पाठकों को सुरुचिशाली बनाता है। इस दशा में कभी नहीं कहा जा सकता है कि कविता का ह्रास हो रहा है। गेटे का कहना है कि "जिनके कान कविता सुनने को उत्सुक

---

1 To the ideal spectator or listener, who is a man of educated taste and represents an instructed public, every fine art addresses itself; he may be called 'the rule and standard' of that art as the man of moral insight is of morals.

Aristotle's theory of Poetry and fine Art.

2 As civilisation advances poetry necessarily decline.

न हों वे वर्बर हैं, वे कोई क्यों न हों"[१]। शुक्लजी के शब्दों में "अन्तः प्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिये कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं"।

संगीत - साहित्य - कला - विहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ॥

कविता और चेतन-व्यापार

मानवीकरण की बात नवीन नहीं। पुरानी से पुरानी है। पाश्चात्य साहित्य की देन नहीं। पतंजलि ने एक स्थान पर लिखा है— "पत्थरो, सुनो"[२]। आनन्द-वर्द्धन कहते हैं "अचेतन विषय भी अर्थात् प्राकृतिक पदार्थ आदि भी यथा-योग्य समुचित रस-भावों से अथवा चेतनवृत्तान्त की योजना से, ऐसा कभी नहीं हो सकता कि वह रसाङ्गता को प्राप्त न करे"। आगे वह एक प्रकार से कवियों को छूट दे देते हैं कि "सुकवि अपने काव्य में स्वतन्त्र होकर इच्छानुसार अचेतन विषयों को चेतन के समान और चेतन विषयों को अचेतन के समान व्यवहार में लाते हैं"[३]।

भवभूति एक स्थान पर लिखते हैं—"पहाड़ भी रो देता है और वज्र का हृदय भी फट जाता है"[४]। संस्कृत काव्यों में ऐसे ही मानवीकरण के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। प्राचीन हिन्दी कविता में भी इसका अभाव नहीं है। जैसे—

तम लोभ मोह अहंकारा मद क्रोध बोध रिपु मारा।
अति करहिं उपद्रव नाथा मर्दहिं मोहि जानि अनाथा। तुलसी

लोभ आदि का उपद्रव करना मानवीकरण है और अचेतन में चेतनता की स्थापना है।

---

1 He who has no ear for poetry is a barbarian, be he who may.

२ शृणोत ग्रावाणः। महाभाष्य

३ भावानचेतानपि चेतनवत् चेतनानचेतनवत्। व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया। ध्वन्यालोक

४ अपि ग्रावा रोदित्यपि दलित वज्रस्य हृदयम्। उ० रा० चरित्र

ऐसे अनेक लाक्षणिक प्रयोग होते हैं जहाँ चेतनता के आरोप का भ्रम हो जाता है पर वहाँ उसकी यथार्थता नहीं होती। जैसे,

"यह गगनचुम्बी महाप्रासाद"। साकेत

यहाँ गगनचुम्बी मानवी व्यापार नहीं है। यहाँ प्रासादों की उच्चता प्रदर्शित करना ही अभीष्ट है जो लक्ष्यार्थ से प्राप्त होता है। चुंबन का अर्थ 'छूना' लिया जा सकता है। यहाँ चेतनता के प्रदर्शक चुंबन का भाव नहीं है। प्राय: ऐसा ही यह भी है—

"तेरा अधर-विचुंबित प्याला"। महादेवी

काव्य और भाषा

कार्लाइल ने जो यह कहा है कि "ग्रन्थ-विशेष के मूल्य-निर्द्धारण में भाषा-शैली का कोई मूल्य नहीं,"[1] वह अनुचित है। क्योंकि "रीति को हम जैसे काव्य की आत्मा मानते हैं"[2] वैसे एक विद्वान् भी यही कहते हैं कि "रचना-प्रणाली विचार को महत्त्व और जीवन प्रदान करती है"[3]। रचना-प्रणाली से शब्दों की स्थापन-प्रणाली समझी जाती है। रचना-भङ्गी नीरस कविता को भी सरस बना देती है। इसी से यह उक्ति सार्थक होती है कि 'भाषा-शिक्षा के लिये काव्य पढ़ना चाहिये'।

काव्य-भाषा को अत्यन्त अलंकृत, दार्शनिक वा दुरूह बनाना काव्यामृतपिपासुओं को क्षुब्ध और निराश करना है। यही नहीं, इससे काव्य-रचना का जो उद्देश्य है वह भी सिद्ध नहीं होता। रचना में कल्पना, अलंकार आदि को वहीं तक प्रश्रय देना चाहिये जहाँ तक भाव को सुरूप बनाया जा सके; अन्यथा भाव का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। वस्त्र का हलका गुलाबी रंग जैसा चित्ताकर्षक होता है वैसा गाढ़ा लाल रंग नहीं होता।

केवल मधुर शब्दों के रखने से कविता न तो मधुर होती है और न कठिन शब्दों के रखने से गंभीर। शब्द-स्थापन में दो दृष्टियों

---

1 Style has little to do with the worth or unworth of a book.

२ रीतिरात्मा काव्यस्य। काव्यालंकार

3 Style gives value and currency to thought.

से विचार करना चाहिये। एक तो शब्द और वाक्यखण्ड के निर्वाचन की दृष्टि से, दूसरे पंक्तियों में उनके स्थान की दृष्टि से। इस प्रकार कविता भावव्यञ्जक तथा सुललित हो सकती है। शब्दों की ध्वनि, उच्चारणसुलभ गतिशीलता तथा सार्थकता पर भी ध्यान जाना आवश्यक है। उपवन की जगह वन का प्रयोग उसके अर्थ और सौन्दर्य का नाश कर देता है।

कविता की भाषा व्यावहारिक, भावानुकूल, तथा संकेतात्मक होनी चाहिये। ऐसे शब्दों के स्थान-विशेष में विन्यास से ही अभिलषित अर्थ-व्यञ्जना संभव है और उसका प्रभाव भी अन्यान्य शब्दों और वाक्यांशों पर निर्भर है। शब्दों का मानसिक विवेचन और निपुण प्रयोग अनुभूति की अभिव्यक्ति में सहायक होता है। ऐसी स्थिति मे प्रकाशन की परीक्षा की आवश्यकता नहीं रहती।

कूँथ-काँथकर, जोड़-तोड़कर रचना करनेवाले न तो कवि हैं और न उनकी रचना कविता-पद-वाच्य। स्वाभाविक कवि के शब्द स्वाभाविक और स्वतः-स्फूर्त होते हैं। उनके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। रीड साहब कहते हैं कि "काव्य-निबन्धों में यथोपयुक्त शब्द यों नहीं आते। बल्कि अनुभूति के सम्बन्ध से फूटे पड़ते हैं। वे कवि के मन में नहीं रहते बल्कि वर्णनीय विषयों की प्रकृति में वर्तमान रहते हैं"[1]। इसी को हमारे यहाँ कहा गया है कि "सराहिये उस कवि-चक्रवर्ती को जिसके इशारे पर शब्दों और अर्थों की सेना कायदे से खड़ी हो जाती है"[2]।

बात यह है कि भाषा भाव का वाहन है। भाषा द्वारा ही भाव का प्रकाशन होता है। अतः भाव के अनुकूल ही भाषा का होना आवश्यक है। भाषा भाव का शरीर है और भाव मन। भाषा-भाव के अतिरिक्त जो भाव-व्यञ्जना (Suggestiveness) है वही प्राण है। जिस कविता में व्यंजना की बहुलता है उसी कविता का अधिक

---

1 ....the words do not come pat in great poetry, but are torn out of the context of experience; they are not in poet's mind, but in the nature of things he describes.

—*English Critical Essays.*

२ यस्येच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते द्राग्वाच्यवाचकमय. पृतनानिवेशः।

श्रीकण्ठचरित्र

महत्त्व है। क्योंकि व्यंग्य कविता ही सर्वश्रेष्ठ कविता समझी जाती है। अतः कविता की भाषा व्यञ्जना-प्राण होनी चाहिये।

काव्य का लक्ष्य—आनन्द

"यह आत्मा वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय है"[1]। "आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है वह निःसन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण—प्रेय और श्रेय, दोनों से परिपूर्ण होती है"[2]। यही कविता है।

पंच कोषों से हमारा शरीर है। वे हैं अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमयकोष और आनन्दमय कोष। अन्नमयकोष और प्राणमयकोष जीवमात्र में समान हैं। मनोमयकोष मानवमात्र में है। किन्तु जो शिक्षित हैं, सहृदय हैं वे पशुमानवसुलभ प्रथम तीन कोषों की परिपूर्णता से ही—अन्न-पान-भोग आदि से ही संतुष्ट नहीं हो जाते। उनके विज्ञानमयकोष के लिये चाहिये शास्त्र, विज्ञान, दर्शन आदि।

आनन्दमयकोष की महत्ता सर्वोपरि है। संगीत, साहित्य और अन्य ललित कलायें आनन्दजनक हैं। विशेषतः आत्मा की श्रेयमयी प्रेय रचना—कविता। कारण यह कि सुख-दुःखात्मक संसार के सभी दुःख भी काव्य-लोक में कवि-प्रतिभा से सुखदायक ही हो जाते हैं; उनसे आनन्द ही आनन्द उपलब्ध होता है। "यही परमानन्द-लाभ काव्य का परम प्रयोजन है।"[3] शेली ने कहा है कि "काव्य सदैव आनन्द-परिपूर्ण है।"[4]

यह आनन्द साधारण आनन्द नहीं; लौकिक आनन्द नहीं; अलौकिक आनन्द है। "इसे ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है।"[5] कारण यह कि हम रजोगुण तथा तमोगुण के मलिन आवरण से विमुक्त चित्त में इस लोकोत्तर आनन्द का उपभोग करते हैं। बूचर ने भी

---

१ अयमात्मा वाङ्मयः, मनोमयः प्राणमयः। बृहदारण्यक

२ काव्य और कला।

३ सद्यः परनिर्वृतये……। काव्यप्रकाश

4 Poetry is ever accompanied with pleasure.

५ ब्रह्मास्वादसहोदरः। साहित्यदर्पण

कहा है कि "आनंद का प्रत्येक क्षण स्वतः संपूर्ण है और परम आनन्द के आदर्श लोक से उसका सम्बन्ध है।"[1]

आनन्द और रस

आचार्यों ने कहीं आनन्द को आह्लाद की और कहीं निर्वृति की संज्ञा दी है। किन्तु काव्य-शास्त्र में रस शब्द से ही इसकी बड़ी प्रसिद्धि है[2]। हेमचन्द्र का कहना है कि "आनन्द रसास्वाद से उत्पन्न होता है। उस समय अन्य कोई वेद्य विषय नहीं रह जाता। ब्रह्मास्वाद के समान प्रीति ही आनन्द है।"[3] आनन्द (Pleasure) रसात्मक (Emotional) भी हो सकता है और विचारात्मक (Intellectual) भी। पर रसात्मक आनन्द जैसा विचारात्मक आनन्द नहीं हो सकता। बूचर ने लिखा है कि "प्रत्येक सुकुमार कला की भाँति काव्य का उद्देश्य भी भावोत्थित आनन्द की विशुद्ध तथा समुच्च आनन्द की सृष्टि करना है"[4]। इसमें pleasure और delight दो शब्द आये हैं। आनन्द के लिये वर्ड्सवर्थ ने passion (भाव) शब्द का और कीट्स ने joy शब्द का प्रयोग किया है। क्रोचे ने काव्यानन्द के लिये pure poetic joy शब्द का प्रयोग किया है जो उचित कहा जा सकता है। यथार्थता यह है कि आस्वादन, चर्वण, रसन शब्द रस चखने, आनन्द लूटने का भाव ही व्यक्त करते हैं, जिससे इन सबों की सामान्यतः एकात्मकता प्रतीत होती है।

रसात्मक काव्य-लक्षण

"आत्मचैतन्य का प्रकाश ही रस है"[5] अर्थात् सत्वगुण-प्रधान चित्त की भावतन्मयता की अवस्था में जब रति आदि स्थायी भावों से

---

1 Each is a moment of joy complete in itself, and belongs to the ideal sphere of supreme happiness.

२ (क) रसः स एव स्वाद्यत्वात्।

(ख) सर्वोऽपि रसनाद्रसः।

३ सद्यो रसास्वादजन्मा निरस्तवेद्यान्तरा ब्रह्मास्वादसदृशी प्रीतिरानन्दः।

काव्यानुशासन

4 The object of poetry, as of all the fine arts, is to produce an emotional delight, a pure and elevated pleasure.

५ रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः। रसगंगाधर

युक्त चित्त का साधारणीकरण के परिणाम-स्वरूप आवरण हट जाता है तब चित्त वा चैतन्य ही रस-रूप में प्रकाशित होता है।

"रस ही वह है।" "रस के बिना किसी विषय का प्रवर्तन नहीं होता।" "रस-शून्य कोई काव्य नहीं होता[१]।" इन वाक्यों को लक्ष्य करके ही विश्वनाथ ने 'रसात्मक वाक्य काव्य होता है'[२], यह लक्षण बनाया। पर पंडितराज ने इस पर यह आपत्ति की कि ऐसा होने से "वस्तु-प्रधान और अलंकार-प्रधान रचना काव्य नहीं कही जायगी। यदि खींच-खाँच कर इनमें भी रस का सम्बन्ध जोड़ा जाय तो कौन-सा वाक्य सरसनहीं हो सकता"[३]। इससे यह लक्षण अव्याप्तिदोषपूर्ण है।

दर्पणकार ने यह कहकर कि "गुणाभिव्यञ्जक शब्दार्थ होने, निर्दोष होने तथा अलंकार की अधिकता होने से नीरस पद्यों को भी जो कविता कहते हैं वह सरस काव्यों के सादृश्य के कारण। वह गौण काव्य हो सकता है"[४]। पर यह नवीनों को मान्य नहीं है। क्योंकि वे कहते हैं कि जिसमें कल्पना की उड़ान है, बुद्धि का विलास है, कला की कुशलता है, शब्द और अर्थ की सुन्दर योजना है, ऐसी रचना को कविता न कहना बुद्धिमानी नहीं है। कविता के लक्षण में आल्डन कहता है कि "कविता मानवी अनुभव को उपस्थित करने की कला है।......साधारणतः कल्पना के द्वारा जिसका सम्बन्ध भावों से होता है"[५]।

काव्य में भावना का महत्त्व है और अनेक पाश्चात्य समालोचकों ने इसको अत्यन्त महत्त्व दिया है। इसका यह मतलब नहीं कि कल्पना-प्रधान काव्य उपेक्षणीय हो। हैजलिट (Hazlitt) कहता है कि "कविता कल्पना और भावनाओं की भाषा"[६] है। कविता ऐसी

---

१ रसो वै सः। श्रुतिः नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। नाट्यशास्त्र नहि तच्छून्यं काव्यं किञ्चिदस्ति। ध्वन्यालोक

२ वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। ३ रसगंगाधर १।१

४ साहित्यदर्पण १।२।

5 Poetry is the art of representing human experience ...... usually with chief reference to the emotions and by means of the imagination. *An Introduction to Poetry.*

6 Poetry is the language of the imagination and passions

होनी चाहिये जिसके मूल में भावनात्मक विषय हो, कल्पना की कारीगरी हो, बुद्धि की कुशलता हो और उसपर नैतिक इच्छा-शक्ति का मुलम्मा हो। इसमें सन्देह नहीं कि वस्तु-प्रधान, अलंकार-प्रधान, स्वभाव-प्रधान, आत्माभिव्यंजन-प्रधान कविता भावनात्मक कविता की समकक्षता नहीं कर सकती।

काव्य के विभिन्न रूप

पण्डितराज की रमणीयार्थता उनके मतानुसार दोनों प्रकार के—रस-प्रधान और वस्तु-प्रधान काव्यों में पायी जाती है। यद्यपि उन्होंने इसकी स्पष्टता नहीं की है। इसी विचार को ध्यान में रखकर एक दो नवीन समालोचकों ने काव्य के दो भेद कर दिये हैं। दासगुप्त ने जो दो भेद 'द्रुति काव्य' और 'दीप्ति काव्य' के नाम से किये हैं उनके मूल कारण हैं रसबोध और रम्यबोध[1]। दोनों में दोनों का अंश वर्तमान रहता है पर इनकी प्रबलता और प्रधानता के कारण ही इनके ये भेद किये गये हैं। भावसिक्त चित्त में आत्मानन्द का प्रकाश रस है और रम्यबोध बुद्धिदीप्त चित्त में आत्मानन्द का प्रकाश रम्यबोध है। ये परस्पर सापेक्ष हैं। एक को छोड़कर दूसरे की गति नहीं।

ये भेद मान्य हो सकते हैं और इन्हीं नामों से इनकी यथार्थता भी है। पर चित्त के विशिष्ट गुणानुसारी इनके जो द्रुतिकाव्य और दीप्तिकाव्य नाम दिये गये हैं वे यथार्थ नहीं। क्योंकि चित्त के द्रवीभाव ही द्रुति है। यह विशेष विशेष रसों में ही दीख पड़ती है, सब रसों में नहीं। माधुर्य गुण में भी द्रुति होती है[2]। शृङ्गार-रस में भी इसकी विशेषता लक्षित होती है[3]। माधुर्यगुण का द्रुति ही मूल है। रम्यार्थबोध में ही चित्त दीप्त नहीं होता। रौद्र और वीर रसों में चित्त-द्रुति नहीं होती बल्कि चित्तदीप्ति ही होती है। ओज गुण का दीप्ति ही लक्षण है। चित्त के ये दो विशिष्ट रसबोध और रम्यबोध काव्य की विशेषता के बोधक नहीं। द्रुति और दीप्ति से इनका बोध व्याप्ति तथा अतिव्याप्ति से शून्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार इनके उपभेद भी विचारणीय हैं।

---

१ काव्यालोक (बँगला)

२ चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते। साहित्यदर्पण

३ आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्। काव्यप्रकाश

ऐसा ही कुछ शुक्लजी का भी कहना है—"जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे वह तो है काव्य । जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचनावैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे वह है सूक्ति"[१] ।

शुक्लजी के मत से स्पष्ट है कि सूक्ति काव्य नहीं है। पर सूक्ति क्या उक्ति-विशेष भी काव्य होता है। जैसा कहा गया है—'उक्ति-विशेषः काव्यम्'। काव्य-मात्र सूक्ति से भी सम्बोधित होता है। यदि सूक्ति काव्य न हो तो परिडतराज का वह कथन सार्थक हो जायगा कि "साहित्य-दर्पण में जो यह कहा गया है कि काव्य वही है जिसमें रस हो, सो ठीक नहीं। ऐसा होने से वस्तु-प्रधान और अलंकार-प्रधान काव्य अकाव्य हो जायगा। यह अभीष्ट नहीं। इससे महा-कवि-सम्प्रदाय घबड़ा उठेगा"[२] । क्योंकि ऐसे अनेक कवि हैं जिन्होंने न तो पद्य-प्रबन्ध ही लिखे हैं और न काव्य । उन्होंने सूक्ति-रूप में ही रचना की है। अमरुक कवि के एक-एक श्लोक सैकड़ों प्रबन्धों की तुलना करने की ख्याति प्राप्त कर चुके हैं[३] । संस्कृत-हिन्दी के सुभाषितों के संग्रह काव्य-पंक्ति की पावनता खो बैठेंगे। केवल भी इसका समर्थन करता है[४] । अतः सूक्ति के लक्षण में शुक्लजी ने जितनी बातें कही हैं समुचित प्रतीत नहीं होतीं। इस प्रकार काव्य का भेद काव्यत्व का विघातक है।

जहाँ कवि की कोरी कलाबाजी हो उसे न तो हम काव्य ही कहेंगे और न सूक्ति ही। उसके स्थान पर 'कलाबाजी' चाहे कोई दूसरा शब्द रक्खा जा सकता है। अभिव्यक्ति की कुशलता को भी अभिव्यञ्जनावादी कविता मानते हैं। 'रसे सारः चमत्कारः' के अनुसार चमत्कारक रचना भी काव्य है। रचना-वैचित्र्य को भला

---

१ चिन्तामणि १ म भाग ।

२ यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतं तन्न । वस्त्व-लंकारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः । न च इष्टापत्तिः । महाकवि-सम्प्रदायस्य आकुलीभावप्रसङ्गात् । **रसगंगाधर** ।

३ अमरुकवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते ।

4 Poetry is a vent for over-charged feeling or a full imagination.

कविता कौन नहीं मानेगा। कवि की निपुणता का आशय तो हम इसकी प्रतिभा का चमत्कार ही समझते हैं। फिर इसकी कैसे संभावना की जाय कि वह कविता न होगी। शुक्लजी की जिस माथापच्ची करनेवाली कोरी कवि-कल्पना से आशय है उसको सूक्ति की संज्ञा देना सूक्ति शब्द के अर्थ को भ्रष्ट करना है। ऐसी रचना काव्य वा सूक्ति की किसी श्रेणी में न आनी चाहिये।

कल्पना का भावात्मक होना आवश्यक है। काव्य में इसकी ही प्रधानता है। रमणीयता—लोकोत्तरानन्दजनकता वा रसात्मकता रचना में होना काव्य के लिये आवश्यक है। थिओडोरवाट्स का कहना है कि "उस काव्यात्मक अभिव्यक्ति को कविता न कहनी चाहिये जिसमें भावात्मक अर्थ की गंभीरता न हो"[1]।

काव्य और काव्याभास

काव्य के जो स्वरूप दिखायी पड़ते हैं वे चार श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं। १ रसकाव्य २ बोधकाव्य ३ नीतिकाव्य और ४ काव्यभास।

१ रसकाव्य वह है जिसमें रस की प्रधानता हो। जहाँ भाव शब्द और अर्थ की सहायता से रस में परिणत होता है वहाँ रस-काव्य होता है और जहाँ भाव उद्बुद्धमात्र होकर रह जाता है, रसावस्था तक नहीं पहुँच पाता, वहाँ भावकाव्य होता है। इसकी भी गणना रसकाव्य मे ही होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि रसकाव्य में विचारांश या बोधांश नहीं रहता। रहता है, किन्तु इसकी प्रधानता नहीं रहती। इससे इसे यह संज्ञा दी गयी है। यही श्रेष्ठ और स्थायी काव्य माना जाता है।

रचना को साहित्यिक बनाने के लिये भाव की प्रधानता होने पर भी बुद्धितत्त्व को विदा नहीं दिया जा सकता। लेखक वा कवि अपनी रचना में जो कुछ कहता है उसे बुद्धि-संगत होना ही चाहिये। चाहे वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतम ही क्यों न हो। जिसके पद व्याहत अर्थ में प्रयुक्त हों, ऐसी रचना प्रलाप की कोटि में आती है। साहित्य

---

1 No literary expression can, properly speaking, be called poetry which is not in a certain deep sense emotional.

सत्य से विमुख नहीं रह सकता। ज्ञानप्रधान रचना में तो इसकी प्रधानता रहती ही है।

२ बोधकाव्य वह है जिसमें विचार की प्रधानता रहती है। उसमें हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क की प्रौढ़ता दीख पड़ती है। जो विचार व्यक्त किया जाता है उसमें रस-भाव का पुट भी रहता है। यदि ऐसा न होता तो इसका काव्यत्व ही लुप्त हो जाता। अभिप्राय यह कि विचार-प्रधान काव्य में अर्थ का ही महत्त्व होता है। वह रूखा-सूखा नहीं, सरस और सौन्दर्यमण्डित होता है। इसीसे यह दूसरी कक्षा में आता है।

३ नीतिकाव्य में न तो वैसा रस-भाव का महत्त्व रहता है और न अर्थ का ही। उसमें शुष्क उपदेश-मात्र रहता है। नीतिकाव्य से शिक्षा-लाभ होता है। इसको नीतिकाव्य कहने का कारण इसका पद्यबद्ध होना, रोचक रूप से विचार प्रगट करना आदि है। यदि नीतिकाव्य में सरसता हो तो वह बोधकाव्य की श्रेणी में जा सकता है।

४ हम उस कविता को काव्याभास की श्रेणी में ले जा सकते हैं जिसमें किसी काव्याङ्ग का निर्वाह नहीं किया जाता। उसमें न तो कोई भाव ही रहता है और न कोई विचार। रस की बात तो बहुत दूर है। ऐसी कविता नीति और शिक्षा से भी छूँछी ही रहती है। क्योंकि कवि स्वयं इसकी आवश्यकता नहीं समझता। ऐसी कविताओं के पढ़ने-सुनने से पाठक या श्रोता पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। फिर भी सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर प्रकाशित होती रहती हैं। ऐसी कवितायें कविता के नाम से अभिहित तो होती हैं पर अयथार्थ होने के कारण काव्याभास की श्रेणी में आती हैं।

काव्य और कला

स्व को कलन करना ही कला है। "कला वस्तुओं में या प्रमाताओं में स्व को—आत्मा को परिमित रूप में प्रगट करती है"[1]। कला से सुख मिलने का कारण यही है कि उसमें कलाकार की अनुभूति का स्वान्तः सुख समाया हुआ है।

---

[1] कलयति स्वरूपमावेशयति वस्तुनि वा तत्र तत्र प्रमातरि कलनमेव कला।
शिवसूत्रविमर्शिनी

क्रोचे ने कला के लिये एक छोटा-सा वाक्य कहा है—"प्रत्येक कला एक अभिव्यक्ति है"[१]। अर्थात् कलाकार की कल्पना का प्रकाशन है। यथार्थतः अत्र, तत्र, सर्वत्र अभिव्यक्ति की ही क्रीड़ा है। प्रकाशन-कौशल ही तो कला है। काका कालेलकर कहते हैं—"कला जब तटस्थता से रस के निदर्शन के लिये ही कोई अभिव्यक्ति करती है तभी वह कला कहलाने की अधिकारिणी है।"

प्रकृति के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द से अनवरत अनन्त सौन्दर्य का स्रोत प्रवाहित होता रहता है। मनुष्य उनको देख-सुन तथा अनुभव करके लुब्ध-मुग्ध हो रहा है। वह इस विश्व-सौंदर्य को अपनाना चाहता है और रूप देना चाहता है। उसकी यह मनः-कामना है कि मेरे सौन्दर्यानुभव का आनन्द मुझ-जैसे दूसरे भी लूटें। मनुष्य क्यों रूप देना चाहता है ? इसका उत्तर यह है कि वह अनु-करणप्रिय है।

"कलाकृति वा कलावस्तु का काम है दर्शकों के मन में विशिष्ट भावना को जागृत करना।"[२] जैसा कि क्लाइव वेल ने कहा है। इस बात का समर्थन कालिदास यह कहकर करते हैं कि "रमणीय वस्तुओं को देखकर तथा मधुर शब्दों को सुनकर मन उत्कण्ठित हो उठता है।"[३] सौन्दर्य-सृष्टि ही कलाकार का चरम उद्देश्य है।

कलाकार की जैसी प्रवृत्ति होगी, उसकी जैसी भावना होगी उसकी कलाकृति भी वैसी ही होगी। दर्पण में प्रतिफलित अपना प्रतिबिम्ब जैसे लोचनों को सुखकारक होता है वैसे ही कलाकार अपनी कलाकृति में अपनी भावनाओं का ही प्रतिबिम्ब देखकर आह्लादित होता है। अभिप्राय यह कि कलाकृति में कलाकार का व्यक्तित्व ही प्रस्फुटित रहता है। टैगोर का कहना है कि "कला में मनुष्यों की भावनात्मक सत्ता का ही आविष्कार होता है।"[४] इसीसे यह कहना सत्य प्रतीत होता है कि 'कलाकृति से कलाकार पहचाना जाता है।' भवभूति ने भी "वाणी को अपनी कला कहा है।"[५]

---

1 All art is an expression.

2 The objects that provoke this emotion, we call works of art.

३ रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्......शकुन्तला

4 In art man reveals himself. *What is Art*

५ वन्देमहि च तांवाणीममृतामात्मनः कलाम्। उत्तररामचरित

देखने से तो यही विदित होता है कि प्राचीन काल में कला शब्द का प्रयोग वहाँ भी होता था जहाँ किसी न किसी प्रकार का कौशल लक्षित होता था ; किसी प्रकार की जानकारी में थोड़ी-सी भी चतुराई का पुट होता था। कहना चाहिये कि सभी प्रकार की सुकमार और बुद्धि-मूलक क्रियायें कला के अन्तर्गत आ जाती हैं।

'ललितविस्तर' की ८६ कलाओं की सूची में कला का एक नाम 'काव्य-व्याकरण' अर्थात् काव्य की व्याख्या करना और दूसरा नाम 'क्रियाकल्प' आया है। इसका एक अर्थ 'काव्यकरणविधि' और दूसरा अर्थ 'काव्य और अलंकार' किया गया है। 'कामसूत्र' की चौंसठ कलाओं मे काव्यसमस्यापूरण, काव्यक्रिया अर्थात् काव्य बनाना और क्रियाकल्प, ये काव्य-सम्बन्धी तीन नाम आये हैं। 'प्रबन्धकोप' की ७२ कलाओं में काव्य और अलंकार ये दोनों नाम आये हैं। ऐसे ही अनेक स्थानों पर कलासूचियों में काव्य, श्लोकपाठ, आख्यान और समस्यापूर्ति के नाम आये हैं। किन्तु आश्चर्य है कि क्षेमेन्द्र के 'कला-विलास' में विविध व्यक्तियों की विविध कलाओं की सूचियाँ हैं पर उनमें काव्य करण या समस्यापूर्ति आदि नाम नहीं आये हैं।

प्राचीन काल में काव्य की कला में गणना होने का कारण उसका अनूठापन था। उसका रूप उक्ति-विशेष-मूलक, चमत्कारक और कल्पना-विलासी ही था। इनमें अलंकार आदि सहायक थे। समस्या-पूर्ति भी एक प्रकार का काव्यकौशल ही था जिससे यह भी कलाओं में पैठ गयी। सारांश यह कि सहृदयों के मनोविनोदार्थ जो कवि का रचना-कौशल था, वह कलाओं में गिन लिया गया। इस प्रकार काव्य कला नहीं हो सकता।

काव्य और कला दो भिन्न वस्तुयें हैं। विवेचन के अनुसार काव्य विद्या है और कला उपविद्या। भले ही कलाओं में काव्य की गणना क्यों न कर ली जाय। हमें यह मानना होगा कि काव्य में कलापक्ष है पर काव्य कला नहीं है। भामह ने कला को काव्य का एक विषय माना है।[1] उनके मतानुसार काव्य की विस्तृति के लिये कला-संबंधी विषय भी उपयोगी हो सकते हैं। विशेषत: भारतीय

१ न तच्छब्दो न तद्वाच्यं न सा विद्या न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारः महान् कवेः ॥ काव्यालंकार

दृष्टिकोण से 'कला' शब्द का प्रयोग संगीत और शिल्प के अर्थ में ही किया जाता है।[१] शिल्प के अन्तर्गत चित्र आदि की गणना है।

कला का दार्शनिक लक्ष्य है आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार तथा परमात्म-तत्त्व की ओर उन्मुख होना। अतः कहा गया है कि "कला का जो भोगरूप है वह बंधन है और जो परमानन्द-प्राप्ति-कारक है वही कला यथार्थ कला है।"[२]

कला अस्थिर जीवन को स्थिरता प्रदान करती है। जीवन के क्षणिक सौन्दर्य को चिरकालिक बना देती है। हेमिल्टन ने जो कहा है उसका आशय यह है कि "शिल्पी सौन्दर्य-विलासी रूप-रचयिता है। जिस सत्य को उसने अन्तर में अनुभूत किया है, उसको बाहर स्थिरता प्रदान करता है। उसकी व्यक्तिगत अनुभूति एकान्ततः व्यक्तिमूलक नहीं। वह एक ओर तो विशेष व्यक्ति है, दूसरी ओर निर्विशेष। वह विशेष को निर्विशेष बनाकर वस्तु रूप में ऐसा मूर्त स्वरूप दे देता है कि वह सर्व-जन-संवेद्य हो जाता है।"[3] अतः कलाकार का काम हृदय के रस से स्थिर रूप-रचना है और वही उसकी कला है।

काव्यकला और ललित कला

पश्चिमी प्रभाव से काव्य कला के अन्तर्गत माना जाने लगा है। इसके दो भेद हैं—एक उपयोगी कला और दूसरी ललित कला। जीवन की स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बढ़ई, लुहार, सुनार आदि की कला शिल्पकला है। इनकी मुख्यता उपयोगिता में है। इनका रंग-रूप गौण माना जाता है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें सौन्दर्य नहीं होता। ललित कला का सम्बन्ध मन से है। क्योंकि 'ललित कला मानसिक सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण है।' मानसिक तृप्ति के लिये वह अत्यन्त आवश्यक है।

---

१ नृत्यगीतप्रभृतयः कलाः कामार्थ-संश्रयाः'। काव्यालंकार

२ विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला।

3 An artist is one who through the imposition of form on his particular material creates for himself and potentially for others, a unified contemplative experience highly objective in character. *Poetry and Contemplation.*

ललित कला के साधारणतः पाँच भेद माने गये हैं। १ स्थापत्य—वास्तुकला या भवन-निर्माण-कला २ भास्कर्य वा मूर्तिनिर्माण-कला वा शिल्पकला ३ चित्रकला ४ संगीतकला और ५ काव्यकला। इनके अतिरिक्त नृत्यकला तथा अभिनयकला का नाम भी लिया जाता है पर इनका उनमें अन्तर्भाव किया जा सकता है। मूर्तिकला चित्रकला से ऊँची कही जाती है और उससे भी काव्यकला का ऊँचा स्थान है। संगीत और काव्य, दोनों अमूर्त कलायें हैं। श्रोत्र और नेत्र, दोनों से काव्यानन्द का उपभोग किया जाता है, इससे भी काव्य श्रेष्ठ माना जाता है।

संगीतकला का काव्यकला से गहरा सम्बन्ध है। संगीत के साधन शब्द हैं। निराधार संगीत नहीं हो सकता। गलाबाजी भले हो। संगीत के शब्द काव्यमय हों तो उनके सौन्दर्य का पारावार नहीं रहता। "गीत, वाद्य और नृत्य, तीनों का नाम तौर्यत्रिक है और इनको रस-प्रधान होना चाहिये।"[1] संगीत के सातों स्वरों की इन रसों में प्रधानता मानी गयी है। "सा. रे. वीर, अद्भुत और रौद्र को, ध वीभत्स और भयानक को, ग और नी करुण को, म और प हास्य और शृंगार को उद्दीपित करते हैं।"[2]

चित्रकला में रंग और रेखा का खेल है। रेखा तो नहीं, पर रंग काव्य से चित्रकला को जोड़ता है। भरत से लेकर आज तक के साहित्यिक पाप को मलिन, यश को स्वच्छ, क्रोध को लाल आदि वर्णन करते आये[3] हैं और कवि-समय-ख्याति के नाम से ये प्रसिद्ध हो गये हैं। वुंड (Wundt) का कहना है कि "रंग का सम्बन्ध भावना से है और उनसे भावनाओं को बल मिलता है।"[4] 'विष्णुधर्मोत्तर' में कहा गया है कि "काव्य के से चित्र के भी नौ रस हैं।"[5]

---

१ (क) रसप्रधानमिच्छन्ति तौर्यत्रिकमिदं विदः। संगीतरत्नाकर।

(ख) तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवादित्रातोद्यनामकम्। अमरकोष

२ स री वीरेऽद्भुते रौद्रे ध वीभत्से भयानके।

कार्यौ गनी तु करुणे हास्यशृंगारयोर्मपौ॥ संगीतरत्नाकर

३ मालिन्यं व्योम्नि पापे यशसि धवलता......। साहित्यदर्पण

4 The colours are not simple sensations, they have an affective tone proper to themselves.

५ शृंगारहास्यकरुणाः रौद्रवीरभयानकाः।

वीभत्साद्भुतशान्ताख्याः नवचित्ररसाः स्मृताः॥

नृत्यकला में भी भावों की अभिव्यक्ति होती है। उनका आंगिक अभिनय यही बताता है।

नृत्त के संबंध में कहा गया है कि "वह रस, भाव, ताल, काव्यरस, गीत से युक्त होने से सुखद तथा धर्म-विवर्धक होता है।"[1]

वास्तुकला वा शिल्पकला स्थूल कला है पर यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें भावनाओं का अभाव होता है। रूपों में जो अभिव्यक्ति होती है वह तो भावना ही है। सातों आश्चर्यजनक वस्तुओं का निर्माण जन-भावना के ही तो द्योतक हैं। इनका मर्म यही है कि सभी कलाओं का उद्देश्य भावनाओं का आविष्कार है और सभी अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार रस-प्रतीति कराते हैं।

काव्यकला के प्रवाद-वाक्य

उन्नीसवीं शताब्दी के शेष भाग में रस्किन, मैथ्यू आर्नल्ड आदि ने साहित्य का जो सिद्धान्त स्थापित किया था उसके विरोध में अस्करवाइल्ड आदि कई साहित्यिक उठ खड़े हुए और उन्होंने Art for Art's sake अर्थात् 'कला कला के लिये' यह सिद्धान्त उपस्थित किया। इसका अनुवाद 'रस में ही रस की सार्थकता' या 'रस-सर्वस्वता-नीति' से भी किया जाता है। इससे कुछ समय तक साहित्य में उच्छृङ्खलता बढ़ गयी। क्योंकि ये यही कहते थे कि रस-सृष्टि के अतिरिक्त साहित्य का और कोई दूसरा उद्देश्य नहीं है। ये विशेषतः वास्तव-बोध तथा मानव-जीवन की नग्नता प्रगट करने के पक्षपाती थे।

साहित्य-सृष्टि की दृष्टि से यह सिद्धान्त असफल रहा। कारण यह कि मनुष्य जीवन को सुन्दर बनाना चाहता है। अतः जीवन के आदर्श से उसे विच्युत करना उसका मूलच्छेद ही करना है। दूसरी बात यह है कि जो काव्य पाठक के मन पर प्रभाव डालता है वह संस्कृत तथा उन्नत होता है। अतः पाठक के चित्त को भी शान्त, शुद्ध, उन्नत, संस्कृत तथा सानन्द बनाता है। तीसरी बात यह कि साहित्य का उपजीव्य जीवन ही है। जीवन में कुत्सित और प्रशंसित दोनों प्रकार की बातें हो सकती हैं। साहित्यिक किसी भी घटना

---

[1] रसेन भावेन समन्वितं च तालानुगं काव्यरसानुगञ्च।
गीतानुगं नृत्तमुशन्ति धन्यं सुखप्रदं धर्मविवर्धनञ्च। विष्णुधर्मोत्तर

को अपनी कल्पना के अनुकूल परिवर्तित कर सुन्दर बना देता है कि वह सहृदयों का उपभोग्य हो जाता है। इसलिये नहीं कि वास्तवता (Realism) के नाम पर वह विलास-लालसा को उद्दीपित करे, उच्छृंखलता का प्रचार करे। साहित्य का यह उद्देश्य नहीं और यह भी उसका उद्देश्य नहीं कि वह नीति-प्रचार, उपदेशदान तथा धर्मोपदेश का ठीका ले ले।

बंकिमचन्द्र का कहना है कि "कवि संसार के शिक्षक हैं। किन्तु नीति की व्याख्या करके शिक्षा नहीं देते। वे सौन्दर्य की चरम सृष्टि करके संसार की चित्त-शुद्धि करते हैं। यही सौन्दर्य की चरमोत्कर्षसाधक सृष्टि काव्य का मुख्य उद्देश्य है। पहला गौण और दूसरा मुख्य है।" प्रेमचन्द के शब्दों में "साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और सुन्दर बनाता है। दूसरे शब्दों में उसीकी बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।" कवि आडेन (Auden) काव्य का कर्तव्य उपदेश देना नहीं मानता तथापि अच्छे बुरे से हमें सचेत कर देना साहित्य का कर्तव्य या उद्देश्य या आदर्श अवश्य मानता है।[1]

'कला कला के लिये' जैसा ब्रैडले का एक प्रबन्ध है 'काव्य काव्य के लिये' (Poetry for Poetry's sake)। इसका प्रथम तो यह भाव प्रतीत होता है कि कविता किसी लक्ष्य का साधन नहीं है, वह स्वयं ही लक्ष्य है। दूसरा यह कि कविता कविता है, इसीलिये इसका उपयोग होना चाहिये। इसका अपना स्वाभाविक मूल्य ही इसका असल काव्य-महत्त्व है। कविता का बाह्य महत्त्व भी हो सकता है। हम इसे धर्म या संस्कृति के साधन के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। क्योंकि यह मनोभावों को या तो कोमल बनाती है या शिक्षा प्रदान करती है या यश देती है या आत्मसन्तोष प्रदान करती है। यह सब कुछ ठीक है। इन सब उद्देश्यों से भी कविता महत्त्व रखती है, किन्तु यही कविता का यथार्थ महत्त्व नहीं हो सकता। वह महत्त्व काल्पनिक अनुभूतियों को तृप्त करता है, अन्तर के द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। ब्रैडले की व्याख्या का ही यह सार है।

---

1. Poetry is not concerned with telling people what is to do but with extending our knowledge of good and evil.

डी० एच० लॉरेन्स की भी ऐसी ही एक उक्ति है 'कला केवल मेरे लिये है' (Art for my sake). तुलसीदास के शब्दों में 'स्वान्तः सुखाय' इसे कह सकते हैं। यह उक्ति किसी दृष्टि से सत्य हो सकती है पर यथार्थ नहीं है। एक तो तुलसी की 'उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं' की उक्ति से वह निरर्थक सिद्ध हो जाती है। दूसरी बात यह कि कवि की कविता कवि ही तक रह गयी तो उसका कुछ महत्त्व नहीं रहा। कवि अपने लिये रचना करता है, उसमें रमता है, उसका आनन्द लेता है। आत्म-मुक्ति और आत्म-क्रीड़ा के लिये करता है, यह सब ठीक है। भवभूति भी कहते हैं कि मेरे समान उपभोक्ता आनन्द लेनेवाला कोई उत्पन्न होगा—उत्पत्स्यते सपदि कोऽपि समान-धर्मा'। अतः सिद्ध है कि कवि का व्यक्तित्व पाठक और कवि, दोनों की सत्ता से ही प्रतिष्ठित होता है। साहित्यकार की साहित्यिक सृष्टि ही संसार से सार्वजनीन सम्बन्ध स्थापित करती है।

आज कुछ व्यक्ति 'कला प्रचार के लिये' (Art for propaganda's sake') की भी रट लगा रहे हैं। कहते हैं कि "कला श्रेणी-संघर्ष का एक यन्त्र है। दरिद्र श्रमिक संघ अपने एक अस्त्र के हिसाब से ही उसका व्यवहार करेगा।"[1]

हिन्दी में भी ऐसे ही विचार से बहुत-सा साहित्य प्रस्तुत हो रहा है पर यह सब समय की गति में बह जायगा। स्थायित्व की दृष्टि से प्रगतिवादियों के दृष्टि-कोण में भी परिवर्तन आ गया है और ऐसी कवितायें कभी-कभी दिखायी पड़ जाती हैं जो यथार्थ कविता कही जा सकती हैं।

काव्य और संगीत

काव्य और वस्तु है, संगीत और। किन्तु दोनों का पारस्परिक संबंध एकान्त घनिष्ठ है। काव्य की कल्पना, संगीत का राग, दोनों अभिन्न हैं। जिस काम को भाव-जगत् में कल्पना करती है, उसी काम को शब्द-जगत् में राग करता है। इसीलिये एक अंग्रेजी विद्वान्

---

1. Art, an instrument in the class struggle must be developed by the proletariat as one of its weapons.

Proletarian Literature in U. S. A.

ने लिखा है—"कविता शब्दों के रूप में संगीत है और संगीत स्वर रूप में कविता है।"[1]

अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिये काव्य को नाना इंगित-आभासों का सहारा लेना पड़ता है। इनमें चित्र और संगीत मुख्य हैं। संगीत काव्य का रस है और चित्र रूप। ध्वनि प्राण है, चित्र शरीर। इस प्रकार काव्य दृश्य द्वारा हमें चित्र-कला की ओर ले जाता है, छंद द्वारा संगीत के निकट।

आचार्य शुक्ल के शब्दों में "छंद वास्तव में बंधी हुई लय के भिन्न-भिन्न ढाँचों (Patterns) का योग है जो निर्दिष्ट लंबाई का होता है। लय-स्वर के चढ़ाव-उतार स्वर के छोटे-छोटे ढाँचे ही हैं जो किसी छंद के चरण के भीतर व्यस्त रहते हैं।"

हिन्दी-कविता में छन्द के लिये अनुप्रास—तुक भी आवश्यक समझा गया है। पंत के शब्दों में 'तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पन्दन विशेष रूप से सुनाई पड़ता है। राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियाँ मानों अन्त्यानुप्रास के नाड़ी-चक्र में केन्द्रित रहती जहाँ से बल तथा शुद्ध रक्त ग्रहण करके छंद शरीरमें स्फूर्ति संचार करती हैं'।

क्षेमेन्द्र के कथनानुसार, "कवि को छंदो-योजना रस और वर्णनीय विषयों के अनुकूल ही करना चाहिये"[2] जिससे नाद-सौन्दर्य के साथ साथ रस की भी अभिव्यक्ति सुस्पष्ट हो। 'वियोगिनी' छन्द अपने नाम के अनुसार पढ़ने के समय पाठक को एकान्त अभिभूत कर देता है, करुणा और वेदना के सागर में डुबो देता है।

शुक्लजी का यह कहना यथार्थ है कि "छन्द के बंधन के सर्वथा त्याग से हमें तो अनुभूत नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता (Communicability of sound impulse) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पड़ता है।"

छंद ही काव्य का संगीत है। संगीत में जो संयम ताल से आता है वही संयम कविता में छंद से आता है।

इस विराट् सृष्टि के अणु-परमाणु में संगीत है, वीणा के तारों में झंकृत होनेवाला प्रत्येक सुर हमारे हृदयाकाश में गुंजित होता है।

---

1 Poetry is music in words and music in poetry in sound.

२ काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित्। सुवृत्ततिलक

अतः कविता के रूप में प्रकट होनेवाला प्रत्येक शब्द इस विश्वव्यापी संगीत की झंकार है।

काव्य और कल्पना

कल्पना का धातुगत अर्थ होता है सामर्थ्य। इसकी समर्थता से रचना-पक्ष की पुष्टि होती है। अंग्रेजी में एतदर्थबोधक शब्द इमेजिनेशन (imagination) माना जाता है। इस शब्द में जो इमेज (image) है उसका अर्थ होता है—प्रतिमा, मूर्ति, आकार, छाया और प्रतिबिंब। कल्पना से कोई मूर्ति हमारे सामने आ खड़ी होती है।

इमेजिनेशन के कई अर्थ हैं—उद्भावन भावना, विचार, तरङ्ग, अनुमान, मन की उड़ान और मस्तिष्क के खेल। कोई-कोई व्यंग्य में 'दिमागी ऐयासी' भी कह देते हैं। इमेजिनेशन से कोई-कोई कल्पना का ही अर्थ लेते हैं।

अनुपस्थित वस्तु की मानस प्रतिमा खड़ी करने की शक्ति का नाम कल्पना है। कल्पना मन की एक विशिष्ट शक्ति है। कल्पना कवि को असत् से सत् की सृष्टि करने में समर्थ बनाती है। कल्पना के बल कवि मनुष्य के लिये जहाँ तक साध्य है, रचना कर सकता है। साहित्यिक चरित्र की सृष्टि में कल्पना का जौहर खुलता है।

कल्पना के तीन प्रकार हैं—पहली है उत्पादक कल्पना (Creative imagination)। यह मन की वह निर्माणमयी वृत्ति है जो अकिंचित् में से भी सब कुछ ला खड़ा कर देती है। इसीको अभिनवगुप्त "अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा वा प्रतिभा कहते हैं"[1] और पण्डितराज इसे "काव्य-घटना के अनुकूल शब्द और अर्थ की उपस्थिति"[2] मानते हैं। कोई कोई इसे शक्ति कहते हैं। "यह कवित्वबीजरूप संस्कार-विशेष है"[3]। दूसरी है संयोजक कल्पना (Associative imagination)। इसका काम है एक वस्तु का दूसरी वस्तु से मेल करना। अप्रस्तुत-योजना आदि इसीके अन्तर्गत आते हैं। तीसरी है अवबोधक कल्पना (Interpretative imagination)। इसका कार्य-कलाप है नवीन अर्थ का उद्भावन,

---

१ अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। लोचन

२ काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः। रसगंगाधर

३ शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः कश्चित्। काव्यप्रकाश

अभूतपूर्व वस्तु का अश्रुतपूर्व संबध स्थापित करना और ऐसी उड़ान उड़ना जिसमें तर्क की प्रबलता हो। सारांश यह कि वह कल्पना 'जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि' का भी उदाहरण हो।

जिस प्रकार कवि कल्पना से वाच्यार्थ व्यक्त करता है उसी प्रकार पाठक भी कल्पना से ही उसे ग्रहण करता है। व्यक्तीकरण और ग्रहण, दोनों की शक्ति समान रूप से कल्पना पर निर्भर करती है। अतः कल्पना के विधायक और ग्राहक के नाम से दो और भेद होते हैं।

श्री अरविन्द घोष ने विषयनिष्ठ (Objective) और विषयि-निष्ठ (Subjective) के नाम से कल्पना के दो भेद किये हैं। क्योंकि कल्पना बाह्य जगत् की वस्तुओं तथा अन्तर्जगत् की अनुभूतियों को लेकर अपना कार्य करती है। वे कहते हैं—"विषयनिष्ठ कल्पना-शक्ति जीवन और जगत् की बाह्य अवस्थाओं को तीव्रता से प्रत्यक्ष कराती है। विषयिनिष्ठ कल्पना-शक्ति भावमय अनुभूतियों को उद्बुद्ध करनेवाली शक्ति को प्रबल-रूप से प्रत्यक्ष कराती है।"[1]

कल्पना की एक विशेषता यह है कि वह कुछ ऐसे सत्यों का स्वरूप भी निरूपित करती है जो प्रत्यक्ष नहीं, अपितु संभावित है। यथार्थ जगत् में जो प्रत्यक्ष है वह उतना ही सब कुछ है पर कल्पना-प्रसूत भाव-जगत् में वह भी है, जो हो सकता है, जिसके होने की संभावना है। इसी कारण दृश्य-जगत् से भाव-जगत् का महत्त्व बढ़ जाता है।

प्राच्य साहित्य की अपेक्षा पाश्चात्य साहित्य में कल्पना शक्ति के विविध व्यापारों का सूक्ष्म निरीक्षण पूर्वक विचार किया गया है।

काव्य और वक्रोक्ति

वक्रोक्ति को सिद्धान्त-रूप में स्वीकार करने वाले वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ही है। वक्रोक्ति से उनका अभिप्राय भणिति-भंगि[2] अर्थात्

---

1 ...The objective imagination which visualises strongly the outward aspects of life and things; the subjective imagination which visualises strongly the mental and emotional impressions they have the power to start in the mind. *The future poetry, Style & Substance.*

२ वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भङ्गीभणितिरुच्यते। वक्रोक्तिजीवित

कहने के विशेष वा निराले ढंग से है। वक्तव्य विषय का साधारण रूप से वर्णन न करके कुछ ऐसी विदग्धता के साथ वर्णन करे कि उसमें कुछ विच्छित्ति वा विचित्रता आ जाय।

अभिप्राय यह कि शब्द और अर्थ के संयोग से ही साहित्य-सृष्टि होती है। वे शब्द और अर्थ तभी काव्यत्व लाभ कर सकते हैं जब उनमें वक्रोक्ति हो। कुन्तक का कहना है कि "सहित अर्थात् मिलित शब्द और अर्थ काव्य-समज्ञों के आह्लादजनक और वक्रतामय कवि-व्यापार से पूर्ण रचना—बन्ध में विन्यस्त हों तभी काव्य हो सकता है।"[1] अभिप्राय यह कि सहृदयहृदयाह्लादकारी अर्थ और विवक्षितार्थैक वाचक शब्द की जो विशिष्टता है वही वक्रोक्ति है। कुन्तक के मत से यही "वक्रोक्ति कविता का प्राण है।"[2] सारांश यह कि काव्य के शब्द और अर्थ के साहित्य में अर्थात् एक साथ मिलकर भाव-प्रकाश करने के सामञ्जस्य में ही काव्यत्व है। कुन्तक के मत से वक्रोक्ति ही कविता कहलाने के योग्य है। किन्तु वक्रोक्ति में चमत्कार के कारण वे सरसता के भी समर्थक हो जाते हैं।"[3] भामह के 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिः' के सिद्धान्त को कुन्तक ने परिष्कृत रूप दिया है। आजकल का अभिव्यञ्जनावाद प्रायः वक्रोक्ति से मिलता-जुलता है। समता के साथ विषमता भी कम नहीं है। कुन्तक वक्रोक्ति के नाम से एक पृथक् काव्य-सम्प्रदाय स्थापित करने में समर्थ हुए थे।

काव्य और अनुकरण

बहुतों का विचार है कि काव्यरचना का मूल मनुष्यों की अनुकरण-वृत्ति है। इस वृत्ति का यह स्वभाव है कि वह अज्ञातावस्था में ही मानव-हृदय पर अपना प्रभुत्व-विस्तार कर लेती है। नाटकीय दृश्यों में नृत्य आदि देखने तथा संवाद आदि सुनने से मन में स्वयं वैसा करने की जो प्रवृत्ति होती है उसे अनुकरणवृत्ति

---

१ शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ व० जी०

२ वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्। व० जी०

३ सर्वसम्पत्परिस्पन्दि सम्पाद्यं सरसात्मनाम्।
अलौकिकचमत्कारकारिकाव्यैकजीवितम्। व० जी०

कहते हैं। इन दोनों—देखना-सुनना और उनका अनुकरण करना—का संबंध कारण-कार्य-रूप से है।

मानव-हृदय में जन्म से ही अनुकरण की प्रवृत्ति होती है। अनुकरणजनित आनन्द का अनुभव सभी जातियाँ सभी काल में करती हैं, ऐसा अरस्तू का विचार है। उसके कहने का सारांश है कि "सभी प्रकार के काव्य, नाटक, संगीत आदि विशेषतः अनुकरण ही हैं।"[१] "नृत्त-चित्र आदि कलाओं में भी अनुकरण की कार्यकारिता स्पष्ट प्रतीत होती है और उनमें तीनों लोकों का अनुकरण देखा जाता है।"[२] इसी अनुकरण वृत्ति की प्रवलता जब देह-मन में होती है तब काव्य वा नाटक का जन्म होता है। भारतीय विचारकों ने भी अपने-अपने अलंकार के ग्रंथों में नाटकों तथा नाटकीय वस्तुओं की आलोचना के अवसर पर अनुकरण-वृत्ति का उल्लेख किया है।[3]

सृष्टि में काव्य का एक चिरंतन प्रवाह है। इस प्रवाह में कवि-हृदय का योग तीन प्रकार का होता है—अनुकरण, अनुसरण और संग्रहण। इन तीनों साधनों में अनुकरण को काव्य-प्रतिभा की मंदता का द्योतक माना गया है। अनुसरण में कवि-प्रतिभा जागरूक होती है। संग्रहण में प्रतिभा का स्फुरण होता है।

कवि की एक शक्ति कारयित्री अर्थात् काव्यरचना की शक्ति है और दूसरी भावयित्री अर्तात् भावग्रहण की शक्ति है। काव्य-रचना में सृष्टि-शक्ति की अपेक्षा ग्राहक-शक्ति कम महत्त्वपूर्ण नहीं। वस्तु-जगत् के चित्र सभी की दृष्टियों में एक से आते हैं, किन्तु सभी उन्हें एक ही प्रकार से भावजगत् की वस्तु नहीं बना सकते। कवीन्द्र रवीन्द्र ने इस ग्राहिका शक्ति को 'हृदय-वृत्ति का जारक रस' कहा है। बूचर ने इसको उत्पादन वा निर्माण करना (Producing) और क्रोचे ने इसीको

---

1 Epic poetry, Tragedy, Comedy, Dettyrambics, as also, for the most part, the music of the flute and of the lyre—all these are, in the most general view of them; imitation;...
The Poetics

२ यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता। चित्रसूत्र

३ (क) लोकवृत्तानुकरणं शास्त्रमेतन्मया कृतम्। भरत
(ख) अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्। दण्डी

प्रकृति का भावानुकूल अनुकरण (idealizing imitation of nature) कहा है ।

काव्यसृष्टि विशुद्ध अनुकरण में नहीं गिनी जा सकती, जैसा कि अरस्तू आदि पाश्चात्य समीक्षकों का सिद्धान्त है। क्योंकि काव्यरचना में कवि की अनुभूति कल्पना और भावना द्वारा अनुरंजित होती है। फल-स्वरूप अनुकरण ही काव्य का सर्वस्व नहीं हो सकता। काव्य में अनुकरण का योग होता है—'छायामनुहरति कविः'।

अरस्तू ने भी अनुकरण के सम्बन्ध में कहा है कि "अनुकरणकारी होने के कारण कवि तीन विषयों में से एक विषय का अनुकरण कर सकता है—"वस्तु जैसी थी वा है; वस्तु जैसी होने लायक कही वा सोची गयी है या वस्तु को जैसी होनी चाहिये।"[1]

अनेक आचार्य वा समालोचक काव्य वा नाटक को संपूर्णतः अनुकरण (imitation) या प्रतिचित्र (representation) नहीं मानते। वे कहते हैं कि "लौलिक पदार्थ से भिन्न अनुकरण का प्रतिबिंब-स्वरूप नाटक होता है।"[2]

काव्य और नाटक

काव्य का प्रारंभ वैदिक काल से ही है और वेदों में काव्यतत्त्वों की बहुलता है। ऋग्वेद के ऊषा-सूक्त में काव्यत्व अधिक पाया जाता है।[3] नाट्य-शास्त्र के आचार्य भरत के कथन से विदित होता है कि आधुनिक नाटक के साथ काव्य का भी इनके पूर्व प्रचार था। वे लिखते हैं कि "महेन्द्र आदि देवताओं ने पितामह ब्रह्मा से कहा कि हम लोग इस प्रकार की क्रीड़ा करना चाहते हैं जो दृश्य और श्रव्य दोनों हो।"[4] दृश्य और श्रव्य नाटक और काव्य हैं।

---

1 The poet being an imitator ... ...must of necessity imitate one of the three objects—things as they were or are, things as they are said or thought to be or things as they ought to be. *The Poetics*

२ तत्र नाटकं नाम लौलिक-पदार्थ-व्यतिरिक्त' तदनुकार-प्रतिबिम्ब······।

३ 'काव्यालोक'—द्वितीय उद्योत की भूमिका देखें।

४ महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः।
क्रीड़नीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्। नाट्यशास्त्र

सत्य और तथ्य की दृष्टि से काव्य और नाटक में कोइ अन्तर नहीं है। दोनों का ही उद्देश्य है विशेष को निर्विशेष करना। अर्थात व्यक्ति-विषयक वस्तु को सार्वजनिक रूप देना, वस्तु को वैयक्तिक न रखना। दृश्य हो चाहे श्रव्य, एक उद्देश्य होने से दोनों ही काव्य शब्द से अभिहित होते हैं। कहा भी है—'काव्येषु नाटकं श्रेष्ठम्'। काव्यों में नाटक की श्रेष्ठता का कारण यह है कि श्रव्य काव्य का केवल श्रवणेन्द्रिय से सुनकर मन से उपभोग होता है और नाटक के उपभोग में आँख कान और मन, तीनों का उपयोग होता है।

नाटक और काव्य दोनों का जीवन रस ही है।[1] इस विषय में आचार्यों का मतभेद है कि दोनों का रस एक ही है वा काव्य की अपेक्षा नाटक का रस श्रेष्ठ है वा नाटक की अपेक्षा काव्य का। अभिनवगुप्त लिखते हैं कि "समग्ररूप नाट्य से रस-समूह की उत्पत्ति होती है, या नाट्य ही रस है या रस ही नाट्य है। रस-समूह केवल नाट्य ही में नहीं, काव्य में भी होता है। काव्यार्थ के विषय में भी प्रत्यक्ष के समान ज्ञानोदय होने से रसोदय होता है। काव्य नाटक ही हैं।"[2] ये काव्य को दशरूपात्मक ही मानते हैं। इनके मत से दोनों एक हैं और दोनों का रस एक ही है।

काव्य दशरूपात्मक ही होता है, यह मत मान्य नहीं हो सकता। यद्यपि नाटक में नृत्य, गीत आदि के मिश्रण से नाट्य रस का आस्वादन सहज प्रतीत होता है, किन्तु काव्य-रस की ही प्रधानता है। क्योंकि कवि काव्य में अव्यक्त को भी व्यक्त करता है, अदर्शनीय तथा अननुमेय को भी दर्शनीय तथा अनुमेय बनाता है और हृदयोद्वेलित भावों की अभिव्यक्ति में समर्थ होता है। ये बातें नाटक में संभव नहीं, यद्यपि इनमें से कुछ की पूर्ति सिनेमा-संसार ने कर दी है। एक बात और। सहृदय पाठकों का चित्त काव्यपाठ-काल में जैसा अन्तर्मुखी होकर उसकी कल्पना, व्यञ्जना तथा रस में लीन होता है वैसा नाटक देखने में नहीं। इस दशा में नाटक के रस की अपेक्षा काव्य का रसास्वादन ही गंभीर होता है। इसीसे भोजराज कहते हैं कि

---

१ रसादयो हि द्वयोरपि तयोर्जीवभूताः। ध्वन्यालोक

२ नाट्यशास्त्र। ६। ३६ पृ० २९१-५

"अभिनेताओं की अपेक्षा कवि ही सम्माननीय हैं और अभिनेय-समूहों—नाटकों की अपेक्षा काव्य समादरणीय है।"[1]

काव्यों में जैसे बुद्धितत्त्व, कल्पनातत्त्व, भावतत्त्व और काव्याङ्गतत्त्व माने गये हैं वैसे ही नाटक के भी पाँच तत्त्व माने गये हैं, जिन्हें नाटकीय रेखा (Dramatic line) कहते हैं।

वे हैं—१ संघर्ष का सूत्रपात (Irtroduction, initial incident) २ संघर्ष की वृद्धि (Rising action or growth of action or complication) ३ संघर्ष की चरम सीमा (Climax, crisis, or turning point) ४ संघर्ष का ह्रास वा प्रबल शक्ति का जयघोष (Falling action, or resolution or denouement) ५ संघर्ष का अवसान या उपसंहार (Conclusion or catastrophe)। ये हमारे कथावस्तु के आरंभ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति और फलागम नामक पाँचो अंग ही हैं।

काव्य और नाटकों में रस-तत्त्व को लेकर इस प्रकार भी भेद किया जा सकता है कि सभी रस अभिनेय नहीं हो सकते, पर अभिधेय होते हैं। सब रसों का काव्य में वर्णन हो सकता है पर सब रसों का—शान्त, वात्सल्य आदि का—वैसा अभिनय नहीं हो सकता जैसा कि अन्य रसों का। इसीसे भरत ने 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' लिखा है और शान्त को छाँट दिया है। यह भी ध्यान देने की बात है कि नाट्य-रस को काव्य-रस में लाया जा सकता है पर काव्य-रस को नाट्य-रस में नहीं। पर पाश्चात्य-विवेचक काव्य को ऐसा महत्त्व नहीं देते। अरस्तू कहते हैं कि "सुचारु रूप से लक्ष्य-सिद्धि करने के कारण वियोगान्त नाटक ही सर्वश्रेष्ठ कला है।"[2]

शब्द

शब्द का धातुगत अर्थ आविष्कार करना और शब्द करना भी है[3]। शब्द का अर्थ अक्षर, वाक्य, ध्वनि और श्रवण भी है[4]।

---

१ अतः अभिनेतृभ्यः कवीन् एव बहु मन्यामहे,
अभिनयेभ्यः काव्यमेवेति। शृङ्गारप्रकाश

2. Tragedy is the higher art, as attaining its end more perfectly.

३ शब्द आविष्कारे। शब्द शब्दकरणे। सिद्धान्तकौमुदी

४ शब्दोऽक्षरयशोगीतयोर्वाक्ये खे श्रवणे ध्वनौ। हैमः

हम कान से ध्वनि सुनते हैं और वही ध्वनि चित्त में पैठकर ध्वनिरूप तथा संकेतित अर्थ-रूप की सहायता से एक साथ ही वस्तु को उद्भासित कर देती है। इसीसे पतंजलि का कहना है कि "लोक में पदार्थ की प्रतीति करानेवाली ध्वनि ही शब्द है"[१]। ध्वनि (Sound) और अर्थ (Sense or meaning) दोनों के संयोग से ही शब्द की उत्पत्ति होती है। अत: जहाँ शब्द है वहाँ कोई न कोई संकेतित अर्थ अवश्य है और जहाँ कोई मनोगत अर्थ रहता है उसका बोधक कोई न कोई प्रचलित शब्द अवश्य रहता है। अभ्यासवश हमें बोध होता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ऐसा है कि एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता।

"जो साक्षात् संकेतित अर्थ का बोधक शब्द है वह वाचक कहलाता है।"[२] वाचक शब्दों का अपना-अपना अर्थ उन वस्तुओं के संकेत-ग्रह—शब्दों के निश्चित सम्बन्ध-ज्ञान पर निर्भर रहता है। इस संकेत और संकेतित अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। जहाँ संकेत होगा वहाँ संकेतित अर्थ अवश्य रहेगा। संकेत और उसके ज्ञान की सहायता से शब्द का अर्थबोध होता है। इसी बात को प्रकारान्तर से क्रोचे भी कहता है—"प्रत्येक यथार्थ ज्ञान वा उपलब्धि तथा अन्तरुपस्थापन्न भी एक प्रकार की अभिव्यक्ति ही है। विषय-रूप से जिसकी अभिव्यक्ति नहीं होती उसकी उपलब्धि वा अन्त-रुपस्थिति भी नहीं होती"[3]।

कहते हैं कि "एक शब्द का यदि सम्यक् ज्ञान हो जाय और सुन्दर रूप से उसका प्रयोग किया जाय तो वह शब्द लोक और परलोक, दोनों में अभिमत फल का दाता होता है।"[४]

कुन्तक के कथनानुसार सुष्ठु प्रयोग वही है जो "अन्य अनेक वाचकों के रहते हुए भी विवक्षित अर्थात् अभिलषित अर्थ का

---

१ प्रतीतिपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। **महाभाष्य**

२ साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः। **काव्यप्रकाश**

3 Every true intuition or representation is, also, expression. That which does not objectify itself in expression is not intuition or representation······

Aesthetics

४ एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति।

महाभाष्य

एकमात्र वाचक होता है वही शब्द है।"[१] इसी बात को वाल्टर पेटर भी कहता है कि "काम चलाने के लिये अनेक शब्दों के होते हुए भी एक वस्तु, एक विचार, के लिये एक ही शब्द उपयुक्त है।"[२] इसके विषय में दण्डी कहते हैं—"सम्यक् प्रयोग होने से कामधेनु के समान शब्द हमारा सर्वार्थ सिद्ध करता है और दुष्प्रयुक्त होने से प्रयोक्ता की ही मूर्खता को प्रमाणित करता है।"[३]

पाश्चात्यों ने शब्दों का एक संगीत धर्म भी माना है। शब्दों की संगीतात्मकता दो कारणों से आती है। एक तो है ध्वन्यात्मकता, जो रसानुकूल वर्णों की रचना तथा अनुप्रास, यमक जैसे शब्दालंकारों से आती है, और दूसरा है छन्दोविधान। इस विधान के रस-भावानुकूल होने से शब्दों की गेयता बढ़ जाती है। कर्ण-सुख-दायकता ही संगीत है। कुन्तक कहते हैं कि "अर्थ का विचार यदि न भी किया जाय तो भी प्रबन्ध-सौन्दर्य की सम्पत्ति से सहृदयों के हृदयों में आह्लाद उत्पन्न होता है।"[४] एक विदेशी कवि का भी यही कहना है कि "मैं दो बार कविता सुनना चाहता हूँ, एक बार संगीत के लिये और दूसरी बार अर्थ के लिये।"[५] इसी से कार्लाइल ने कहा है कि "हम काव्य को संगीतमय विचार कहते हैं।"[६]

अर्थ

अर्थ शब्द के अनेक अर्थ हैं। साहित्य-शास्त्र में किसी शब्द-शक्ति के ग्रह अथवा ज्ञान से संकेतित, लक्षित वा द्योतित जिस व्यक्ति की उपस्थिति होती है उसे अर्थ कहते हैं।

---

१ शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि। वक्रोक्तिजीवित

2 The one word for the one thing, the one thought, amid the multitude of words, terms might just do...
Appreciation, Style.

३ गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति। काव्यादर्श

४ अपर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसम्पदा।
गीतवत् हृदयाह्लादं तद्विदां विदधाति यत्। व० जीवित

5 Repeat me these verses again...for I always love to hear poetry twice, the first time for sound and latter for sense *The Rudiment of Criticism.*

6 Poetry, therefore, we will call musical thoughts.

यहाँ व्यक्ति शब्द से केवल मनुष्य—प्राणी का अर्थ नहीं लेना चाहिये। किन्तु उन सभी मूर्त, अमूर्त द्रव्यों का, जो[1] व्यक्ति, जाति या आकृति के द्वारा अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही शक्ति है। यह सम्बन्ध वाच्य-वाचक के नाम से अभिहित होता है। उसी सम्बन्ध के विचार से प्रत्येक शब्द अपने अर्थ को उपस्थित करता है। बिना सम्बन्ध के शब्द में किसी अर्थ के बोध कराने की शक्ति नहीं रहती। सम्बन्ध उसे अर्थवान् बनाता है, उसमें शक्ति का संचार करता है।

संकेत और उसके ज्ञान की सहायता से शब्द का अर्थबोध होता है। संकेत-ग्रहण—शब्द और अर्थ का सम्बन्ध-ज्ञान अनेक कारणों से होता है। उन में व्याकरण, व्यवहार, कोष आदि सुप्रसिद्ध हैं।

साक्षात् संकेतित अर्थ के बोधक व्यापार को अभिधा कहते[2] हैं। यह मुख्य अर्थ की बोधिका प्रथमा शक्ति है। अभिधा अर्थ-ग्रहण कराती है। अभिधा का कार्य बिम्बग्रहण कराना भी है। इसीको अर्थ का चित्र-धर्म भी कहते हैं। इसीसे काव्य में चित्र-चित्रण, दृश्योपस्थापन तथा मूर्तिविधान संभव है। अर्थ के चित्र-धर्म से अपरिस्फुट भाव भी परिस्फुट हो जाता है।

जब हम कहते हैं कि 'वह रो रही थी' तो कोई चित्र उपस्थित नहीं होता। पर जब कहते हैं कि 'आखों से आँसू उमड़ रहे थे और ओठ फड़फड़ा रहे थे' तो एक रोने का रूप खड़ा हो जाता है। इसके लिये उपयुक्त शब्द-विधान आवश्यक है। यही कवि का लक्ष्य भी होना चाहिये।

"अर्थ वह है जो सहृदयों के हृदयों में आह्लाद उत्पन्न करता है और स्वस्पन्द में अर्थात् आत्म-भाव में सुन्दर होता है।"[3] वही शब्द है, वही वाचक है जो कवि के अभिलषित अर्थ को विशेष भाव से

---

१ व्यक्तिस्तु पृथगात्मता। अर्थात् अन्य वस्तुओ से किसी वस्तुविशेष का निरालापन। अमर

२ तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा। साहित्यदर्पण

३ अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः। व० जी०

प्रकाशित करने की क्षमता रखता है। ऐसा न होने से वह अर्थ कहलाने का अधिकारी नहीं है।[1]

अर्थ और भाव एक होते हुए भी एक नहीं हैं। प्रत्येक अर्थ वा वस्तु का यथास्थित रूप काव्य का रूप नहीं होता। वस्तु का प्रथम रूप अर्थ है और कवि के अन्तर-लोक में भावित होने से वही अर्थ भाव का रूप ग्रहण कर लेता है। पहला वाह्य रूप है और दूसरा आन्तर। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि अर्थ और भाव दोनों सहचर हैं। कहीं अर्थ की प्रधानता होती है और कहीं भाव की। साधारणत: भाव-धर्म (emotional aspects) के प्रधान होने से अर्थ-धर्म (intellectual aspects) गौण हो जाता है और अर्थ-धर्म के प्रधान होने से भाव-धर्म गौण। निर्भाव अर्थ नहीं होता और निरर्थ भाव नहीं होता। रिचार्ड्स कहता है कि "हम अर्थ से भाव की ओर जाँय या भाव से अर्थ की ओर या दोनों को एक साथ ही ग्रहण करें, ऐसा अक्सर करना पड़ता है—पर इनके परिणाम में आश्चर्यजनक विभिन्नता दीख पड़ती है।"[2]...इससे भी वस्तु वा अर्थ के दो रूप लक्षित होते हैं।

अर्थ-विचार में केवल वाच्यार्थ वा अभिधेयार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ ही नहीं आते; बल्कि रस, भाव, अर्थालंकार, गुण तथा रीति भी सम्मिलित हैं। ये सभी अर्थ के चित्रात्मक तथा संगीतात्मक होने में सहायक हैं। इनके विषय में रवीन्द्रनाथ कहते हैं—"चित्र और संगीत ही साहित्य के प्रधान उपकरण हैं। चित्र भाव को आकार देता है और संगीत भाव को गति। चित्र देह है और संगीत प्राण।"

इस प्रकार शब्द और अर्थ के तीन मुख्य धर्म हैं—संगीतधर्म, भावधर्म और चित्रधर्म।

तीन प्रकार के अर्थ

काव्य का सर्वस्व अर्थ ही है। शब्द तो उसके वाहन-मात्र हैं। शत-प्रतिशत अर्थ ही पर शब्द-शक्तियाँ निर्भर हैं। रस अर्थगत ही है।

1 कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम्। वक्रोक्तिजीवित

2 Whether we proceed from the sense to the feeling or vice versa or take them simultaneously, as often we must, may make a prodigious difference in the effect.........*Practical Criticism Appendix*.

अलङ्कार प्राय: अर्थालङ्कार ही हैं। रीति-गुण भी अर्थ से असम्बद्ध नहीं कहे जा सकते। कहना चाहिये कि बात की करामात तभी है जब वह सार्थक हो। निरर्थक सुललित पदावली भी उन्मत्त-प्रलाप की कोटि में ही रक्खी जायगी।

प्राच्य आचार्यों ने तीन प्रकार के अर्थ माने हैं—१ वाच्य, २ लक्ष्य और ३ व्यङ्ग्य[१]। लेडी वेल्वी ने भी यही स्थिर किया है—"सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों में एक मात्र यही गुरुतर प्रश्न उपस्थित होता है कि इसका विशेष धर्म क्या है? पहला है वाच्यार्थ, जिस अर्थ में यह प्रयुक्त होता है। दूसरा है लक्ष्यार्थ। इससे प्रयोग-कर्ता का अभिप्राय समझा जाता है। और, सर्वापेक्षा आवश्यक और अत्यधिक व्यापक व्यङ्ग्यार्थ वा ध्वनि है जो चरम अभिप्रेत है।"[२] संस्कृत में भी व्यञ्जित, ध्वनित, प्रतीत, अवगत, सूचित अर्थ ही का महत्त्व है।

उद्धरित वाक्य का विचार रिचार्ड्स ने चार दृष्टि-कोणों से किया है। उनके नाम १ सेंस (Sense) अर्थ, २ फीलिंग (Feeling) भाव, ३ टोन (Tone) सुर वा ढंग और ४ इन्टेंशन (Intention) अभिप्राय[3]।

सेन्स और फीलिंग—अर्थ और भाव, दोनों वाच्यार्थ के अन्तर्गत आ जाते हैं। क्योंकि वाच्यार्थ के भीतर बुद्धिगत अर्थ और हृदयगत भाव, दोनों का समावेश हो जाता है। कहने का ढंग और उसका समझना, वक्ता और बोद्धा से सम्बन्ध रखने के कारण एक प्रकार के वाच्यार्थ ही हैं। क्योंकि वाच्यार्थोपलब्धि के लिये ही वक्ता ढंग, सुर वा प्रकृति को अपनाता है। जहाँ वक्ता और बोधव्य का वैशिष्ट्य रहता है वहाँ व्यञ्जना मानी जाती है। इन्टेन्सन लक्ष्यार्थ को भी लक्ष्य में लाता है।

व्यङ्ग्यार्थ को spirit, suggested sense, significance,

---

१ अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यंग्यश्चेति त्रिधा मतः। सा० दर्पण

2. The one crucial question in all expression is its special property, first of sense, that in which it is used, then of meaning as the intention of the user, and most far reaching and momentous of all, of implication, of ultimate significance.—*Significs and Language.*

3. Practical Criticism.

व्यञ्जना शक्ति को power of suggestion, evocation in the listener और व्यञ्जना-व्यापार को suggestion कहते हैं।

शुक्लजी लिखते हैं—'अर्थ से मेरा अभिप्राय वस्तु या विषय से है। अर्थ चार प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोपलब्ध और कल्पित। प्रत्यक्ष की बात हम छोड़ते हैं। भाव या चमत्कार से निःसंग विशुद्ध रूप में अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन-विज्ञान है। आप्तोपलब्ध का क्षेत्र इतिहास है। कल्पित अर्थ का प्रधान क्षेत्र काव्य है। पर भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं और होते हैं।"[1]

किन्तु इनके अतिरिक्त भी उपमित और अर्थापन्न अर्थ होते है। उपमित का अर्थ है एक के सदृश दूसरा। सभी काव्य-प्रेमी काव्य में सदृश अर्थ की व्यापकता को मानते हैं। बहुत-से अलंकारों की जड़ तो यह सादृश्य-मूलक उपमित अर्थ ही है। अर्थापन्न अर्थ भी काव्य में आता है। अर्थापन्न का अर्थ होता है आ पड़ा हुआ अर्थ। अर्थापत्ति अलंकार का मूल यही अर्थ है।

ध्वनिकार ने कहा है कि "अङ्गना के सुगठित अंगों में जैसे लावण्य —सौष्ठव, कान्ति, चमक-दमक, एक अतिरिक्त पदार्थ है वैसे ही कवियों की वाणी में एक ऐसी कोई वस्तु होती है जो शब्द, अर्थ, रचना-वैचित्र्य आदि से अलग प्रतीयमान होती है।"[2] ब्रैडले साहब भी यही बात कहते हैं......"किन्तु इसकी (शब्दानुक्त वस्तु की) व्यञ्जना अनेक कविताओं में, भले ही सब कविताओं में न हो, विद्यमान रहती है। इसी व्यञ्जना में, इसी अर्थ में काव्य-सम्पत्ति का एक श्रेष्ठ अंश निहित रहता है। यह एक भावात्मा है या ध्वन्यात्मा।"[3] यह तो काव्य की आत्मा ध्वनि है—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' ही कहना है।

काव्य में जितना ही अर्थ व्यञ्जित होगा उतनी ही उसकी

---

१ इन्दौर का भाषण

२ प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥ ध्वन्यालोक

3 ......but the suggestion of it in much poetry, if not all, and poetry has in this suggestion, this 'meaning' a great of its value......It is a spirit. *Oxford lectures on Poetry.*

सम्पत्ति बढ़ेगी। यद्यपि अर्थावगम अर्थकर्ता के बुद्धि-वैभव पर निर्भर करता है तथापि महाकवियों की वाणी से अर्थ का उत्स फूटा पड़ता है और एक-एक वाक्यांश के अनेकानेक अर्थ किये जा सकते हैं।

साहित्य

"एक हूँ बहुत हो जाऊँ"[१] इस प्रकार परमात्मा की इच्छा से सृष्टि का समारम्भ हुआ। आदि मानव ने संसार की अपूर्व झाँकी देखी। उस पर वह मुग्ध था। पर मूक था—अवाक् था।

परस्पर इंगितों—संकेतों से काम चलने लगा। किन्तु इससे मन के भाव स्पष्ट हो नहीं पाते थे। अचानक उच्छ्वसित हृदय से उठी हुई ध्वनि कंठ से फूट निकली। क्रमशः उसमें स्पष्टता आयी।

अभिप्राय प्रकट करनेवाले शब्दात्मक साधन का नाम हुआ बोली। व्यापक और परिष्कृत हो जाने से बोली का नाम हुआ भाषा। जब नानाविध अर्थों के प्रकाशन में विलक्षण चमत्कार पनपने लगे तब भाषा ने साहित्य का रूप धारण किया।

यथासमय संचित साहित्य के—वाङ्मय के दो रूप दिखाई पड़े। "इन्हें क्रमशः शास्त्र और काव्य की संज्ञा दी गयी।"[२] आप इन्हें ज्ञान का साहित्य (Literature of Knowledge) और भाव का साहित्य (Literature of Power) भी कह सकते हैं।

'धीयते' अर्थात् जो धारण किया जाय वह है हित। हित के साथ जो रहे वह है सहित और उसका भाव है 'साहित्य'। अथवा सहित्य अर्थात् संयुक्त वा सहयोग से अन्वित का जो भाव है वह साहित्य है। साहित्य का तृप्त भी अर्थ है। इसका भाव भी साहित्य है।

हित के साथ वर्तमान इस अर्थ में सभी प्रकार के साहित्य आ जाते हैं। सहयोगान्वित के अर्थ में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ग्रहण हो जाता है। साहित्य श्रोताओं का तृप्तकारक होता है। अतः अन्त का अर्थ भी सार्थक है। साहित्य शब्द के अन्य भी अनेक विग्रह और अर्थ किये जाते हैं।

---

१ सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। तैत्तिरीय

२ शास्त्रं काव्यञ्चेति वाङ्मयं द्विधा। काव्यमीमांसा

साथ के अर्थ में गुप्तजी ने साहित्य शब्द का प्रयोग किया है।

तदपि निश्चिन्त रहो तुम नित्य, यहाँ राहित्य नहीं साहित्य।

साहित्य शब्द का नये-नये अर्थों में भी प्रयोग होने लगा है। गुप्तजी का ही एक और पद्य देखें।

नयी नयी नाटक सज्जायें सूत्रधार करते हैं नित्य।
और ऐंद्रजालिक भी अपना भरते हैं नूतन साहित्य॥

यहाँ साहित्य का कौशल आदि अर्थ लिया जा सकता है। जैनेन्द्रजी का एक वाक्यांश है—

अपनी अनोखी लगन और अपने निराले विचार-साहित्य के कारण कल वे ही आदर्श मान लिये जाते हैं।

यहाँ यदि साहित्य का उपर्युक्त ही अर्थ है तो उत्तम, नहीं तो यदि विचार-वैभव, विचार-गाम्भीर्य-विचार-वैचित्र्य या ऐसा ही कोई नया अर्थ लिया गया तो साहित्य शब्द के अर्थ का यह नवीन अवतार समझा जायगा। अब तो यह शब्द विज्ञाप्य वस्तु के विज्ञापन की वाङ्मय सामग्री के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा है।

सबसे पहले शब्द और अर्थ के सहित की बात भामह[1] ने कही है और उसे काव्य की संज्ञा दी है। फिर तो रूद्रट[2] मम्मट[3] आदि कई आचार्यों ने 'सहित' शब्द को उह्य रखकर इसको मान्यता दी।

साहित्य की एक परंपरा देखी जाती है। आदि कवि वाल्मीकि के आदि-काव्य रामायण के उत्तरकाण्ड में साहित्य-शास्त्र का नाम क्रियाकल्प[4] आया है। वही शब्द वात्स्यायन के कामसूत्र में भी है। इस क्रियाकल्प शब्द की व्याख्या में जयमङ्गल लिखते हैं— काव्यकरणविधिः—काव्यरचना की रीति ही क्रियाकल्प है अर्थात् काव्यालंकार।[5] काव्यकरणविधि का अर्थ ही साहित्य-शास्त्र है। दण्डी ने भी क्रियाविधि[6] के नाम से इस शब्द को अपना लिया है।

---

१ शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।

२ ननु शब्दार्थौ काव्यम्।

३ तददोषौ शब्दार्थौ……।

४ क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्।

५ क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधिः काव्यालंकार इत्यर्थः।

६ वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्।

कामन्दकीय नीति-शास्त्र में जहाँ स्त्री-सङ्गनिषेध का प्रसंग आया है वहाँ इसका प्रयोग[१] है। अनुमानतः उसी समय से इस शब्द का वर्तमान अर्थ में प्रयोग किया गया होगा जब कि काव्यसाहित्य को शब्द और अर्थ का सम्मिलित रूप मान लिया गया होगा।

राजशेखर ने नवीं शताब्दी में साहित्य शब्द का प्रयोग किया है। वे कहते हैं कि "शब्द और अर्थ के यथायोग्य सहयोग वाली विद्या साहित्य-विद्या है।"[२] कवि ने कहा है कि सत्कवि शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा रखते[३] हैं।

भर्तृहरि ने कहा है कि "संगीत, साहित्य और कला से हीन व्यक्ति साक्षात् पशु हैं।"[४] यहाँ साहित्य काव्य का ही बोधक है। क्योंकि संगीत और कला के साहचर्य से साहित्य काव्य का ही बोधक है। नैषधकार ने साहित्य को सुकुमार वस्तु कहा[५] है जो काव्य ही है। एक कवि का कहना है कि "जिनका मन साहित्य के सुधासमुद्र में मग्न नहीं हुआ।"[६] यहाँ भी साहित्य शब्द काव्य का ही वाचक है। सुधासमुद्र काव्य ही हो सकता है। अतः साहित्य शब्द से काव्य का ही बोध होता है।

शब्द और अर्थ का संमेलन ही साहित्य है। प्राचीन काल से ही पण्डितों ने शब्द और अर्थ के इस गहन सम्बन्ध की ओर ध्यान दिया था। कालिदास ने इसी विचार से "वचन और अर्थ का तात्पर्य समझने के लिये शब्द और अर्थ के समान मिले हुए पार्वती-परमेश्वर की वंदना की थी।"[७] अर्धनारीश्वर महादेव का सम्बन्ध जैसा नित्य है वैसा ही शब्द और अर्थ का भी सम्बन्ध नित्य है। कार्लाइल

---

१ एकार्थचर्या साहित्यं संसर्गं च विवर्जयेत्।

२ शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।

३ शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते। माघ

४ संगीतसाहित्यकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः॥

५ साहित्ये सुकुमारवस्तुनि······

६ येषां न चेतो ललनासु लग्नं मग्नं न साहित्यसुधासमुद्रे।

७ वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ रघुवंश

का भी कहना है कि "क्योंकि देह और आत्मा, शब्द और अर्थ यहाँ, वहाँ, सब जगह, आश्चर्य रूप से सहगामी हैं।"[1]

कुन्तक साहित्य के इस सम्मिलित शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं कि "शब्द और अर्थ का जो शोभाशाली सम्मेलन होता है वही साहित्य है। शब्द और अर्थ का यह सम्मेलन वा विचित्र विन्यास तभी सम्भव है जब कि कवि अपनी प्रतिभा से जहाँ जो शब्द उपयुक्त हो, न अधिक और न कम, वही रखकर अपनी रचना को रुचिकर बनाता है।"[2] पेटर भी कहते हैं कि "अच्छे लेखक अर्थ के साथ शब्द के सुसम्बद्ध होने की प्रत्येक प्रक्रिया में अच्छे लेख की नियमावली, मन की तद्रूप एकता तथा सरूपता के प्रति लक्ष्य रखते हैं...।"[3]

'शब्दार्थौ सहितौ'[3]......इसकी व्याख्या में कुन्तक कहते हैं कि "एक शब्द के साथ अन्य शब्द का और एक अर्थ के साथ अन्य अर्थ का साहित्य परस्परस्पर्द्धिता का ही बोध होता है। अन्यथा काव्यमर्मज्ञों की आह्लादकारिता की हानि होने की सम्भावना है।"[4] कहा है कि "जहाँ शब्द और अर्थ सब गुणों में समान हों, वहीं ही यथार्थ सम्मेलन है, साहित्य है।"[5] हर्बर्ट रीड भी शब्दार्थ-साहित्य के सम्बन्ध में जो कहते हैं उसका सारांश भी यही है कि काव्य में शब्द

---

1. For body and soul word and idea go strongly together here and every where. *The Hero as Poet.*

२ साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काऽप्यसौ
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥ व० जी०

3. All laws of good writing at a similar unity or indentity of the mind in all the process by which the words associated to the import............*Style.*

४ सहितौ इत्यत्रापि शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण साहित्यं परस्परस्पर्द्धित्वलक्षणमेव विवक्षितम्। अन्यथा तद्विदाह्लादकारित्वहानिः प्रसज्येत। व० जी०

५ समौ सर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव संगतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा। व० जी०

और अर्थ का सुन्दर साहित्य अर्थात् शोभाधायक सम्पर्क होना चाहिये।[1]

साहित्य वाह्य जगत् के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है और हम जगत् में अपनेको और जगत् को अपनेमें पाते है। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में "सहित शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का ग्रन्थ-ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है, किन्तु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का, अत्यन्त अन्तरङ्ग मिलन साहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी से संभव नहीं।" टाल्स्टाय भी कहते हैं कि "कला मनुष्यों में भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का द्वार है।"[2] कला साहित्य का साथी है।

साहित्य शब्द आधुनिक कहा जा सकता है, पर काव्य शब्द बहुत प्राचीन है। पहले साहित्य शब्द के लिये काव्य शब्द का ही प्रयोग होता था। वैदिक काल से लेकर इसका निरन्तर व्यवहार हो रहा है। वेद में काव्य शब्द अनेक स्थानों पर आया[3] है और उसका अर्थ होता है—कविकर्म, कवित्व, स्तोत्र, स्तुत्यात्मक वाक्य। काव्य शब्द की व्युत्पत्ति भी यही अर्थ सिद्ध करती है।

संस्कृत में साहित्य शब्द सिद्धान्त ग्रन्थों के लिये एक प्रकार से रूढ़ हो गया है। यह प्राचीन रूढ़ि अब मिटती जा रही है और साहित्य शब्द काव्य का ही नहीं, वाङ्मयमात्र का बोधक होता जा रहा है। इस अर्थविस्तार के कारण अब उसमें विशेषण का संयोग भी आवश्यक होता जा रहा है। जैसे कि संस्कृत-साहित्य, ऐतिहासिक

---

1. Poetry is expressed in words and words suggest images and ideas and in poetry we may be explicitly conscious of both the words and ideas or images with which they are associated. The two must be aesthetically relevant. They must form parts of a single harmonious system As A.C.Bradley has it the meaning and sounds are one; there is, if I may put it to a resonant meaning or a meaning resonance.
2. It (art) is a means of union among men joining them together in the same feeling,
३ आत्मा यज्ञस्य रंह्या सुष्वाणः पवते सुतः प्रत्नं हि पाति काव्यम्। ऋक ९।७।८

साहित्य, लौकिक साहित्य आदि। केवल साहित्य शब्द से काव्यविषयक साहित्य ही समझा जाता है।

शब्द और अर्थ का जो सुन्दर सहयोग है, जो साहित्य है वह काव्य में ही देखा जाता है। अन्यान्य विषयों में शब्द केवल विचार प्रगट करने के उद्देश्य से ही प्रयुक्त होते हैं; उनके सौष्ठव पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता; उनका सुन्दर सहयोग उपेक्षित रहता है। किन्तु काव्य में उनकी समकक्षता अपेक्षित रहती है। अन्यान्य शास्त्रों में शब्दों का बहुत महत्त्व नहीं, पर साहित्य में दोनों बहुमूल्य हैं।[1]

जो प्रोफेसर साहित्य के अर्थात् शब्द और अर्थ के इस श्लाघ्य सम्मेलन के महत्त्व को, उसकी मार्मिकता को हृदयंगम न कर यह कहते हैं कि "काव्य में शब्द और अर्थ की योजना रहती है। ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं। शब्द बिना अर्थ के नहीं रह सकता और अर्थ की अभिव्यक्ति बिना शब्द के नहीं हो सकती। इसलिये यदि यह कहा जाय कि काव्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ साथ-साथ रहते हैं (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्) तो यह लक्षण ऐसा ही है, जैसा यह कहना कि मनुष्य वह है जिसमें नाक, कान, मुँह, हाथ तथा प्राण साथ-साथ रहते हैं। तात्पर्य यह कि ऐसा लक्षण काव्य का स्थूल लक्षण है।"

'काव्य ही क्यों, 'मैं पढ़ता हूँ' जैसे वाक्यों से लेकर विविध विषयों की बड़ी-बड़ी पुस्तकों में भी तो शब्द और अर्थ की योजना है। फिर क्या वे भी काव्य हैं? नहीं तो समझना चाहिये कि आचार्य के लक्षण में क्या तत्त्व हैं; उनके कहने का क्या अभिप्राय है। क्या उनकी बुद्धि स्थूल थी? सहित शब्दार्थ के समझने को सूक्ष्म बुद्धि चाहिये। दूसरी बात यह कि नाक, कान, हाथ, मुँह तथा प्राणवाले केवल मनुष्य ही तो नहीं; पशु-पक्षी, कीट-पतंग जैसे प्राणी भी होते हैं। इस प्रकार उदाहरणीय और उदाहरण, दोनों ही अतिव्याप्तिग्रस्त हैं। यथार्थता यह है कि उक्त लक्षण स्थूल नहीं, सूक्ष्म है और इसके अन्तरङ्ग में पैठने के लिये सूक्ष्म बुद्धि चाहिये।

वस्तु वा विषय

काव्य की वस्तु वा विषय क्या हो, इस सम्बन्ध में पहले जैसी

---

1 नच काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते, सहितयोः शब्दार्थयोः तत्र प्रयोगात्। साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनातिरिक्तत्वम्।

उदारता नहीं दीख पड़ती। भामह कहते हैं कि "ऐसा कोई शब्द नहीं, अर्थ नहीं, विद्या नहीं, शास्त्र नहीं, कला नहीं, जो किसी न किसी प्रकार इस काव्यात्मक साहित्य का अंग न हो।"[१] अतः इस सर्वग्राही, सर्वव्यापक, सर्वक्षोद-क्षम कवि-कर्म का शासक होने के कारण इस साहित्यविद्या को साहित्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, काव्यानुशासन आदि समाख्या प्राप्त हुई है।

"रम्य, जुगुप्सित, उदार अथवा नीच, उग्र, मनोमोदकर, गहन वा विकृत वस्तु, यही क्यों, अवस्तु भी, कहिये कि ऐसा कुछ भी नहीं जो भावक कवि की भावना से भाव्यमान होकर रस-भाव को प्राप्त न हो।"[२]

पर ऐसे उदार आज के साहित्यिक नहीं हैं। वे कहते हैं कि 'आज के युग में शोषकों के अत्याचार, प्रवंचना, शोषितों की वेदना, विकलता, व्यथता तथा किसान-मजदूरों का जीवन ही काव्य के विषय होने चाहिए।' कविता के ये विषय हों, इनके काव्य-विषय होने का कौन निषेध करता है। पर हमारा नम्र निवेदन यह है कि इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ की उक्तियों को ध्यान में अवश्य रक्खें— "लेखनी के जादू से, कल्पना के पारसमणि के स्पर्श से मदिरा का अड्डा भी सुधापान की सभा हो सकता है, किन्तु वह होना चाहिये··· रियलिज्म के नाम पर सस्ती कविताओं की बड़ी भरमार है। पर आर्ट इतना सस्ता नहीं है। धोबी घर के मैले कपड़ों की लिष्ट लेकर भी कविता हो सकती है।······किन्तु विषय-निर्वाचन से रियलिज्म नहीं होता। रियलिज्म का प्रकाश लेखनी के जादू से ही होता है। विषय-निर्वाचन की बात लेकर झगड़ना नहीं चाहिये।" इसका समर्थन शापेनहार इस प्रकार करते हैं कि "कुछ ही वस्तु सुन्दर हों, सो बात नहीं, अपने में प्रत्येक वस्तु सुन्दर है। किन्तु संसार की प्रत्येक वस्तु सुन्दर होने योग्य, एक रूप में ही केवल नहीं, बल्कि

---

१ देखो नोट १ पेज ३४

२ रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीचमुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके। का०

अनेक रूपों में होने योग्य हैं, यदि हमारी प्रतिभा काम करे।[1] यही लेखनी का जादू है।

आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि "रस आदि चित्तवृत्ति-विशेष ही हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो चितवृत्ति की विशेपता को न प्रकट करे।"[2]

प्राचीन तथा नवीन काव्य-संसार तुच्छ से तुच्छ विषयों पर की गयी कविता से शून्य हो, यह कैसे कहा जा सकता है जब कि 'भारतीय आत्मा' तक 'पत्थर की मील' पर कविता लिखते हैं। वस्तुतः वात ऐसी है कि विपय से कविता कविता नहीं होती, कविता से विषय कविता का आकार धारण करता है। विपय कवि-प्रतिभा से ही प्रति-भासित हो सकते हैं। फिर भी कविता के विपय सुन्दर हों तो अच्छा। क्योंकि सुन्दर और उपयुक्त विषय कविता को और भी चमका देते हैं।

यों तो देखने में वस्तु और विषय एक-से प्रतीत होते हैं। पर दोनों भिन्न हैं। वस्तुयें लौकिक होती हैं। क्योंकि वे प्रायः जागतिक पदार्थ होती हैं। पर विपय जागतिक भी हो सकते हैं और अलौकिक भी। दृश्यरूप में भी हो सकते हैं और अदृश्य-रूप में भी। यद्यपि वस्तु की व्यापक व्याख्या की लपेट में सभी कुछ आ सकता है, फिर भी वस्तु विषय की समकक्षता नहीं कर सकती।

वस्तु और विभाव में भी बड़ा अन्तर है। वस्तुयें लौकिक हैं और विभाव अलौकिक। वस्तुयें विभाव तभी हो सकती हैं जब कि कवि रस-भाव उत्पन्न करने का रूप उन्हें दे देते हैं अर्थात् कवि-कौशल से वा कवि के चित्त की भावना से विभावित होकर वस्तुयें ऐसी हो जाती हैं जो सहृदयों के रसोद्रेक में समर्थ होती हैं। इसी दशा में उनका नाम विभाव होता है। वस्तुयें विभाव के मूल वा आदि रूप कही जा सकती हैं। कवि-मानस के व्यापार-विशेष से

---

1 "........there are not certain beautiful things, beautiful each in its own certain way, but every thing in the world is capable of being found beautiful perhaps in many different ways, if only we have the necessary genius. *The Theory of Beauty*

२ चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः। न च तदस्ति वस्तु किञ्चित् यन्न चित्तवृत्ति-विशेषमुपजनयति।

वस्तुयें शब्दों में समर्पित होकर विभाव के नाम से अलौकिकता को प्राप्त कर लेती हैं।

यद्यपि जड़ और चैतन्य की पृथक् सत्ता मान्य है तथापि इनमें एक प्रकार का सम्बन्ध माने बिना निर्वाह नहीं। कारण यह कि चन्द्रोदय से हमें आह्लाद होता है। दुर्गम पथ में हम भयभीत होते हैं। मानव-प्रकृति पर जड़ जगत् के प्रभाव का यह प्रत्यक्ष निदर्शन है। अतः यह मानना होगा कि मानव चित्तवृत्ति से जड़ जगत् का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध कार्य-कारण-रूप है। हमारी परिवर्तनशील चितवृत्तियाँ इस जड़ जगत् के कार्य हैं और जड़ जगत् कारण। इन कारणों का वर्णन जब कवि अपने काव्य में करता है तब इनका नाम विभाव हो जाता है।

विभाव और रूप-रचना

वस्तु का काव्यगत रूप ही विभाव है। कहा है कि "जो सामाजिकगत रति आदि भावों को विभावित अर्थात् आस्वाद-रूपी अंकुर के योग्य बनाते हैं वे विभाव हैं।"[1] यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि विभाव और भाव का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। विभाव और भाव से रूप और रस का ही बोध होता है और रूप ही रस-सृष्टि करता है, या रस को जागृत करता है।

हम निरन्तर हृदय की गति, उद्वेग वा चंचलता का जो अभनुव करते हैं, वही उसका धर्म है। हम इस हृदय की चंचलता को भाव कहते हैं। काव्य का काम है इसी हृदयावेग को भाषा द्वारा प्रकाशित करना अर्थात् इसको दूसरों के अनुभवयोग्य बनाना। यह कार्य सहज भाव से साध्य नहीं। हृदयावेग का सभी अनुभव करते हैं पर प्रकाशन की क्षमता सभी में नहीं होती। इससे सभी कवि नहीं, अभिव्यक्ति-कुशल ही कवि होते हैं। सारांश यह कि कवि जिस भाषा में भावाभिव्यक्ति करता है वह संयत, सुसंबद्ध, सुसंवादि और चित्रात्मक होना चाहिये। Eliot के समालोचक Matthiessen ने स्पष्टतः कहा है कि "कलाकृति में कवि-कृति की ही महत्ता है न कि कवि के भाव और विचार

---

१ विभाव्यन्ते आस्वादाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावाः एभिः इति विभावा उच्यन्ते। सा० दर्पण

की। कलाकार की प्रणाली पर ही गुरुत्व है। कहना चाहिये कि समन्वय, सम्बन्ध-बन्धन ही प्रधान है।"[1]

रूप-रचना के आधार हैं—पौराणिक वा ऐतिहासिक कथा-वस्तु, प्रकृत वस्तु वा कल्पित वस्तु। काव्य की रूप-रचना में केवल भाषा के आवेग-मूलक प्रवाह वा चित्र-धर्म ही मुख्य नहीं हैं। उसके अर्थ का भी मूल्य है। कोई अर्थ भावबोधक, कोई चिन्ताद्योतक और कोई तर्कमूलक हो सकता है। इनका मिश्रण भी अनिवार्य है। यह भाव वा चिन्ता व्यक्तिगत भी हो सकती है और समाजगत भी। अभिप्राय यह कि भाव और चित्र के साथ ये अर्थ भी संयुक्त रहते हैं और रूप-सृष्टि में अर्थ, भाव और चित्र, ये ही तीन बातें हैं जो मिलकर रसोत्पादन करती हैं।

कवि के रचना-काल में इतने उपकरण—भाव, चिन्ता, अभिज्ञता, कामना, आनुषङ्गिक अनेक प्रश्न—आ इकट्ठे होते हैं कि कवि बड़ी सतर्कता से अखण्ड रस-सृष्टि में समर्थ होता है। वह कुछ तो छोड़ देता है, कुछ बदल देता है और कुछ सोच-विचारकर, जाँच-पड़ताल कर, समझ बूझकर अपने मन लायक उपकरणों को गढ़ लेता है। इस प्रकार कवि विभिन्नताओं के बीच ऐसी समता स्थापित कर देता है कि उसका प्रभाव विस्तृत हो जाता है। दर्पणकार कहते हैं "काव्य वस्तु में नायक वा रस के अनुपयुक्त वा विरुद्ध जो कुछ हो उसको या तो छोड़ देना चाहिये वा उसमें परिवर्त्तन कर देना चाहिये।"[2]

रूप-रचना के सम्बन्ध में सबसे बड़ी बात है औचित्य का विचार। कहा है कि "औचित्य के अतिरिक्त रसभङ्ग का और कोई कारण नहीं है। प्रसिद्ध औचित्य-निबन्धन रसतत्त्व की परम उपनिषत् है"[3] अर्थात् काव्यशास्त्र का परमार्थ है। अरस्तू भी यही कहते

---

1. The centre of value in work of art is in the work produced and not in the emotions or thoughts of the poet, that it is not the greatness, the intensity of the emotions and the components, but the intensity of the artistic process, the pressure, so to speak, under which the fusion takes place, that counts.

२ यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्। सा० दर्पण

३ अनौचित्यादृते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा। ध्वन्यालोक

है कि "घटना में ऐसी कोइ बात न होनी चाहिये जो युक्ति वा प्रतीति के परे हो।"[1]

सारांश यह कि कविता में आवेगमय अनुभूति के ऊपर कल्पना शक्ति के कार्य के अतिरिक्त बुद्धि, विवेक, बहुज्ञता तथा बहुदर्शिता का उपयोग नितान्त आवश्यक है। इसीसे सुन्दर रूपसृष्टि संभव है। उत्तम रस के आश्रय मे ही उत्तम रूप की सृष्टि होती है और उत्तम रूप के विभाव (आलंबन) में ही उत्तम रस का प्रकाश होता है। इसीसे कवि गुरु कहते हैं कि "साहित्य-रचना में रूप-सृष्टि का आसन ध्रुव है"।

अनुभाव

विभावना का व्यापार केवल विभाव को ही लेकर नहीं चलता। उसमें अनुभाव भी शामिल है। आलंबन और उद्दीपन विभाव रूप कारण के जो कार्य कहे जाते हैं वे काव्य-नाटक में अनुभाव शब्द द्वारा विख्यात हैं। अनु अर्थात् कारण-समूह के पीछे जिनका भाव अर्थात् जिनकी उत्पत्ति होती है वे अनुभाव हैं। विभाव-समूहों के अन्तर्गत भाव का जो अनुभव कराते हैं वे भी अनुभाव हैं।"[२] यों भी कह सकते हैं कि लौकिक भाव या चित्त-वृत्ति की अपेक्षा करके इनकी उत्पत्ति होती है।

व्यावहारिक जगत् में देखा जाता है कि जब कभी हमारे हृदय में क्रोध आदि भावों में से कोई जाग उठता है तो उसके साथ ही शारीरिक क्रिया भी (Physical modification) दीख पड़ती है। क्रुद्ध व्यक्ति की आँखें लाल हो जाती हैं, शिरायें स्फीत हो जाती हैं, नासा-रन्ध्र स्फुरित हो उठते हैं, मुट्ठियाँ बँध जाती हैं। क्रोधाविष्कार के साथ ये शारीरिक विकार अवश्यंभावी हैं। ये क्रोध के अनुभाव हैं। हाउसमैन ने अनुभाव के प्रभाव से प्रभावित होकर ही यह कह डाला था कि "मुझे तो कविता सचमुच अन्तःकरण की अपेक्षा शारीरिक ही अधिक प्रतीत होती है।"[3]

---

1. Within the action there must be nothing irrational.

२ यानि च कार्यतया तानि अनुभावशब्देन। अनु पश्चाद्भावः उत्पत्तिर्येषाम्। अनुभावयन्ति इति वा व्युत्पत्तेः। **रसगंगाधर**

3. Poetry indeed seems to me more physical than intellectual. *The name and nature of Poetry.*

बूचर ने अनुभावों को काय के अन्तर्गत माना है। क्योंकि सब कुछ मानसिक जीवन को प्रकाशित करते हैं; विवेकी व्यक्ति के व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करते हैं।[1] अर्थात् मानसिक भावों के उद्बोधक कार्य ही अनुभाव हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि हमारे आचार्यों ने मनोवेगों के वाह्य अभिव्यञ्जकों अर्थात् शारीरिक अनुभावों का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। भय एक स्थायी भाव है। इसके अनुभाव अनेको हैं जिनमें "मुँह का फीका पड़ जाना, गद्गद स्वर होना, मूर्च्छा, स्वेद और रोमांच होना, कंप, चारों ओर देखना आदि मुख्य हैं।"[2] इसी बात को डार्विन साहब भी कहते हैं कि "भय में कम्प, मुख सूखना, गद्गद स्वर, घबड़ाहट से देखना आदि लक्षण दीख पड़ते है।"[3]

शारदातनय ने आन्तर भावों तथा वाह्य शारीरिक विकारों के सम्बन्ध का जो सूक्ष्म विवेचन किया है उससे उनकी मनोविश्लेषण-शक्ति का जो परिचय मिलता है वह विस्मयजनक है। उन्होंने सात्विक के अतिरिक्त दस मानसिक, बारह वाचिक, दस शारीरिक और तीन बौद्धिक अनुभावों का उल्लेख किया है। इनमें कुछ के अवान्तर भेद भी किये हैं।

यह वात ध्यान देने योग्य है कि साहित्यिक अनुभाव लौकिक चित्तवृत्ति-जनित कार्यों के अनुरूप ही हैं तथापि यथार्थतः लौकिक चित्तवृत्ति के कार्य-स्वरूप होते हुए भी अनुभाव साहित्यिक रसात्मक चित्तवृत्ति के कारण हैं। क्योंकि रसनिष्पत्ति में इनका भी संयोग आवश्यक है।"[4]

---

1. Everything that expresses the mental life, that reveals a rational personality, will fall within this large sense of action.

२ अनुभावोऽत्र वैवर्ण्यं गद्गदस्वरभाषणम्।
प्रलयस्वेदरोमाञ्चकम्पदिक्प्रेक्षणादयः॥

3. One of the best symptoms is the trembling of all the muscles. From this cause the dryness of the mouth the voice becomes hursky or indistinct or may altogether fail. The uncovered and protruding eye balls are fixed on the object of teror as they may roll from side to side.

४ विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। नाट्यशास्त्र

भाव

कोषकार ने तो 'चित्त, मन, हृदय, स्वान्त आदि को एकार्थक मानकर एक साथ ही पद्य में गूँथ दिया है[१]; किन्तु शास्त्रकारों ने इनकी विशेषता का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। शरीर-शास्त्र-वेत्ताओं की दृष्टि में हृदय का कुछ दूसरा ही रूप है। साहित्यकारों की दृष्टि में हृदय हमारी सत्ता का वह अंश है जिसका हम चंचलता की अवस्था में अपने भीतर सदा अनुभव करते रहते हैं। कभी वह हर्ष से तो कभी क्रोध से, कभी शोक से तो कभी भय से चंचल हो उठता है। यदि इस प्रकार का कोई प्रभाव हमपर नहीं पड़ता तो भी हृदय निश्चल वा निस्तरङ्ग नहीं रहता। क्योंकि चंचलता ही उसका मूल धर्म है। हृदय के इसी मूल धर्म को भाव कहते हैं।[२]

गौतम का कहना है कि 'जब तक यह पार्थिव शरीर आत्म-संयुक्त रहेगा तब तक पूर्वजन्म की वासना वा संस्कार (impression) वा प्रवृत्तियाँ नित्य रूप से उसके साथ विद्यमान रहेंगी।'[३] नवजात शिशु को अपरिचित विकृत आकार-वेष को देखकर भयभीत होने का कारण पूर्वजन्मार्जित भयात्मक वासना (instinct of fear) ही है। ऐसी प्रवृत्तियाँ सहजात (congenital) होती हैं। क्रम-विवर्तन-वादी वैज्ञानिक भी इस बात को मानने लगे हैं। ये वासनायें ही मानव मन में भाव का आकार धारण करती हैं।

भाव के अनेक अर्थ हैं; पर साहित्य में मुख्यता रति, शोक, मोह, आलस्य आदि स्थायी और संचारी भावों की ही है। अंग्रेजी में इसके लिये इमोशन (emotion) का ही व्यवहार है। किन्तु मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि भाव या इमोशन शुद्ध सुख-दुःखानुभूति नहीं, बल्कि सर्वावयव मानसिक अवस्था (Complete psychosis) है। अभिप्राय यह कि विचार-मिश्रित सुख-दुःखानुभूति भाव है। यह भाव ज्ञानात्मक होता है। जैसे ज्ञानमात्र मे भाव की सत्ता विद्यमान रहती

---

१ चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः। अमर

२ भावशब्देन चित्त-वृत्ति-विशेषा एव विवक्षिताः। अ० गुप्त

३ वीतरागजन्मादर्शनात्। न्यायसूत्र

है वैसे भावमात्र में ज्ञान की सत्ता भी रहती है।[1] रिचार्ड्स भी कहते हैं कि 'जो हो, हमारे विचार से रस और भाव की एक ज्ञानात्मक वृत्ति भी है।'[2]

शुक्लजी का यह भाव-लक्षण—"भाव का अभिप्राय साहित्य में तात्पर्य बोधमात्र नहीं है, बल्कि वह वेगयुक्त और जटिल अवस्था-विशेष है जिसमें शरीरवृत्ति और मनोवृत्ति दोनों का योग रहता है। क्रोध को ही लीजिये। उसके स्वरूप के अन्तर्गत अपनी हानि वा अवमान की बात का तात्पर्यबोध, उग्र वचन और कर्म की प्रवृत्ति का वेग तथा त्यौरी चढ़ाना, आँखें लाल होना, हाथ उठाना, ये सब बातें रहती हैं।—रिचार्ड्स के लक्षण का ही भारतीय संस्करण है।[3]

संक्षेप में यह कि भाव तो कभी आस्वादनात्मक चित्तवृत्ति का और कभी साधारण चित्तवृत्ति का बोध कराता है। जो आलोचक दैहिक अवस्थाविशेष के बोध में भाव शब्द का प्रयोग करते हैं उनसे हम सहमत नहीं। क्योंकि 'विकारो मानसो भावः' मानसिक विकार अर्थात् मन का अवस्थाविशेष ही भाव है।

स्थायी और संचारी

स्थायी शब्द का अंग्रेजी प्रतिशब्द है permanent (परमानेंट)। इसको प्राथमिक भाव Primary emotion (प्राइमरी इमोशन) भी कहा जाता है। संचारी भावों को मन की परिवर्तनशील अवस्था transient state of mind (ट्रान्सेन्ट स्टेट आफ माइंड) या अधिक क्षणस्थायी भाव more transient emotion (मोर ट्रान्सेंट इमोशन) कहते हैं।

स्थायी और संचारी भावों में उतना गहरा अन्तर नहीं दीख पड़ता। रति, शोक आदि जैसे वासना वा संस्कार के वश मानव-मन से

---

1 संवित्स्वभावे निमज्जनात् अत एव उन्मज्जनाच्च तेऽपि संविदात्मकाः। अ०

2. Pleasure, however, and emotion have, on our view, also a cognitive aspect.

Principles of Literary Criticism.

3. In popular parlance the term 'emotion' stands for those happenings in minds which accompany such exhibition of unusual excitement as weeping, shouting, blushing, trembling and so on.

सम्बद्ध[1] हैं वैसे ही शंका, हर्ष आदि संचारी भाव भी संस्कारवश पुरुषपरम्परा से मानसिक संसार के उपादान रूप में संक्रमित होते चले आते हैं। दोनों ही संस्कार-स्वरूप हैं।

व्यक्ति-भेद से इन वासनाओं वा संस्कारों में से किसी में कोई अधिक रहता है, कोई न्यून। किसी में एकाधिक भी हो सकता है। यह देखा भी जाता है कि कोई अधिक विलासी होता है और कोई अधिक क्रोधी। ऐसे ही कोई अधिक डरपोक होता है तो कोई अधिक शान्त। किन्तु शंका, असूया आदि ऐसी चित्तवृत्तियाँ है जो विभाव आदि के अभाव में कभी उत्पन्न ही नहीं होतीं। पर ऐसी दशा स्थायी भावों की नहीं है।

अरस्तू ने रसानुकूल अनुकरण (Aesthetic imitation) के जो तीन प्रकार बताये हैं—चरित्र (character) भाव (emotion) और कर्म (action)[2], वे स्थायी भाव, संचारी भाव और अनुभाव ही हैं। बूचर की व्याख्या से यही स्पष्ट ज्ञात होता है।

प्राच्य मनीषियों के समान पाश्चात्य मनीषी भी स्थायी और संचारी का भेद करते हैं। आग्डेन (Ogden) के belief (बिलीफ) और doubt (डाउट) की हम अपने यहाँ की मति और वितर्क से तुलना कर सकते हैं। वे जो कहते हैं उसका सारांश यह है कि ये दोनों स्थायी भाव के समान स्थायी नहीं हैं।[3] आग्डेन का स्पष्ट कहना है कि संशय, विश्वास वा अन्यान्य कोई भी चित्त-वृत्ति, जिसकी गणना संचारी भावों में की गयी है, मन में कोई स्थायी संस्कार वा

---

१ नह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति।

2. For even dancing imitate character, emotion and action by rhythmical movement. *Aristotle's Poetics.*

3. It remains to discuss two other topics which less evidently come under the heading of emotional phenomena.........They are generally less intense than emotions, although pathological forms of doubt and ecstatic belief are not infrenquent.

The A B C of Psychology.

प्रभाव (impression) स्थापित करने में समर्थ नहीं हैं।[1]

यह कहना आवश्यक है कि व्यभिचारी भावों की कोई स्वतन्त्र स्थायी निरपेक्ष चित्तभूमि नहीं है। स्थायी भावों की व्यापक सत्ता से ही इनका उद्भाव है और उनके रंग से ही इनकी रंगीनियाँ हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि संचारियों के संचार से ही स्थायी भावों की सौन्दर्यसृष्टि होती है, यद्यपि उनके वैचित्र्य वा विलास के मूल स्थायी भाव ही हैं।[2] बूचर का भी कहना है कि "इस प्रकार मनस्तत्त्व-सम्मत विश्लेषण से भय होता है प्राथमिक भाव और उससे ही अनुकम्पा अपना अर्थ-लाभ करती है।"[3]

स्थायी भाव और संचारी भाव परस्पर एक दूसरे के उपकारी हैं। वे परस्पर के वैचित्र्य और नूतनता के संपादक हैं। इस बात को भी आग्डेन ने प्राच्यों के समान लक्षित किया है।[4] स्थायी भावों और संचारी भावो के स्वरूप-विश्लेषण में प्राच्यों और पाश्चात्यों का ऐसा संवाद—मेल सचमुच ही आश्चर्य-जनक है।

हृदय-संवाद और वासना

साधारणीकरण और हृदय-संवाद को अधिकांश समालोचक एक ही मानते हैं। एक शब्द 'तन्मयी-भवन-योग्यता' भी है। सहृदय के लक्षण में तन्मयी-भवन योग्यता और हृदय-संवाद दोनों आ जाते हैं। अर्थात् "काव्यानुशीलन के अभ्यासवश मानस-दर्पण के स्वच्छ होने पर जो वर्णनीय विषय में तन्मय होने के योग्य हैं वे ही हृदय-संवादशाली सहृदय है।[5] व्यक्तित्व का विलोप-

1. It may be that the intensity of the belief feeling is no criterion of the permanance of the disposition which it leaves behind.

२ स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।

3. Thus in psychological analysis fear is the primary emotion from which pity derives its meaning.

4. But if these intellectual feelings spring from other emotions they also give rise to them, since they modify so fundamentally the course of our responses.

५ येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशात् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयी-भवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः। ध्वन्यालोक

पूर्वक काव्य-वर्णित भाव के साथ साधारण सम्बन्ध स्थापित करना साधारणीकरण है।

यहाँ संवाद का अर्थ है 'एक हृदय का दूसरे हृदय के समान होना'[१]। अर्थात् पाठकों वा दर्शकों के साथ नायक आदि के हृदय की एकरूपता होना। इस प्रकार इनमें अन्तर लक्षित नहीं होता। चार्ल्स विलियम हृदय-संवाद का यही रूप बतलाता है कि "भाव के हृदय योग में कला की स्थिति है।"[२] इसी का समर्थन भरत यों करते हैं कि "जो हृदय-संवादी अर्थ है उसीका भाव रसोद्भव है। अर्थात् रसानुभूति का कारण हृदय-योग ही है।"[३]

भाव के हृदय तथा वासना से अधिक सम्बन्ध रहने के कारण इसके ये दोनों अर्थ भी किये जाते हैं। हृदय को हृदय-भूमि और वासना को अन्तर्लोक कहें तो इनका एक होना स्वतःसिद्ध है। पहले कभी की अनुभूत रति आदि का अपने अन्तःकरण में जो संस्कार हो जाता है उसी संस्कार को वासना कहते हैं। बूचर कहते हैं कि "यह एक ऐसी मनोवृत्ति कही जा सकती है जिससे मानस-लोक में अनेक प्रकार के रूपों की सृष्टि होती है और हम इच्छानुकूल मन से पूर्व अतीत चित्रों का दर्शन वा स्मरण करते हैं।"[४] "बिना वासना के रसास्वाद नहीं होता।"[५] सामाजिकों के अन्तःकरण में जो रति आदि मनोविकार पहले से ही वासना-रूप में रहते हैं वे विभाव आदि के संयोग से साधारणीकरण द्वारा जाग्रत हो जाते हैं, यही रसास्वादन है[६]।

जन्मान्तरवादी इस वासना को पूर्व जन्म का संस्कार मानते हैं। कालिदास का एक श्लोक है जिसका भाव है—रम्य दृश्य को

---

१ संवादो ह्यन्यसादृश्यम्।

2. Art existed wherever there was a conscious communication of emotion. *The English Poetic Mind.*

३ योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः। **नाट्यशास्त्र**

4. It is treated as an image forming faculty, by which we can recall at will pictures previously presented to the mind.

५ न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्। **सा० दर्पण**

६ तद्विभावादिसाधारण्यवशसंप्रबुद्धोचितनिजरत्यादिवासनावेशवशात्। अ०

देखकर, वा मधुर शब्द सुनकर सुखी मनुष्य भी जो पर्युत्सुक—व्याकुल हो उठता है उसका कारण यही है कि वह निश्चय ही भाव वा वासना रूप में स्थिर जन्मान्तर के प्रेम-प्रसंग का चित्त से अनजाने ही स्मरण करता है।[1] इससे जन्मान्तर की बात स्पष्ट है।

हंस-पदिका गाती है। उसके उस संगीत से दुष्यन्त का चित्त प्रसन्न होने की अपेक्षा उत्कंठित हो उठता है। दुर्वासा के शाप के कारण वे यह सोच न सके कि किस प्रेमिका से मेरा विरह-विच्छेद हुआ है। फिर भी वे सुखी मनुष्य के उत्कंठित होने का कारण समान अनुभूति को बताते हैं जिससे वासना जागरित हो जाती है और पूर्वानुभूत सुख का स्मरण हो आता है। वे चाहते हैं स्मरण करना, पर होता नहीं। यही अबोधपूर्वक स्मरण वासना वा संस्कार का कार्य है।

फ्रायडवादी कहते हैं कि मधुर शब्द सुनकर भी जो सुखी जीव बेचैन हो उठता है उसका कारण यह है कि वह अपने अचेतन मन में स्थिर जन्म-जन्मान्तर के प्रेम-भावों का स्मरण करता है। दुष्यन्त के चेतन मन को शकुन्तला-वियोग का पता नहीं, पर उसके अचेतन मन में यह भाव भरा हुआ है जो उसके चेतन मन पर अज्ञात रूप से प्रभाव डाल रहा है। फ्रायड के मत से भी जन्मान्तर-वाद, संस्कार और वासना की बात सिद्ध होती है।

रस

काव्य का चरम फल रस ही है। क्योंकि उसका परिणाम सहृदयों की रस-चर्वणा वा रसानुभूति ही है। इस रस का आस्वादन बहिरिन्द्रियों से संभव नहीं। साहित्य-रस का उपयुक्त रसनेन्द्रिय साहित्यिकों का अन्तरिन्द्रिय है—अनुभूति-प्रवण चित्त है।

भाषा में प्रकाश करने का उद्देश्य ही है कि पाठक और श्रोता उससे आनन्द-लाभ करें वा उनके जीवन का कोई उद्देश्य सिद्ध हो।

---

१ रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखिनोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि। शकुन्तला

वर्तमान जीवन में जो कुछ हर्ष, शोक आदि भावों का हम अनुभव करते हैं उन भावों की प्रतिच्छवि ललित कलाओं में देखते हैं, सौन्दर्य-सृष्टि में उनका ही प्रतिरूप पाते हैं। वे प्रतिरूप अपने लौकिक भावों के प्रच्छन्न संस्पर्श से चंचल हो उठते हैं और जिस शान्ति की कामना करते है वही शान्ति यथार्थत: हमारे आनन्द की अवस्था है।

विपिनचन्द्र पाल रस और कला की प्रकृतिगत समता के सम्बन्ध में लिखते हैं—"आनन्द, सुख वा प्रसन्नता सभी कलाओं की आत्मा है। चाहे चित्रकला हो, वस्तुकला हो, स्थापत्यकला हो, कविता हो या संगीत हो, कला की आन्तरिक शान्ति आनन्द ही है। भारतीय साहित्य में आनन्द का प्रतिशब्द रस है। परमात्मा को उपनिषदों में रस कहा गया है और उसी रस से सभी जीव आनन्दित होते हैं।"[1]

लौकिक भाव के स्पर्श से जब अन्तर के प्रतिरूप भाव तृप्त होते हैं तब कहा जाता है कि कविता सरस है, उसमें रसोद्बोधन की शक्ति है वा रचना में कवि ने रस-सृष्टि की है। रस कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। भाव की प्रबलता से हमारी अनुभूति जो आस्वादन की क्रिया करती है, आस्वाद की वही अवस्था रसावस्था है।

अनेक आचार्यों ने रस के अनेक लक्षण किये हैं उनमें अभिनव गुप्त के लक्षण का यह आशय है कि "शब्दों मे समर्पित होने और हृदय-संवाद से अर्थात् एकरूपता द्वारा सुन्दर होने पर विभाव और अनुभाव से सामाजिकों के चित्त में पहले से ही वर्तमान रति आदि वासना उद्बुद्ध होती है। उस वासना के अनुराग से सुकुमार होने पर निज संवित् अर्थात् ज्ञान के आनन्द की चर्वणा के व्यापार का जो

1. *Anandam* or bliss or joy is the soul of all art. *This Anandam* is the eternal quest of art whether of painting, sculpture or architecture or poetry or music. A synonym for this *Anandam* in Hindu thought and realisation is *Ras*. The absolute has been described in the *Upanishadas*. 'रसो वै सः' He is *Ras*. Through gaining this *Ras* all being are possessed with *Anand*.

Bengal Vaishnavism.

रसनीय वा आस्वादनीय रूप है वही रस है।"[1] सारांश यह कि भावतन्मय चित्त में संविदानन्द का प्रकाश ही रस है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से डाक्टर वाटवे ने रस का जो लक्षण लिखा है उसका आशय यह है कि "काव्य की उत्कट भावनाओं के सुन्दर प्रकाशन के प्रति सहृदय पाठकों की सुख-संवेदक समग्र प्रत्युत्तरात्मक क्रिया ही रस है।"[2]

श्री अतुलचन्द्र सेन ने रस के सम्बन्ध में क्रोचे का जो उद्धरण दिया है उसका आशय है—"काव्यगत भावाभिव्यञ्जन कोई साधारण अलंकार नहीं, बल्कि वह एक गंभीर आत्म-निवेदन है जिसके परिणाम-स्वरूप हम कष्टकर भावावस्था को पार करके प्रशान्त ध्यान की अवस्था में पहुँच जाते हैं। जो इस रूपान्तर के साधन में असमर्थ हैं, प्रत्युत भावावेग के ववंडर में बह जाते हैं, वे कितनी भी चेष्टा क्यों न करें, न तो स्वयं आनन्द उठा सकते हैं और न दूसरों को ही आनन्द दे सकते हैं।"[3]

इस सम्बन्ध में उनका अभिमत यह है कि 'क्रोचे का जो Poetic idealization है वही आलंकारिकों के भाव और उसके कार्य-कारण का 'सकल-हृदय-संवादी' विभाव और अनुभाव में परिणत होना है। क्रोचे का जो 'passage from troublous emotion to the

---

१ शब्दसमर्प्यमाण-हृदयसंवादसुन्दर-विभावानुभावसमुदित-प्राङ्निविष्टरत्यादि वासनानुराग-सुकुमार-स्वसंविदानन्द-चर्वणव्यापाररूपो रसनीयो रसः।

ध्वन्यालोक

2. The pleasant and total emotional response of a sympathetic reader to the elegant expression of intense emotion in poetry is Ras.

3. For poetic idealization is not a frivolous embellishment, but profound penetration, in virtue of which we pass from troublous emotion to the serenity of contemplation...He who fails to accomplish this passage, but remain immersed in passionate agitation, never succeeds in bestowing pure poetic joy either upon others or upon himself whatever may be his efforts.

काव्यजिज्ञासा

serenity of contemplation है वही आलंकारिकों के लौकिक भावों का आस्वाद्यमान रस में रूपान्तर होना है। Serenity of contemplation दार्शनिक-सुलभ 'मनन' वृत्ति के ऊपर जोर देकर बात कहना है। आलंकारिकों के रसचर्वण की बात ने मूल सत्य को और स्पष्ट कर दिया है।'

इसमें Pure poetic joy ही रस वा काव्यरस है। इसमें पाठक और कवि दोनो की ओर से रससृष्टि की बात उक्त है।

भाव—रस

नाट्याचार्य के इस कथन से—"न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जित:"—भाव के बिना न तो रस ही रहता है और न रस के बिना भाव ही। इनका अन्योन्याश्रय स्पष्ट ही है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि रस के मूल में भाव ही है।

भाव जब रसावस्था को प्राप्त होता है तब वह साधारणीकरण का ही रूप होता है। अंग्रेजी में इस दुर्बोध दार्शनिक दृष्टिकोण को बूचर के कथनानुसार भाव-समूहों का शुद्धि-करण purification of the passions, शुद्धि-प्रक्रिया clarifying process संस्क्रिया refining process कहा गया है। भावावस्था के दूर होने वा लोप होने पर ही रसावस्था होती[1] है। इसका अभिप्राय यह है कि भावावस्था तक व्यक्तिगत भाव दूर नहीं होता, मन के अगोचर प्रदेश में स्थिर आनन्द का प्रकाश नहीं होता। अभिनव गुप्त ने भी कहा है कि परिमित व्यक्तित्व के विलोप से ही भावस्थिर चित्त में रस-स्वरूप आनन्द का विकाश होता है।

लौकिक शोक आदि में दुःख ही होता है पर करुण आदि रसों में जो सुख होता है उसका कारण भावों की रसताप्राप्ति ही है। वेदना तभी तक वेदना रहती है जब तक रस की उच्च भूमि तक नही पहुँचती है। बूचर का यही कहना है कि "विषादात्मक घटना की अग्र गति के साथ-साथ प्रथम सञ्जात मानसिक विक्षोभ जब शान्त हो जाता है तब भाव का निकृष्टतर रूप सूक्ष्मतर और उच्चतर रूप में परिणत

1. In the pleasurable calm which follows when the passion is spent, emotional cure has been wrought. *Poetics.*

देखा जाता है।"[1] यही कारण है कि संभोग शृङ्गार से विप्रलंभ शृङ्गार को मधुरतर और करुण रस को मधुरतम कहा गया है।"[2] यदि शोक भाव भाव ही रह जाता, रसावस्था को प्राप्त न होता, तो करुण रस मधुरतम नहीं होता। कवि जब अपनी प्रतिभा से शोक और उसके लौकिक कारणों से काव्य की अलौकिक सृष्टि करता है तभी पाठकों के मन में रस का आनन्ददायी संचार होता है। यह करुण रस दुःख-दायक शोक भाव नहीं होता।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कौन भाव रसावस्था को प्राप्त होते हैं—स्थायी वा संचारी। यद्यपि संचारी भावों की रसावस्था-प्राप्ति के सम्बन्ध में मतभेद है तथापि यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि संचारियों में स्थायी भावों की-सी रसीभवन की योग्यता नहीं है। इसीसे आचार्यों का बहुमत स्थायी भावों को प्राप्त है और सहृदयों के अनुभव से भी यह सिद्ध है। भोज कहते हैं कि "वे स्थायी भाव ही वासना-लोक से प्रबुद्ध होकर चित्त में चिर काल तक रहते हैं, अपने व्यभिचारी भावों द्वारा सम्बद्ध होते हैं और रसत्व को प्राप्त होते हैं।"[3] इस दशा में संचारियों के रस होने की बात स्तुतिवाद सी ज्ञात होती है। अभिनव गुप्त ने भाव की रसता-प्राप्ति की बात और स्पष्ट कर दी है—रस स्थायी भाव से विलक्षण वा भिन्न होता है[4]। पंडितराज ने लिखा है कि इस प्रकरण में रस शब्द से उसकी उपाधि स्थायी भाव ही गृहीत हुआ है। वासना-रूप से स्थित स्थायी भाव ही चमत्कारक रस हो जाता है।

रसावस्था में ही आत्मानन्द प्रकाश पाता है। प्राच्यों ने जिसे

---

1. As the tragic action progresses, when the tumult of the mind, first roused, has afterwards subsided, the lower forms of emotion are found to have been transmuted into higher and more refined forms.

२ सम्भोगशृङ्गारात् मधुरतरो विप्रलंभः ततोऽपि मधुरतमः करुण इति।

३ चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते संबध्यन्तेऽनुबंधिभिः। रसत्वं प्रतिपद्यन्ते प्रबुद्धाः स्थायिनोऽत्र ते। **स० कण्ठाभरण**

४ चर्व्यमाणतैकसारो नतु सिद्धस्वभावस्तात्कालिक एव नतु चर्वणातिरिक्तकालावलंबी स्थायिविलक्षण एव रसः। **नाट्यशास्त्र**

५ रस पदेनात्र प्रकरणे तदुपाधिः स्थायी भावो गृह्यते। **रसगंगाधर**

'ब्रह्मानन्दसहोदर' आदि शब्दों से अभिहित किया है उसे ही पाश्चात्य पण्डितों ने 'pure and eleveted pleasure', 'joy for ever', 'supreme happiness' कहा है।

साधारणीकरण

पात्रों के चरित्रों को लेकर साधारणीकरण के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठ खड़े हुए हैं। कहा जाता है कि पहले के नायकों में आधुनिक काव्य-उपन्यास-नाटकों के नायकों का अन्तर्भाव नहीं हो सकता इत्यादि। इस सम्बन्ध में इतना ही लिखना पर्याप्त है कि नायक ऐसा हो जिसके चरित्र में कम से कम मानव के सामान्य गुण हों; जिसके साथ हमारी सहानुभूति हो और जिसके सुख-दुःख को हम अपना सुखदुःख समझ सकें।

प्राच्यों के इस साधारणीकरण को पाश्चात्यों ने भी समझा है और समझा ही नहीं, अपना भी लिया है। बूचर ने साफ लिखा है कि "प्रेक्षक अपनी स्वाभाविक सत्ता से ऊपर उठ जाता है। वह दुखिया के साथ ही उसके द्वारा मानव-मात्र के साथ एक हो जाता है।"[1] टाल्सटाय ने अपने कला-प्रबन्ध में अनेक स्थानों पर ऐसे भाव व्यक्त किये हैं जो साधारणीकरण के अतिरिक्त दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता। वे एक जगह लिखते हैं—'यदि कोई लेखक के आत्मभाव से प्रभावित हुआ, अगर उस भाव का अनुभव दूसरों के साथ वैसा ही किया तो वह सफल उद्देश्य ही कला है।'[2] हाउसमन के लिखने का भी सारांश यही है कि 'लेखक और पाठक की भावमैत्री काव्य का एक विचित्र उद्देश्य है।'[3]

---

1. The spectator is lifted out of himself. He becomes one with tragic sufferer and through him with humanity at large.
2. If a man is infected with the author's condition of soul, if he feels this emotion with others, then the object which has effected this is art. —*Essays on Art.*
3. And I think that to transfer, not to transmit thought but to set up in the reader's sense a vibration corresponding to what was felt by the writer—is the peculiar functeon of Poetry.

यह कहना अनावश्यक है कि इन उक्त वर्णनों से हमार साधारणीकरण की एकात्मकता है। यही तो हमारा सामाजिकों का विभाव आदि के साथ अपनेको अभिन्न—एक समझना है।[1] जो समालोचक साधारणीकरण के एक दो या तीन अवस्थायें मानते हैं वह ठीक नहीं। प्रथम व्यक्तित्व को भूलना, व्यक्तित्व से ऊपर उठना और अपने को खो बैठना, कालविशेष का कार्य नहीं है। काव्य-श्रवण और नाट्य-दर्शन के समय इस प्रकार साधारणीकरण का कालविभाग असंभव है। इसमें कालव्यवधान का अवसर ही नहीं है।

काव्य-पाठ वा काव्य-श्रवण की अपेक्षा नाटक-सिनेमा देखने में साधारणीकरण का रूप अत्यधिक प्रत्यक्ष होता है। काव्यनाटक के अतिरिक्त कथा-श्रवण, व्याख्यान-श्रवण आदि में भी साधारणीकरण संभव है, यदि उनके विभाव आदि में कथावाचक वा व्याख्याता तन्मयीभवनयोग्यता के उत्पादन की सामर्थ्य रखते हों।

चेतनगत आवरण का भंग होना ही साधारणीकरण है। सहृदय सामाजिक अपने लौकिक क्षुद्र विषयों को भूलकर नाटक और काव्य के विषयों में चित्त को निर्बाध रूप से जितना ही प्रविष्ट होने देगें उतना ही वे रसास्वादन करेंगे।

रस और सौन्दर्य

हमारे यहाँ जो महत्त्व रस-भाव को है वही महत्त्व पाश्चात्य साहित्य में सौन्दर्य का है। इस सौन्दर्य की व्याख्या विविध भाँति से की गयी है।

सौन्दर्य के सम्बन्ध में जर्मन महाकवि गेटे का कहना है कि "सौन्दर्य को समझाना बड़ा कठिन है। वह तरल, भंगुर वा अमूर्त तथा भासात्मक छाया-सा कुछ है।"[2] उसकी रूपरेखा की व्याख्या पकड़ के बाहर है। फिर भी उसने कई परिभाषायें गढ़ी हैं जिनमें एक का आशय यह है कि "कोई वस्तु तभी सुन्दर हो सकती है जब कि वह

---

१ प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते। सा० द०

2. Beauty is inexplicable ; it is a hovering, floating and glittering shadow, whose outline eludes the grasp of definition.

अपनी नैसर्गिक विकास की परा काष्ठा को पहुँच जाती है।"[१]

सौन्दर्य के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ कहते हैं—"केवल स्थूल दृष्टि ही नहीं चाहिये। इसके साथ यदि मनोवृत्ति का संयोग हो तो सौन्दर्य का विशेष रूप से साक्षात्कार हो सकता है। यह मनोवृत्ति विशेष शिक्षा से ही उपलब्ध हो सकती है। इस मन के भी कई स्तर हैं। बुद्धि-विचार से हम जितना देख सकते हैं, उससे कहीं अधिक देख सकते हैं, यदि उसके साथ हृदय-भाव को सम्मिलित कर लें। उसके साथ यदि धर्म-बुद्धि को मिला लें तो हमारी दूरदर्शिता अधिक बढ़ जायगी। यदि उसके साथ आध्यात्मिक दृष्टि खुल जाय तो फिर दृष्टि-क्षेत्र की कोई सीमा ही नहीं रह जायगी।" इसीसे कहा गया है कि "केवल अद्वैत सिद्धान्त ही सौन्दर्य की समुचित मीमांसा कर सकता है।"[२]

अस्तित्व, दीख पड़ना, आनन्द या सौन्दर्य, रूप और नाम, इन पाँचों में आरंभ के तीन ब्रह्मरूप और शेष दो जगत् रूप हैं।"[3] इसी बात को लार्ड शेप्सबरी लिखता है—"सौन्दर्य और ईश्वर तुल्य और एक ही हैं।"[४]

सौन्दर्य के दार्शनिक मूल्य से इसका साहित्यिक मूल्य कम नहीं। इसकी समता का कारण यह है कि रस जैसे भोक्ता के अधीन है वैसे ही सौन्दर्य भी प्रमाता—विषयी के अधीन है। दोनों का परिणाम परमानन्द-लाभ ही है। ह्यूम ने लिखा है कि "सौन्दर्य वस्तुओं का स्वभाव-संजात गुण नहीं, बल्कि उनकी चिन्ता करने-वाले चित्त में ही उसका अस्तित्व है।"[५]

---

1. A creation is beautiful when it has reached the height of its natural development.
2. Only a pantheistic theory of the universe can do full justice to the beautiful.

Knight's Philosophy of the Beautiful.

३ अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

4. Beauty and God are one and the same.
5. Beauty is no quality in things themselves; but it exists in the mind which contemplates them.

किरीट का सिद्धान्त है कि "समग्र सौन्दर्य उसकी ही अभिव्यक्ति है जिसे हम साधारणतः भाव या इमोशन कहते हैं। इस प्रकार सारा प्रकाशन ही सुन्दर है।"[१]

इस दृष्टि से देखा जाय तो सौन्दर्य और रस में कोई अन्तर नहीं। क्योंकि काव्य में उसी भाव की अभिव्यक्ति है जिस भाव की अभिव्यक्ति चित्र आदि ललित कलाओं में है और सौन्दर्य का आनन्द जैसे स्वार्थशून्य होता है वैसे ही भावतन्मयता का आनन्द भी निरपेक्ष होता है। एक विद्वान् का कहना है कि "काव्य और कला में सौन्दर्य का क्षेत्र ज्ञानाज्ञान की सीमारेखा से परे है, जो आत्मा की जागृत और अर्द्धजागृत अवस्था है।"[२] यह भी इनकी एकता को बतलाता है।

सौन्दर्य सफल अभिव्यञ्जना है। इसमें न तो कोई भेद संभव है और न इसकी कोई उत्तमाधम की कक्षा ही कायम की जा सकती है। अभिव्यञ्जना एक ही हो सकती है। प्राच्य और पाश्चात्य पण्डित इस विषय में एकमत हैं।[3]

भारतीय दृष्टिकोण से सौन्दर्य ही रमणीयता है। क्योंकि दोनों के उपादान और साधन एक ही हैं। कालिदास सुन्दर के स्थान पर 'रम्याणि वीक्ष्य' रमणीय दृश्यों को देखकर कहते हैं और पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं—'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य[४] है' अर्थात्

---

1. ....all beauty is the expression of what may be generally called emotion and what all such expression is beautiful. *The Theory of Beauty.*
2. The sphere of the beautiful in poetry and art is on the border land of the unconscious and the conscious. It lies in the twilight of the perceiving and sentient soul.

३ (क) नच रीतीनामुत्तमाधममध्यमभेदेन त्रैविध्यं व्यवस्थापयितुं न्याय्यम्। वक्रोक्तिजीवित

(ख) The beautiful does not possess degrees, for there is no conceiving more beautiful, that is an expressive that is more expressive, an adequate that is more adequate. *Aesthetic.*

४ रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

जिस शब्द द्वारा रमणीय अर्थ प्रतिपन्न हो वह काव्य है। वे रमणीयता की व्याख्या करते हैं "अलौकिक आनन्द का ज्ञानगोचर होना"[१] अर्थात् अनुभव होना ही रमणीयता है।

रमणीय, रम्य वा रमणीयता शब्द का प्रयोग कुछ विशेषता रखता है। सुन्दर वा सौन्दर्य से तात्कालिक आनन्दोपलब्धि का ही भाव झलकता है। वह रमणीय के ऐसा मन रमा देने की शक्ति नहीं रखता। सौन्दर्य सनातन रमणीयता का बोध नहीं करता। सौन्दर्य एक आकर्षण पैदा करके रह जाता है। पर रमणीयता मन को उसमें रमा देता है और कवि के शब्दों में उसका रूप है—

जनम अवधि हम रूप निहारिनु
नयन न तिरपित भेल। विद्यापति

'क्षण-क्षण में जो नवीनता धारण करे वही रमणीयता का रूप है।'[२] कवि की यह उक्ति निःसन्देह सत्य है। बार-बार देखने की या देखते रहने की चाह पैदा करना ही तो रमणीयता की विशेषता है। कीट्स का कहना है कि 'इसका सम्मोहन भाव बढ़ता ही जाता है।'[3] बहुतों का विचार है कि किसी वस्तु के संदर्शन में द्रष्टा की मनःस्थिति पर भी विचार करना आवश्यक है। समय-समय पर एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदनाओं को उत्पन्न करती है। इससे कीट्स का यह कहना कि 'सौन्दर्यमय वस्तु शाश्वत आनन्ददायक है,'[४] असंगत है। हम इस विचार से सहमत नहीं। कारण यह कि वस्तु-स्थिति ज्यों की त्यों रहती है। पाण्डु रोगी को जो कुछ हो पीला ही पीला दीख पड़ता है वह वैसा ही नहीं हो जाता। दूसरी यह बात भी देखी जाती है कि रमणीय पदार्थ मनःस्थिति के परिवर्तन में भी समर्थ हो जाता है। दूसरों का यह भी कहना है कि देखने की कमी की पूर्ति के लिये ही पुनर्वार देखना अभीष्ट होता है। इस बात को कोई सहृदय नहीं मान सकता। उस रमणीयता की ही मोहकता, आकर्षकता वा 'लवलीनेस'

---

१ रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। **रसगंगाधर**

२ क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

3. Its loveliness increases, it will never pass into nothingness.

4. A thing of beauty is a joy for ever. *Endymion.*

है जो उसमें नवीनता पैदा करता है। इसीसे तो कवि कहता है—

ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि
त्यों-त्यों खरी निखरे सी निकाई।

कीट्स का कहना है कि "सौन्दर्य ही सत्य है और सत्य ही सौन्दर्य, यही सब कुछ है। हमें जानने की जो बात है वह यही है।"[१] कीट्स के कहने का यह अभिप्राय नहीं कि वस्तुस्थिति का ज्यों का त्यों वर्णन किया जाय और उसकी सीमा के बाहर न जाया जाय। उनकी उक्ति काव्य के सत्य के संबंध में ही है। क्षेमेन्द्र का भी यही कहना है कि "सत्य-प्रत्यय का निश्चय होने से काव्य हृदयसंवादी होता है। तत्त्वोचित कथन से ही कवि की कविता उपादेय होती है"।[२] यह तत्त्व कवि का काव्योचित सत्य का दर्शन ही है।

बली साहब भी यही कहते हैं कि "जो परम सत्य को प्यार करते हैं और उसके प्रकाश की सामर्थ्य रखते हैं वे सभी कवि हैं।"[3]

रवीन्द्र के शब्दों में 'सौन्दर्य की मूर्ति ही मंगल की पूर्ण मूर्ति है और मङ्गलमूर्ति सौन्दर्य का पूर्ण स्वरूप'।

सौन्दर्य का सत्य के साथ जितना सम्बन्ध है उतना ही शिव के साथ भी। जैनेन्द्र कहते हैं—"जीवन में सौन्दर्योन्मुख भावनाओं का नैतिक (शिवमय) वृत्तियों के विरुद्ध होकर तनिक भी चलने का अधिकार नहीं है। शुद्ध नैतिक भावनाओं को खिझाती हुई, कुचलती हुई जो वृत्तियाँ सुन्दर की लालसा में लपकना चाहती हैं वे कहीं न कहीं विकृत हैं। सुन्दर नीति-विरुद्ध नहीं है। तब यह निश्चय है कि जिसके पीछे वे आवेशमयी वृत्तियाँ लपकना चाहती हैं वह सुन्दर नहीं है, केवल छद्माभास है, सुन्दर की मृग-तृष्णिका है।"[४]

---

1. Beauty is truth, truth beauty—that is all
   Ye know on earth, and all ye need to know.

२ काव्यं हृदयसंवादि सत्यप्रत्ययनिश्चयात्।
   तत्त्वोचिताभिधानेन यात्युपादेयतां कवेः॥ औचित्यविचारचर्चा

3. Poets are all who love and feel great truths and tell them.

४ 'जैनेन्द्र के विचार'

वर्डस्वर्थ का भी कहना है कि "भगवान की कामनायें सारी घटनाओं को कल्याणकारी बनाती हैं।"[1]

"मन यदि स्वयं सुन्दर न हो तो सुन्दर को कभी नहीं प्रत्यक्ष कर सकता है,"। [2] ऐसा ही प्लेटिनस ने कहा है।

रस के काल्पनिक भेद

ध्वनिकार के एक श्लोक से कितने समालोचक रस के स्थायी रस और संचारी रस के नाम से दो भेद करते हैं। उक्त श्लोक का अभिप्राय यह है कि "एकत्रित अनेक रसों में जिसका रूप बहुलतया उपलब्ध होता है वह स्थायी रस है और शेष संचारी रस हैं।"[3]

प्रबन्ध-काव्य तथा नाटक में अनेक रसों की अवतारणा की जाती है। पर सभी रस प्रधान रूप में नहीं रहते। एक की मुख्यता रहती है, अन्यान्य रसों की गौणता। यदि सब रसों की प्रधानता का प्रयत्न किया जाय तो सबों में सफलता मिलना संभव नहीं और सभी गौण रूप से रह जायँ तो किसी रस के परिपाक न होने से प्रबन्ध का उद्देश्य ही सिद्ध न हो। इसीसे ध्वनिकार ने कहा है कि "नाटकरूप वा काव्यरूप प्रबन्धों में अनेक रसों के निबन्धन पर उनके उत्कर्ष के लिये एक रस को अंगी वा मुख्य बनाना चाहिये।"[4]

इस उद्धरण से यह भी प्रगट होता है कि जो रस स्थायी और संचारी शब्दों से उक्त हैं उन्हें क्रमशः अंगीरस और अंगरस भी कहा जा सकता है और उनमें अंगांगी-भाव भी है। कारण यह कि कवि के हृदय में उसी रस की प्रेरणा होती है, जिसके प्रकाशन का ही उसका प्रथम उद्देश्य रहता है और मूलभूत उसी रस से अन्य रसों का आविर्भाव होता है और वे उसको परिपुष्ट करते हैं। "विरुद्ध वा

1 His everlasting purposes embrace accidents covering them to good.

2. The mind could never have perceived the beautiful, had it not first become beautiful itself.

३ बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः॥ ध्वन्यालोक

४ प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने।
एको रसोऽङ्गीकर्तव्यः तेषामुत्कर्षमिच्छता॥ ध्वन्यालोक

अविरुद्ध भावों से स्थायी का विच्छेद नहीं होता, बल्कि लवणाकर समुद्र के समान वह अन्यान्य भावों को मिलाकर अपना-सा बना देता है।"[1] इसमें सन्देह नहीं कि सभी रस एक-से हैं; सभी के लक्षण-स्वरूप एक-से हैं और उनके आविर्भावकाल में चित्त की तन्मयता भी एक-सी होती है तथापि प्रबन्ध-रचना की दृष्टि से इनमें मुख्य-गौण-भाव अवश्य लक्षित होता है।

रामायण-महाभारत-जैसे विशालकाय काव्यों में भी क्रमशः करुण और शान्त रसों की प्रधानता है। क्योंकि दोनों में ये दोनों आमूल वर्तमान हैं। इनके अन्तर्गत अन्य रस जो आये हैं वे प्रसंगतः कहीं उदित होते हैं और कहीं विलीन। इनका जहाँ उदय होता है वहाँ मूल रस को ही लेकर और उनकी पोषकता के रूप में ही। यह नहीं होता कि स्थायी रस भिन्न-रूप हैं और संचारी रस भिन्न-रूप। रसोत्पत्ति में स्थायी-संचारी का जो सम्बन्ध है वही प्रबन्ध-काव्यों में मुख्य और अमुख्य रसों में सम्बन्ध है। इसीसे उन्हें भी इन्हीं की संज्ञा दी गयी है। इसीसे रत्नाकरकार कहते हैं कि "नाटक के रसों में से एक ही को स्थायी बनाना चाहिये और उनके अनुयायी होने से अन्य रस व्यभिचारी होते हैं।"[2]

कितने समालोचक यह भी कहते हैं कि दो प्रकार के रस स्पष्ट प्रतीत होते हैं जिन्हें व्यापक और अव्यापक या आधिकारिक और प्रासंगिक रस कहा जा सकता है। आधिकारिक रसों में रति आदि भावों और शृङ्गार आदि रसों की गणना की जाती है। क्योंकि प्रबन्ध-पाठ से उनका सहृदयों के चित्त पर विशेष प्रभाव पड़ता लक्षित होता है; उनकी व्यापकता अधिक देखी जाती है। उससे इनकी चिरकालिकता भी प्रमाणित है। प्रासंगिक रसों में ये बातें नहीं होतीं। किसी भाव को लेकर लिखी गयी कविता इस भेद के अन्तर्गत रक्खी जा सकती है। प्रधानतया व्यंजित संचारी भाव रस-सामग्री से परिपुष्ट होने पर रसावस्था को पहुँच सकता है। ये ही प्रासंगिक रस हैं। इस

---

१ विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥ दशरूपक

२ एकः कार्यो रसः स्थायी रसानां नाटके सदा।
रसास्तदनुयायित्वात् [illegible] व्यभिचारिणः। संगीतरत्नाकर

विचार को संगत वा असंगत कुछ भी कहा नहीं जा सकता। क्योंकि विभाव, अनुभाव से व्यञ्जित संचारी-भाव स्थायी-भाव की सी रसावस्था को नहीं पहुँच पाता। यह विवादास्पद विषय है।

काव्यानन्द रसमूलक भी होता है और भावमूलक भी। दोनों की अनुभूतियाँ एक-सी होती हैं। चाहे अधिकारिक हो वा प्रासंगिक, रस का रूप एक है। उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं किया जा सकता। रसोत्पत्ति-प्रक्रिया के रंग-रूप में ही भेद संभव है। रसावस्था का भेद काल्पनिक है।

रीति

रीति-का अनुवाद Style से किया जाता है पर इसके लिये यह यथार्थ शब्द नहीं है[1]। क्योंकि रीति के अन्तर्गत केवल यही नहीं, रस और अलंकार भी आ जाते हैं।

रीति-विचार में शब्द का अधिक महत्त्व है। पर प्रत्येक शब्द का नहीं, योग्य शब्दों का (The right vocabulary—Pater) अभिप्राय यह कि योग्य शब्दों का विचार ही रीति-विचार है। इस योग्यता में अनेक बातें आती हैं—वर्णनीय विषय, भावना, भाषा, औचित्य, माधुर्य आदि। रचनाकार को प्रत्येक शब्द पर विचार करके उसका प्रयोग करना आवश्यक है।

अनेक काम चलाऊ शब्दों के होते हुए भी योग्य शब्दों का चुनाव ही रीति का मुख्य तत्त्व है। यही शिलर का कहना है[2]। यथार्थ शब्द के लिते मधुर, सुकुमार, सुन्दर शब्दों का मोह छोड़ देना पड़ेगा। रीति में वर्ण-योजना आवश्यक होती है जिससे रसपरिपोष होता है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि योग्य और विशिष्ट शब्द न रक्खे जायँ। कलाकार की तो यही कला है कि रीति के अनुकूल भावार्थ-द्योतक शब्दों को चुने जो काव्यकलेवर की कमनीयता को बढ़ावें।

दण्डी का कहना है कि कवि की भिन्न-भिन्न रीतियों का

---

1. It should be observed that the term Riti is hardly equivalent to the English word style .

Sanscrit Poetics.

2. The artist may be known rather by what he omits.

कथन करना संभव नहीं। वर्णप्रणाली के अनेकों मार्ग हैं। प्रत्येक कवि की रचना-पद्धति में अन्तर लक्षित होता है पर उनका नामकरण सहज नहीं। 'ऊख, दूध, गुड़ की मधुरता में अन्तर है पर सरस्वती भी इसको विलगाकर नहीं कह सकती।'[1] भिन्न-भिन्न रीतियों के मिश्रण का अन्त पाना तो महा कठिन है।

नीलकण्ठ दीक्षित ने लिखा है कि 'भाषा में अक्षरों की भरमार है, अनेकों शब्द हैं, शब्दार्थ भी हैं, किन्तु जिस शब्दार्थ के बिना कवि-वाणी सुशोभित नहीं होती वही मार्ग है, रचना-पद्धति वा रीति है।'[2] पेटर की इस उक्ति का पहले ही उल्लेख हो चुका है कि एक वस्तु या एक विचार के लिये एक ही शब्द उपयुक्त होता है। विद्याधर ने रीति को 'पाक' की संज्ञा दी है और इसकी व्याख्या की है रसानुकूल शब्दों और अर्थों का संस्थापन।[3]

रीति और वृत्ति का विवेचन मत-भेद-पूर्ण है। किन्तु दोनों की एकरूपता एक प्रकार से निश्चित है। मम्मट ने स्पष्ट लिखा है कि उपनागरिका, कोमला और परुषा ये तीनों वृत्तियाँ ही हैं।[4]

ध्वनिकार का कहना है कि "अस्फुट ध्वनितत्त्व को विवृत करने में असमर्थ वामन आदि ने रीतियों को प्रचलित किया।"[5]

शैली

शैली के लिये रीति का प्रयोग होता है पर वह यथार्थ नहीं। शैली के लिये Style शब्द का प्रयोग उपयुक्त माना जाता है।

इसको भाषाशैली भी कहते हैं। भाषाशैली भावानुरूप होनी चाहिये[1]। भावनायें अपने आकार प्रस्तुत करने के लिये काव्याङ्गों को—गुण, रीति, अलङ्कार, वक्रोक्ति आदि को अपनाती हैं। इनमें रीति वा भाषा-शैली लेखक के भावनात्मक शरीर को पहनायी हुई पोशाक नहीं है। वल्कि उसे उसकी चमड़ी समझनी चाहिये[2]। इस बात को कभी न भूलना चाहिये कि कलाकार का व्यक्तित्व भाषा-शैली से फूटा पड़ता है।

गुण

गुणों के सम्बन्ध में अनेक मतभेद दीख पड़ते हैं। ध्वनिकार गुण को व्यङ्गार्थ ही मानते हैं। मम्मट गुण को काव्यात्मक रस का धर्म मानते हैं। उनका यह भी कहना है कि माधुर्य आदि गुण वर्ण-मात्र के आश्रित नहीं, समुचित वर्णों से व्यंजित होते हैं[3]। पण्डितराज इसे शब्दार्थ ही का धर्म मानते हैं।

मम्मट और विश्वनाथ अंगी रस के ही शौर्य आदि गुणों के समान माधुर्य आदि गुणों को जो मानते हैं वह केवल उसकी विशेषता का प्रदर्शन करते हैं। वे इसका निषेध नहीं करते कि गुण काव्य-शरीर के धर्म नहीं हो सकते। प्रकारान्तर से इस बात को मान लेते हैं कि शब्द और अर्थ में मधुर आदि गुणों का जो व्यवहार किया जाता है वह गौण वा अप्रधान रूप से ही माना जाता है[4]। यदि ऐसी बात न होती तो 'मधुर रचना की बात नहीं कहते। हम ललितात्मिका रचना को ही तो 'मधुर रचना' कहते हैं। सुकुमारता, उज्ज्वलता, स्निग्धता आदि शारीरिक गुण भी तो हैं। फिर काव्यकलेवर के सुकुमारता, कान्ति आदि गुण क्यों न माने जायँ ? अतः गुण शरीर और आत्मा, दोनों के धर्म माने जा सकते हैं। मम्मट और पण्डितराज का गुणों को आत्मगत और शब्दार्थगत मानना दुराग्रह प्रतीत नहीं होता। सारांश यह कि गुण शरीर और आत्मा दोनों के धर्म माने जा सकते हैं।

---

1. Style should vary in accordance with the emotion.
2. Style is not the coat but is the skin of the writer.

३ अतएव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णै र्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः। काव्यप्रकाश

४ गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोः मताः। काव्यप्रकाश

भरत, दंडी तथा वामन के माने हुए दस गुणों—१ श्लेष २ प्रसाद ३ समता, ४ माधुर्य, ५ सुकुमारता, ६ अर्थव्यक्ति, ७ उदारता, ८ ओज, ९ कान्ति तथा १० समाधि की भोज के माने हुए २४ गुणों की अपेक्षा अधिक महत्ता है। चौबीस ही क्यों? इनकी इससे भी अधिक संख्या हो सकती है। यदि भोज के कथनानुसार उदात्तता, गंभीरता, प्रौढ़ता आदि गुण हो सकते हैं तो सरलता आदि गुण क्यों नहीं हो सकते? ऐसे मनुष्यों के अनेक गुण हैं जो काव्य-शरीर के गुण हो सकते हैं। अस्तु। मम्मट और विश्वनाथ ने दस गुणों पर एक-सा विचार किया है।

वामन दस गुणों को शब्दगत ही नहीं, अर्थगत भी मानते हैं। इस प्रकार इनकी संख्या बीस हो जाती है और भोज के २४ गुण शब्दगत, २४ अर्थगत तथा इनके विपर्यय से कहीं-कहीं विशेष परिस्थिति में गुण हो जानेवाले दोषों की २४ संख्या जोड़ देने से गुणों की संख्या ७२ बहत्तर तक पहुँच जाती है। गुणों के शब्दगत और अर्थगत होने का वैसा दुराग्रह नहीं दीख पड़ता, जैसा कि गुणों के रसगत और शब्दार्थगत होने का। पर यहाँ यह कहा जा सकता है कि कुछ गुण शब्दगत, कुछ अर्थगत और कुछ उभयगत होते हैं।

मम्मट ने उक्त दस गुणों का विचार करते हुए अपना निर्णय दिया है कि गुण तीन ही हैं न कि दस[1]। दसों में से तीन माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक गुण व्यापक होने के कारण स्वीकृत हैं और सात इनमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। इससे दस नहीं, तीन ही गुण मानने योग्य हैं।

इन्हीं तीन गुणों के मानने में मानसिक प्रक्रिया की प्रबलता दीख पड़ती है। मम्मट के लक्षणों से स्पष्ट है कि कवि या कविकल्पित पात्र की मनःस्थिति तीन प्रकार की होती है। १ चित्त को द्रवीभूत करनेवाली द्रुति। २ चित्तवृत्ति को उद्दीपित करनेवाली दीप्ति तथा ३ चित्त को विकास वा प्रसार करनेवाली व्याप्ति[2]। अब यहाँ यह

१ माधुर्यौजःप्रसादाख्याः त्रयस्ते न पुनर्दश।

२ (क) आह्लादकत्वं माधुर्यं श्रृङ्गारे द्रुतिकारणम्।

(ख) चित्तस्य विस्ताररूपजनकत्वमोजः।

(ग) शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः।

व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ...। काव्यप्रकाश

इसको भाषाशैली भी कहते है। भाषाशैली भावानुरूप होनी चाहिये[1]। भावनायें अपने आकार प्रस्तुत करने के लिये काव्याङ्गों को—गुण, रीति, अलङ्कार, वक्रोक्ति आदि को अपनाती हैं। इनमें रीति वा भाषा-शैली लेखक के भावनात्मक शरीर को पहनायी हुई पोशाक नहीं है। बल्कि उसे उसकी चमड़ी समझनी चाहिये[2]। इस बात को कभी न भूलना चाहिये कि कलाकार का व्यक्तित्व भाषा-शैली से फूटा पड़ता है।

गुण

गुणों के सम्बन्ध में अनेक मतभेद दीख पड़ते हैं। ध्वनिकार गुण को व्यङ्ग्यार्थ ही मानते हैं। मम्मट गुण को काव्यात्मक रस का धर्म मानते हैं। उनका यह भी कहना है कि माधुर्य आदि गुण वर्ण-मात्र के आश्रित नहीं, समुचित वर्णों से व्यंजित होते हैं[3]। पण्डितराज इसे शब्दार्थ ही का धर्म मानते हैं।

मम्मट और विश्वनाथ अंगी रस के ही शौर्य आदि गुणों के समान माधुर्य आदि गुणों को जो मानते हैं वह केवल उसकी विशेषता का प्रदर्शन करते हैं। वे इसका निषेध नहीं करते कि गुण काव्य-शरीर के धर्म नहीं हो सकते। प्रकारान्तर से इस बात को मान लेते हैं कि शब्द और अर्थ में मधुर आदि गुणों का जो व्यवहार किया जाता है वह गौण वा अप्रधान रूप से ही माना जाता है[4]। यदि ऐसी बात न होती तो 'मधुर रचना की बात नहीं कहते। हम ललितात्मिका रचना को ही तो 'मधुर रचना' कहते हैं। सुकुमारता, उज्ज्वलता, स्निग्धता आदि शारीरिक गुण भी तो हैं। फिर काव्यकलेवर के सुकुमारता, कान्ति आदि गुण क्यों न माने जायँ ? अतः गुण शरीर और आत्मा, दोनों के धर्म माने जा सकते हैं। मम्मट और पण्डितराज का गुणों को आत्मगत और शब्दार्थगत मानना दुराग्रह प्रतीत नहीं होता। सारांश यह कि गुण शरीर और आत्मा दोनों के धर्म माने जा सकते हैं।

---

1. Style should vary in accordance with the emotion.
2. Style is not the coat but is the skin of the writer.

३ अतएव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते
न तु वर्णमात्राश्रयाः। काव्यप्रकाश

४ गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोः मताः। काव्यप्रकाश

भरत, दंडी तथा वामन के माने हुए दस गुणों—१ श्लेष २ प्रसाद ३ समता, ४ माधुर्य, ५ सुकुमारता, ६ अर्थव्यक्ति, ७ उदारता, ८ ओज, ९ कान्ति तथा १० समाधि की भोज के माने हुए २४ गुणों की अपेक्षा अधिक महत्ता है। चौबीस ही क्यों? इनकी इससे भी अधिक संख्या हो सकती है। यदि भोज के कथनानुसार उदात्तता, गंभीरता, प्रौढ़ता आदि गुण हो सकते हैं तो सरलता आदि गुण क्यों नहीं हो सकते? ऐसे मनुष्यों के अनेक गुण हैं जो काव्य-शरीर के गुण हो सकते हैं। अस्तु। मम्मट और विश्वनाथ ने दस गुणों पर एक-सा विचार किया है।

वामन दस गुणों को शब्दगत ही नहीं, अर्थगत भी मानते हैं। इस प्रकार इनकी संख्या बीस हो जाती है और भोज के २४ गुण शब्दगत, २४ अर्थगत तथा इनके विपर्यय से कहीं-कहीं विशेष परिस्थिति में गुण हो जानेवाले दोषों की २४ संख्या जोड़ देने से गुणों की संख्या ७२ बहत्तर तक पहुँच जाती है। गुणों के शब्दगत और अर्थगत होने का वैसा दुराग्रह नहीं दीख पड़ता, जैसा कि गुणों के रसगत और शब्दार्थगत होने का। पर यहाँ यह कहा जा सकता है कि कुछ गुण शब्दगत, कुछ अर्थगत और कुछ उभयगत होते हैं।

मम्मट ने उक्त दस गुणों का विचार करते हुए अपना निर्णय दिया है कि गुण तीन ही हैं न कि दस[1]। दसों में से तीन माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक गुण व्यापक होने के कारण स्वीकृत हैं और सात इनमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। इससे दस नहीं, तीन ही गुण मानने योग्य हैं।

इन्हीं तीन गुणों के मानने में मानसिक प्रक्रिया की प्रबलता दीख पड़ती है। मम्मट के लक्षणों से स्पष्ट है कि कवि या कविकल्पित पात्र की मनःस्थिति तीन प्रकार की होती है। १ चित्त को द्रवीभूत करनेवाली द्रुति। २ चित्तवृत्ति को उद्दीपित करनेवाली दीप्ति तथा ३ चित्त को विकास वा प्रसार करनेवाली व्याप्ति[2]। अब यहाँ यह

---

१ माधुर्यौजःप्रसादाख्याः त्रयस्ते न पुनर्दश।

२ (क) आह्लादकत्वं माधुर्यं श्रृङ्गारे द्रुतिकारणम्।

(ख) चित्तस्य विस्ताररूपजनकत्वमोजः।

(ग) शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः।

व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ…। काव्यप्रकाश

प्रश्न हो सकता है कि गुण मनःस्थिति-सूचक हैं तो फिर रस क्या है ? इसको इस प्रकार स्पष्ट समझ लें। चित्तद्रुति को आन्तर (Subjective) माधुर्य गुण और चित्त द्रुति के अनुरूप शब्द-योजना को वाह्य (Objective) माधुर्य गुण कहते हैं। कवि की भावना जब इस रूप में परिणत हो जाती है कि रसिक रसास्वाद के मद से झूम-झूम उठते हैं तब चित्त-द्रुति-रूप आन्तर माधुर्य ही काम नहीं करता बल्कि वह चित्तद्रुति रसानुभूति की सहायिका हो जाती है। जब हम ये पंक्तियाँ पढ़ते हैं—

तरणि के ही संग तरल तरंग से तरणि डूबी थी हमारी ताल में

तब हमारा हृदय पिघल उठता है पर इसका विश्राम यहीं नहीं हो जाता।

अलंकार

काव्य-शास्त्र में अलंकार की बड़ी महिमा है। इसकी प्रधानता का ही प्रमाण है कि काव्य-शास्त्र को अलंकारशास्त्र भी कहते हैं। राजशेखर ने तो "इसको वेद का सातवाँ अंग कहा है। अलंकार वेदार्थ का उपकारक है। क्योंकि इसके बिना वेदार्थ की अवगति नहीं हो सकती।"[1] जयदेव का कहना तो यह है कि "जो निरलंकार शब्दार्थ को काव्य मानता है उस कृती को—माननेवाले को तो आग को ठंढी ही मानना चाहिये।"[2]

काव्य के सौन्दय-साधक साधन गुण, रीति, अलंकार आदि अनेकों है पर उनमें अलंकार की प्रधानता है। दंडी के कथनानुसार तो "काव्य के शोभाकारक सभी धर्म अलंकार-शब्द-वाच्य ही हैं।"[3] जहाँ अलंकार सौन्दर्य स्वरूप हैं, साधन-स्वरूप है वहाँ रीतिकाल में साध्य-स्वरूप बना दिये गये थे। अब भी कोई-कोई ऐसी चेष्टा करते है। ध्वनिकार कहते हैं कि "रस-कर्तृक आक्षिप्त वा आकृष्ट होने से

---

१ उपकारकत्वात् अलंकारः सप्तममङ्गमिति यायावरीयः।
ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानात् वेदार्थानवगतिः। काव्यमीमांसा

२ अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलं कृती॥ चन्द्रालोक

३ काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। काव्यादर्श

जिसकी रचना संभव हो और रस के सहित एक ही प्रयत्न द्वारा जो सिद्ध हो, वही अलंकार ध्वनि में मान्य है।[१]" इसीको होम (Home) ने "भावावेश की अवस्था में स्वतः अलंकार उद्भूत होते हैं"[२] और ब्लेयर (Blair) ने "कल्पना या भावावेश से भाषा अलंकृत होती है"[३] कहा है।

कितने अलंकारों में ध्वनि का पर्याप्त आभास रहता है। इसी आधार पर कई पूर्वाचार्यों ने ध्वनि को पृथक् न मानकर, अलंकारों में ही उसके अन्तर्भाव करने की चेष्टा की। ऐसे अलंकार हैं—समासोक्ति, आक्षेप, विशेषोक्ति, अपह्नुति, दीपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, संकर आदि। किन्तु आनन्दवर्द्धन ने इन आचार्यों को मुँहतोड़ उत्तर देकर इनकी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर दी है। एक 'पर्यायोक्त' अलंकार पर ही विचार किया जाय।

भामह कहते हैं कि "पर्यायोक्त अलंकार वहाँ होता है जहाँ वक्तव्य विषय को साक्षात् न कहकर प्रकारान्तर से, कथन-विशेष से कहा जाता है।"[४] दण्डी ने भी पर्यायोक्त की परिभाषा इसी प्रकार की है। इसको व्यञ्जना-व्यापार मानकर ध्वनि को अलंकार के अन्तर्गत मान लेने का प्रयास किया गया है। ध्वनिकार के परवर्ती आलंकारिकों ने तो इसको स्पष्ट कर दिया है। "व्यंग्यार्थ-कथन ही पर्यायोक्त है।"[५] "ध्वनि भाव का कथन ही पर्यायोक्त अलंकार है।"[६]

आनन्दवर्द्धन का कहना है कि "पर्यायोक्त का जो भामह ने उदाहरण दिया है उसमें व्यंग्य की प्रधानता नहीं। क्योंकि वाच्य का परित्यागपूर्वक अविवक्षा नहीं है।"[७]

---

१ रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः। ध्वन्यालोक

2. Figures consist in the passional element.

3. Language suggested by imagination or passion.

४ पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। काव्यालंकार

५ व्यंग्यस्योक्तिः पर्यायोक्तम्। काव्यानुशासन

६ ध्वनिताभिधानं पर्यायोक्तिः। वाग्भटालंकार

७ न पुनः पर्यायोक्ते भामहोदाहृतसदृशे व्यंग्यस्यैव प्राधान्यम्।
वाच्यस्य तत्रोपसर्जनीभावेनाविवक्षितत्वात्। ध्वन्यालोक

अभिप्राय यह कि पर्यायोक्त अलंकार में व्यंग्य अर्थ ही वाच्य रूप में विद्यमान रहता है और वाच्य व्यंग्य का रूप धारण कर लेता है। अर्थात् कारण न रहकर कार्य ही का विधान रहता है। इसलिये ऐसे रूप में उपस्थित करने की शैली बड़ी मधुर होती है। वर्णन-शैली की विशेषता के कारण ही व्यंग्य अर्थ प्रधान हो जाय ऐसी बात नहीं है। प्रधानता तो अर्थ की विलक्षणता पर निर्भर है जो पर्यायोक्त में वाच्य में ही अधिक मानी जाती है। वाच्य अर्थ के उपकारक होकर तथा व्यंग्य के उपकार्य होकर रहने से ही ध्वनि संभव है। किन्तु प्रस्तुत अलंकार में यह स्थिति सर्वथा नहीं है।

यदि प्रस्तुत स्थान में व्यंग्य की मुख्यता मान लें तो अलंकारता नहीं रहने पायगी और यदि अलंकार की मुख्यता स्वीकृत करें तो व्यंग्य की प्रधानता नहीं जम सकेगी। कदाचित्—युक्ति के अभाव में दोनों का अस्तित्व कहीं अक्षुण्ण रहे भी तो वहाँ ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। ध्वनि में ही इसका अन्तर्भाव भले ही हो जाय। सुरसरि में सागर का अन्तर्भाव संभव नहीं, पर सागर में उसका अन्तर्भाव स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार ध्वनि का विषय व्यापक और 'पर्यायोक्त' का विषय अत्यन्त सीमित है।

सिद्धान्त यह कि "वाच्य के उपकारक व्यंग्य की जहाँ अप्रधानता हो वहाँ समासोक्ति आदि वाच्यालंकार ही स्पष्ट रहते हैं।"[1]

ऐसा भी देखा जाता है कि कहीं-कहीं व्यंग्य व्यंग्य न रह कर वाच्य हो जाता है। जैसे,

लाई हूँ फूलों का हास, लोगी मोल, लोगी मोल। पंत

मालिन खिले फूल बेंचना चाहती है और कहती है कि 'फूलों का हास लायी हूँ', तो फूल खिले हुए हैं, इस वाच्यार्थ को छोड़कर वह व्यंग्यार्थ को ही अपनाती है। इससे उसके कथन में आकर्षण आ गया है और वह उसकी उद्देश्य-सिद्धि में सहायक है। ऐसे स्थानों में भी पर्यायोक्त माना जा सकता है।

भरत मुनि के प्राथमिक चार अलंकार रूय्यक तक सैकड़ों की संख्या तक पहुँच गये। चन्द्रालोक और कुवलयानन्द तक इनकी

---

१ व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः। ध्वन्यालोक

संख्या कुछ और बढ़ी। शोभाकरकृत 'अलंकार-रत्नाकर' की बढ़ी हुई संख्या ने यह सिद्ध कर दिया कि "अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एवालंकाराः।" इनमें कुछ तो ऐसे हैं जो चमत्कार-शून्य हैं, कुछ का अन्यान्य अलंकारों में अन्तर्भाव हो जाता है और कुछ अमुख्य मान कर छोड़ दिये गये हैं। कुछ अलंकारों ने मत-भेदों के कारण भिन्न-भिन्न नाम धारण कर लिया है।

अलंकारों के नामों में भी आलङ्कारिकों ने अन्तर कर डाला है। दंडी उपमेयोपमा को अन्योन्योपमा, संदेह को संशयोपमा, मीलित और तद्गुण को एक ही मीलनोपमा, समासोक्ति को छायोपमा, व्यतिरेक और प्रतीप को उत्कर्षोपमा कहते हैं। एक दृष्टान्त ही से दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा तथा निदर्शना के नाम पर तीन भेद किये गये हैं। पर सामान्यतः सर्वसाधारण इन्हें दृष्टान्त ही कहा करते हैं। कोई अतिशयोक्ति और अत्युक्ति को एक ही नाम से अभिहित करते हैं। तथास्तु।

भामह ने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि अलंकारों में ही रस को समेट लिया है।[1] दण्डी ने भी रसवत् अलंकार में ही आठों रसों को पचा डाला है। वामन ने रस को कान्ति नामक एक गुण माना है।[2]

संस्कृत-साहित्य में अलंकार-शास्त्र की एक बड़ी परम्परा है और सभी का एक ही उद्देश्य रहा है—काव्योत्कर्ष की साधना। इसमें अलंकार का बहुत बड़ा हाथ है। भामह कहते हैं कि 'रूपक आदि काव्य के अलंकार हैं। इन्हें अनेक पण्डितों ने अनेक प्रकार से समझाया है। कारण यह कि सुन्दर काव्य भी अलंकारों के विना वैसे ही सुशोभित नहीं होता जैसे कि विना भूषण के वनिता का सुन्दर मुख दीपित नहीं होता।"[3] वाल्टरपेटर ने भी कहा है कि "ग्रहणयोग्य अलंकार प्रधानतः काव्याङ्गभूत हैं अथवा आवश्यक हैं।"[4]

अलंकार मानवी विचारों के अधीन हैं। इससे उनके साथ

---

१ रसवत् रसपेशलम्।

२ दीप्तरसत्वं कान्तिः।

३ रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्॥ काव्यालंकार

4. Penmissable ornament being for the most part structural or necessary. *Appreciation, Style,*

साहचर्य-नियम (Laws of Association) लागू होता है। ये तीन हैं—१ सामीप्य (कालगत और स्थलगत—Law of Association by contiguity) २ साधर्म्य (Similarity) और ३ विरोध (Contrast)। कार्यकरण भाव एक चौथा नियम भी है।

पाश्चात्य अलंकार हमारे अलंकार के से न तो सुलझे हुए हैं और न पराकाष्ठा को पहुँचे हुए। अंग्रेजी के Metonymy और Synecdoche तथा इनके भेद लक्षणा शक्ति के अन्तर्गत आ जाते हैं। Innuendo का समावेश ध्वनि-व्यंजना में हो जाता है। Apostrophe (अनुपस्थित को उपस्थित समझकर संबोधन करना) को संस्कृतवाले नहीं मानते। मानवीकरण आदि अलंकार हिन्दी में अधिक हैं। उपमा, रूपक, सार, व्याजस्तुति, श्लेष, विरोध, विषम जैसे कुछ ही अलंकार अंग्रेजी में हैं।

उपसंहार

कवि क्या नहीं देख सकता।[1] अदृश्य वस्तु भी कवि के सामने प्रत्यक्ष है। जो कान से नहीं सुना जा सकता उसे वह सुन सकता है और स्वप्न-लोक के विषय को भी भाषा के माध्यम से नव-नव रूप प्रदान कर सकता है। ऐसा ही कवि कवि है। इस विषय में यह लोकोक्ति सार्थक है। "जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि।"

कवि की एक ऐसी अवस्था होती है जिसे हम उसका उद्दीपन-काल वा उन्मादन-काल कह सकते हैं। वाल्मीकि की जिस अभिभूतावस्था में आप ही आप हृदय की वेदना श्लोक-रूप में फूट पड़ी थी प्रायः ऐसी अवस्था प्रतिभाशाली कवियों की भी होती है। इसीको हमारे आचार्य ने समाधि[2], प्लेटो ने अनुप्रेरणा[3], शेली ने रमणीय तथा उत्तम क्षण[4] कहा है और पन्त के शब्दों में यही है—'कविता परिपूर्ण क्षणों की वाणी है।' इस अवस्था में कवि अपनी अनुभूति को

---

१ कवयः किं न पश्यन्ति।

२ काव्यकर्मणि समाधिः परं व्याप्रियते। काव्यमीमांसा

3. A poet cannot compose unless he becomes inspired.

4. Poetry is the record of the best and happiest moments of the happiest and best minds.

भाषा-बद्ध करने को व्याकुल हो उठता है। इसी समय कवि की कलम से जो कविता निकलती है वही उत्तम कविता होती है।

कवि का लिखा ऐसा होना चाहिये जो सहृदय-श्लाघ्य हो, उत्तमोत्तम वस्तु हो। यह तभी संभव है जब कि कवि अपने हृदय से लिखे। कवि की आन्तरिकता ही उच्च काव्यकला का निर्माण कर सकती है।[1] इसीसे कवि जैसा चाहता है वैसा ही संसार को अपनी रचना से बना देता है।[2] जो कवि यशोलिप्सा वा अर्थलाभ की दृष्टि से साहित्य-सेवा करता है उसकी रचना उच्च कक्षा को नहीं पहुँचती। इस दशा में कवि की एकाग्र साधना संभव नहीं। कवि वा लेखक को तो समझना चाहिये कि 'सेवा ही सेवक का पुरस्कार है।'[3]

यह न समझना चाहिये कि कवि जो लिखता है, वह सब मिथ्या है, कपोलकल्पित है। उसकी दुनिया निराली है। वह कल्पनालोक में विचरता है। वह जो देख सकता है, दूसरे नहीं देख सकते।[4] उसके लिखने में संयम है, विवेक है और आह्लादन की शक्ति है। गेटे कहता है कि 'कलाकार की कलाकारिता सत्य और आदर्शस्वरूप होने के कारण यथार्थ है।'[5]

कान्ता के समान काव्य के कोमल वचनों से कृत्याकृत्य का उपदेश और रसानुभव से अपूर्व आनन्द उपलब्ध होता है। काव्य अपनी सरस कोमलकान्त पदावली से नीरस नीति का उपदेश भी प्रच्छन्न रूप से हृदय में उतार देता है। इसीसे कहा गया है कि अन्यान्य शास्त्र तिक्त औषधि के समान अज्ञान-व्याधि का विनाश करते हैं और काव्य

---

1. The one great quality which a work of art truly contains is its sincerity. *Tolstoy.*

२ अपारे काव्य-संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

3. Literature is its own reward.

४ न कवेर्वर्णनं मिथ्या कविः सृष्टिकरः परः।
सर्वोपर्येव पश्यन्ति कवयोऽन्ये न चैव हि॥

5. The artist's work is real in so far as it is always true, ideal in that it is never actual.

अमृत के समान आनन्द के साथ मधुर रूप से अविवेक रूपी रोग का नाश करता है।"[1]

पहले का युग आज न रहा। युग के अनुसार काव्य-कला का परिवर्तन अवश्यम्भावी है। आज का युग अध्यात्मवाद का नहीं, भौतिकवाद का; सामन्तशाही का नहीं, जनता का; राजा का नहीं, प्रजा का; वर्गविशेष का नहीं, समुदाय का; रूढ़िवाद का नहीं, सुधारवाद का है; प्राचीनता का नहीं, नवीनता का है।

हम मानते हैं कि पहले का युग आज न रहा और युगानुसार काव्य-कला का परिवर्तन भी आवश्यक है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि हम अपने को बह-बिला जाने दें। हम अपनी काव्य-गङ्गा की धारा को कभी कलुषित न करें, उससे जातीय जीवन ही कलुषित होगा। जिस काव्य-साहित्य से जाति का अमंगल हो, नर-नारी अधःपतित हों, उसके आदर्श को विकृत होने से बचावें, कहीं भी भारतीय संस्कृति असंस्कृत न हो। जातीय साहित्य को जातीय जीवन में जीवनी शक्ति का संचारक होना ही चाहिये। जाति को सब प्रकार से समृद्ध बनाने के तीन साधनों—स्वतन्त्रता, साहित्य तथा सम्पत्ति—में से साहित्य ही सर्वोपरि है। साहित्यकारों को यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि साहित्य सामूहिक भी होता है और सार्वजनीन भी, सामयिक और सार्वकालिक भी। आप चाहें जिस भाव से रचना करें।

अन्त में कवि-भारती की जय-जयकार के साथ आचार्य मम्मट के श्लोक को उद्धृत करते हुए मैं यह भूमिका समाप्त करता हूँ—

> नियतिकृतनियमरहितां
>
> ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
>
> नवरसरुचिरां निर्मिति-
>
> मादधती भारती कवेर्जयति॥

॥ इति शिवम् ॥

रामदहिन मिश्र

---

1 (क) कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशकम्।
आह्लाद्यमृतवत् काव्यमविवेकगदापहम्॥

(ख) कटुकौषधोपशमनीयस्य कस्य वा सितशर्करा प्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात्।

सा० दर्पण

सूचीपत्र

प्रथम प्रकाश

काव्य

दूसरा प्रकाश

शब्द

तीसरा प्रकाश

रस

चौथा प्रकाश

एकादश रस

पाँचवाँ प्रकाश

रसाभास आदि

छठा प्रकाश

ध्वनि

सातवाँ प्रकाश

काव्य

आठवाँ प्रकाश

दोष

नवाँ प्रकाश

गुण

दसवाँ प्रकाश

रीति

ग्यारहवाँ प्रकाश

अलंकार

बारहवाँ प्रकाश
अलंकारों का भेद

अलंकारसूची

काव्य दर्पण

प्रथम प्रकाश

काव्य



पहली छाया

साहित्य

करि प्रणाम गणपति, लिखूँ काव्य-शास्त्र का सार।
काव्य - प्रेमियों का बने कलित कंठ का हार॥

साहित्य शब्द का बहुत व्यापक अर्थ है। इस नाम-रूपात्मक जगत् में नाम और रूप का—शब्द और अर्थ का, केवल सहयोग ही साहित्य नहीं है, अपितु उसमे अनुकूल एक के साथ रुचिर दूसरे का सहृदय-श्लाघ्य सामञ्जस्य स्थापित करना भी है। साहित्य इस रीति से बाह्य जगत् के साथ हमारा आन्तरिक सौमनस्य स्थापित करता है।

जहाँ तक मनोवेगों को तरंगित करने, सत्य के निगूढ़ तत्त्वों का चित्रण करने और मनुष्य-मात्रोपयोगी उदात्त विचार व्यक्त करने का सम्बन्ध है वहाँ तक संसार का साहित्य सबके लिये समान है—साधारण है। साहित्य एक युग का होने पर भी युगयुगान्तर का होता है।

आस्वादनीय रस और मननीय सत्य साहित्य के ऐसे साधारण धर्म हैं, जिनकी उपलब्धि सभी देशों के वाङ्मय में होती है। इसमें जो शाश्वत सौंदर्य और अनिर्वचनीय आनन्द होता है वह देश-विशेष का, काल-विशेष का, जाति-विशेष का, समाज-विशेष का नहीं होता। कारण यह कि परीक्षित होने पर अपने रूप में ये दोनों वैज्ञानिक सत्य के समान वैशिष्ठ्यशून्य, एकरस और एकरूप होते हैं।

यद्यपि इस दृष्टि से देखने पर विश्वसाहित्य अभिन्न-सा प्रतीत होता है तथापि प्रत्येक साहित्य में देशिक, कालिक और मानसिक आधार के भेद से अपनी एक विशिष्टता दीख पड़ती है; एक स्वतन्त्र सत्ता झलकती है जो एक साहित्य को दूसरे साहित्य से भिन्न करने में समर्थ होती है।

कवीन्द्र रवीन्द्र का कथन है—

"सहित शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रन्थ-ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है। बल्कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अन्तरङ्ग मिलन भी है जो साहित्य के अतिरिक्त अन्य से संभव नहीं है।"

प्रधानतः दो अर्थों में साहित्य शब्द का प्रयोग होता है। एक तो विविध विषयों के ग्रन्थसमूह (Literature) लिटरेचर के अर्थ में और दूसरे काव्य के अर्थ में। जहाँ केवल साहित्य शब्द का प्रयोग होता है वहाँ मुख्यतः काव्य का ही बोध होता है। ऐसे तो साहित्य शब्द का प्रयोग विज्ञाप्य वस्तु के विज्ञापन की वाङ्मय सामग्री के अर्थ में भी होने लगा है।

जब हम इस सरस उक्ति को उपस्थित करते हैं कि "शब्द और अर्थ का जो अनिर्वचनीय शोभाशाली सम्मेलन होता है वही साहित्य है और शब्दार्थ का यह सम्मेलन वा विचित्र विन्यास तभी संभव हो सकता है जब कि कवि अपनी प्रतिभा से जहाँ जो शब्द उपयुक्त हो वहीं रखकर अपनी रचना को रुचिकर बनाता है[1]" तब हमको कला में अकुशल, शैली से अनभिज्ञ और अभिव्यञ्जना से विमुख नहीं कहा जा सकता और न हम केवल उपदेशक ही समझे जा सकते हैं।

१ साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः। कुन्तक

इस दशा में भी जब शिक्षित भारतीय कलाकार अपने साहित्य-शास्त्र की उपेक्षा करते हैं तब किस सहृदय भारतीय को आश्चर्य, खेद और दुःख न होगा ! शुक्लजी के शब्दों में इतना भी तो कहा जा सकता है—

"साहित्य के शास्त्र-पक्ष की प्रतिष्ठा काव्यचर्चा की सुगमता के लिये माननी चाहिये, रचना के प्रतिबन्ध के लिये नहीं।"

महाकवि मंखक ने कितना सुन्दर कहा है—"पाण्डित्य के रहस्यों —ज्ञातव्य प्रच्छन्न विषयों की बारीकी बिना जाने-सुने जो काव्य करने का अभिमान करते हैं वे सर्पविषनाशक मन्त्रों को न जानकर हलाहल विष चखना चाहते हैं[1]।"

इससे साहित्य के स्रष्टाओं, विशेषतः काव्यनिर्माताओं को साहित्य-शास्त्र के रहस्यों को जान लेना आवश्यक है।

दूसरी छाया

साहित्य—काव्य—शास्त्र

साहित्य शब्द प्रायः काव्य का वाचक है। शब्दकल्पद्रुम ने तो 'मनुष्यकृत श्लोकमय ग्रन्थ-विशेष' को ही साहित्य अर्थात् काव्य कहा है। भर्तृहरि का पद्यार्ध भी साहित्य शब्द से काव्य का ही बोध कराता है। जब तक व्यापकार्थक साहित्य शब्द के साथ किसी भेदक शब्द का योग नहीं होता, जैसे कि अंग्रेजी-साहित्य, संस्कृत-साहित्य, ऐतिहासिक साहित्य आदि, तब तक साहित्य शब्द से काव्यात्मक साहित्य का ही सामान्यतः बोध होता है।

ऐसा कोई शब्द नहीं, अर्थ नहीं, विद्या नहीं, शास्त्र नहीं, कला नहीं जो किसी न किसी प्रकार इस काव्यात्मक साहित्य का अंग न हो।[2] अतः इस सर्वग्राही सर्वव्यापक सर्वतोदत्तम कवि-कर्म का शासक होने

---

१ अज्ञातपाण्डित्यरहस्यमुद्रा ये काव्यमार्गे दधतेऽभिमानम्।
ते गारुडीयाननधीत्य मन्त्रान् हालाहलास्वादनमारभन्ते। श्रीकण्ठचरित

२ न स शब्दो व तद्वाच्यं न तच्छास्त्रं न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारः महान् कवेः। भामह

के कारण इस साहित्य-विद्या को साहित्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, काव्यानुशासन आदि समाख्या प्राप्त हुई है। कभी-कभी रसादि-समस्त-परिकर्म का अलंकरण-क्रियाकारी होने से इसे अलंकारशास्त्र भी कहते हैं। 'काव्य-दर्पण' को भी काव्यशास्त्र का ही पर्याय समझना चाहिये।

सभ्यता के साथ साहित्य की भी उत्पत्ति होती है। वेद ही हमारा सबसे प्राचीन उपलब्ध साहित्य है। इससे काव्य का भी मूल स्रोत वेद ही है। वैदिक ग्रन्थों में भी काव्य की झलक पायी जाती है। ऋग्वेद के 'उषा सूक्त' में काव्यत्व अधिक उपलब्ध है।

साहित्य के आदि आचार्य भगवान् भरत मुनि माने जाते हैं, यद्यपि इनके पूर्ववर्ती और कई आचार्य हो गये हैं। कई लोग इन्हें व्यास के समकालीन मानते हैं जैसा कि 'भरतेन प्रणीतत्वात् भारती रीतिरुच्यते' इस अग्निपुराण के श्लोकार्द्ध से सिद्ध होता है। पर इतिहास इन्हें ईसवी सदी से दो सौ वर्ष पूर्व का मानता है। ये आदि भरत नहीं, भरत मुनि के वंश में होने से भरत कहलाये।

ये भरत मुनि अपने नाट्यशास्त्र में लिखते हैं कि ऋग्वेद से नाट्य विषय, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रसों को ग्रहण किया[1]।

ब्राह्मण, निरुक्त आदि ग्रन्थों से स्पष्ट है कि उस समय के इतिहास-मिश्रित मंत्र ऋचाओं में और गाथाओं में थे। अनेक उपनिषदों ने इतिहास और पुराण को पंचम वेद माना है। इतिहास और पुराण प्रायः काव्यमय ही हैं। रामायण आदि काव्य और महाभारत महाकाव्य है ही।

तीसरी छाया

काव्य के फल

प्राचीन शास्त्र के अनुसार काव्य के फल तो यशोलाभ, द्रव्यलाभ, लोकव्यवहारज्ञान, सदुपदेश-प्राप्ति, दुःख-निवारण, परमानन्दलाभ आदि अनेक हैं पर अनेक आधुनिक कलाकारों की दृष्टि में आनन्द-लाभ के अतिरिक्त किसीका कोई उतना महत्त्व नहीं है। किन्तु सभी

1 जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि। नाट्यशास्त्र

ऐसे नहीं। अधिकांश कलाकार और विवेचक काव्य के सदुद्देश्यों का समर्थन करते हैं।

कालिदास और तुलसीदास की बात जाने दीजिये। व्यावहारिक दृष्टि से देखिये तो कौन ऐसा लेखक या कवि है जो यशोऽभिलाषी न हो। कवीन्द्र रवीन्द्र का कथन है कि "साहित्य में चिरस्थायी होने की चेष्टा ही मनुष्य की प्रिय चेष्टा है।"

इसी बात को एक अँगरेज कवि भी कहता है—

कुछ रजकण ही छोड़ यहाँ से चल देते नरपति सेनानी।
सम्राटों के शासन की बस रह जाती संदिग्ध कहानी।
गल जाती हैं विश्व-विजेता चक्रवर्तियों की तलवारें,
युग-युग तक पर इस जग में है अजर अमर कवि(कवि की वाणी)।[1]

—कन्हैयालाल सहल, एम० ए०

द्रव्य-लाभ फल न होता तो 'नोबुल' पुरस्कार के लिये नहीं तो कम से कम 'देव-पुरस्कार' 'मंगला-प्रसाद-पारितोषिक' आदि के लिये किसी कलाकार की लार क्यों टपकती?

सदुपदेश-प्राप्ति तो प्रत्यक्ष है जिसका समर्थन पाश्चात्य विद्वान् भी करते हैं। टाल्स्टाय का कहना है—

"साहित्य या कला का उद्देश्य जीवन-सुधार है, केवल सामान्य जीवन का सुधार ही नहीं, इससे और भी बहुत कुछ।"

कालरिज का कहना है कि "कविता ने मुझे वह शक्ति दी है जिससे मैं संसार की सब वस्तुओं में भलाई और सुन्दरता को देखने का प्रयत्न करता हूँ।"

आधुनिक कवियों के काव्यों में भी नीति की ऐसी बातें मिलती हैं जिनसे लोकव्यवहार का ज्ञान भलीभाँति हो सकता है। प्राचीन कवियों के काव्य तो लोकव्यवहार-ज्ञान के भण्डार ही हैं। हाँ, दुःख-निवारण एक ऐसी बात है जिसे सहज ही सब नहीं मान सकते। प्राचीन उदाहरणों को छोड़िये। बाहु-पीड़ा मिटाने के लिये 'हनुमान-

---

1Princes and captains leave a little dust,
And Kings dubious legend of their reign
The Swords of Caesares, they are less than rust
The poet doth remain.

बाहुक' की रचना-संबंधी तुलसीदास की किंवदन्ती का जब तक अस्तित्व रहेगा तब तक आस्तिक जन कविता का यह उद्देश्य भी अवश्य मानेंगे।

शुक्लजी के शब्दों में "हृदय पर नित्य प्रभाव रखनेवाले रूपों और व्यापारों के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तःप्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रकाश का प्रयास करती है।"

एक लहै तप पुंजन के फल ज्यों तुलसी अरु सूर गुसाँई।
एक लहै बहु संपति केशव भूषण ज्यों बर बीर बड़ाई।
एकन को जस ही से प्रयोजन है रसखान रहीम की नाँई।
'दास' कवित्तन की चरचा बुधिवंतन को सुख दै सब ठाँई।

आधुनिक दृष्टि से काव्य का फल हृदयसंवाद अर्थात् काव्य-नाटक के पात्रों के साथ रसिकों का तादात्म्य होना और अत्यानन्द की प्राप्ति तो है ही, क्रीड़ारूप में आत्माविष्कार एक ऐसा फल है कि कवि तथा लेखक, सभी इससे सहमत होंगे। नाटक क्या हैं 'क्रीड़नक' 'खेल' (Play) ही तो हैं। 'एकोऽहं बहु स्याम' जैसी भावना ही तो इसमें काम करती है।

चौथी छाया

काव्य के कारण

काव्य का कारण प्रतिभा है। नयी-नयी स्फूर्ति, नव-नव उन्मेष, टटकी-टटकी सूझ को प्रतिभा कहते हैं। पण्डितराज के विचार से प्रतिभा शब्द और अर्थ की वह उपस्थिति या आमद है जो काव्य का रूप खड़ा करती है। यही बात मंखक ने बड़े ढंग से कही है—**सराहिये उस कवि-चक्रवर्ती को जिसके इशारे पर शब्दों और अर्थों की सेना सामने कायदे से खड़ी हो जाती है**[1]। वामन ने प्रतिभान अर्थात्

---

१ अभ्रंकषोन्मिषितकीर्तिसितातपत्रः स्तुत्यः स एव कविमण्डलचक्रवर्ती।
यस्येच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते। द्राग्वाच्यवाचकमयः पृतनानिवेशः।
श्रीकण्ठचरित

प्रतिभा को कवित्वबीज कहा है। आधुनिक आलोचक कल्पना को भी कविता का उत्पादक कारण मानते हैं।

रुद्रट ने प्रतिभा को शक्ति नाम से अभिहित किया है। यह पूर्वजन्मार्जित एक विशेष प्रकार का संस्कार है जिसे आचार्य मम्मट आदि ने भी माना है। यह दो प्रकार की होती है। एक सहजा और दूसरी उत्पाद्या। सहजा कथंचित् होती है अर्थात् ईश्वरदत्त या अदृष्टजन्य होती है और उत्पाद्या व्युत्पत्तिलभ्य है।

जिनको प्रतिभा नहीं है वे भी कवि हो सकते हैं। क्योंकि सरस्वती की सेवा व्यर्थ नहीं जाती। आचार्य दण्डी कहते हैं कि यद्यपि काव्य-निर्माण का प्रबल कारण पूर्वजन्मार्जित प्रतिभा, जिसको नहीं है वह भी श्रुत से अर्थात् व्युत्पत्ति-विधायक शास्त्र के श्रवण-मनन से तथा यत्न से अर्थात् अभ्यास से सरस्वती का कृपापात्र हो सकता है[1]। अर्थात् सरस्वती सेवित होने से सेवक को कवि की वाणी देती है।

इससे स्पष्ट होता है कि काव्य के कारण प्रतिभा, शास्त्राध्ययन और अभ्यास हैं। कितने आचार्यों ने इन तीनों को ही कारण माना है। लोकशास्त्रादि के अवलोकन से प्राप्त निपुणता का ही नाम व्युत्पत्ति है और गुरूपदिष्ट होकर काव्य-रचना में बार-बार प्रवृत्त होना अभ्यास है।

ये तीनों काव्य-निर्माण में इस प्रकार सहायक होते हैं कि प्रतिभा से साहित्य-सृष्टि होती है, व्युत्पत्ति उसको विभूषित करती है और अभ्यास उसकी वृद्धि। जैसे, मिट्टी और जल से युक्त बीज लता का कारण होता है वैसे ही व्युत्पत्ति और अभ्यास से सहित प्रतिभा ही कविता-लता का बीज है—कारण है।[2]

जो आधुनिक समालोचक यह कहते हैं कि 'प्रतिभा' ही केवल कवित्व का कारण हो सकती है, इसपर प्राचीनों ने जोर नहीं दिया। संस्कृत आलंकारिकों की दृष्टि में अशास्त्राभ्यासी कवि नहीं हो सकता।

---

१ न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धिप्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्। काव्यादर्श

२ प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कविता प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव। जयदेव

उनकी दृष्टि से ग्रामीण गीतों में कवित्व नहीं हो सकता आदि। यह कहना ठीक नहीं है। हेमचन्द्र ने स्पष्ट लिखा है कि काव्यरचना का कारण केवल प्रतिभा ही है। व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके संस्कारक हैं, काव्य के कारण नहीं[1]। भामह का तो कहना यह है कि मन्दबुद्धि भी गुरूपदेश से शास्त्राध्ययन में समर्थ हो सकता है पर काव्य तो कभी-कभी किसी प्रतिभाशाली के ही सौभाग्य में होता है[2]। यदि ग्रामगीतों में कवित्व का अभाव माना जाता तो कवि-कोकिल विद्यापति के गीत इतने समादृत नहीं होते। यही कारण है कि कजली और लावनी के रसिया भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को कहने के लिये वाध्य होना पड़ा—

'भाव अनूठो चाहिये भाषा कोऊ होव'।

हाँ, यह बात अवश्य है कि आशुकवियों, कव्वालियों, लावनी और कजली बाजों की तुरत की तुकबंदियों में कवित्व कादाचित्क ही होता है।

आधुनिक विवेचक विद्वानों का विचार है कि कुछ ऐसी मानसिक वृत्तियाँ हैं जो काव्य-रचना की प्रेरणा करती हैं। वे हैं—(१) आत्माभिव्यक्ति (२) सौंदर्य-प्रियता (३) स्वाभाविक आकर्षण और (४) कौतुक-प्रियता। इनमें मुख्यता आत्माभिव्यक्ति वा आत्माभिव्यंजन की है।

(१) कुछ प्रतिभाशाली मनुष्य अपनी मानसिक भूख मिटाने के लिये वास्तव जगत् की वस्तुओं से काल्पनिक सम्बन्ध जोड़ते हैं और जीवन को पूर्ण करने की चेष्टा करते हैं। इस चेष्टा में वे अपने हृदय के उमड़ते हुए भावों को साज-सँवार कर व्यक्त करते हैं और उनके माधुर्य का उपभोग करते हैं। वे केवल अपने ही उनका आनन्द उठाना नहीं चाहते, बल्कि वे यह भी चाहते हैं कि उनके समान दूसरे भी वैसे ही आनन्द का उपभोग करें।

इस काव्यकारण को कवीन्द्र रवीन्द्र अनेक भावभंगियों से यों व्यक्त करते हैं।

---

१ प्रतिभैव च कवीनां काव्यकारणकारणम्। व्युत्पत्त्याभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ नतु काव्यहेतू। काव्यानुशासन

२ गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः। काव्यालंकार

(क) "हमारे मन के भाव की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अनेक हृदयों में अपने को अनुभूत कराना चाहता है।"

(ख) "हृदय का जगत् अपने को व्यक्त करने के लिये आकुल रहता है। इसीलिये चिरकाल से मनुष्य के भीतर साहित्य का वेग है।"

(ग) "बाहरी सृष्टि जैसे अपनी भलाई-बुराई, अपनी असंपूर्णता को व्यक्त करने की निरंतर चेष्टा करती है वैसे ही यह वाणी भी देश-देश में भाषा-भाषा में हम लोगों के भीतर से बाहर होने की बराबर चेष्टा करती है। यही कविता का प्रधान कारण है।"

इसी भाव को भिन्न रूप से पाश्चात्य विद्वान् भी प्रकट करते हैं।

वर्डशवर्थ का कहना है कि "समय-समय पर मन में जो भाव संगृहीत होता है वही किसी विशेष अवसर पर जब प्रकाश में आता है तब कविता का जन्म होता है" ? [1]

यही लार्ड बायरन का भी कहना है "जब मनुष्य की वासनाएँ या भावनायें अन्तिम सीमा पर पहुँच जाती हैं तब वे कविता का रूप धारण कर लेती हैं"। [2]

(२) मनुष्य स्वाभावतः सौन्दर्यप्रिय होता है और सर्वत्र ही सौन्दर्य का अनुसन्धान करता है। क्योंकि सौन्दर्य से एक विशेष प्रकार का आनन्द होता है। काव्य में सौन्दर्य की प्रधानता रहती है। इसलिये उसकी ओर प्रवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है। यही कारण है कि काव्य रमणीयार्थप्रतिपादक और रसात्मक होता है।

(३) मन स्वभावतः कोमलता, मधुरता तथा सरलता को चाहता है। क्योंकि यह उसके अनुकूल है। ये बातें काव्य से ही संभव हैं। यह अनुकूलता भी काव्य की एक प्रेरक शक्ति है।

(४) कौतुकप्रियता भी काव्य-रचना में अपना प्रभाव दिखाती है। इससे कौतूहलपूर्ण आनन्द होता है। काव्य में वैचित्र्य और चमत्कार लाने की जो चेष्टा है वही इसके मूल में है।

इस प्रकार नवीनों ने नये-नये काव्य-कारण के उद्भावन किये हैं जो आधुनिक विचारों के पोषक हैं।

---

1 Poetry takes its origin from emotion recollected in tranquillity.

2 Thus their extreme verge the passions brought.
Dash in poetry, which is but passions,

पाँचवी छाया

काव्य क्या है ?

काव्य के लक्षण अनेक हैं पर आचार्यों के मतभेदों से खाली नहीं। निर्विवाद कोई लक्षण हो ही कैसे सकता है जब कि विचारों और तर्क-वितर्कों का अन्त नहीं है और जब कि काव्य का स्वरूप ही ऐसा व्यापक और सर्वग्राही है।

साहित्यदर्पण का लक्षण है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अर्थात् सर्व-प्रधान होने के कारण रस ही जिसका जीवनभूत आत्मा है, ऐसा वाक्य काव्य कहलाता है। इसीसे कहा है कि काव्य में वाणी की विदग्धता—विलक्षणता-विमिश्रित चातुर्य की प्रधानता होने पर भी उसका जीवन रस ही है।

शब्द-सौष्ठव मात्र उतना मनोरम नहीं हो सकता, वक्तव्य विषय को व्यक्त करने का भिन्न-भिन्न प्रकार उतना मनमोहक नहीं हो सकता जितना कि मार्मिक और सरस अर्थ। शब्दों का लालित्य वा उनकी झंकार सुनकर हम भले ही वाह-वाह कह दें पर ये हमारे हृदय का स्पर्श नहीं कर सकते, उसमें गुद-गुदी पैदा नहीं कर सकते। पर अर्थ इस अर्थ के लिये सर्वथा समर्थ है। अलौकिक आनन्द का दान हमारे काव्य का ध्येय है। यह आनन्द वाह्याडम्बर से प्राप्त नहीं हो सकता। अलंकार वा विशिष्ट पद-रचना काव्य की आत्मा नहीं हो सकती। काव्यात्मा तो बस अर्थ का उत्कर्ष ही है जो रस के सामवेश से ही सिद्ध हो सकता है। जब तक किसी बात से हमारा हृदय गद्गद नहीं हो उठता, मुग्ध नहीं हो जाता तब तक हम किसी वर्णन को काव्य कह ही कैसे सकते हैं! किसी भाव के उद्रेक ही में तो अर्थ की सार्थकता है। यह अर्थ हृदयस्पर्शी तभी हो सकता है जब उसमें हृदय के सुप्त भाव को छेड़कर जागरित करने की शक्ति हो। उसी जाग्रत भाव में हम भूल जायँ तो हमें सच्चा आनन्द प्राप्त होगा और वही आनन्द काव्य का रस है।

शुक्लजी के शब्दों में—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है उसे कविता कहते हैं।"

सबसे अर्वाचीन लक्षण पण्डितराज जगन्नाथ का है "रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। इसकी व्याख्या यों की जा सकती है। जिस शब्द या जिन शब्दों के अर्थ अर्थात् मानस-प्रत्यक्ष-गोचर वस्तु के बार-बार अनुसन्धान करने से—मनन करने से रमणीयता अर्थात् अनुकूल वेदनीयता, अलौकिक चमत्कार की अनुभूति से संपन्न हो, वह काव्य है। पुत्रोत्पत्ति वा धनप्राप्ति के प्रतिपादक शब्दों के द्वारा जो आह्लादजनक अनुभूति होती है वह अलौकिक नहीं लौकिक है। क्योंकि उसमें मन रमा देने की शक्ति नहीं होती, मोद-मात्र उत्पन्न करने की शक्ति होती है। रमणीयता और मोदजनकता में बड़ा अन्तर है। दूसरे, उसमें क्षणिक रमणीयता की उपलब्धि हो सकती है, तात्कालिक आनन्द हो सकता है। उस रमणीयता में क्षण क्षण उदीयमान वह नवीनता नहीं जो मन को बार-बार मोहित कर दे। प्रत्युत ऐसी बातें बार बार दुहरायी जाती हैं तो अरुन्तुद हो उठती हैं। अतः उनसे अलौकिक आनन्द नहीं हो सकता, सनातन रमणीयता का उपभोग नहीं किया जा सकता। इससे यहाँ रमणीयता का अर्थ अलौकिक आनन्द की प्राप्ति है और इस रमणीयता के वाहक शब्द ही हैं।

हमारे आचार्य उक्त लक्षणों के अनुसार विशिष्ट शब्द वा वाक्य ही को काव्य मानने वाले नहीं, बल्कि शब्द और अर्थ दोनों को काव्य मनाने वाले भी हैं। भामह ने काव्य का लक्षण किया है कि 'सम्मिलित शब्द और अर्थ ही काव्य है"। अर्थात् वाह्य शब्द और आन्तर अर्थ ही सम्मिलित होकर काव्य को स्वरूप प्रदान करते हैं। ये आचार्य शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता माननेवाले हैं। शब्द-सौष्ठव को प्रधानता देनेवाले आचार्यों का यह अभिप्राय नहीं कि काव्य में अर्थ का अस्तित्व ही नहीं माना जाय या दूषित अर्थवाले शब्दों को काव्य कहा जाय। इनमें मतभेद का कारण यह है कि काव्य में शब्द या शब्दावली या वाक्य की प्राधानता है या शब्द और अर्थ दोनों की।

कहा है कि काव्य का शरीर शब्द और अर्थ हैं, रस आत्मा है, शौर्य आदि गुण हैं, काणत्व आदि के तुल्य दोष हैं, अंगों के सुगठन के समान रीतियाँ हैं और कटक-कुंडल के समान अलंकार हैं।

काव्य के पाश्चात्य व्याख्याकारों ने कहा है कि "काव्य के अन्त-

र्गत वे ही पुस्तकें आनी चाहिये जो विषय तथा उसके प्रतिपादन की रीति की विशेषता के कारण मानव-हृदय को स्पर्श करनेवाली हों और जिनमें रूप-सौष्ठव का मूल तत्व और उसके कारण आनन्द का जो उद्रेक होता है उसकी सामग्री विशेष रूप से वर्तमान हो।" व्याख्याकार का आशय अर्थ की रमणीयता से ही है।

रस्किन ने तो स्पष्ट कहा है —

"कविता कल्पना के द्वारा रुचिर मनोवेगों के लिये रमणीय क्षेत्र प्रस्तुत करती है"।

मानव-जीवन और प्रकृति से काव्य का गहरा सम्बन्ध है। अतः काव्य मानव-जीवन और सृष्टि-सौन्दर्य की विशद व्याख्या है। यही कारण है कि काव्य के अध्ययन से आंतरिक भावनायें जाग उठती हैं और मानव-जीवन के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित कर लेती हैं।

नवीन कलाकारों के लक्षणों का अन्त नहीं, जितने मुँह उतनी बातें। कहना चाहिए कि अबतक कविता की कोई ऐसी परिभाषा न बन सकी जो तर्क-वितर्क से शून्य हो।

छठी छाया

काव्य-लक्षण-परीक्षण

कविता का कोई सर्वमान्य लक्षण होना कठिन है। इसके कारण अनेक हैं। कविता के सम्बन्ध में कलाकारों के दो प्रकार के मनोभाव हैं। कोई-कोई कविता को केवल मनोरंजन का साधन समझते हैं और उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। इसके विपरीत कुछ कलाकार ऐसे हैं जो कविता के प्रशंसक ही नहीं, उसके पुजारी हैं। वे उसे दैवी वस्तु समझते हैं। लक्षण-भिन्नता के मुख्य कारण ऐसे ही मनोभाव हैं।

विंचेस्टर के मत से काव्य के मूल तत्त्व चार हैं—पहला है भावात्मक तत्त्व (Emotional element)। इसमें रस ही मुख्य है। दूसरा है बुद्धितत्त्व (Intellectual element)। इसमें विचार की प्रधानता है। क्योंकि जीवन के महान तत्त्वों पर इसकी भित्ति स्थापित की जाती है। तीसरा तत्त्व है कल्पना (Imagination)। रसव्यक्ति में

इसकी मुख्यता मानी जाती है। चौथा तत्त्व है काव्याङ्ग (Formal elements)। इसमें भाषा, शैली, गुण, अलंकार आदि आते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि काव्य-साहित्य वह वस्तु है जिसमें मनोभावात्मक, कलात्मक, बुद्धयात्मक और रचनात्मक तत्त्वों का समावेश हो। पर, लक्षणकार एक एक तत्त्व को ले उड़े हैं और अपने-अपने मनोनुकूल लक्षण लिख डाले हैं। किसी किसी के लक्षणों में एक से अधिक भी तत्त्व पाये जाते हैं।

कविता के मुख्यतः दो ही पक्ष सामने आते हैं। एक भावपक्ष और दूसरा कलापक्ष। इस दृष्टि से कुछ लक्षणों की परीक्षा की जाय।

रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को वा रसात्मक वाक्य को काव्य कहने से कलापक्ष छूट जाता है। इनमें शब्द की प्रधानता दी गयी है। वाक्य भी शब्दात्मक ही होता है। 'काव्यप्रकाश' में निर्दोष, सगुण और सालंकार शब्द और अर्थ को[1] काव्य कहते हैं, इस लक्षण में कलापक्ष तो है पर भावपक्ष का अभाव है। इसमें शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता दी गयी है। ऐसे ही 'काव्य की आत्मा रीति है[2]' इसमें कलापक्ष तो है पर भावपक्ष नहीं है। रीति को काव्यात्मा मानना भी यथार्थ नहीं। अभिव्यञ्जनावादी भले ही इसे महत्त्व दें। 'काव्य की आत्मा ध्वनि है[3]' यह यथार्थ है पर इसमें कलापक्ष की उपेक्षा है। पहले में शब्द की और दूसरे में अर्थ की प्रधानता है। कहना चाहिये कि कहीं शरीर है तो आत्मा नहीं और कहीं आत्मा है तो शरीर नहीं।

वर्डस्वर्थ का 'उत्कट भावना का सहजोद्रेक काव्य है[4]' यह लक्षण कविराज विश्वनाथ के लक्षण का ही प्रतिरूप है। वैसे ही कालरिज का काव्यलक्षण 'उत्तम शब्दों की उत्तम रचना[5]' वामन के लक्षण से मिलता है। शैली के 'श्रेष्ठ और उत्तमोत्तम आत्माओं वा हृदयों के आत्यंतिक रमणीय वा भव्य क्षणों का लेखा[6]' काव्य है, लक्षण

---

१ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। मम्मट

२ रीतिरात्मा काव्यस्य। वामन

३ काव्यस्यात्मा ध्वनिः। ध्वन्यालोक

4. The spontaneous over flow of powerful feelings.
5. The best words in the best order.
6. The best and happiest moments of the best and happiest minds.

को लक्षण न कहकर काव्य के उत्पत्तिकाल और कवियों का गुणवर्णन ही कहना चाहिये। आर्नोल्ड ने 'काव्य को जीवन की व्याख्या[1]' जो कहा है वह अस्पष्ट है। क्योंकि कविता जानने के पहले जीवन की व्याख्या का ज्ञान होना चाहिये। दूसरी बात यह कि यह तो कविता का एक प्रकार का प्रयोजन है। आलफ्रेड लायल का यह लक्षण 'किसी युग के प्रधान भावों और उच्च आदर्शों को प्रभावोत्पादक रीति से प्रकट कर देना ही कविता है[2]' कविता के कार्य का ही निर्देश करता है।

महादेवी वर्म्मा कहती हैं—'कविता कवि-विशेष की भावनाओं का चित्रण है और वह चित्रण इतना ठीक है कि उससे वैसी ही भावनायें किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत हो जाती हैं।" इसमें रसनिष्पत्ति की वही प्रक्रिया झलकती है जिसका नाम 'साधारणीकरण' है। अभिनव गुप्त की भाषा में इसे कहें तो 'हृदयसंवाद' वा 'वासनासंवाद' कह सकते हैं। इसमें यह दोष आ जाता है कि जहाँ काव्यगत पात्रों के साथ रसिक-हृदय का संवाद—मेल नहीं होता वहाँ लक्षणसंगति नहीं हो सकती। काव्य-नाटक में विसंवादी भावनायें भी जागृत होती हैं।

इस प्रकार कुछ काव्यलक्षणों की समीक्षा करने से यह स्पष्ट होता है कि कवियों और विवेचकों ने काव्यलक्षणों में कहीं तो उसकी मनोमोहक शक्ति की प्रशंसा की है और कहीं उसके रमणीय गुणों का निदर्शन किया है। कहीं तो कवि की चित्तवृत्ति का वर्णन पाया जाता है और कहीं उनके विचारों का, जिनसे कविता का प्रादुर्भाव होता है। किसी ने भाव पर, किसीने कल्पना पर, किसीने रचना-शैली पर, किसीने प्रकाशनशक्ति पर, किसीने उद्दीपक शक्ति पर, किसीने रहस्य पक्ष पर, किसीने अन्तर्दृष्टि पर बल दिया है। कोई काव्य को आनन्दमूलक, कोई कलामूलक, कोई भावमूलक, कोई अनुभूतिमूलक, कोई आत्मवृत्तिमूलक, कोई जीवन-वृत्ति-मूलक और कोई इसको हृदयोद्गारमूलक बताते हैं। काव्य-लक्षणों में भाषा, छन्द, संगीत, सत्य सौन्दर्य, ज्ञान आदि को भी सम्मिलित कर लिया गया है। रस और आनन्द तो काव्य की मुख्य वस्तु हैं ही।

---

1. Poetry is at bottom a criticism of life.
2. Poetry is the most intense expression of the dominant emotions and the higher ideas of the age.

कविता के उक्त वस्तुविवेचन में जो भिन्नता पायी जाती है उससे कोई किसी एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुँच नहीं सकता। संक्षेप में यह लक्षण कहा जा सकता है कि—

सहृदयों के हृदयों की आह्लादक रुचिर रचना काव्य है।

ललित कला मे 'सहृदय' शब्द इतना जनप्रिय हो गया है कि इसकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं पर सभी को आचार्य का अभिमत अर्थ समझ लेना चाहिये। वह अर्थ है—सहृदय वह है जिसका हृदय काव्यानुशीलन से वर्णनीय विषय में तन्मय होने की योग्यता रखता[1] है। यहाँ रुचिर से कलापक्ष का और आह्लादन से भावपक्ष का ग्रहण है।

सातवीं छाया

कवि, कविता और रसिक

कवि और कविता की एक साधारण-सी परिभाषा है जिसमें दोनों की स्पष्ट झलक पायी जाती है। यद्यपि बुद्धि और प्रज्ञा एकार्थवाची हैं तथापि बुद्धि से प्रज्ञा का स्थान ऊँचा है। यह उसकी साधनिका से प्रकट है। अभिनव गुप्त कहते हैं कि "अपूर्व वस्तु के निर्माण में जो समर्थ है वह है प्रज्ञा"[2]। "जब वह प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी अर्थात् टटकी-टटकी सूझवाली होती है तब उसको प्रतिभा कहते हैं। उसी प्रतिभा के बल से सजीव वर्णन करने में जो निपुण होता है, वही कवि है और उसीका कर्म, कृति वा रचना कविता है"[3]। कवि और कविता के इस लक्षण में किसी को कोई विचिकित्सा नहीं होगी।

कवि असाधारण होता है। यह असाधारणता उसे पूर्वजन्मार्जित संस्कार से प्राप्त होती है। एक श्रुति का आशय है कि "जो कवि नहीं,

---

१ येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशात् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवन-योग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः। अभिनव गुप्त

२ अपूर्व-वस्तु-निर्माण-क्षमा प्रज्ञा। ध्वन्यालोक

३ प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाज्जीवद्वर्णनानिपुणः कविः
कवेः कर्म स्मृतं काव्यम्।

कवीयमान है अर्थात् कवि न होते हुए भी अपने को कवि मानने वाले हैं उन्हें कवि का वह दिव्य मानस कहाँ से प्राप्त हो सकता है जो रहस्यों को प्रकाश में लावे"[१]। अभिप्राय यह कि कवि का मानस दिव्य होता है। दिव्य-मानस व्यक्ति ही कविता करने का अधिकारी हो सकता है। कवि का ढोंग रचने वाला कभी कवि नहीं हो सकता।

हम भी साधारण लोकोक्ति में कहते हैं 'जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि।' यह लोकोक्ति इस बात को व्यक्त करती है कि कवि कितना सामर्थ्यशाली है। रवि-किरणें अणु-परमाणु को भी आलोकित करती हैं पर कवि की दृष्टि उससे भी तीक्ष्ण होती है। उसे प्रतिभा-प्रसूत कल्पना की शक्ति प्राप्त है! उसकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि प्रति वस्तु में प्रविष्ट होने की अद्भुत शक्ति रखती है। रवि विश्वव्यापी वस्तुओं के वाह्यावरण तक ही पहुँच सकता है। किन्तु कवि उनके अन्तरंग में पैठकर उनको हमारे समक्ष ऐसे मनोरम आकार में प्रस्तुत करके रख देता है कि हम देख-सुनकर मुग्ध हो जाते हैं, उनके रहस्य को मधुर रूप से हृदयंगम कर लेते हैं और उनके रागात्मक स्पर्श से पुलकित हो उठते हैं। हमारी इस बात का, समर्थन संस्कृत की यह सूक्ति भी करती है कि "कवय: किं न पश्यन्ति"–कवि क्या नहीं देख सकते!

"इस अपार संसार में कवि ही ब्रह्मा है। इससे यह जैसा चाहता है वैसाही संसार हो जाता है।" अभिप्राय यह कि कविके इच्छानुसार काव्य-संसार का निर्माण होता है। "यदि कवि शृङ्गारी हुआ तो संसार रसमय हो गया और अगर वह विरागी हुआ तो संसार नीरस हो गया[२]।" शेली ने भी कुछ ऐसा ही कहा है[3]।

हम जो कुछ जड़चेतनात्मक प्राकृतिक पदार्थ देखते हैं और जिन प्राणियों के बीच रहते हैं उनसे एक हमारा आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित

---

१ कवीयमानः क इह प्रवोचत् देवं मनः कुतो अधिप्रजातम्। श्रुतिः

२ अपारे खलु संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।
शृङ्गारी चेत् कविः काव्यं जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेत् नीरसं सर्वमेव तत्॥

3 Poets are the trumpets which sing to battle,
Poets are the unacknowledged legislature of the world.

है। हम लोगों में एक प्रकार का आदान-प्रदान होता रहता है। यह सर्वसाधारण को उतना स्पन्दित नहीं करता जितना कवि को। कवि उसकी अभिव्यक्ति के लिये आतुर हो उठता है। क्योंकि वह उसके प्रकाशन की क्षमता रखता है। हम सब कुछ देखते-सुनते और समझते-बूझते भी मूक हैं, उसकी सी प्रकाशन-क्षमता हम में नहीं है।

समाधि की योग में ही नहीं, काव्य में भी आवश्यकता है। समाधि का अर्थ अवधान है—चित्त की एकाग्रता है। इससे बाह्यार्थ की निवृत्ति और वेदितव्य विषय में प्रवृत्ति होती है। अभिप्राय यह कि "बहिरिन्द्रियों के व्यापार का जब विराम होता है तब मन के अन्तर में लवलीन होने से अभिधा के अनेक स्फुरण होते हैं"।[१] इससे "काव्य-कर्म में कवि की समाधि ही प्रधान[२] है।" इसी बात को शेली कहता है कि "कविता स्फीत तथा पूर्णतम आत्माओं के परिपूर्ण क्षणों का लेखा है"।[3] इसी बात को प्रो० बा० म० जोशी यों कहते हैं कि "काव्यादि के निर्माण करनेवाले कलाकार आत्मविभोर की दशा में रहते हैं। कवि जब काव्य के विषय में तन्मय हो जाता है तभी उसके सहज उद्गार निकलते हैं।"

कवि केवल अपने ही लिये कविता नहीं करता बल्कि दूसरों के लिये भी करता है। उसका उद्देश्य होता है कि जैसी मुझे अनुभूति होती है वैसी ही अनुभूति पाठकों को भी हो, उनके चित्त में रस-संचार हो। इसके लिये कवि शब्द और अर्थ—वाचक और वाच्य का आश्रय लेता है। क्योंकि इनके विना उसका उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। वह सीधे अपनी अनुभूति को पाठकों के हृदय में पैठा नहीं सकता। पाठकों या रसिकों के मन के भावों को रस का रूप देने के लिये उसको काव्य की सृष्टि करनी पड़ती है; अपनी भावना को सुन्दर बनाना पड़ता है।

हम भी शब्द और अर्थ जानते हैं। किन्तु हम उनका विन्यास वैसा नहीं कर सकते जैसा कि कवि। वह अपने शब्द और अर्थ के विन्यास से अपना अनुभव औरों को वैसा ही कराकर मुग्ध कर देता

---

१ मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य। —रुद्रट

२ काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते। —काव्यमीमांसा

3 Poetry is the record of the happiest and best minds.

है जैसा कि वह स्वयं अनुभव करता है। कहा है "जिन शब्दों को, हम प्रतिदिन बोलते हैं, जिन अर्थों का हम उल्लेख करते हैं उन्हीं शब्दों और अर्थों का विशिष्ट भावभंगी से विन्यास करके कवि जगत् को मोह लेते हैं[१]"।

कवि का शब्द और अर्थ के विन्यासविशेष से काव्य को जो भव्य बनाना है वही काव्यकौशल है; वही काव्य की नूतनता है; वही कला है। इसीको आप चाहें तो आधुनिक भाषा में प्रेषणीयपद्धति वा अभिव्यञ्जनाकौशल कह सकते हैं। विन्यासविशेष पर ध्यान देनेवाले हमारे प्राचीन कवि कलाकुशल तो थे ही, अभिव्यञ्जनावादी भी थे। यदि वे ऐसे न होते तो कभी नहीं शब्द और अर्थ के 'विन्यास-विशेष' 'ग्रथन-कौशल' 'साहित्य-वैचित्र्य'[२] अर्थात् शब्द और अर्थ के सम्मेलन वा सहयोग की विचित्रता की बात मुँह पर नहीं लाते; ऐसे शब्दों के प्रयोग नहीं करते।

कवि अपने वाच्य-वाचक को सालंकार बनाने का कभी प्रयास नहीं करता। वे आप से आप उसमें उद्भूत हो जाते हैं। उनके लिये विशेष कल्पना नहीं करनी पड़ती। वे आप से आप ऐसे आ जाते हैं कि वाच्य-वाचक से उनका कभी विच्छेद नहीं हो सकता। वे उनके अंग ही हो जाते हैं। कहा भी है कि "काव्य की रस वस्तुयें तथा उनके अलंकार महाकवि के एक ही प्रयत्न से सिद्ध हो जाते हैं"[३]। उनके लिये पृथक् रूप से प्रयत्न नहीं करना पड़ता। ऐसा करने वाले प्रकृत कवि नहीं कहे जा सकते।

---

१ यानेव शब्दान् वयमालपामः यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः संमोहयन्ते कवयो जगन्ति॥ श्रीवल्लीलार्णव

२ त एव पदविन्यासाः ता एवार्थविभूतयः।
तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रथनकौशलात्॥
निदानं जगतां वन्दे वस्तुनी वाच्यवाचके।
तयोः साहित्यवैचित्र्यात् सतां रसविभूतयः॥ —काव्यमीमांसा

३ रसवन्ति हि वस्तूनि सालंकाराणि कानिचित्॥
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः। —ध्वन्यालोक

यदि कवि अपने काव्य से पाठकों का मनोरंजन कर सका, उनके मन में रस का संचार कर सका तो कवि अपनी कृति में सफल समझा जा सकता है। किन्तु यह उसके वश के बाहर की बात है। रसोद्रेक में समर्थ भी काव्य अरसिक के मन में रसोद्रेक नहीं कर सकता। जो पाठक या श्रोता कविहृदय के साथ समरस नहीं हो सकता वह काव्य का आस्वाद नहीं ले सकता। अतः रससंचार जितना काव्य पर निर्भर करता है उतना ही पाठकों के मन पर भी निर्भर है। इसीसे वररुचि का कहना है "कि हे ब्रह्मन्! आप मनमाने पाप हम पर भले ही थोप दें पर अरसिकों को काव्य सुनाना मेरे भाल पर कभी न लिखें, न लिखें, न लिखें"[१]।

सभी पाठकों, श्रोताओं और दर्शकों को जो काव्यानन्द नहीं होता; रसानुभूति नहीं होती उसका कारण यह है कि उस भाव की वासना उनमें नहीं है[२]। वासना है अनुभूत भाव वा ज्ञान का संस्कार। आधुनिक भाषा में इसको रसास्वाद की शक्ति का स्वाभाविक अभाव कह सकते हैं। 'मिल्टन' के संबंध में 'मेकाले' की ऐसी ही उक्ति है जिसका यह आशय है कि "पाठक का मन जब तक लेखक के मन से मेल नहीं खाता तब तक आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता"[3]।

---

१ इतरपापशतानि यथेच्छया वितर तानि स हे चतुरानन।
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख॥

२ न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्। साहित्यदर्पण

3 Milton cannot be comprehended or enjoyed unless the mind of reader co-operates with that of the writer

दूसरा प्रकाश

अर्थ

(क) अभिधा

पहली छाया

शब्द

शब्द का शास्त्रों में अधिक महत्त्व है।

शास्त्र में जो वाचक है वही शब्द है।

(क) श्रूयमाण होने से शब्द के दो भेद होते हैं— १. **ध्वन्यात्मक** और २. **वर्णात्मक**।

ध्वन्यात्मक शब्द वे हैं जो वीणा, मृदंग आदि वाद्ययन्त्रों, पशु-पक्षियों की बोलियों और आघात के द्वारा उत्पन्न होते हैं।

वर्णात्मक शब्द वे हैं जो वर्णों में स्पष्टतः बोले या लिखे जाते हैं।

(ख) प्रयोग-भेद से वर्णात्मक शब्द के दो भेद होते हैं—१. **सार्थक** और २. **निरर्थक**।

सार्थक शब्द वे हैं जो किसी वस्तु वा विषय के बोधक होते हैं। जैसे—राम, श्याम आदि।

निरर्थक शब्द वे हैं जिनसे किसी विषय का ज्ञान नहीं होता। जैसे—पागल का प्रलाप, आँय बाँय आदि।

(ग) श्रुति-भेद से सार्थक शब्द के दो भेद होते हैं—१. **अनुकूल** और २. **प्रतिकूल**।

प्रयोगार्ह सार्थक शब्द को **पद** कहते हैं।

पद दो प्रकार के होते हैं—१. **नाम** और २. **आख्यात**। विशेष्य वा विशेषणवाचक पद को नाम और क्रियावाचक पद को आख्यात कहते हैं।

पद उद्देश्य भी होता है और विधेय भी।

जिस पद से सिद्ध वस्तु का कथन हो वह उद्देश्य और जिस पद से अपूर्व विधान हो वह विधेय है।

अभिप्राय यह कि जिसके विषय में वक्तव्य हो वह उद्देश्य और जो वक्तव्य हो वह विधेय है। जैसे—'हे देव ! तुम्हीं माता हो, पिता हो, सखा हो, धन हो और हे देव ! तुम्हीं मेरे सब कुछ हो'। यहाँ 'देव' जो पहले से सिद्ध अर्थात् वर्तमान है, उसमें मातृत्व, पितृत्व आदि 'अपूर्व' अर्थात् अवर्तमान का कथन करने से 'देव' उद्देश्य 'माता हो' आदि विधेय है।

पूर्णार्थ-प्रकाशक पदसमूह को **वाक्य** कहते हैं।

योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त पदसमूह को वाक्य कहते हैं।

उपयोग-भेद से अनुकूल-पद-घटित वाक्य के तीन भेद होते हैं—(१) **प्रभुसम्मित**, (२) **सुहृत्सम्मित** और (३) **कान्तासम्मित**।

(१) वेदादि वाक्य शब्द-प्रधान होने से प्रभुसम्मित हैं।

(२) पुराणादि अर्थ-प्रधान होने से सुहृत्सम्मित हैं।

(३) काव्य शब्दार्थोभय गुण से सम्पन्न तथा रसास्वाद से परिपूर्ण होने के कारण कान्तासम्मित है। कान्ता के समान काव्य के कोमल वचनों से कृत्याकृत्य का उपदेश और रसानुभव से अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है। इससे काव्य इन दोनों से विलक्षण है।

१ योग्यता

पदार्थों के परस्पर अन्वय में—सम्बन्ध स्थापित करने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति—अड़चन का न होना योग्यता है। जैसे—

> पीकर ठंढा पानी मैंने अपनी प्यास बुझायी।
> पर पीकर मृगतृष्णा उसने अपनी तृषा मिटायी ॥ राम

पानी से प्यास बुझती है। इससे पहली पंक्ति में योग्यता है। किन्तु 'मृगतृष्णा' से प्यास नहीं बुझती। इससे दूसरी पंक्ति में योग्यता नहीं है।

२ आकांक्षा

एक दो साकांक्ष पदों के रहते हुए भी अर्थ का अपूर्ण रहना, अर्थात् वाक्यार्थ पूरा करने के लिये अन्यान्य पदों की

अपेक्षा—जिज्ञासा का बना रहना, पद-समूह की आकांक्षा कहलाता है। जैसे—

'राम ने एक पुस्तक' इतना कहने ही से अर्थ पूरा नहीं होता और 'श्याम को दी' इस प्रकार के पद अपेक्षित रहते हैं। जब दोनों मिला दिये जाते हैं तब वाक्यार्थ पूरा हो जाता है और आकांक्षा मिट जाती है।

३ आसत्ति

आसत्ति को सन्निधि भी कहते हैं।

एक पद के सुनने के बाद उच्चरित होनेवाले अन्य पद के सुनने के समय सम्बन्ध-ज्ञान का बना रहना 'आसत्ति' है।

अभिप्राय यह कि एक पद के उच्चारण के बाद दूसरे अपेक्षित पद के उच्चारण में विलम्ब वा व्यवधान न होना ही आसत्ति है।

'राजा साहब' इतना कहने के बाद देर तक चुप रहकर 'कल आवेंगे' यह कहा जाय तो इन दोनों का सम्बन्ध तत्काल प्रतीत न होगा और चाहिये यह कि जिस पदार्थ का जिसके साथ सम्बन्ध हो, उसके साथ ही उसका ज्ञान हो। ऐसा जब तक न होगा तब तक वाक्य न होगा। यह काल-व्यवधान है। ऐसे ही अन्यान्य व्यवधान भी होते हैं।

दूसरी छाया

शब्द और अर्थ

प्रत्येक शब्द से जो अर्थ निकलता है वह अर्थ बोध करने वाली शब्द की शक्ति है।

यह शक्ति शब्द और अर्थ का एक विलक्षण सम्बन्ध है, जो लोक-व्यवहार से सङ्केतज्ञान होने पर उद्‌बुद्ध हो जाता है। इसे वाच्य-वाचकभाव भी कहते हैं।

शब्द की तीन शक्तियाँ हैं—१. अभिधा २. लक्षणा और ३. व्यंजना। जिनमें ये शक्तियाँ होती हैं वे शब्द भी तीन प्रकार के होते हैं—

१. वाचक २. लक्षक और ३. व्यञ्जक। इनके अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं—१. वाच्यार्थ २. लक्ष्यार्थ और ३. व्यङ्ग्यार्थ। वाच्य अर्थ कथित या अभिहित होता है; लक्ष्य अर्थ लक्षित होता है और व्यङ्ग्य अर्थ व्यञ्जित, ध्वनित, सूचित या प्रतीत होता है।

अर्थ उपस्थित करने में शब्द कारण हैं। अभिधा आदि शक्तियाँ शब्दों के व्यापार हैं।

वाचक शब्द

जो साक्षात् संकेतित अर्थ का बोधक होता है, वह वाचक शब्द है।

संसार में जितने शब्द व्यवहार में प्रचलित हैं वे सब के सब भिन्न-भिन्न वस्तुओं के निश्चित नाम ही हैं। वे ही वाचक शब्द के नाम से अभिहित होते हैं। वाचक शब्दों का अपना अपना अर्थ उन-उन वस्तुओं के साथ संकेत-ग्रहण—शब्दों के निश्चित सम्बन्धज्ञान—पर निर्भर रहता है। वस्तु का आकार-प्रकार इस सम्बन्धज्ञान का बहुत कुछ नियामक है।

संकेतग्रहण—शब्द और अर्थ का सम्बन्धज्ञान—१. व्याकरण २. उपमान ३. कोष ४. आप्तवाक्य अर्थात् यथार्थ वक्ता का कथन ५. व्यवहार ६. प्रसिद्ध पद का सान्निध्य ७. वाक्यशेष ८. विवृति आदि अनेक कारणों से होता है।[1]

१. व्याकरण से—जैसे, लौकिक, साहित्यिक, लठैत, लोहारिन शब्दों के क्रमशः ये अर्थ होते हैं—लोक में उत्पन्न, साहित्य का ज्ञाता, लाठी चलानेवाला और लोहार की स्त्री। ये अर्थ शब्दशास्त्रियों को सहज ही ज्ञात हो जा सकते हैं। कारण, वे प्रकृति-प्रत्यय के योग को जानकर व्याकरण से संकेतग्रहण कर लेते हैं।

२. उपमान से—उपमान का अर्थ है, सादृश्य, समानता, मेल, बराबरी आदि। इससे भी संकेतग्रहण होता है। जैसे—जई जौ के समान होती है। इस उपमान से 'जौ' का जानकार और 'जई' को न जानने-

---

1 शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
सान्निध्यतः सिद्धपदस्य धीरा वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति॥ मुक्तावली

वाला व्यक्ति 'जई' के 'जौ' के समान होने से 'जई' को देखते ही सहज ही उसे पहचान लेगा।

३. कोष से—जैसे, देवासुर-संग्राम में निर्जरों ने विजय पायी। इस वाक्य में 'निर्जर' का अर्थ देवता है। यह सङ्केतग्रहण कोष से होता है। जैसे, 'अमरा निर्जरा देवाः'। अमरकोष

४. आप्तवाक्य से—अर्थात् प्रामाणिक वक्ता के कथन से। जैसे, किसी देहाती को, जिसने रेडियो कभी नहीं देखा है, रेडियो दिखाकर कोई प्रामाणिक पुरुष कहे कि यह रेडियो है तो उसे रेडियो शब्द से रेडियो के रूप का संकेत-ग्रहण हो जायगा। इसी प्रकार शब्दों से अपरिचित वस्तुओं के परिचय कराने में आप्तवाक्य कारण होते हैं।

५. व्यवहार से—व्यवहार ही वस्तुओं और उनके वाचक का सम्बन्ध जानने में सर्व-प्रथम और सर्वव्यापक कारण है। नन्हें-नन्हें दुहमुँहे बच्चे मा की गोद से ही वस्तुओं का जो परिचय आरम्भ करते हैं उसमें किसी वस्तु के लिये किसी शब्द का व्यवहार ही उनके शक्तिग्रहण का कारण वा पदार्थ-परिचायक होता है।

६. प्रसिद्ध पद के सान्निध्य से अर्थात् साथ होने से—जैसे, मद्यशाला में मधु पीकर सभी मदमत्त हो गये। इस वाक्य में प्रसिद्ध पद 'मद्यशाला' और 'मदमत्त' से 'मधु' का अर्थ मदिरा ही होगा, शहद नहीं। यहाँ प्रसिद्ध शब्दों के साहचर्य्य से ही सङ्केतग्रहण है।

८. विवृति से—विवरण या टीका से—जैसे, पद-पदार्थ के संबंध को 'अभिधा' कहते हैं जो 'शब्द की एक शक्ति' है। इस वाक्य से अभिधा का स्पष्ट संकेतग्रह हो जाता है।

वाचक शब्दों के चार भेद होते हैं जिन्हें अभिधा के इन मुख्य अभिधेयों के अभिधायक भी कह सकते हैं। वे हैं—१. जातिवाचक शब्द २. गुणवाचक शब्द ३. क्रियावाचक शब्द और ४. द्रव्यवाचक (यदृच्छावाचक) शब्द।

१ जातिवाचक शब्द वह है जो स्ववाच्य समस्त जाति का बोध करता है।

जातिवाचक शब्द का अर्थक्षेत्र बहुत व्यापक होता है। उसका

एक व्यक्ति में संकेतग्रह हो जाने से जाति भर का परिचय सरल हो जाता है। जैसे, 'आम'।

२ गुणवाचक शब्द प्रायः विशेषण होता है।

द्रव्य में गुण अर्थात् उसकी विशेषता (जिसके आधार पर एक जाति के व्यक्तियों में भी भिन्नता आ जाती है) बतानेवाला भेदक होता है। वह संज्ञा, जाति तथा क्रिया शब्दों से भिन्न होता है। द्रव्य को छोड़कर उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। वह नियमत: पराश्रित ही रहता है। उससे वस्तु आदि का उत्कर्ष, अपकर्ष आदि समझा जाता है। जैसे—कच्चा, पका, हरा, पीला आदि।

३ क्रियावाचक शब्द क्रिया को निमित्त मानकर प्रवृत्त होता है।

ऐसे शब्द में क्रिया के आदि से अन्त तक का व्यापार-समूह अन्तर्हित रहता है। जैसे, हास-परिहास। यहाँ हँसने में होठों का हिलना, खुलना, दाँतों का दिखाई पड़ना और छिप जाना, मीठी-सी हल्की ध्वनि का निकलना, यह समस्त व्यापार होता है।

४ द्रव्यवाचक शब्द केवल एक व्यक्ति का बोधक होता है।

यह वक्ता की इच्छा से वस्तु वा व्यक्ति के लिये संकेतित होता है। संकेत करते हुए वक्ता कभी-कभी द्रव्य की कुछ विशेषताओं को लक्ष्य करके संज्ञा देता है और कभी बिना किसी विचार के योंही कुछ नाम धर देता है। जैसे—चन्द्रमा, सूर्य, हिमालय, भारत, महेश आदि या नत्थू, घीसू, घुरहू, नीलरत्न, फणिभूषण, उदयसरोज, मुरलीधर आदि।

अभिधा वा अभिधा शक्ति

साक्षात् संकेतित अर्थ के बोधक व्यापार को अभिधा कहते हैं। अथवा, मुख्य अर्थ की बोधिका शब्द की प्रथमा शक्ति का नाम अभिधा है।

इसी अभिधा शक्ति से पद-पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का रूप खड़ा होता है।

अभिधा शक्ति द्वारा जिन वाचक वा शक्त शब्दों का अर्थ-बोध होता है उन्हें क्रमशः रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ कहते हैं।

१ समूहशक्तिबोधक वा रूढ़ वह शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति नहीं होती।

रूढ़ शब्द के प्रकृति-प्रत्यय-रूप अवयवों का या तो कुछ अर्थ नहीं हो सकता या होने पर भी संगत प्रतीत नहीं हो सकता। जैसे—पेड़, पौधा, घड़ा, घोड़ा आदि।

२ अङ्ग-शक्ति-बोधक वा यौगिक शब्द वह है जिसमें प्रकृति और प्रत्यय का योग—सम्मिलन होकर अवयवार्थ-सहित समुदायार्थ की प्रतीति हो।

ऐसे शब्दों से यौगिक अर्थ की ही प्रतीति होती है। जैसे, 'पाचक', और 'भूपति'। 'पाचक' में 'पच्' का अर्थ पकाना और 'अक' का अर्थ करनेवाला है। दोनों का सम्मिलित अर्थ 'पकानेवाला' होता है। 'भूपति' में 'भू' का अर्थ पृथ्वी और 'पति' का अर्थ मालिक है। किन्तु, एक साथ इनका अर्थ राजा वा जमीन्दार होता है। ऐसे ही धनवान्, पाठशाला, मिठाईवाला आदि शब्द हैं।

३ समूहाङ्गशक्तिबोधक या योगरूढ़ शब्द वह है जिसमें अङ्ग-शक्ति और समूह-शक्ति का योग तथा रूढ़ि, दोनों का सम्मिश्रण हो।

यौगिक शब्दों के समान अवयवार्थ रखते हुए योगरूढ़ किसी विशेष अर्थ का वाचक होता है। जैसे,

जेहि सुमिरत सिधि होय, गणनायक करिवरबदन।

इसमें 'गणनायक' केवल गणेश ही का बोधक है, अन्य किसी गणनेता का नहीं। यहाँ 'गण' तथा 'नायक' दोनों अपने पृथक् अर्थ भी रखते हैं।

(ख) लक्षणा

तीसरी छाया

लक्षक शब्द

जिस शब्द से मुख्यार्थ से भिन्न, लक्षणा शक्ति द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है उसे लक्षक वा लाक्षणिक शब्द और उसके अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं।

शब्द में यह आरोपित है और अर्थ में इसका स्वाभाविक निवास है।

किसी आदमी को गधा कहा जाय तो साधारण बोध का बालक देख-सुनकर चकरा जायगा। क्योंकि, उसने 'गधा' शब्द के अर्थ का एक पशु के रूप में परिचय प्राप्त किया है। यहाँ 'गधा' शब्द का गधे के जैसा अज्ञ, बुद्धू, बेवकूफ अर्थ उपस्थित करना वाचक शब्द के बूते के बाहर की बात है। क्योंकि, यह काम लक्षक शब्द का है। सादृश्य आदि सम्बन्ध से ऐसा करना उसका स्वभाव है। वाचक और लक्षक शब्द में यही भेद है।

लक्षणा

[1]मुख्यार्थ की बाधा या व्याघात होने पर रूढ़ि या प्रयोजन को लेकर जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो उसे लक्षणा कहते हैं।

इस लक्षणा के लक्षण में तीन बातें मुख्य हैं—१ मुख्यार्थ की बाधा, २ मुख्यार्थ का योग और ३ रूढ़ि या प्रयोजन।

१. मुख्यार्थ की बाधा—मुख्यार्थ वा वाच्यार्थ के अन्वय में अर्थात् वाक्यगत और अर्थों के साथ सम्बन्ध जोड़ने में प्रत्यक्ष विरोध हो वा वक्ता जिस अभिप्रेत आशय को प्रकट करना चाहता हो, वह मुख्यार्थ से प्रकट न होता हो तो मुख्यार्थ की बाधा होती है। जैसे, किसी मनुष्य के प्रति यह कहा जाय कि 'तू गधा है'। इसमें पशुरूप

---

१ मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढ़ेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥ साहित्य-दर्पण

गधे के मुख्यार्थ की बाधा है। क्योंकि मनुष्य लम्बे कान और पूँछ वाला पशु नहीं हो सकता।

२. मुख्यार्थ का सम्बन्ध वा योग—मुख्यार्थ का बाध होने पर जो अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है उसका और मुख्यार्थ का कुछ योग—सम्बन्ध रहता है। इसीको मुख्यार्थ का योग कहते हैं। जैसे, गधे के मुख्यार्थ के साथ गधे के सदृश मनुष्य के बुद्धूपन, बेवकूफी, नासमझी का सादृश्य के कारण योग है।

३. रूढ़ि और प्रयोजन—पूर्वोक्त दोनों बातों के साथ रूढ़ि वा प्रयोजन का रहना लक्षणा के लिये आवश्यक है।

रूढ़ि का अर्थ है प्रयोग-प्रवाह। अर्थात् किसी बात को बहुत दिनों से किसी रूप में कहने की प्रसिद्धि वा प्रचलन। जैसे, बेवकूफ को गधा कहना एक प्रकार की रूढ़ि है।

प्रयोजन का अर्थ है 'फल-विशेष' अर्थात् किसी अभिप्राय-विशेष को सूचित करना, जो बिना लक्षणा का आश्रय लिये प्रकट नहीं होता। जैसे, मेरा घोड़ा गरुड़ का बाप है। यहाँ घोड़े को गरुड़ का बाप कहना उसकी तेजी बतलाने के लिये ही है। अन्यथा ऐसा वाक्य प्रलाप मात्र ही समझा जायगा। इस वाक्य में लक्षणा का जो आश्रय लिया गया है वह इसी प्रयोजन से कि उस घोड़े की तेजी औरों से अधिक बतलायी जाय।

उपर्युक्त तीनों बातों—कारणों—में से मुख्यार्थ की बाधा और मुख्यार्थ का योग, इन दोनों का प्रत्येक लक्षणा में रहना अनिवार्य है। इसी प्रकार तीसरे कारण रूढ़ि वा प्रयोजन का समस्त भेदों में यथा-सम्भव विद्यमान रहना भी आवश्यक है।

चौथी छाया

रूढ़ि और प्रयोजनवती

रूढ़ि लक्षणा

रूढ़ि लक्षणा वह है जिसमें रूढ़ि के कारण मुख्यार्थ को छोड़ कर उससे सम्बन्ध रखनेवाला अन्य अर्थ ग्रहण किया जाय। जैसे,

'पंजाब लड़ाका है'। पंजाब अर्थात् पंजाब प्रदेश लड़ाका नहीं हो

सकता। इसमें मुख्यार्थ की बाधा है। इससे इसका लक्ष्यार्थ पंजाब-प्रदेशवासी होता है। क्योंकि पंजाब से उसके निवासी का आधाराधेय-भाव सम्बन्ध है। यहाँ पंजाबियों के लिये 'पंजाब' कहना रूढ़ि है। ऐसे ही 'राजपुताना वीर है' एक दूसरा उदाहरण है।

> बेतरह दुखे किसी दिल में, भले ही पड़ जाये छाला।
> जीभ-सी कुञ्जी पाकर वे, लगायें क्यों मुँह में ताला॥ हरिऔध

इस में दो मुहावरे हैं—'दिल में छाला पड़ जाना' और 'मुँह में ताला लगाना'। इन दोनों के क्रमशः लक्ष्यार्थ हैं—'मन में असह्य पीड़ा होना' और 'कुछ भी न बोलना'। दोनों में मुख्यार्थ की बाधा है और मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाले ये अर्थ लक्षणा से ही होते हैं।

प्रयोजनवती लक्षणा

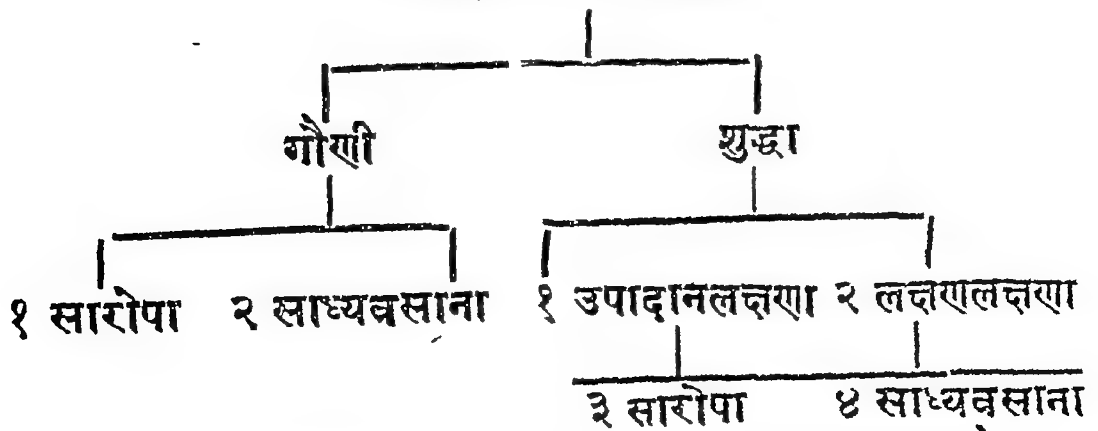
प्रयोजनवती लक्षणा वह है जिसमें किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिये लक्षणा की जाय। जैसे,

> आँख उठाकर देखा तो सामने हड्डियों का ढाँचा खड़ा है।

इस वाक्य में 'हड्डियों का ढाँचा' का प्रयोग प्रयोजन-विशेष से है। वह है व्यक्ति-विशेष को दुर्बल बताना। लक्षणा शक्ति से हड्डियों का ढाँचा, दुर्बल व्यक्ति को लक्षित कराता है। वक्ता ने इसका प्रयोग दुर्बलता की अधिकता व्यञ्जित करने के लिये ही किया है।

काव्यप्रकाश के अनुसार प्रयोजनवती लक्षणा के छ भेद होते हैं जो यहाँ रेखा-चित्र में दिखलाये गये हैं।

प्रयोजनवती लक्षणा



साहित्यदर्पण के अनुसार इसके और भी अनेक भेद होते हैं।

पाँचवीं छाया

गौणी और शुद्धा

गौणी लक्षणा उसे कहते हैं जिसमें सादृश्य सम्बन्ध से अर्थात् समान गुण वा धर्म के कारण लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाय। जैसे,

है करती दुख दूर सभी उनके मुखपंकज की सुघराई।
याद नहीं रहती दुख की लख के उसकी मुखचन्द्र जुन्हाई॥
—ठा० गोपाल शरण सिंह

चन्द्र और पंकज मुख से भिन्न हैं। दोनों एक नहीं हो सकते। इससे इनमें मुख्यार्थ की बाधा है। पर दोनों में गुण की समानता है। मुख देखने से वैसा ही आनन्द आता है, आह्लाद होता है, हृदय में शीतलता आती है जैसे पङ्कज और चन्द्रमा के देखने से। इस गुणसाम्य से ही मुख को चन्द्रमा और पङ्कज मान लिया गया है। यहाँ दो भिन्न-भिन्न पदार्थों में अत्यन्त सादृश्य होने से भिन्नता की प्रतीति नहीं होती। इससे यह सादृश्य ही गौणी लक्षणा का कारण है।

शुद्धा लक्षणा

शुद्धा लक्षणा उसे कहते हैं जिसमें सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ का बोध होता है। जैसे—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥ मैं० श० गुप्त

इसमें आँचल में दूध होना बाधित है। अतः सामीप्य सम्बन्ध द्वारा स्तन में दूध होना लक्ष्यार्थ लिया जाता है। मातृत्व का आधिक्य प्रकट करना प्रयोजन है।

२ आधाराधेयभाव सम्बन्ध से—

कौशल्या के बचन सुनि भरत सहित रनिवास।
व्याकुल विलपत राजगृह मानहु सोकनिवास॥ तुलसी

रनिवास का रोना संभव नहीं। अतः यहाँ आधाराधेयभाव सम्बन्ध

से रनिवास में रहनेवालों का अर्थ-बोध होता है। विषाद की व्यापकता प्रकट करना प्रयोजन है।

३ तात्कर्म्य सम्बन्ध से—

"एरे मतिमन्द चन्द आवत न तोहि लाज
होके द्विजराज काज करत कसाई के।—पद्माकर

यहाँ चन्द्रमा का कसाई का काम करना बाधित है। क्योंकि, वह तो किसी का गला नहीं काटता। लक्षणा से विरहिनियों को सताने के कारण घातक का अर्थ लिया जाता है। यहाँ तात्कर्म्य अर्थात् समान कर्म करने का सम्बन्ध है। भाव यह कि वह कार्य-विशेष करना, जो दूसरा कोई करता है। संताप देने की अधिकता बताना प्रयोजन है।

उपादानलक्षणा

जहाँ वाक्यार्थ की संगति के लिये अन्य अर्थ के लक्षित किये जाने पर भी अपना अर्थ न छूटे वहाँ उपादानलक्षणा होती है।

उपादान का अर्थ है ग्रहण—लेना। इसमें वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग नहीं होता। अतः इसे अजहत्स्वार्था भी कहते हैं। अर्थात् जिसमें अपना स्वार्थ न छूट गया हो। जैसे, 'पगड़ी की लाज रखिये'। यहाँ पगड़ी की लाज रखना अर्थ बाधित है। लक्ष्यार्थ होता है पगड़ीधारी की लाज। यहाँ पगड़ी अपना अर्थ न छोड़ते हुए पगड़ीधारी का आक्षेप करता है। यहाँ दोनों साथ-साथ हैं। अतः उपादान-लक्षणा है।

मैं हूँ बहन किन्तु भाई नहीं है। राखी सजी पर कलाई नहीं हैं।
—सु० कु० चौहान

कलाई अलग रहने की वस्तु नहीं है। अतः कलाई 'भाई की कलाई' का उपादान करता है। यहाँ अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है।

दूसरे ढंग का एक उदाहरण देखे। जैसे,

कोई विवाहार्थी यदि यह कहता है कि 'घर अच्छा है' तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि घर साफ-सुथरा बना हुआ है, बल्कि यह होता है कि घर भी अच्छा है, वर भी अच्छा है, जर-जायदाद भी अच्छी

है। ऐसे स्थानों में कहनेवालों का तात्पर्य लिया जाता है। यहाँ भी उपादानलक्षणा है। एक उदाहरण और लें—

जब हुई हुकूमत आँखों पर जनमी चुपके मैं आहों में।
कोड़ों की खाकर मार पली पीड़ित की दबी कराहों में॥ —दिनकर

'कोड़ों की मार खाकर' ही क्रान्ति नहीं पलती। यह एक उपलक्षण-मात्र है। इसमें वक्ता का तात्पर्य उन अनेक प्रकार के क्रूर अत्याचार, जुल्म और सितम से है जिनसे क्रान्ति बढ़ा करती है। यहाँ शब्दगम्य मुख्यार्थ का बाध नहीं, वक्ता के तात्पर्य रूप मुख्यार्थ की बाधा है। ऐसी जगह भी उपादानलक्षणा होती है। ऐसी ही यह पंक्ति भी है—

'फूटी कौड़ी पर विनोदमय जीवन सदा टपकता। —निराला

यहाँ फूटी कौड़ी का तात्पर्य तुच्छ, नगण्य धन से है। फूटी कौड़ी इसका उपादान करती है।

लक्षणलक्षणा

जहाँ वाक्यार्थ की सिद्धि के लिये वाच्यार्थ अपने को छोड़ कर केवल लक्ष्यार्थ को सूचित करे, वहाँ लक्षणलक्षणा होती है।

इसमें अमुख्यार्थ को अन्वित होने के लिये मुख्यार्थ अपना अर्थ बिल्कुल छोड़ देता है। इसलिये इसे जहत्स्वार्था भी कहते हैं। जैसे, 'पेट में आग लगी है'। यह एक सार्थक वाक्य है। पर पेट में आग नहीं लगती। इससे अर्थबाध है। इसमें 'आग लगी है' वाक्य अपना अर्थ छोड़ देता है और लक्ष्यार्थ होता है कि 'जोर की भूख लगी है'। इससे लक्षण-लक्षणा है।

एक और उदाहरण लें—

मैंने चाहे कुछ इसमें विष अपना डाल दिया हो।
रस है यदि तो वह तेरे चरणों ही का जूठन है। —भा० आत्मा

यहाँ विष दोष का और रस गुण का उपलक्षण है। इसके अतिरिक्त रस को 'चरणों ही का जूठन' कहने में भी अर्थबाधा है। लक्ष्यार्थ होता है—आपके निकट रहने से ही, आपके संसर्ग से ही, अच्छी वस्तु प्राप्त हुई है। यहाँ 'चरणों का जूठन' अपना अर्थ बिलकुल छोड़ देता है। इससे लक्षणलक्षणा है।

छठी छाया

उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा

उपर्युक्त दोनों लक्षणाओं में भारी भ्रम फैला हुआ है। आरंभ में ही यह जाना लेना चाहिये कि मुख्यार्थ के बनाये रखने या छोड़ने के आधार पर ही यह भेद निर्भर करता है। इस प्रकार समझिये।

लक्षणा शक्ति अर्पित शक्ति है। वक्ता की इच्छा शब्द को यह शक्ति अर्पित करती है। अतः लक्षणा का स्वरूप बहुत कुछ विवक्षाधीन रहता है। इस पर किसी का यह हठ करना कि यहाँ यही लक्षणा हो सकती है, नितान्त भ्रान्तिमूलक है। उपादान लक्षणा में इतना ही कहा गया है कि मुख्यार्थ का भी उपादान होना चाहिये। इसलिये उसका नामान्तर 'अजहत्स्वार्था' भी है। अतः यह कहनेवाले की इच्छा पर निर्भर है कि मुख्यार्थ का अन्वय करे या न करे। जब वाक्यार्थ में मुख्यार्थ अन्वित होगा तब उपादानलक्षणा होगी और जब अन्वय न होगा तब लक्षण-लक्षणा। एक उदाहरण लें—

गात पै लँगौटी एक बोटी भर मांस लिये
पैंतिस करोड़ भारतीयता की थाती है।
भारत के भाग्यभानु, कर्मवीर गाँधी तेरे
तीन हाथ गात पै हजार हाथ छाती है। अंबिकेश

यहाँ 'एक बोटी भर मांस लिये' का अर्थ जब हम यह करते हैं कि 'शरीर में थोड़ा ही मांस रखने वाले' तब तो उपादानलक्षणा होती है। क्योंकि, इसमें मांस अपने अर्थ को नहीं छोड़ता और जब 'एक बोटी भर मांस लिये' का अर्थ 'दुबली देह' करते हैं तब लक्षणलक्षणा हो जाती है। क्योंकि इसमें माँस अपना अर्थ एकदम छोड़ देता है। यहाँ अत्यन्त कृश बताना ही प्रयोजन है।

कितने पण्डितम्मन्य 'सारा घर तमाशा देखने गया है' इस उदाहरण में उपादानलक्षणा नहीं मानते। वे ऐसी शंका करते हैं कि 'घर' तो अपने साथ लक्कड़-खप्पड़ लाद कर तमाशा देखने जायगा नहीं और देखनेवाले के साथ वहाँ घर का रहना आवश्यक है। इससे यहाँ उपादानलक्षणा नहीं हो सकती। पर यह शंका भ्रममूलक है। क्योंकि 'घर वाले' कहने से घर का अर्थ नहीं छूटता। इस अर्थ में

उपादानलक्षणा होगी। जब 'सारा घर' का अर्थ 'सब के सब' लिया जाय तब लक्षणलक्षणा होगी। क्योंकि, इसमें घर एक बार ही छूट जाता है।

उपादानलक्षणा का लक्षण-लक्षणा से पार्थक्य दिखाने की धुन में कोई जो यह लिख मारे कि यहाँ शब्द का अन्वय नहीं होता, उससे उसकी नितान्त अनभिज्ञता ही प्रकट होती है। शब्द का अन्वय होता है, यह एक नयी सूझ है। जैसे शब्द का अन्वय नहीं होता वैसे वस्तु का भी अन्वय असंभव है। केवल शब्द के द्वारा उपस्थापित अर्थ का ही अन्वय माना जाता है। अन्वयकाल में यह अर्थ साक्षात् वस्तु के रूप मे कभी नहीं उपस्थित होता बल्कि बुद्धिगत वस्तुचित्र ही के रूप मे उपस्थित होता है।

लक्षणा का विषय शास्त्रगम्य है। उसके लिये किसी अव्युत्पन्न के द्वारा तर्कित या कल्पित व्यवस्था काम नहीं दे सकती है। देखिये—

बैठी नाव निहार लक्षणा व्यञ्जना,
'गंगा मे गृह' वाक्य सहज वाचक बना।

इन पंक्तियों में गुप्तजी ने सहज वाचकता का ही चमत्कार दिखाया है पर 'गंगा में गृह' प्राचीन 'गंगायां घोषः' उदाहरण का रूपान्तर है और इसमे लक्षणा है। क्योंकि गंगा में घर नहीं हो सकता। अर्थबाध है। दर्पणकार ने अर्थ ठीक बैठने के लिये 'गंगा' का अर्थ तीर किया है। अर्थात् 'तट' पर घर है। इस अर्थ में ही लक्षण-लक्षणा है। अर्थान्तर से अर्थात् 'गंगातट' पर यह अर्थ करने से इसमें उपादानलक्षणा भी होगी।

'गंगायां घोषः' उदाहरण में जिसने 'लक्षणलक्षणा' होने की बात को बन्दरमूठ पकड़ रक्खी है उसके सम्बन्ध मे, जो शास्त्रसम्मत सिद्धान्त है, उसका आशय यह है—

"गङ्गा पद से लक्षित पदार्थ यदि केवल तीर रूप माना जाय तो लक्षण-लक्षणा होगी और यदि गङ्गा-तीर माना जाय तो उपादान लक्षणा होगी। अब इससे अधिक स्पष्ट इसका क्या निर्णय हो सकता है कि मुख्यार्थ का वाक्य में अन्वय होने पर उपादानलक्षणा होती है और न होने पर लक्षण-लक्षणा। इसी प्रकार 'लाठियो को पैठावो' और 'मचान बोलते हैं' आदि उदाहरणों में 'लाठी लेनेवालो' और 'मचान पर

बैठनेवालों' आदि के लक्ष्यार्थ में उपादानलक्षणा ही होती है"[1]।

मचान बोलते हैं, इस उदाहरण से स्पष्ट है कि वस्तु का अन्वय नहीं होता यदि होता तो मचान भी साथ साथ बोलने में योग देते। पर ऐसा नहीं होता। ऐसे ही 'घर वाले' आदि उदाहरणों को भी समझना चाहिये।

सातवीं छाया

सारोपा और साध्यवसाना

सारोपा लक्षणा

जिस लक्षणा में आरोप हो अर्थात् आरोप्यमाण (विषयी) और आरोप का विषय इन दोनों की शब्द द्वारा उक्ति हो, उसे सारोपा कहते हैं।

एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभेद-ज्ञापन को आरोप कहते हैं। इसमें विषयी और विषय की एकरूपता प्रतीत होती है। जिस वस्तु का आरोप किया जाता है वह आरोप्यमाण वा विषयी और जिस वस्तु पर आरोप होता है उसे आरोप का विषय वा केवल विषय कहते हैं। जैसे—मुख चन्द्र है। यहाँ मुख पर चन्द्रत्व का आरोप है।

सारोपा गौणी लक्षणा

स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर बहता रे यह बालक मन।—निराला

यहाँ किरणों पर कल्लोलों का आरोप है। किरणे लहर बन गयी

---

१ शक्यार्थसम्बन्धो यदि तीरत्वेन रूपेण गृहीतस्तदा तीरत्वेन तीरबोध, यदि तु गङ्गातीरत्वेन रूपेण गृहीतस्तदा तेनैव रूपेण स्मरणम्।

सिद्धान्तमुक्तावली (शब्दखण्ड)

तेनैव रूपेणेति। नच गङ्गायामित्यादौ गङ्गातीरत्वेन बोधे जहत्स्वार्थत्वहानिरिति वाच्यम्। तीरत्वेन लक्षणायामेव जहत्स्वार्थस्य सर्वसम्मतत्वात्। गङ्गातीरत्वेन ज्ञाने तु अजहत्स्वार्थैव लक्षणेति। एवं पूर्वोक्तस्थले यष्टीः प्रवेशय मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादावपि यष्टिधरत्वमञ्चस्थत्वादिना बोधेऽजहत्स्वार्थैव लक्षणेति ध्येयम्।

दिनकरी (शब्दखण्ड)

हैं। उन पर बालक बना मन बह रहा है। दोनों में रूप-गुण-साम्य है। अतः गौणी है। इसमें लक्षण-लक्षणा से 'बालक मन' का अर्थ 'भोला मन' और 'मन बहने' का अर्थ 'मन का रम जाना'—मुग्ध हो जाना होता है। यहाँ दोनों ही उक्त हैं।

सारोपा शुद्धा उपादानलक्षणा

स्वर्गलोक की तुम अप्सरि थीं, तुम वैभव में पली हुई थीं।—हरिकृष्ण प्रेमी

यहाँ तुम पर अप्सरा का आरोप होने से सारोपा है। अप्सरा अपना अर्थ रखते हुए अप्सरा-सी सर्वाङ्गसुन्दरी, मनमोहिनी नारी का आक्षेप करती है। इससे उपादानमूला है। मनमोहन रूप कर्म के कारण वा स्त्रीजाति की होने के कारण तात्कर्म्य वा साजात्य सम्बन्ध से शुद्धा है।

सारोपा शुद्धा लक्षण-लक्षणा

आज भुजंगों से बैठे हैं वे कंचन के घड़े दबाये।—हरिकृष्ण प्रेमी

यहाँ 'ये' के वाच्यार्थ (पूँजीपति) पर 'विषधर' का आरोप है। विषधर अपना अर्थ छोड़कर क्रूर (पूँजीपतियों) का अर्थ देता है। इससे लक्षणलक्षणा है। काटना दोनों का कर्म है, इस तात्कर्म्य सम्बन्ध से शुद्धा है।

साध्यवसाना लक्षणा

जहाँ आरोप का विषय लुप्त रहे—शब्दतः प्रकट नहीं किया गया हो और विषयी (आरोप्यमाण) द्वारा ही उसका कथन हो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है। आरोप के विषय का निर्देश न कर केवल आरोप्यमाण के कथन को अध्यवसान कहते हैं। जैसे—

देखो, चाँद का टुकड़ा।

यहाँ आरोप के विषय मुख का निर्देश नहीं है। केवल आरोप्यमाण 'चाँद का टुकड़ा' ही कहा गया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा

हाय मेरे सामने ही प्रणय का ग्रन्थिबन्धन हो गया, वह नव कमल—
मधुप सा मेरा हृदय लेकर किसी अन्य मानस का विभूषण हो गया। —पंत

अपनी प्रणयिनी का दूसरे से परिणय हो जाने पर कवि की उक्ति है। इसमें 'नव कमल' 'प्रणयिनी' के लिये आया है, जो आरोप्यमाण है। आरोप के विषय का कथन नहीं है। विषयी में विषय का अध्यवसान हो जाने से साध्यवसाना है। गुण-धर्म से सादृश्य होने के कारण गौणी है। ऐसे ही 'प्रणय' में 'प्रेमी-युगल' का अध्यवसान है।

साध्यवसाना शुद्धा उपादानलक्षणा

विद्युत् की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है।
अरी हृदय को थाम महल के लिये झोपड़ी बलि होती है। **दिनकर**

यहाँ महल में रहने वाले धनियों और झोपड़ी में रहनेवाले गरीबों के लिये महल और झोपड़ी के प्रयोग हुए हैं। ये स्वार्थ को न छोड़ते हुए अन्यार्थों का उपादान करते हैं। अतः यह लक्षणा उपदानमूला है। आरोप्यमाण के ही उक्त होने से साध्यवसाना है। आधाराधेयभाव सम्बन्ध होने से शुद्धा है।

साध्यवसाना शुद्धा लक्षणलक्षणा

सहता गया जिगर के टुकड़ों का वह पाया हाँ पाया।—भा॰ आत्मा

यहाँ 'जिगर के टुकड़ों' में आत्मीयों का अध्यवसान है। क्योंकि आरोप्यमाण 'जिगर के टुकड़ों' ही उक्त है। आत्मात्मीय सम्बन्ध होने के कारण शुद्धा है। 'जिगर के टुकड़ों' अपना अर्थ छोड़कर अत्यंत निकट सम्बन्धी प्रिय जनों का अर्थ देता है। इससे लक्षण-लक्षणा है।

आठवीं छाया

गूढ़व्यङ्ग्या और अगूढ़व्यङ्ग्या

काव्यप्रकाश के मतानुसार उपर्युक्त प्रयोजनवती लक्षणा के छ भेद व्यङ्ग्य की गूढ़ता और अगूढ़ता के कारण बारह प्रकार के होते हैं। प्रयोजनवती लक्षणा के भेदों में ये पाये जाते हैं। प्रयोजनवती के जो प्रयोजन हैं वे ही व्यङ्ग्यार्थ होते हैं।

गूढ़व्यंग्या

जहाँ का व्यंग्य मार्मिक सहृदय द्वारा ही समझा जा सके वहाँ गूढ़व्यंग्या लक्षणा होती है। जैसे—

चाले की बातें चलीं सुनति सखिन के टोल।
गोये हू लोयन हँसत विहँसत जात कपोल॥ बिहारी

अर्थ है—नायिका सखियों की मंडली में अपने चाले (गौने) की बातें सुन रही है। आँखें छिपाने पर भी हँसती हैं और कपोल मुस्कुरा रहे हैं।

कपोलों के विहँसने या मुस्कुराने में मुख्यार्थ की बाधा है। क्योंकि हँसने का काम मनुष्य का है, कपोलों का नहीं। यहाँ विहँसना का लक्ष्यार्थ उल्लसित होना—प्रसन्नता की झलक दिखना है। विहँसने और कपोलों के झलकने में विकास आदि अनेक गुणों का साम्य है। इससे सादृश्य सम्बन्ध है। यहाँ संचारी भाव लज्जा और हर्ष से नायिका का 'मध्या' होना व्यङ्ग्य है। यह सहृदय-संवेद्य ही है। साधारण बुद्धिवालों के परे है। इसीसे गूढ़व्यङ्ग्या है। सादृश्य-कथन से गौणी और विहँसत के अपना अर्थ छोड़ देने के कारण लक्षणलक्षणा है।

अगूढ़व्यङ्ग्या

जहाँ व्यङ्ग्य सहज ही समझ में आ जाय वहाँ अगूढ़-व्यङ्ग्या लक्षणा होती है। जैसे—

संयोगिन की तू हरै उर पीर वियोगिनी के सु धरै उर पीर।
कलीन खिलाय करै मधुपान गलीन भरै मधुपान की भीर॥
नचै मिलि बेलि वधू कि अँचै रस 'देव' नचावत आधि अधीर।
तिहूँ गुन देखिये दोष भरो अरे सीतल, मंद सुगंध समीर॥

यह वसन्त-समीर का वर्णन है। 'आधि-अधीर को नचाना' से 'मनोवेदना से व्यथित को क्षण क्षण विवश कर देना' रूप अर्थ लक्षित होता है। दुःखातिशय व्यङ्ग्य है। सरलता से बोध होने के कारण यहाँ अगूढ़व्यङ्ग्या है।

नवीं छाया

धर्मिधर्मगत लक्षणा

धर्मिगतप्रयोजनलक्षणा

जहाँ लक्षणा का फल अर्थात् व्यञ्जनागम्य प्रयोजन धर्मी अर्थात् लक्ष्यार्थ (द्रव्य) में स्थित हो वहाँ धर्मिगत प्रयोजन-लक्षणा होती है। जैसे—

सिर पर प्रलय नेत्र में मस्ती मुट्ठी मे मनचाही।
लक्ष्य मात्र मेरा प्रियतम है, मैं हूँ एक सिपाही॥

—भा० आत्मा

'मैं हूँ एक सिपाही' में वक्ता स्वयं सिपाही है। इससे 'मैं हूँ' कहने से ही सिपाही का बोध हो जाता है। अतः प्रकृत में सिपाही पद का मुख्यार्थ बाधित है। लक्षणा द्वारा सिपाही का अर्थ होता है—प्राणपण से इच्छानुरूप कठिन-से-कठिन कार्य करनेवाला। यहाँ सिपाही शब्द अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य है। क्योंकि यह प्राण-निरपेक्ष कार्यकरना रूप विशेष अर्थ की प्रतीति कराता है। यहाँ सिपाही में ही प्राणनिरपेक्ष कार्य करने की अतिशयता द्योतित होती है। अतः यहाँ लक्षणा का फल धर्मी सिपाही में होने से धर्मिगतप्रयोजनलक्षणा है।

धर्मगतप्रयोजनलक्षणा

जहाँ लक्षणा का फल अर्थात् व्यञ्जनागम्य प्रयोजन धर्म अर्थात् लक्ष्यार्थ के धर्म (द्रव्य के गुण) में हो वहाँ धर्मगता लक्षणा होती है। जैसे—

शराफत सदा जागती है वहाँ, जमीनों में सोता है सोना जहाँ।

—सुदर्शन

यहाँ 'जमीनों में सोना सोता है' का अर्थ है पृथ्वी पर बहुमूल्य अन्नराशि पड़ी रहती है। प्रयोजन है अन्नराशि की उपयोगिता की अतिशयता बताना। अतिशयतारूप प्रयोजन उपयोगितागत है, जो धर्म है। अतः यहाँ धर्मगता है।

ये लक्षणायें कहीं पद में होती हैं और कहीं वाक्य में होती हैं। दोनों के उदाहरण यथास्थान ऊपर आ गये हैं।

दशवीं छाया

अभिधा और लक्षणा

शब्द की पहली शक्ति अभिधा है और दूसरी शक्ति लक्षणा। जहाँ लक्षणा शक्ति के बिना अर्थ की स्पष्टता नहीं होती वहाँ भी अभिधा का चमत्कार सहृदयों को चमत्कृत कर देता है। जैसे—

मारुत ने जिसके अलकों में चंचल चुंबन उलझाया। —पन्त

यहाँ व्याहत वाच्यार्थ की चारुता सहृदयों को आह्लादित कर देती है।

बहुत से ऐसे प्रयोग हिन्दी में होते हैं जिनके अभिधेयार्थ का व्याघात नहीं प्रतीत होता पर तात्पर्य की दृष्टि से किसी न किसी प्रकार का अर्थ-व्याघात रहता है और लक्षणा वहाँ काम करती है। जैसे—

१. सूरज माथे पर आ गया।
२. आँख आँजने को भी घी नहीं ?

प्रातः-सायंकाल सूरज माथे पर नहीं रहता, अगल बगल रहता है। दोपहर को ही सिर पर आता है। अर्थात् सिर के ऊपर मालूम होता है। यहाँ लक्ष्यार्थ 'दोपहर हो गया, होता है। यहाँ सिर पर आने में ही अर्थबाध झलकता है। 'आँख आँजने को भी घी नहीं' से यह मतलब है कि घी थोड़ा भी नहीं है। क्या यह कभी संभव है कि एक बूँद भी घी न हो। क्योंकि आँजने के लिये एक बूँद ही काफी है। इस कथन में ही अर्थबाध है। अतः प्रत्यक्ष में अभिधेयार्थ ही झलकता है पर इनके अन्तर में लक्षणा है।

कभी-कभी लाक्षणिक प्रयोगों के लक्ष्यार्थ के साथ अभिधेयार्थ भी मिला रहता है। जैसे,

अब मैं सूख हुई हूँ काटा आँख ज्योति ने दिया जवाब।
मुँह में दाँत न आँत पेट में हिलने को भी रही न ताब॥

—भक्त

सूख कर काँटा होने में वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ तक दौड़ लगाता है, पर मुँह में दाँत और पेट में आँत न होने से जर्जर बूढ़े का जो वाच्यार्थ होता है वह अपनी प्रबलता से लक्ष्यार्थ को दबाये बैठा है। ये प्रयोग अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों में सार्थक हैं।

किसी विषय में किसी अधिकारी को पक्षपात करते देखकर हम कहते हैं कि वे तो एक आँख से देखते हैं। हम इसका यही लक्ष्य अर्थ लेते हैं कि वे तरफदारी करते हैं, समान भाव से नहीं देखते। पर यही वाक्य एकाक्ष अधिकारी को—काने को कहा जाय तो अभिधेयार्थ अपना अर्थ प्रकट करेगा ही और सुनने वाले इसका मजा लूटेंगे ही। समझदारी ही इनका बिलगाव कर सकती है।

एक वाक्य का और चमत्कार देखिये—

कौड़ियों पर अशर्फियाँ लुट रही थीं।

सहसा पढ़ने वाला तो यही लक्ष्यार्थ ले बैठेगा कि साधारण वस्तुओं के लिये असाधारण खर्च किया जाता था। पर यहाँ अभिधा का ही अर्थ ठीक प्रतीत होता है। जुए में कौड़ियाँ फेंकी जाती थीं और हजारों की हार-जीत होती थी। फिर भी यहाँ लक्षणा किसी न किसी रूप में झाँकी मारती ही है।

लक्षण-लक्षणा में कभी-कभी अभिधेयार्थ एकदम पलट जाता है। पाठकों को ऐसे शब्दों का व्यवहार कुछ विलक्षण प्रतीत होगा। जैसे, 'विश्वासी' शब्द को ही लीजिये। इसका अपभ्रंश रूप है 'बिसवासी'। अर्थ होता है 'विश्वासयोग्य' वा 'विश्वासपात्र'।

अरे मलिछ बिसवासी देवा, कित मैं आइ कीन्हि तोरि सेवा। पद्मावत

यहाँ विश्वासघाती के अर्थ में बिसवासी शब्द लाया गया है।

कब हूँ वा 'बिसासी' सुजान के आँगन मों अँसुवान को लै बरसो। घनानंद

यहाँ 'बिसासी' उसी 'विश्वासी' के अपभ्रंशरूप में होकर व्रजभाषा में विश्वासघाती के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह प्रयोग वैसा ही है जैसा 'मूर्ख' को वृहस्पति भी कहें तो उसका अर्थ मूर्ख ही होगा।

एक और—

यशोधरा—किन्तु कोई अनय करे तो हम क्यों करें।

राहुल— और नहीं माथे पर क्या हम उसे धरें?

—मै० श० गुप्त

इसका यह विपरीत अर्थ होता है कि हम अन्याय को सिर-माथे पर नहीं धर सकते। मुख्यार्थ की बाधा है। लक्षणा से उक्त अर्थ होता है। मुख्यार्थ छोड़ लक्ष्यार्थ का ग्रहण है। इससे यहाँ लक्षणलक्षणा है।

अभिधा और लक्षणा की यह आँख-मिचौनी बड़ी मजेदार होती है और साहित्य की सिंगार है।

(ग) व्यञ्जना

ग्यारहवीं छाया

शाब्दी व्यञ्जना

कह आये हैं कि शाब्दी व्यञ्जना के दो भेद होते हैं—एक अभिधा-मूला और दूसरी लक्षणामूला।

अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना

संयोग आदि के द्वारा अनेकार्थ शब्द के प्रकृतोपयोगी एकार्थ के नियन्त्रित हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा अन्यार्थ का ज्ञान होता है वह अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना है।

> सुखर मनोहर श्याम रँग बरसत मुद अनुरूप।
> झूमत मतवारो झमकि बनमाली रसरूप॥ **प्राचीन**

यहाँ 'वनमाली' शब्द मेघ और श्रीकृष्ण दोनों का बोधक है। इसमें एक अर्थ के साथ दूसरे अर्थ का भी बोध हो जाता है।

यहाँ श्लेष नहीं। क्योंकि रूढ़ वाच्यार्थ ही इसमें प्रधान है। अन्य अर्थ का आभास मात्र है। श्लेष में शब्द के दोनों अर्थ अभीष्ट होते हैं—समान रूप से उस पर कवि का ध्यान रहता है। विशेष विवेचन आगे देखिये।

अप्रासंगिक अर्थ की व्यञ्जना के स्थलों में अनेकार्थों की शक्ति रोकने के लिये अर्थात् शक्ति को प्रासंगिक अर्थ के प्रतिपादन में केन्द्रित करने के लिये प्राचीन विद्वानों ने जो संयोगादि कई प्रतिबंध नियत कर रक्खे हैं उनके लक्षण तथा उदाहरण दिये जाते हैं—

१ संयोग—

अनेकार्थ शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ प्रसिद्ध संबंध को संयोग कहते हैं। जैसे—

शंख-चक्र-युत हरि कहे, होत विष्णु को ज्ञान।

'हरि' के सूर्य, सिंह, वानर आदि अनेक अर्थ हैं, किन्तु शंख-चक्र-युत कहने से यहाँ विष्णु का ही ज्ञान होता है।

२ वियोग

जहाँ अनेकार्थवाचक शब्द के एक अर्थ का निश्चय किसी प्रसिद्ध वस्तु-संबंध के अभाव से होता है वहाँ वियोग होता है। जैसे—

नग सूनो बिन मूँदरी।

नग का अर्थ नगीना और पर्वत है। किन्तु, यहाँ मुँदरी होने से नगीना का ही अर्थ होगा। क्योंकि मुँदरी का वियोग इसी अर्थ को नियत करता है।

३ साहचर्य

जहाँ पर किसी सहचर—साथ रहनेवाले—की प्रसिद्ध सत्ता से अर्थ-निर्णय हो वहाँ साहचर्य होता है।

बलि-बलि जाउँ कृष्ण बल भैया।

यहाँ 'बल' के अनेक अर्थ होते हुए भी कृष्ण के साहचर्य से बलराम का ही अर्थबोध होगा।

४ विरोध

जहाँ किसी प्रसिद्ध असंगति के कारण अर्थ-निर्णय होता है वहाँ विरोध होता है। जैसे—

कुंजर हरि सम लड़त निरंतर बंधु युगल रख भारी अंतर। राम

हाथी और सिंह का स्वाभाविक विरोध है। इससे हरि के अनेकार्थ होते हुए भी यहाँ पर हरि का सिंह ही अर्थ होगा। ऐसे ही

लुको नाग लखि मोरहिं आवत

में नाग का अर्थ सर्प ही समझना चाहिये।

५ अर्थ

जहाँ प्रयोजन अनेकार्थ में एकार्थ का निश्चय कराता हो वहाँ अर्थ है। जैसे—

शिवा स्वास्थ्य रक्षा करे। शिवा हरे सब शूल।

यहाँ स्वास्थ्य-रक्षा करने और शूल हरने का प्रयोजन हरीतकी से ही सिद्ध होता है। अतः शिवा का अर्थ हर्रे होगा, भवानी नहीं।

ऐसे ही अनेकार्थक शब्द बहुधा अर्थ अर्थात् प्रयोजन के अनुसार तदनुरूप अर्थ में नियत हो जाते हैं।

६ प्रकरण

जहाँ किसी प्रसंगवश वक्ता और श्रोता की समझदारी से किसी अर्थ का निर्णय हो वहाँ प्रकरण समझा जाता है। जैसे,

अब तुम मधु लावो तुरत।

शब्दों के उच्चारण का अवसर अर्थ-निश्चय का कारण होता है। यहाँ 'मधु' शब्द यदि दवा देने के समय कहा जाय तो इसका अर्थ शहद ही होगा, मदिरा नहीं। मद्यशाला में यह कहने पर मधु का अर्थ मदिरा ही होगा।

७ लिंग

नानार्थक शब्दों के किसी एक अर्थ में वर्तमान और इसके अर्थ में अवर्तमान किसी विशेष धर्म, चिह्न या लक्षण का नाम लिङ्ग है।

कुशिकनन्दन के तप-तेज से, सुमन लज्जित दुर्मन हो उठे।

यहाँ लज्जा और दौर्मनस्य धर्म फूल में नहीं, देवता में ही संभव है। अतः यहाँ लिङ्ग देवता के अर्थ का निर्णायक हुआ।

८ अन्यसंनिधि

अनेकार्थ शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ सम्बन्ध रखनेवाले भिन्नार्थक शब्द की समीपता अन्यसंनिधि है। जैसे,

परशुराम कर परशु सुधारा। सहसबाहु अर्जुन को मारा।

यहाँ अर्जुन का अर्थ तृतीय पांडव न होकर कार्तवीर्य होगा। क्योंकि निकट का सहसबाहु शब्द उसीका अर्थ घोषित करता है।

९ सामर्थ्य

जहाँ किसी कार्य के संपादन में किसी पदार्थ की शक्ति से अनेकार्थों में से एकार्थ का निश्चय हो वहाँ सामर्थ्य है। जैसे,

मन मँह प्रबिसि निकर सर जाहीं।

जैसे प्रयोजन अर्थ-नियंत्रक होता है वैसे ही सामर्थ्य—कारण भी। यहाँ सर शब्द का अर्थ बाण ही है न कि तालाब वा सिर। क्योंकि 'सर' में ही आर-पार होने की शक्ति है।

१० औचित्य

जहाँ किसी पदार्थ की योग्यता के कारण अनेकार्थों में से एकार्थ का निर्णय हो वहाँ औचित्य है। जैसे,

हरि के चढ़ते ही उड़े सब द्विज एकै साथ। राम

यहाँ पेड़ पर चढ़ने की योग्यता से 'हरि' का अर्थ बंदर और उड़ने की योग्यता से 'द्विज' का अर्थ पक्षी ही होगा न कि सिंह आदि और न ब्राह्मण आदि।

११ देश

जहाँ किसी स्थान की विशेषता के कारण अनेकार्थ शब्द के एक अर्थ का निश्चय हो वहाँ देश है। जैसे,

मरु में जीवन दूर है।

यहाँ 'जीवन' के जिन्दगी, परम प्यारा, पानी, जीविका, पवन आदि अनेक अर्थ हैं। किन्तु मरु के निर्देश से 'जीवन' का अर्थ जल ही होगा।

१२ काल

(प्रातः, संध्या, मास, पक्ष, ऋतु आदि)

जहाँ समय के कारण एक अर्थ का निश्चय हो वहाँ 'काल' समझा जाता है। जैसे,

बीथिन मैं, ब्रज मैं, नवेलिन मैं, बेलिन मैं,
बनन मैं, बागन मैं, बगरो बसंत है। पद्माकर

यहाँ 'बनन' शब्द के वन, जंगल, जल आदि अनेक अर्थ हो सकते है किन्तु वसंत का विकास वन में ही यथेष्ट देख पड़ता है। इससे यहाँ 'बनन' का अर्थ वन ही हुआ जल नहीं।

१३ व्यक्ति

जहाँ व्यक्ति से अर्थात् स्त्रीलिंग आदि से एक अर्थ का निर्णय होता है, वहाँ व्यक्ति है। जैसे,

एरी मेरी बीर जैसे तैसे इन आँखिन तैं,
कढ़िगौ अबीर पै अहीर तो कढ़ै नहीं। पद्माकर

इसमें 'वीर' शब्द के अर्थ भाई, सखी, पति, योद्धा आदि अनेक हैं पर 'मेरी' स्त्रीलिंग से यहाँ सखी का ही बोध होता है।

लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना

जिस प्रयोजन के लिये लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वह प्रयोजन जिस शक्ति द्वारा प्रतीत होता है उसे लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना कहते हैं। जैसे—

कूकती क्वैलिया कानन लौं नहिं जाति सह्यो तिन की सुअवाजें।
भूमिते लैके अकाश लौं फूले पलास दवानल की छवि छाजें।
आये बसंत नहीं घर कंत लगी सब अन्त की होने इलाजें।
बैठि रही हम हू हिय हारि कहा लगि टारिये हाथन गाजें।

—मतिराम

इस कविता में कवि ने वसंतागम पर किसी वियोगिनी नायिका के विरह का चित्र खींचा है। वह दुःख-निरोध के सभी उपायों से ऊब गयी है और बचने के यत्न करने को 'हाथों से गाजें रोकना' समझ बैठी है। यहाँ हाथों से वज्र रोकना कहने से विरह-ज्वाला के उपशामक नलिनीदल, नव पल्लव, उशीरलेप आदि तुच्छ साधनों से तीव्र काम-पीड़ा का अपहरण रूप अर्थ की असम्भवता सूचित है। यहाँ 'गाजें' शब्द 'दुर्दम मदन-वेदना' रूप अर्थ को लक्षित करता है। यहाँ शुद्धा, साध्यवसाना, प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा है। इससे वेदना की अति-शयता व्यंग्य है।

बारहवीं छाया

आर्थी व्यञ्जना

जो शब्दशक्ति १ वक्ता (कहने वाला), २ बोद्धव्य (जिससे बात कही जाय), ३ वाक्य, ४ अन्य-संनिधि, ५ वाच्य (वक्तव्य), ६ प्रस्ताव (प्रकरण), ७ देश, ८ काल, ९ काकु (कण्ठध्वनि), १० चेष्टा आदि की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है वह आर्थी व्यंजना कही जाती है।

इस व्यञ्जना से सूचित व्यंग्य अर्थजनित होने से अर्थ होता है। अर्थात् किसी शब्द-विशेष पर अवलम्बित नहीं रहता।

(१) वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

वक्ता—कवि या कवि-कल्पित व्यक्ति के कथन की विशेषता के कारण जो व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है वह वक्तृ-वैशिष्ट्योत्पन्न होता है।

जिहि निदाघ दुपहर रहै, भई माघ की राति।
तिहि उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति॥ विहारी

यहाँ कवि-कल्पित दूती—वक्त्री है जो उस विरहिणी नायिका की दशा उसके प्रेमी से निवेदन करती है। जिस उशीर की रावटी में जेठ की दुपहरी भी माघ-सी ठण्ढी लगती है उस रावटी में भी वह नायिका गर्मी से उबलती सी रहती है। इस वाक्यार्थ से 'तुम कितने निष्ठुर हो, तुम्हारे प्रेम में उसकी दशा कितनी शोचनीय है, तुम इतने निष्ठुर नहीं बनो, उसकी व्याकुलता पर तरस खाओ' आदि व्यंग्यार्थ वाच्य-सम्भव ही हैं।

अरे हृदय! जो लता उखाड़ी जा चुकी।
और उपेक्षाताप कभी जो पा चुकी॥
आशा क्यों कर रहा उसीके फूल की।
फल से पहिले बात सोच तू मूल की॥ गुप्तजी

यहाँ दुष्यन्त का शकुन्तला-त्यागरूपी पश्चात्ताप व्यङ्ग्य है जो वक्ता के वैशिष्ट्य से वाच्यार्थ द्वारा प्रकट होता है।

वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्नलक्ष्यसंभवा

जहाँ लक्ष्यार्थ से व्यञ्जना हो वहाँ यह भेद होता है।

पावक झरतें मेह झर, दाहक दुसह बिसेखि।
दहे देह वाके परस, याहि दृगन ही देखि॥ बिहारी

यहाँ नायिका अपनी सखी से कहती है—'अग्नि की लपट से वर्षा की झड़ी ज्यादा दुखदायक है। क्योंकि, अग्नि की लपट से तो स्पर्श करने पर देह जलती है; मगर वर्षा की झड़ी के तो देखने ही से। यहाँ वारिद-बूँदों के दर्शन से शरीर-ज्वलन की क्रिया में शब्दार्थ का बाध है। यहाँ बाध होने पर लक्षणा द्वारा अर्थ होता है कि विरहिणी नायिका बूँदों को देख नहीं सकती। इससे यह व्यङ्ग्य निकलता है कि नायिका दुःखदायक उद्दीपक वस्तुओं से अत्यन्त दुःखित है। यहाँ वक्तृवैशिष्ट्य इसलिये है कि वक्ता की विशेषता से ही वाच्यार्थ द्वारा यह व्यंग्यार्थ निकलता है।

वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्नव्यङ्ग्यसंभवा

जहाँ व्यङ्ग्य से व्यङ्ग्य होता है वहाँ यह भेद होता है।

निरखि सेज रँग रँग भरी, लगी उसासैं लैन।
कछु न चैन चित में रह्यो, चढ़त चाँदनी रैन॥ पद्माकर

कोई सखी किसी नायक के प्रति नायिका की मनोदशा का निवेदन करती है। कहती है कि वह अपनी सेज को रंग से रँगी देखकर उसाँस पर उसाँस लेने लगी। चाँदनी रात आने पर उसके चित्त में जरा भी चैन नहीं। यहाँ सेज को रंग से रँगी देखकर नायिका का उसाँसें लेना और चाँदनी रात को चैन न पड़ना आदि वाच्यार्थ से प्रियतम के अभाव में उद्दीपक चीजों का अत्यन्त दुःखदायी प्रतीत होना व्यंग्य है और इस व्यंग्यार्थ से एक दूसरे इस व्यंग्यार्थ का भी बोध होता है कि 'तुम (नायक) बड़े निष्ठुर हो। तुम्हारे बिना वह (नायिका) तड़पती रहती है; पर तुम्हें इसकी कुछ भी गम नहीं। तुम्हें इस चाँदनी रात वाली होली में उससे (नायिका) विलग नहीं रहना चाहिये।' यहाँ दूसरा व्यंग्य पहले व्यंग्य से संभव होता है पर वक्तृवैशिष्ट्य द्वारा ही। अतः यहाँ उक्त आर्थी व्यंजना है।

(२) बोद्धव्यवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ श्रोता की विशेषता के द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध हो वहाँ बोद्धव्य-वैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है।

> खोके आत्मगौरव स्वतन्त्रता भी जीते हैं,
> मृत्यु सुखदायक है वीरो इस जीने से॥ वियोगी

यहाँ यह व्यङ्ग्यार्थ सूचित होता है कि जैसे हो तैसे स्वतन्त्रता प्राप्त करो और विलासी जीवन को जलाञ्जलि दे दो। यहाँ बोद्धव्य की ही विशेषता से यह व्यङ्ग्य निकलता है। क्योंकि, यहाँ विलासमय जीवन बितानेवाले वीरों से ही यह कहा गया है।

वक्तृवैशिष्ट्य के समान बोद्धव्य आदि के भी लक्ष्यसंभवा और व्यङ्ग्यसंभवा भेद होते हैं।

(३) वाक्यवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ सम्पूर्ण वाक्य की विशेषता से व्यङ्ग्यार्थ प्रकट होता है वहाँ यह भेद होता है। जैसे—

> जेहि विधि होइहिं परम हित, नारद सुनहु तुम्हार।
> सोइ हम करब न आन कछु, बचन न मृषा हमार॥ तुलसी

एक बार नारदजी ने विष्णु भगवान से उनका रूप माँगा जिससे उनकी अभिलषित राजकन्या मोहित होकर उन्हें वर ले। इस रूपभिक्षा पर भगवान ने कहा कि मैं सत्य कहता हूँ कि वही उपाय करूँगा जिससे तुम्हारा हित हो। नारद ने इस वाक्यार्थ से अपनी अभीष्ट-सिद्धि समझ ली। मगर, वाच्यार्थ से यहाँ इस व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है और वास्तव में भगवान के कहने का प्रयोजन भी यही है कि तुम्हें मैं अपना रूप नहीं दूँगा। क्योंकि, इससे तुम्हारा हित नहीं, अहित होगा। यहाँ सारे वाक्य की विशेषता से वाक्य-संभवा आर्थी व्यंजना है।

(४) अन्यसंनिधिवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

अन्य की समीपता या उपस्थिति में वक्ता बोद्धव्य से जो कुछ कहे उससे जो व्यंग्य निकले अर्थात् एक कहे, दूसरा सुने और तीसरा समझे वहाँ यह भेद होता है। जैसे—

रोज करौं गृहकाज दिन, बीतत याही माँझ।
ईठि लहौं फल एक पल, नीठि निहारे साँझ॥ दास

दिन तो काम-काज करने में ही बीत जाता है। अभिप्राय यह कि दिन में अवकाश नहीं है। नीठि (बड़ी कठिनता से) देखते-देखते शाम को थोड़ा-सा ईठि फल अर्थात् अवकाश पा जाती हूँ। सास से कहनेवाली ने उपपति को संध्या समय आने का संकेत किया। यह व्यंग्य अन्यसंनिधि की विशेषता से ही व्यक्त होता है।

(५) वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ वाच्य अर्थात् वक्तव्य की विशेषता से व्यंग्य प्रकट हो वहाँ वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्न वाच्य-संभवा आर्थी व्यंजना होती है।

अखिल यौवन के रंग उभार,
हड्डियों के हिलते कंकाल; कचों के चिकने काले व्याल,
केंचुली काँस सेवार; गूँजते हैं सबके दिन चार।
सभी फिर हाहाकार। पंत

इसमें वाच्य वैशिष्ट्य से संसार की असारता व्यंग्य है।

मैं हूँ वही जिसको किया था विधि-विहित अर्द्धांगिनी।
भूलें न मुझको नाथ हूँ मैं अनुचरी चिरसंगिनी॥ गुप्तजी

शोक-प्रकरण में चिरसंगिनी, अर्धांगिनी आदि शब्दों से यह व्यंग्यार्थ प्रकट होता है कि अभिमन्यु को अपने साथ उत्तरा को भी ले जाना आवश्यक था।

(६) प्रस्ताववैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ प्रस्ताव से अर्थात् प्रकरणवश वक्ता के कथन में व्यंग्यार्थ का बोध हो, वहाँ प्रस्ताववैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है।

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में, प्रियतम को प्राणों के प्रण में,
हमीं भेज देती हैं रण में क्षात्र धर्म के नाते। गुप्तजी

इस पद्य से यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि वे कहकर भी जाते तो

हम उनके इस पुण्य कार्य में बाधक नहीं होतीं। उनका चुपचाप चला जाना उचित नहीं था। यहाँ प्रस्ताव या प्रकरण बुद्धदेव के गृहत्याग का है। यह प्रस्ताव न होने से यह व्यंग्य नहीं निकलता।

(७) देशवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ स्थान की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ प्रकट हो वहाँ यह भेद होता है। जैसे—

ये गिरि सोई जहाँ मधुरी मदमत्त मयूरन की धुनि छाई।
या वन में कमनीय मृगोन की लोल कलोलनि डोलन भाई॥
सोहे सरित्तट धारि घनी जल वृच्छन की नभ नील निकाई।
वंजुल मंजु लतान की चारु चुभीली जहाँ सुखमा सरसाई॥

सत्यनारायण कविरत्न

यहाँ रामचन्द्रजी के अपने वनवास के समय की सुख-स्मृतियाँ व्यंजित होती हैं जो देश-विशेषता से ही प्रकट हैं।

(८) कालवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ समय की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ का बोध हो वहाँ कालवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है।

कहाँ जायँगे प्राण ये लेकर इतना ताप ?
प्रिय के फिरने पर इन्हें फिरना होगा आप॥ गुप्तजी

इस पद्य से जो अभिलाषा, जो वेदनाधिक्य व्यंग्य है, वह कालवैशिष्ट्य के कारण वाच्योत्पन्न है।

(९) काकुवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसम्भवा

कंठ-ध्वनि की भिन्नता से अर्थात् गले के द्वारा विशेष प्रकार से निकाली हुई ध्वनि को 'काकु' कहते हैं। जैसे,

मैं सुकुमारि नाथ वन जोगू। तुमहिं उचित तप मो कहँ भोगू॥ तुलसी

यहाँ सीता के कथन को ज़रा बदली हुई कण्ठ-ध्वनि से कहिये— मैं सुकुमारि ! नाथ वन जोगू ! तुमहिं उचित तप ! मो कहँ भोगू ! तो यह व्यंग्यार्थ प्रकट होगा कि मैं ही केवल सुकुमार नहीं हूँ, आप भी

सुकुमार हैं। आप वन के योग्य हैं तो मैं भी वन के योग्य हूँ। जैसे राजा की लड़की मैं वैसे राजा के लड़के आप। तब यह कैसे संभव है कि जिस योग्य आप हैं उस योग्य मैं नहीं और जिस योग्य मैं हूँ, उस योग्य आप नहीं। इससे मेरा वन जाना उचित है।

चेष्टावैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ चेष्टा—अर्थात् इंगित—हाव-भावादि द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है, वहाँ उपर्युक्त आर्थी व्यंजना होती है।

कंटक काढ़त लाल के चंचल चाह निबाहि।
चरन खैंचि लीनो तिया हँसि झूठे करि आहि॥ **प्राचीन**

यहाँ झूठ-मूठ की आह भर के और हँस करके चरन खींच लेने से नायिका का किलकिंचित हाव व्यंग्य है। इससे यहाँ चेष्टा द्वारा वाच्यसंभवा आर्थी व्यंजना है।

पुनि आउब इहि बिरियाँ काली। अस कहि बिहँसि उठी इक आली॥ **तुलसी**

यहाँ सखी के हँसने की चेष्टा से राम के प्रति सीता के हृदय में वर्तमान दर्शनोत्सुकता व्यंग्य है।

अनेकवैशिष्ट्योत्पन्न व्यंग्य

कहीं-कहीं एक ही उदाहरण में अनेक वैशिष्ट्यों से भी एक व्यंग्य प्रतीत होता है। जैसे,

काम कुपित मधु मास अरु, श्रमहारी वह बाय।
कुंज मंजु बन पंति अनत करौं सखी कह काय॥ **अनुवाद**

इसमें मधु मास कथन से कालवैशिष्ट्य, कुंज मंजु वन से देश-वैशिष्ट्य, वियोग के प्रकरण से प्रस्ताव-वैशिष्ट्य, इनसे 'यहाँ तू प्रच्छन्न रूप से कामुक को भेज' यह व्यंग्य प्रकट है। इन पृथक्-पृथक् विशेषताओं से पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार भी व्यंग्य सूचित होता है।

तीसरा प्रकाश

रस

पहली छाया

रस-परिचय

शास्त्रों ने रस को बड़ा महत्त्व दिया है। काव्य के तो ये प्राण हैं। रसास्वादन ही काव्याध्ययन का परम ध्येय है। सरस काव्य ही सहृदयों को परमानन्ददाता है। वाग्वैदग्ध्य की—वाक्चातुरी की—अभिव्यञ्जना-कौशल की—प्रधानता रहने पर भी रस ही काव्य का जीवन है[1]।

"रस अलौलिक चमत्कारकारी उस आनन्द-विशेष का बोधक है जिसकी अनुभूति सहृदय के हृदय को द्रुत, मन को तन्मय, हृदय-व्यापारों को एकतान, नेत्रों को जलाप्लुत, शरीर को पुलकित और वचन-रचना को गद्गद रखने की क्षमता रखती है। यही आनन्द काव्य का उपादेय है और इसीकी जागर्ति वाङ्मय के अन्य प्रकारों से विलक्षण काव्य नामक पदार्थ की प्राण-प्रतिष्ठा करती है[2]।"

साहित्य के रसक्षेत्र में अपने-पराये का भेद-भाव नहीं रहता। यहाँ जो भाव होता है, वह सर्व-साधारण तथा समस्त-सम्बन्धातीत होता है। ऐसे अपरिमित भाव के उन्मेष से सभी सहृदयों को एक ही भाव द्वारा रस-वस्तु की उपलब्धि होती है।

"यह रस मानो प्रस्फुटित होता है; यह मानो हमारे अन्तर में प्रवेश कर जाता है; यह मानो हमें सब ओर से अपने प्रेमालिङ्गन में आबद्ध कर लेता है। उस समय मानो और सब विचार, वितर्क,

---

१ वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।

२ 'रसायन' की भूमिका से।

उद्देश्य आदि तिरोहित हो जाते हैं[1]।" अभिप्राय यह कि जब रस का आस्वाद मिलने लगता है तब विषयान्तर का अनुभव पास तक नहीं फटकने पाता। मानो उस समय एक प्रकार से मुक्ति-स्वरूप ब्रह्मानन्द की उपलब्धि होती है। ब्रह्मास्वाद—ब्रह्मानन्द के समान रसास्वाद होता है न कि ब्रह्मानन्द ही होता है। क्योंकि ब्रह्मास्वाद निर्विकल्पक होता है और रसास्वाद सविकल्पक। यह रस अलौकिक चमत्कारक होता है।

चमत्कार ही रस का प्राण है। चमत्कार का अर्थ है चित्त का विस्तार वा विस्फार अर्थात् अलौकिक अर्थ के आकलन से ज्ञानोत्पादन में उसका विस्तार हो जाता है। इसी से कहा है कि 'रस का सार चमत्कार ही है।[2]

रस-प्रतीति में—रस-साक्षात्कार में—चाक्षुप नहीं, मानस प्रत्यक्षीकरण में सत्व का उद्रेक ही कारण है। हमारे अन्तःकरण में कभी रजोगुण, कभी तमोगुण और कभी सतोगुण प्रबल होता है। एक के सबल होने से अन्य दो निर्बल हो जाते हैं। सत्व के उद्रेक से अर्थात् रजस् और तमस् को पंगु बनाकर—कार्य-करण असमर्थ कर प्रकाशित होने से, रस का साक्षात्कार होता है।

गिने-गिनाये कुछ फलाभिमुख पुण्यशाली प्रमाता अर्थात् यथार्थ विद्वान् ही विभावादि के संयोग से सहृदयों के हृदय में वासनारूप से विनिविष्ट रति आदि रूप में परिणत रस का आस्वाद लेते हैं।

दूसरी छाया

रस-रूप की व्याख्या

केवल शब्दाडम्बर से किसीकी कोई रचना कविता नहीं कही जा सकती। इसके लिये उसमें हृदयस्पर्शी चमत्कार होना चाहिये। वह चमत्कार रस है। शब्द और अर्थ कविता के शरीर हैं और रस प्राण। प्राण ही पर शरीर की सत्ता—कार्यशीलता निर्भर है। निःप्राण

---

१ 'काव्यप्रकाश' के लक्षण का भावार्थ।

२ रसे सारः चमत्कारः।

शरीर शवस्वरूप—बेकाम है। रस के बिना रचना कविता कहलाने की अधिकारिणी नहीं है।

रसबोध में वासना का होना अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना रस-प्रकाश के कारण रहते भी रस की प्रतीति उसी प्रकार नहीं होती[1] जिस प्रकार नेत्र-विहीन को दिखाये गये दृश्यों की और बहरे को सुनाये गये गीतों की।

यह वासना ईश्वरीय देन है। इसके लिये अतीत जन्म का संस्कार भी कारण माना गया है। वासना के बिना कितने विलासप्रिय व्यक्ति को काव्यगत शृङ्गार रस का आनन्द नहीं प्राप्त होता।

जैसे हँसी और आँसू सबमें विद्यमान रहते हुए भी सर्वदा भासित नहीं होते ; अपने विशेष कारणों के अनुभूत होने पर ही व्यक्त होते हैं वैसे ही रति आदि स्थायी भाव वासना रूप से प्रत्येक सहृदय के हृदय में स्थित रहने पर भी व्यक्त नहीं होते। जब उनके उद्बोधक नायक-नायिका आदि विभाव अपने पोषक उपकरणों से पुष्ट होते हैं तभी वे (रति आदि स्थायी भाव) रस के रूप में प्रकट होते हैं।

काव्य के दो पक्ष होते हैं—भावपक्ष और विभावपक्ष। किसी-किसी वस्तु वा व्यक्ति के प्रति विशेष-विशेष अवस्थाओं में किसीकी जो मानसिक स्थिति होती है उसे भाव कहते हैं और जिस वस्तु वा व्यक्ति के प्रति वह भाव व्यक्त होता है वह विभाव कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है—आलंबन और उद्दीपन। जिसका आधार लेकर किसी की कोई मनःस्थिति उद्‌बुद्ध होती है या जिस पर किसी का भाव टिकता है वह आलंबन विभाव है। जहाँ यह भाव उठता है उसे आश्रय कहते हैं। आलंबन की चेष्टा, शृङ्गार आदि तथा देश-काल, चंद्र चाँदनी आदि उद्दीपन विभाव हैं।

साहित्य की भाषा में उसे विभाव कहा जाता है जिसे व्यवहार जगत् में कारण कहते हैं। जिस तरह मोमबत्ती सलाई से जल उठती है, बाँसुरी फूँक पड़ने से गूँज उठती है उसी प्रकार रति—शृङ्गार-भावना प्रेमपात्र नायिका के दर्शन, चेष्टा आदि से उत्पन्न होती है, जाग उठती है। अतः नायिका शृङ्गार रस का प्रधान आलं-

---

१ सर्वासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनंभवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्यश्मसंनिभाः। साहित्यदर्पण

वनभूत—कारण है और चेष्टा आदि गौण—उद्दीपक कारण हैं। इसमें नायक आश्रय होता है। इन्हीं से शृङ्गारभावना उद्‌बुद्ध होकर विभावित—आनन्द की स्थिति में पहुँचायी गयी—होती है। अतः ये विभाव कहलाते हैं।

आलंबन और आश्रय में जो बाह्य पारस्परिक चेष्टायें या व्यापार होते हैं वे रति की पुष्टि में एक दूसरे के सहायक होते हैं। लोक में अपने-अपने आलंबन और उद्दीपन रूप कारणों से नायक के हृदय में उद्‌बुद्ध रतिभाव के प्रकाशक जो कार्य होते हैं वे अनुभाव हैं। स्त्रियों के अंगज तथा स्वभावज अलंकार, सात्विक भाव और रति आदि की चेष्टायें भी अनुभाव कहलाती हैं।

जिस प्रकार वीणा संघर्षण से झंकृतमात्र होती है पर हृदयग्राही राग का प्रस्फुटित होना अँगुलियों की संचालनकला पर निर्भर रहता है, उसी प्रकार विभाव शृङ्गारभाव को जगा भर देते हैं और उसे आस्वाद का रूप देना आलंबन और आश्रय के बाहरी कार्यों पर ही अवलंबित रहता है। नायक-नायिका के कटाक्ष आदि चेष्टायें उनके हृदयगत अनुराग का अनुभव कराती हैं। अतएव ये अनुभाव हैं। लोकव्यवहार में इन्हें कार्य इसलिये कहते हैं कि ये कारणरूप विभाव से उत्पन्न होते हैं।

विभाव और अनुभाव का आपस में वही सम्बन्ध है जो कलिका और सुवास में होता है। नायिका को देखनेमात्र से शृङ्गार-भावना नहीं होती। जब उसकी शृङ्गार-रस-व्यञ्जक चेष्टायें दृष्टिगोचर होती हैं तभी आनन्द का विकास होता है। अनुभाव के अभाव में विभाव मुकुल के तुल्य अस्फुट रहता है। उससे रस का पोषण नहीं होता। वही नायिका शृङ्गार रस का आलंबन हो सकती है जो नायक के ऊपर आकृष्ट और अनुरक्त हो। अनुरक्ति-सूचक चेष्टा के बिना नायका-श्रित भावावेश तैलहीन दीपक के समान बल कर भी बुत जायगा।

भाव दो प्रकार के होते हैं—स्थायी और अस्थायी। स्थायी की स्थिति चिरकाल तक बनी रहती है। स्थायी भाव ही रसावस्था तक पहुँचते हैं। स्थायी भावों के ही सहकारी कारण होते हैं अस्थायी भाव। अस्थिर चित्तवृत्तियाँ ही अस्थायी भाव हैं। ये टिकाऊ नहीं होते—रस के परिणत होने तक नहीं ठहरते; उगते-डूबते रहते हैं। इनके क्षणिक उद्रेक मुख्य रस का उसी प्रकार उत्कर्ष-साधन करते हैं

जिस प्रकार नायक-नायिका के आनन्द-मिलन में हमजोली सहेलियों के चुटीले विनोद।

चलते-फिरते लोग बहुत कुछ देखते-सुनते हैं। उनमें कितनों की ओर तो ध्यान ही नहीं जाता। जिनपर मन अड़ता भी है उनके चित्र चिरकाल तक हृदय पर चित्रित नहीं रहते। किन्तु किसी अभिनय के देखने वा काव्य के सुनने से सहृदयों के हृदयों पर उसकी छाप पड़ जाती है। वह उस समय आत्मविभोर हो जाता है। उस समय भावना की प्रबलता आन्तरिक वृत्तियों को सब ओर से मोड़कर एकाग्र कर देती है। यह एक ऐसा उपक्रम है कि मननशील मानव के मन पर से जैसे पर्दा-सा उठ जाता है और वह पर्युत्सुक होकर कुछ खोजने, कुछ याद करने-सा लग जाता है; अपने को खो देता है। यह एक आस्वाद है जो भाव-स्थिरता से ही संभव हो सकता है। रति आदि स्थायी भाव चावल के समान अपरिपकावस्था में विद्यमान रहते हैं। पानी-इंधन के समान विभाव आदि अपने संयोग से उसका परिपाक कर देते हैं। फिर वे ही स्थायी भाव पककर भात जैसे अपने परिणाम रूप रस का आकार ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार स्थायी भाव आस्वाद का अस्फुट स्रोत है।

स्थायी भाव का परिपक रूप ही रस है। 'रस्यते इति रसः'। जो रसित—आस्वादित हो उसे रस कहते हैं। फलतः रस आस्वाद-स्वरूप है। आस्वाद एक प्रकार के अलौकिक आनन्द से अभिन्न है। वह अभिनय के दर्शन से तथा कविता के अर्थपरिशीलन से आत्मा में सहसा उद्बुद्ध हो जाता है।

तीसरी छाया

विभाव—आलंबन

जिन वर्णनीयों के द्वारा रति आदि स्थायी भाव जागरूक होकर रसरूप धारण करते हैं उन्हें विभाव कहते हैं। संक्षेप में भाव के जो कारण होते हैं, विभाव कहे जाते हैं।

शुक्लजी के शब्दों में— "भाव से अभिप्राय संवेदना के स्वरूप की

व्यंजना से है। विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है।"

ये विभाव वचन और अभिनय के आश्रित अनेक अर्थों का विभावन अर्थात् विशेषतया ज्ञान कराते हैं, आस्वाद के योग्य बनाते हैं, इसीसे इन्हें विभाव कहते हैं।

विभाव दो प्रकार के होते हैं—(१) आलम्बन विभाव और (२) उद्दीपन विभाव। प्रत्येक रस के आलम्बन और उद्दीपन विभाव भिन्न-भिन्न होते हैं। रसानुभूति में ये कारण होते हैं।

आलम्बन विभाव

जिनके सहारे रस की निष्पत्ति होती है—अर्थात् जिनपर आलंबित होकर भाव (रति आदि मनोविकार) उत्पन्न होते हैं, वे आलम्बन विभाव हैं। जैसे, नायिका और नायक।

नायिका

रूप-गुण-वती स्त्री को नायिका कहते हैं। जैसे,

देखि सीय सोभा सुख पावा, हृदय सराहत बचन न आवा।
जनु बिरंचि सब निज निपुणाई, बिरचि बिस्व कहँ प्रगट दिखाई।
सुन्दरता कहँ सुन्दर करई, छबिगृह दीपशिखा जनु बरई।
सब उपमा कबि रहे जुठारी, केहि पटतरिय बिदेह कुमारी।

तुलसी

एक नवीन उदाहरण—

रूप की तुम एक मोहक खान
देख तुमको प्राण खुलते, फूटते मृदु गान।
तुम प्रकृति के नग्न चिर सौन्दर्य की प्रतिबिम्ब।
सृष्टि सुषमा की पिकी की एक निरुपम तान।
तुम विभा के आदि सर की किरणमाला एक।
तुम तरणि की प्रथम उजली उच्छ्वसित मुसकान।
उल्लसित घनसार वन की तुम वसन्ती रैन।
ऊर्मिविह्वल सुधानिर्झर की प्रणति छविमान।

धूप दीपक गन्ध का निर्म्माण तुम साकार।
ज्यों कुसुम्भी चाँदनी पहिने हरित परिधान।
पल्लवित होती विरसता भी तुम्हें प्रिय देख।
चेतना की तुम चरम परिणति—चरम आदान।
तुम लदी कौमार्य कलियों से लता सुकुमार।
मुग्ध यौवन और शैशव की नयी पहचान। अंचल

नायिका [1] स्वकीया, परकीया, सामान्या, मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, ज्ञातयौवना, अज्ञातयौवना आदि अनेक भेदोपभेदों से अनेक प्रकार की होती है। नाम से ही इनके लक्षण प्रकट हैं। एक-दो उदाहरण दिये जाते हैं।

मुग्धा नायिका

सजनि तेरे दृग बाल !
चकित से विस्मित से दृगबाल—
आज खोये से आते लौट, कहाँ अपनी चंचलता हार ?
झुकी जाती पलकें सुकुमार, कौन से नव रहस्य के भार ?
सरल तेरा मृदु हास।
अकारण वह शैशव का हास—
बन गया कैसे चुपचाप, लाज भीनी सी मृदु मुसकान ;
तड़ित सी अधरों की ओट झाँक हो जाती अन्तर्धान !

महादेवी

अज्ञातयौवना नायिका

(मत्स्यगन्धा की सखी के प्रति उक्ति)

प्रिय सखि, आज मम सिहर कैसी,
प्रकृति-हृदय ही या हुआ मुग्ध ऐसा आज,

---

१ रीति-ग्रन्थों में नायिका-भेद आदि का विस्तृत वर्णन है। आधुनिक खड़ी बोली के काव्यों में भी नायिका-भेदों के वैसे उदाहरण भरे पड़े हैं जिनके लिये रीतिकाल के कवि बदनाम हैं। यहाँ नाममात्र के कुछ उदाहरण दे दिये गये हैं। इस प्रकरण में अधिकांश ऐसे उदाहरण खड़ी बोली के नवीन काव्यों से ही संकलित किये गये हैं। प्राचीन और नवीन कवियों की वर्णन-शैली में बहुत अन्तर है। यहाँ यह बात कही जा सकती है। सुसम्पादित प्राचीन रीति-ग्रन्थों के प्रकाशन से यह स्पष्ट हो रहा है कि निन्दक समालोचकों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हो गया है।

मानता नहीं है मन, यौवन की क्या लहर
कहता जगत जिसे होगी वह कैसी भला ? उ० शं० भट्ट

नायक

रूप-गुण-सम्पन्न पुरुष को नायक कहते हैं। जैसे,

रुचिर चौतनी सुभग सिर, मेचक कुंचित केस।
नखसिख सुन्दर बन्धु दोउ, सोभा सकल सुदेस॥
बय किसोर सुखमा सदन, स्याम गौर सुख धाम।
अंग-अंग पर वारिये, कोटि-कोटि सत काम॥ तुलसी

एक नवीन उदाहरण—

सत्य कहना हे कन्हैया तुम न साधारण मनुज हो,
इन्द्र के अवतार हो या वाम-काम-प्रपंच हो प्रिय ?
वृद्ध बिधिना की न रचना, तुम्हारे सब कर्म न्यारे,
रूप यह जो दामिनी से भी अधिक उर्जस्व वर्चस्,
काम से सुन्दर, कला के पूर्ण, अशिथिल, सृजन, चित्रण,
चन्द्र से शीतल, मधुर, मोहक हृदय से विशद वल्लभ,
सत्य से सुस्पष्ट, मादक सुरा से, पीयूष से मधु,
यज्ञ से अतिकर्म, हुत से ज्वलन, दावा से भयावह,
प्राण से अति सूक्ष्म संचालन प्रचालन कर्म से गुरु,
गहन गाथा के अनिर्वचनीय माधव ब्रह्म जग के। भट्ट

अनुकूल नायक

(यशोदा की उक्ति नन्द के प्रति)

मेरे पति कितने उदार हैं गद्गद हूँ यह कहते—
रानी-सी रखते हैं मुझको स्वयं सचिव से रहते। गुप्तजी

स्वभावानुसार नायक के धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त नामक चार भेद होते हैं। इनमें गाम्भीर्य, धैर्य, तेज, शोभा आदि आठ गुण होते हैं। एक उदाहरण—

जैसा तुम्हारा प्रेम मुझमें है मुझे वह ज्ञात है।
बल तेज, विक्रम भी तुम्हारा विश्व में विख्यात है॥

जग में अनुज है धर्म दुर्लभ धर्म ही परमार्थ है।
हतधर्म का है व्यर्थ जीवन धर्म सच्चा स्वार्थ है॥

रा० च० उपाध्याय

राम और लक्ष्मण दोनों धीरोदात्त नायक हैं। पर राम में धैर्य, गाम्भीर्य आदि गुणों की विशेषता है और लक्ष्मण में तेज की। यह लक्ष्मण के प्रति राम की इस उक्ति से ही प्रकट है।

चौथी छाया

नये आलंबन

काव्य के विभावपक्ष में आलंबन और उद्दीपन, ये दो विभाव आते हैं। इनमे आलंबन विभाव ही मुख्य है। इसके बिना काव्य की सृष्टि संभव नहीं। किसी न किसी रूप में आलंबन का होना आवश्यक है।

जगत् के सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल पदार्थ काव्य के आलंबन हो सकते हैं। यथोचित वा अनुकूल आलंबन होने से रस का पूर्ण परिपाक होता है और तद्रूप ही रसचर्वणा होती है। किन्तु जहाँ अननुकूल वा अनुचित आलंबन हुआ वहाँ रस का पूर्ण परिपाक नहीं होता, वहाँ वैसी रसचर्वणा भी नहीं होती। रसाभास हो जाता है अर्थात् अवास्तव में वास्तव की प्रतीति होती है; आभासिक आनन्द का उदय होता है। जैसे, पशुपक्षियों में मनुष्यवत् वर्णित संभोग-शृङ्गार आदि।

पहले के कवियों ने प्राकृतिक आलंबनों की एक प्रकार से उपेक्षा ही की थी। पर अब प्रकृति के नाना रूप आलंबन के रूप में लाये जाने लगे हैं। प्राचीन कवियों ने आलंबन के रूप में जिसका वर्णन एक-दो पंक्तियों में किया है, आधुनिक कवियों ने उसे पृष्ठों में चित्रित किया है। यद्यपि छायावादी कवियों ने प्रकृति के प्रकृत रूप में भी चैतन्यज्योति की ही झलक देखी है तथापि इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि प्रकृति की रमणीयता के प्रति उनका आकर्षण बहुत बढ़ गया है।

'झरने' के प्रति कवि की उक्ति—

किस निर्झरिणी के धन हो, पथ भूले हो किस घर का?
है कौन वेदना बोलो, कारण क्या करुणा-स्वर का?

भा० आत्मा

एक रात्रि का वर्णन भी देखिये—

किस दिगंत रेखा में इतनी संचित कर सिसकी सी साँस।
यों समीर मिस हाँफ रही सी चली जा रही किसके पास ? **प्रसाद**

छायावादियों ने छायावाद को रहस्यवाद तक पहुँचा दिया। उसी धारा में बहनेवाले कवि वर्तमान समय में भी अलौकिक आलंबन की ओर प्रवृत्त देखे जाते हैं। यह यहाँ तक बढ़ गया है कि लौकिक आलंबन को भी अलौकिक रूप दिया जाने लगा है। पर ऐसे अलौकिक और अगोचर आलंबन बुद्धिगम्य ही हो सकते हैं। आज ऐसी कविताओं में जो कुछ भावप्रवणता है वह मानवीकरण के कारण ही। क्योंकि मानव ही भावों का जैसा अपरिमित आश्रय हो सकता है वैसा ही अपरिमित भावग्राही भी।

देश-सेवा तथा राष्ट्र-भावना के जाग्रत होने से भी कविता के विषय बढ़ गये हैं। जैसे—देश-सेवक, आत्मबलिदानी, राष्ट्रनायक, देश-सुधारक, सत्याग्रही वीरता के नये आलंबन हुए वैसे ही देशद्रोही, देश-पीड़क, शत्रु-सहायक, जयचंदपन्थी भी नये आलंबन बने। ऐसे ही हास के भी विदेशी वेशभूषा, विदेशी आचरण, सार्वजनिक संस्थाओं की सदस्यता के अभिलाषी, पुराणपंथी, ढोंगी आदि भी काव्य के विषय बन गये हैं। आज इस नग्न, बुभुक्षित, शोषित-पीड़ित भारत की करुण कथा का तो अंत ही नहीं। कृषकों की कष्ट-कथा का कहना ही क्या ? अछूत, पतित, दलित मानव-जगत् की तो कोई बात ही न पूछिये ! निष्कासित, निपीड़ित अनाथ नारी जाति की यातना तो निराली ही है। कर्मकरों की कहानी तो कही ही नहीं जा सकती। आज के ये सब नये आलंबन बन गये हैं। इसके विपरीत जमींदारों के दुराचार और अत्याचार तथा पूँजीपतियों की अर्थलिप्सा भी वर्णनातीत है। सामाजिक व्यवस्था भी उच्छृङ्खल है। आज के ये भी नये आलंबन हैं।

बदली हुई देश-काल की परिस्थिति में ऊँच-नीच का भेदभाव प्रायः नहीं रहा। इससे आधुनिक कवि विशेषतः प्रगतिवादी या समाजवादी, अपने काव्य में किसान और कारीगर तथा उनके रहन-सहन की साधारण बातों को भी आलंबन बनाने लगे हैं। अभी प्रसिद्ध कवि भी ऐसे विषयों के वर्णन में उस सरसता का संचार करने में समर्थ

नहीं हुए हैं जो उनके अन्य विषयों की कविता में लक्षित होती है। नवीन कवियों की कविता में उसका होना तो दूर की बात है। यदि यह बात हो जाय तो फिर क्या पूछना! सोने में सुगंध हो जाय।

प्रसिद्ध कवियों ने भाववाचक संज्ञाओं को भी आलंबन के रूप में अपना लिया है। अरूप को रूप देना साधारण कविकौशल नहीं। प्रसाद और पंत ने तो इस कला को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। वेदना, सौन्दर्य, लज्जा, स्वप्न आदि विषय ऐसे ही हैं।

सौन्दर्य-वर्णन का एक उदाहरण लीजिये—

तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक-छिपकर चलते हो क्यों?

नतमस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन रस कन ढरते

हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो
मौन बने रहते हो क्यों?

अधरों के मधुर कगारों में
कल कल ध्वनि की गुञ्जारों में

मधु सरिता सी यह हँसी तरल,
अपनी पीते रहते हो क्यों? प्रसाद

आजकल के गीतिकार कवि व्यक्तिगत अनुभूति को प्रकट करने के कारण प्रायः अपनी कविता में अपने आपको ही आलंबन वा आश्रय के रूप में रखते हैं जिससे किसी उद्दीपन या अनुभाव की व्यंजना अनिवार्य नहीं रहती।

पाँचवीं छाया

आलंबन विभाव और भाव

भाव सुखात्मक होते हैं वा दुःखात्मक। इन सुख-दुख दोनों से राग और द्वेष उद्‌भूत होते हैं[1]। इन्हीं से अनेक भावों की सृष्टि होती है। आलंबन की विशेषता से इनमें अन्तर आ जाता है। जैसे, सम्मानित व्यक्ति के प्रति राग सम्मान का, समान के प्रति प्रीति का और हीन के

---

१ सुखानुशयी रागः। दुःखानुशयी द्वेषः। पातंजल योगसूत्र

प्रति करुणा का आकार धारण कर लेता है। ऐसे ही द्वेष बलवान के प्रति भय, समान के प्रति क्रोध और हीन के प्रति घमण्ड का रूप ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार जीवन में भावों के अनेक परिवर्तन होते रहते हैं।

जैसे भिन्न-भिन्न आलंबन के प्रति एक ही भाव में अन्तर आ जाता है वैसे भिन्न-भिन्न भावो का एक ही आलंबन भी हो सकता है। किसी अत्याचारी के अत्याचार को देखकर कोई उसपर क्रुद्ध हो सकते है; कोई घृणा से मुँह मोड़ ले सकते हैं, और कोई जली-कटी सुना सकते है। संभव है, कोई देख-सुनकर रोने भी लगे और कोई धैर्य धर-कर देखता ही रहे। इसका कारण स्वभाव की विलक्षणता ही कहा जा सकता है।

आलंबन दो रूपों में हमारे सामने आते हैं। एक तो उनका वह रूप है जिससे हमारा तादात्म्य हो जाता है। इसका कारण हमारा संस्कार है। यद्यपि 'मेघनादवध' में लक्ष्मण के द्वारा निःशस्त्र मेघनाद का असहायावस्था में वध होने से हमारा संस्कार तिलमिला उठता है तथापि हम यह कहकर संतोष कर लेते हैं कि भले ही दुष्ट मारा गया। जहाँ एक सजातीय और एक विजातीय पहलवान परस्पर लड़ते हैं वहाँ जब सजातीय पहलवान मिट्टी चूमता है तब हमारा मुँह सूख जाता है और हृदय-वृत्तियाँ संकुचित हो जाती हैं और वही जब अपने प्रतिद्वन्द्वी को पछाड़ देता है तब हम उछल पड़ते हैं। ऐसी प्रत्यक्षानुभूति में संस्कार ही पक्षपात करता है। यही बात रसानुभूति मे भी है। राम और रावण, दोनों समान योद्धा, समान वीर तथा समान बली हैं और उनका युद्ध 'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' इस उपमेयोपमा का उदाहरण है। पर हमारा झुकाव राम की ओर ही होता है। क्योंकि हमने उनके साथ एक संबंध जोड़ लिया है। हम संस्कारवश राम के विजय को अपना विजय समझते हैं। इससे एक ही प्रकार के व्यक्ति समान भाव से रसानुभूति के आलंबन नहीं हो सकते।

आलंबन कभी तो पात्र-विशेष के भावों के होते हैं और कभी कवि के भावों के। जब राम लक्ष्मण के लिये विलाप करने लगते हैं तब इतनी करुणा उमड़ आती है कि हम भी उसमें निमग्न हो जाते हैं। राम का शोक हमारा भी शोक हो जाता है। आलंबन के प्रति

राम के भाव हमारे भी हो जाते हैं। उस समय भावात्मक तन्मयता में लक्ष्मण राम के ही नहीं, हमारे भी भाई हो जाते[1] हैं। इस प्रकार की भावना हमारी संवेदनात्मक भावना कहलायगी या शुक्लजी के शब्दों में हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलायगी।

आत्मविभोर करनेवाली यह रस-दशा इतनी प्रबल होती है कि किसी विवेक को प्रश्रय ही नहीं मिलता। जब बिलखती हुई पतिव्रता शकुन्तला का दुष्यन्त निर्मम होकर परित्याग कर देता है तब हमारे हृदय की उसके साथ ऐसी एकात्मकता हो जाती है कि हम शकुन्तला के दुःख को अपना ही दुःख समझ बैठते हैं और उसके दुःख से विकल हो जाते हैं। वहाँ हमें यह समझने का भी अवकाश नहीं रहता कि दुष्यन्त शाप के कारण निर्दोष है और पर-स्त्री-पराङ्मुख है। फिर वह प्रलोभनीय होने पर भी उसे ग्रहण करे तो कैसे? यहाँ कुछ समझदार पाठक या दर्शक भले ही दुष्यन्त से समानुभूति रखे पर यहाँ चिन्तन की स्थिति डाँवाँडोल ही रहती है।

दूसरे प्रकार का वह आलंबन या आश्रय है जिससे हमारा साधारणीकरण नहीं होता। अपनी मति-गति, संस्कृति, रुचि तथा परिस्थिति के कारण हमारे सामने आनेवाली घटनाएँ हमें विपरीत दिशा की ओर जाने के लिये विवश करती हैं। हम जब अपने विजयी शत्रु को हँसते देखते हैं तब हमारा क्रोध और भी भड़क उठता है। क्योंकि वहाँ हमारी ममता परिच्छिन्न ही रहती है, अपरिच्छिन्न या साधारणीकृत नहीं होती। कैकेयी जब सत्य का गुण-गान कर दशरथ से राम-वनवास का वर माँगती है तब हमें उसपर क्रोध आता है। कैकेयी के समान लोभ या ईर्ष्या हममें नहीं उपजती। इस दशा में भी हमें काव्यानन्द प्राप्त होता है, पर उसे हम रस नहीं कह सकते। यहाँ जो हृदय की स्थिति होगी वह प्रतिक्रियात्मक कहलायगी। स्थूल रूप में इसे भाव-दशा कह सकते हैं। क्योंकि ऐसे स्थानों में प्रायः संचारी की प्रधानता रहती है।

इसमें संदेह नहीं कि काव्य के विषय या काव्यगत भाव के आलंबन सभी पदार्थ हो सकते हैं पर सभी में काव्य का सौन्दर्य नहीं आ सकता। जो कविता रजनीगंधा पर की जा सकती है वह नीम के फूल पर संभव

---

१ परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते। साहित्यदर्पण

नहीं। यों तो सुगध दोनों में है। जो साहित्यानुकूल सौंदर्य उसमें है वह इसमें नहीं है। साहित्य में वर्णन के साथ विषय के सौंदर्य का सहभाव भी आवश्यक है। कविता के अपने आलंबन होते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड के कहने का कुछ ऐसा ही भाव है कि प्रतिभाशाली कवि सामान्य विषय को लेकर भी कविता कर सकता है पर वह कविता कवि की कलाबाजी का ही नमूना हो सकती है। वह हृदय को उतना आनन्द नहीं दे सकती[2]।

छठी छाया

आलंबन का रंग-रूप

आलंबन दो प्रकार का होता है—एक को विषय और दूसरे को आश्रय कहते हैं। जिसके उद्देश्य से वा जिसको लेकर रति आदि स्थायी भाव जागरित होते हैं वह रति आदि स्थायी भावों का विषय या आलंबन है और उन रति आदि स्थायी भावों का जो आधार है वह आश्रय है। इनको हम विषयालम्बन और आश्रयालंबन भी कह सकते हैं।

देखते ही रौद्र मूर्ति वीर पृथ्वीराज की
चीख उठा राजा ज्यों सहसा पथिक के
सामने भयानक मृगेन्द्र कूदे काल सा। **वियोगी**

यहाँ राजा जयचंद के भय का विषय पृथ्वीराज की रौद्र मूर्ति है। क्योंकि उसीको लेकर राजा का भय जागरित है। जयचंद आश्रय है। क्योंकि भय स्थायी भाव का वही आधार है। अतः दोनों आलंबन हैं।

मेरे गगन मगन मन में अयि किरणमयी विचरो।
तरु तोरण तृण तृण की कविता छवि-मधु-सुरभि भरो। **निराला**

---

2 "Vainly will the latter (the poet) imagine that he has every thing in his own power ; that he can make an intrinsically inferior action equally delightful with a more excellent one by his treatment of it ; he may indeed compel us to admire his skill, but his work will possess, within itself, an incurable defect. **Mathew Arnold.**

इसमें प्रार्थित करुणामयी विषय और प्रार्थी आश्रय है। किन्तु यह आलंबन वैसा नहीं है। यहाँ आश्रय के स्थान पर स्वयं कवि है। यह उक्त उदाहरण से भिन्न है।

सब जगह इसी प्रकार के आलंबन हों, आजकल की कविता में संभव नहीं। जैसे,

प्रकृति की सारी सौन्दर्य - राशि लज्जा से
सिर झुका लेती जब देखती है मेरा रूप—
वायु के झकोरे से वन की लताएँ सब
झुक जातीं—नजर बचाती हैं—
अंचल से मानों हैं छिपाती मुख
देख यह अनुपम स्वरूप मेरा। निराला

इस कविता में रूप लज्जा का आलंबन है और सौन्दर्यराशि को उसका आश्रय भी कह सकते हैं, पर आश्रय के किसी स्थायी भाव का वह विषय नहीं है। यहाँ रूप गर्व की व्यञ्जना है और रूप उसका विषय बन जाता है।

कहीं-कहीं मुख्य आलंबन को गौण रूप देकर माध्यम के द्वारा भाव व्यक्त करना रहस्यवादियों का ध्येय हो गया है। अतः इसमें अन्योक्ति-प्रणाली का प्रायः आश्रय लेना पड़ता है। जैसे,

पाकर खोता हूँ सतत कभी खोकर पाऊँगा क्या न हाय !
भय है मेरा यह मिलन आज फिर शाप विरह का पा न जाय !
क्या करूँ छिपा सकता न और इस 'छाया-नट' से हृदय-हार। द्विज

इसमें 'छायानट' अभिप्रेत प्रेमपात्र का ही माध्यम है। इस शैली में वेदना, निराशा, अतृप्ति आदि की अभिव्यक्ति बड़ी विलक्षणता से की जाती है।

कहीं-कहीं आलंबन अप्रतीत-सा प्रतीत होता है। जैसे,

१ "पथ देख बिता दी रैन मैं प्रिय पहचानी नहीं"।
२ "सुनाई किसने पल में आन
कान में मधुमय मोहक तान"?
३ "सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे
नींद के उच्छ्वास-सा वह कौन है"?
—महादेवी

ऐसे भावगीतों का कवि ही आश्रय होता है।

कहीं-कहीं आलंबन का पता नहीं रहता। जैसे,

> कुसुमाकर-रजनी के जो पिछले पहरों में खिलता,
> उस मृदुल शिरीष सुमन सा मैं प्रात धूल में मिलता। **प्रसाद**

यहाँ कवि ही विषय या आश्रय सब कुछ है। 'मैं' यही बताता है।

हास्य और वीभत्स ऐसे रस हैं जिनमें आलंबन की प्रधानता रहती है। केवल आलंबन के वर्णन से ही रसव्यक्ति हो जाती है। इनमें आश्रय की प्रतीति नहीं होती। अर्थात् जिसके प्रति हास और घृणा उत्पन्न होती है, प्रायः उसका वर्णन नहीं होता। जैसे,

> दोना पात बबूर को तामें तनिक पिसान।
> राजा जू करने लगे छठे छमासे दान॥ **प्राचीन**

यहाँ कृपण राजा आलंबन विभाव है। केवल उसीके बबूल के पत्रों के दोने में थोड़ा-सा पिसान रखकर छठे छमासे दान करने की क्रिया से हास की प्रतीति हो जाती है।

> आँती के तार के मंगल कंगन हाथ में बाँध पिशाच की बाला।
> कान में आँतन के झुमका पहिरे उर में हियरान की माला।
> लोहू के कीचड़ से उबटे सब अंग बनाये सरूप कराला।
> पीतम के सँग हाड़ के गूदे की मद्य पिये खुपरीन के प्याला॥

—मालतीमाधव

यहाँ 'पिशाच की बाला' के वर्णन से ही वीभत्स रस का संचार हो जाता है।

> मारि दुसासन फारि उर रुधिर अंग लपटाइ।
> आवत भीम तिन्हें मिले धर्मराज दृग नाइ। **प्राचीन**

इस दोहे में आश्रय युधिष्ठिर की झलक है। 'दृग नाइ' से यह बात झलकती है।

सातवीं छाया

उद्दीपन विभाव

जो रति आदि स्थायी भावों को उद्दीपित करते हैं—उनकी आस्वाद-योग्यता बढ़ाते हैं वे उद्दीपन विभाव हैं।

उद्दीपन विभाव प्रत्येक रस के अपने होते हैं। शृङ्गार रस के सखी, सखा, दूती, षड्ऋतु, वन, उपवन, चन्द्र, चाँदनी, पुष्प, नदीतट, चित्र आदि उद्दीपन विभाव होते हैं।

नायिका की सखी। इसके चार भेद होते हैं—१ हितकारिणी, २ व्यंग्यविदग्धा, ३ अन्तरंगिणी और ४ बहिरंगिणी। एक उदाहरण—

व्यंग्यविदग्धा सखी (एक सखी की नायिका के प्रति उक्ति)

प्रथम भय से मीन के लघु बाल जो
थे छिपे रहते गहन जल में तरल
ऊर्मियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें
लालसा अब है विकल करने लगी। पंत

नायिका की बढ़ती हुई लालसा को देखकर सखी का व्यंग्य है।

नायिका को भूषित करना, शिक्षा देना, क्रीड़ा करना, परस्पर हासविनोद करना, सरस आलाप करना आदि उसके कार्य हैं। एक उदाहरण लीजिये—

रंजित कर दे यह शिथिल चरण ले नव अशोक का अरुण राग,
मेरे मंडन को आज मधुर ला रजनीगंधा का पराग,
यूथी की मीलित कलियों से अलि दे मेरी कबरी सँवार
लहराती आती मधु बयार। महादेवी

ऋतु का एक उदाहरण—

सौरभ की शीतल ज्वाला से फैला उर-उर में मधुर दाह।
आया वसंत, भर पृथ्वी पर, स्वर्गिक सुन्दरता का प्रवाह। पंत

चाँदनी का एक उदाहरण—

वह मृदु मुकुलों के मुख में भरती मोती के चुंबन।
लहरों के चल करतल में चाँदी के चंचल उडुगन। पंत

वन का एक उदाहरण—

कहीं सहज तरुतले कुसुम-शय्या बनी,
ऊँघ रही है पड़ी जहाँ छाया घनी।
घुस धीरे से किरण लोल दल-पुंज में,
जगा रही है उसे हिलाकर कुंज में। गुप्तजी

पवन और चंद्र का एक उदाहरण—

मंद मारुत मलय मद से निशा का मुख चूमता है।
साध पहलू में छिपाये चन्द्र मद में झूमता है। भट्ट

दूती—यह नायक तथा नायिका की प्रशंसा करके प्रीति उत्पन्न करती है, चाटु वचनों से उनका वैमनस्य दूर करती है और संकेत स्थान पर ले जाती है। उत्तमा, मध्यमा, अधमा तथा स्वयंदूतिका के भेद से इसके चार प्रकार होते हैं। स्वयंदूतिका का उदाहरण—

कहाँ विमोहिनि ले जावोगी, रिझा मुझे झंकृत पायल से?
वहाँ जहाँ बौरी अमराई—में फैली है सुरभित छाया,
जहाँ जगत् की धूम धूल से दूर पिकी ने नीड़ बनाया,
जहाँ भृङ्ग का गुंजन करता व्यंग्य विश्व के कोलाहल पर,
झूम-झूमकर मंद अनिल ने गीत जहाँ मस्ती का गाया
जहाँ पहुँचकर तन पुलकित, मन हो उठते मधुस्नात शिथिल से?
कहाँ विमोहिनि ले जावोगी, रिझा मुझे झंकृत पायल से? बच्चन

खड़ी बोली के काव्यों में भी ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है।

———

आठवीं छाया

उद्दीपन के प्रकार

अब यहाँ यह कहना आवश्यक है कि उद्दीपन विभाव विषयगत होता है और आश्रयगत भी। क्योंकि उद्दीपन विभाव विभिन्न रूप के होते हैं। इससे दोनों प्रेमपात्रों की ओर से उद्दीपन का होना निश्चित है। एक उदाहरण—

आपुस में रस में रहसैं बहसैं बनि राधिका कुंजविहारी।
स्यामा सराहति स्याम की पागहिं स्याम सराहत स्यामा की सारी।

एक ही दर्पन देखि कहै तिय नीके लगो पिय प्यौ कहै प्यारी।
'देव' सुबालम बाल को बाद बिलोकि भई बलि मैं बलिहारी।

इसमें दोनों का एक ही दर्पण में देखना और दोनों का यह कथन कि प्रिय तुम भले मालूम होते हो और प्रिय का राधिका को प्यारी कहना, उद्दीपन विभाव हैं। दोनों के प्रिय सम्बोधन अनुभाव की श्रेणी में जा सकते हैं पर यहाँ इनसे रति उद्दीपित होती है। इससे ये उद्दीपन ही हैं। यहाँ दोनों की चेष्टाएँ उद्दीपन का काम करती हैं। पाग और सारी का सराहना अनुभाव है।

उद्दीपन विभाव के दो भेद होते हैं। एक विषयगत और दूसरा बहिर्गत। इन्हे पात्रस्थ और बाह्य भी कह सकते हैं। पात्रगत उद्दीपन पात्र के गुण, पात्र की चेष्टाएँ—हाव-भाव आदि और पात्र के अलंकार। ऋतु, पवन, चंद्र, चाँदनी, उपवन आदि बाह्य उद्दीपन विभाव हैं। एक विषयगत का उदाहरण लें—

या बतियाँ छतियाँ लहकैं दहकैं विरहागिनि की उर आँचैं।
वा बँसुरी को परो रसु री इन कानन मोहिनी मंत्र सी माचैं॥
कौ लगि ध्यान धरैं मुनि लौं रहियो कहिये गुन वेद सो बाँचैं।
सूझत नाहिं न आन कछू निसि द्यौस वई अँखियान में नाँचैं। देव

वियोगिनी ब्रजबाला की रति के आलंबन श्रीकृष्ण के प्रति यह उक्ति है। यहाँ मोहन का मुरली टेरना (चेष्टा) है। चेष्टाएँ अनेक प्रकार की होती हैं। वेद का सा गुणानुवाद करना (गुण) अनुभाव है, पर आलंबन के गुण ही ऐसे हैं जो भूलते नहीं और उद्दीपन का काम करते हैं। कृष्ण का आँखों में नाचना है (रूप)। रूप न भूलने का कारण कृष्ण की मनमोहनी मूर्ति ही है जिसका अलंकृत होना सूचित होता है। चेष्टा, रूप और गुण ये तीनों बातें इसमें हैं जो उद्दीपन का काम करती[1] हैं।

बाह्य का एक उदाहरण—

सुभ सीतल मंद सुगंध समीर कछू छल छंद सों छ्वै गये हैं।
'पदमाकर' चाँदनी चंदहु के कछु औरहि डौरन च्वै गये हैं।

---

१ उद्दीपनं तदुत्कर्षहेतुस्तत्तु चतुर्विधम्।
आलंबनगुणश्चैव तच्चेष्टा तदलंकृतिः।
तटस्थश्चेति विज्ञेयाश्चतुर्धोद्दीपनक्रमाः। साहित्यरत्नाकार

मनमोहन सों बिछुरे इतही बनि कै न अबै दिन द्वै गये हैं।
सखि, वे हम वे तुम वेई बने पै कछू के कछू मन ह्वै गये हैं।

विरहिणी व्रजवनिताओं का यह विरह-वर्णन है। इसमें कृष्ण आलंबन विभाव, मन का कुछ का कुछ हो जाना अनुभाव है और संचारी हैं—चिन्ता, उत्कंठा, दैन्य आदि। उद्दीपन विभाव हैं—समीर, चंद्र, चाँदनी आदि। ये सभी बाह्य उद्दीपन हैं। इन्हें तटस्थ भी कह सकते हैं।

ऊपर के उदाहृत पद्यों से यह स्पष्ट है कि यदि इनमें उद्दीपन का वर्णन न होता तो व्रज-वनिताओं का प्रेम जाग्रत नहीं होता। इसमें सन्देह नहीं कि उनका कृष्ण में अनुराग था पर उद्दीपन के कारण ही वह उभरा; वह अधिकाधिक प्रदीप्त हो उठा। पर आजकल के कवि रस के इन तत्वों पर ध्यान नहीं देते जिससे उनकी कविता प्रभावशालिनी नहीं होती।

आलंबन की चेष्टाएँ, प्राकृतिक दृश्य, वाह्य परिस्थितियाँ आदि पहले के समान आज भी उद्दीपन का काम करती हैं। उद्दीपन में कोई अन्तर नहीं आया है। कारण यह कि भावों में मूलतः कोई अन्तर नहीं आया है। आज भी जैसे भ्रू-नेत्रादि-विकार शृङ्गार रस में उद्दीपन का काम करते हैं वैसे ही विचित्र वेशभूषा आदि हास्य के उद्दीपन बने हुए हैं।

आचार्यों ने विभाव की जो गणना भावों में नहीं की उसका कारण यही है कि विभाव—आलंबन और उद्दीपन—भावकों के भावुक हृदय के बाहर की वस्तुएँ हैं। यद्यपि काव्य के पाठकों के समक्ष विभाव का मानस प्रत्यक्ष होता है, फिर भी बाह्य पदार्थ तथा उसकी मानस-कल्पित मूर्ति, दोनों ही बाह्य वस्तु ही समझी जाती हैं। इनमें कोई अन्तर नहीं। नाटक-सिनेमा में दर्शकों को इनका चाक्षुप प्रत्यक्ष भी होने लगा है।

आलंबन विभाव प्रायः काव्यगत पात्र ही होते हैं और उद्दीपन विभाव परिस्थिति-विशेष हैं। उद्दीपन विभाव आलंबन विभाव के रति आदि स्थायी भावों को जाग्रत करके उनकी वृद्धि के कारण होते हैं।

नवीं छाया

अनुभाव

जो भावों के कार्य हैं या जिनके द्वारा रति आदि भावों का अनुभव होता है उन्हें अनुभाव कहते हैं।

भाव के अनु अर्थात् पीछे उत्पन्न होने के कारण वह अनुभाव कहा जाता है।

इनके चार भेद हैं— (१) कायिक (२) मानसिक (३) आहार्य और (४) सात्त्विक।

कायिक

कटाक्ष आदि कृत्रिम आङ्गिक चेष्टाओं को कायिक अनुभाव कहते हैं। जैसे,

१ एक पल मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे;
चपलता ने इस विकंपित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय-सम्बन्ध था। पन्त

२ बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी, पियतन चितै भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि, निज पति कहेउ तिनहिं सिय सैननि॥ तुलसी

मानसिक

अन्तःकरण की वृत्ति से उत्पन्न हुए प्रमोद आदि को मानसिक अनुभाव कहते हैं। जैसे,

१ 'नाथ'! कह, अतिशय मधुरता से दबे
सरस स्वर में, सुमुखि थी सकुचा गई।
उस अनूठे सूत्र में ही हृदय के
भाव सारे भर दिये, तावीज से। पन्त

२ देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा॥ तुलसी

आहार्य

आरोपित या कृत्रिम वेष-रचना को आहार्य अनुभाव कहते हैं। जैसे,

१ सखा साथ में वेणु हाथ में, ग्रीवा में वनमाला।
केकि-किरीट पीत-पट-भूषित रज-रूषित लट वाला॥ गुप्तजी

२ काकपक्ष सिर सोहत नीके, गुच्छा बिच बिच कुसुमकली के॥ तुलसी

सात्त्विक

शरीर के अकृत्रिम अङ्गविकार को सात्त्विक अनुभाव कहते हैं।

थके नयन रघुपति छबि देखी। पलकन हू परिहरी निमेखी॥ तुलसी

दशवीं छाया

सात्त्विक अनुभाव के भेद

रस-प्रकाशक होने के कारण सात्त्विक भाव भी अनुभाव ही हैं। सत्त्व का अर्थ रजोगुण और तमोगुण से रहित मन[1] है। सत्त्व के योग से उत्पन्न भाव सात्त्विक कहे जाते हैं।

सात्त्विक का एक अर्थ है जीवनक्रिया से संबंध रखनेवाले भाव, जैसा कि तरंगिणीकार ने कहा है[2]।

सात्त्विक अनुभाव के आठ भेद होते हैं—(१) स्तंभ (ठकमुर्री या शरीर की गति का रुक जाना) (२) स्वेद (पसीना छूटना) (३) रोमांच (रोंगटे खड़े होना) (४) स्वरभंग (घिग्घी बँधना या शब्दों का ठीक से उच्चारण न होना) (५) कंप (कँपकँपी) (६) वैवर्ण्य (पीरी पड़ना या आकृति का रंग बदल जाना) (७) अश्रु (आँसू निकलना) (८) प्रलय (तन्मय होकर निश्चेष्ट या अचेत हो जाना)।

---

१. रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते। —स-कंठाभरण

२. सत्त्वं जीवशरीरं तस्य धर्माः सात्त्विकाः। —रसतरंगिणी

१. स्तंभ

हर्ष, भय, लज्जा, विस्मय, विषाद आदि से शरीर के अङ्गों का संचालन रुक जाना स्तंभ है।

इसमें निष्कम्प होना, ठकमुर्री लगना, शून्यता, जड़ता आदि होना इसके अनुभाव हैं—

१ मैं न कुछ कह सकी, रोक ही सकी न हाय!
उन्हें इस कार्य से, अकार्य से विमूढ़ सी। उ० शं० भट्ट

मत्स्यगन्धा की इस उक्ति में स्तंभ प्रकट है।

२ देखा देखी भई, छूट तब ते सकुच गई
गिरी कुलकानि, कैसो घूँघट को करिबो।
लागी टकटकी, उर उठी धकधकी, गति
थकी, मति छकी ऐसो नेह को उचरिबो।
चित्र कैसे लिखे दोऊ ठाढ़े रसे 'काशीराम'
नाहीं परवाह लोग लाख करो लरिबो।
बंशी को बजैबो, नटनागर बिसरि गयो,
नागरि बिसरि गई गागरि को भरिबो॥

वंशी का बजना और गागर का भरना भूल जाना आदि से स्तंभ की प्रतीति है।

२. स्वेद

क्रोध, भय, हर्ष, श्रम, दुःख आदि से यह उत्पन्न होता है।

पसीना आना आदि इसके अनुभाव हैं।

संग्राम भूमि, बिराज रघुपति अतुल बल कोशल धनी।
श्रम-बिन्दु मुख राजीव-लोचन अरुनतन सोनित कनी। तुलसी

एक बार फिर से पसीना पोंछ मुख का,
दीर्घ स्वास त्यागकर विजन विपिन में,
आगे बढ़ा पथिक कराहता-बिलखता। आर्यावर्त

३. रोमांच

यह हर्ष, श्रम, शीत, स्पर्श, क्रोध आदि से उत्पन्न होता है।

इसमें शरीर का कण्टकित और पुलकित होना अनुभाव है।

१ अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात
विकम्पित मृदु उर, पुलकित गात।
सशंकित ज्योत्स्ना सी चुपचाप
जड़ित पद नमित पलक दृगपात। पंत

२ फुल्ल बाहों का मुग्ध मृणाल, बाल मुकुलों की माल!
खिली रोओं की पुलकित डाल, वदन जावक से लाल!
सुनहली किरणों का दृगपात, आज उज्ज्वल मधुप्रात। आरसी

इस कविता की दूसरी पंक्ति में पुलक का वर्णन है।

४. स्वरभंग

भय, हर्ष, क्रोध मद आदि से यह उत्पन्न होता है।

स्वाभाविक ध्वनि का बदल जाना, स्वर का गद्गद होना, इसके अनुभाव हैं।

१ चकित दृष्टियाँ व्याप्त हुईं वहाँ सुमित्रा प्राप्त हुईं।
वधू ऊर्मिला अनुपद थी देख गिरा भी गद्गद थी। गुप्तजी

२ बिरह बिथा की कथा अकथ अथाह महा,
कहत बनै न जो प्रबीन सुकबीनि सौं।
कहै 'रतनाकर' बुझावन लगै ज्यों कान्ह,
ऊधो कौं कहन हेत ब्रज जुवतीनि सौं।
गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यों,
प्रेम पर्‌यौ चपल चुचाइ पुतरीनि सौं।
नैंकु कही बैननि अनेक कही नैननि सौं,
रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं॥

५. कंप

क्रोध, भय, शीत, आनन्द आदि से यह उत्पन्न होता है। इसके कंप आदि अनुभाव हैं।

१ चिबुक हिलाकर छोड़ मुझे फिर मायावी मुसकाया।
हुआ नया प्रस्पन्दन उर में पलट गयी यह काया। गुप्तजी

२ पहले दधि ले गई गोकुल में चख चारु भये नटनागर पै।
'रसखानि' करी उन चातुरता कहैं दान दै दान खरे अरपै।
नख ते सिख ले पट नील लपेट लली सब भाँति कँपै डरपै।
मनु दामिनी सावन के घन में निकसे नहीं भीतर ही तरपै॥

कंप और रोमांच का एक साथ उदाहरण—

३ अरे बोलो, प्राण बालो, बान ऐसी छोड़ दी क्यों ?
सभी जृम्भित गात्र मेरा सभी कंपित विश्व कानन
अंग रोमांचित हुए हैं रोम हैं उद्‌बुद्ध चेतन
सुन रहे रह रह प्रमाथी अंग अंग समुर्वरित से। भट्ट

टिप्पणी—कुछ लोग जृम्भा—जम्हाई को भी अनुभाव मानते हैं उसका भी इसमें उदाहरण है।

६. वैवर्ण्य

मोह, क्रोध, भय, श्रम, शीत, ताप आदि से इसकी उत्पत्ति होती है।

मुँह का रंग बदलना, मुँह पर चिंता की रेखा होना आदि इसके अनुभाव हैं।

१ नव उमंगमयी सब बालिका मलिन और सशंकित हो गयी।
अति प्रफुल्लित बालक वृन्द का वदन मंडल भी कुम्हला गया।
—हरिऔध

२ कहि न सकत कछु लाज तें, अकथ आपनी बात।
ज्यों ज्यों निशि नियरात है त्यों त्यों तिय पियरात। प्राचीन

७. अश्रु

आनन्द, भय, शोक, क्रोध, जृम्भा आदि से यह उत्पन्न होता है।

आँसू उभड़ना, गिरना, पोंछना इसके अनुभाव हैं।

१ 'रहो रहो पुरुषार्थ यही है पत्नी तक न साथ लाये।'
कहते कहते वैदेही के नेत्र प्रेम से भर आये। गुप्तजी

२ भेद बिन जाने एती बेदना बिसाहिबे को,
आज हौं गई ही बाट बंशी बटवारे की।
कहै 'पदमाकर' लट्टू है लोट पोट भई,
चित्त में चुभी जो चोट चाप चटवारे की।
बावरि लौं बूझति बिलोकति कहा तू बीर,
जाने कोई कहा पीर प्रेम हटवारे की।
उमड़ि उमड़ि बहै बरसे सु आँखिन ह्वै
घट में बसी जो घटा पीत पटवारे की॥

८. प्रलय

श्रम, मोह, मद, निद्रा, मूर्च्छा आदि से यह उत्पन्न होता है।

किसी पदार्थ में लीन होना, निश्चेष्ट होना, अपनत्व को भूल जाना आदि इसके अनुभाव होते हैं।

१ राजमद, तीव्र मदिरा का मद उस पर,
भीषण विजयमद—मिलकर तीनों ने
गोरी की समस्त चेतना को एक साथ ही,
घेर कर अंधी और पंगु बना डाला है। वियोगी

२ कैसे कहौं कामिन की अकथ कहानी बीर
नेकु ना कबीशन की बुद्धि परसति है।
बोलति न चालति न हालति हरिन नैनी
जागति न सोवति अजीब कैसी गति है।
कहे 'चिरजीवी' कारे कान्ह के डँसेते आज
सेज पै परी सी परी सोक सरसति है।
कुन्दन की कामी तप्त काम जरगर मंत्र
ढली अति भली दीप्तिमान दरसति है॥

निम्नलिखित कवित्त में उपर्युक्त आठों भेदों के उदाहरण हैं :—

ह्वै रही अडोल, थहरात गात बोले नाँहि बदल गई है छटा बदन सँवारे की।
भरि भरि आवे नीर लोचन दुहूँन बीच सराबोर स्वेदन में सारी रंग तारे की।
पुलकि उठे हैं रोम, कछुक अचेत फेरि कवि 'लछिराम' कौन जुगुति बिचारे की।
बानक सो डगर अचानक मिल्यो है लगी नजर तिरीछी कहूँ पीत पटवारे की।

ग्यारहवीं छाया

नायिका के २८ अनुभाव

स्त्रियों की यौवनावस्था के निम्नलिखित अट्ठाइस २८ प्रकार के अनुभाव होते हैं जो अलंकार माने गये हैं। इनके भी तीन प्रकार हैं—१ अङ्गज, २ अयत्नज और ३ स्वभावज।

(१) १ भाव (प्रथम लक्षित राग) २ हाव (अल्पसंलक्षित विकारात्मक भाव) और ३ हेला (अत्यन्त स्फुट विकारवाला भाव) नामक तीन अलंकार अङ्ग से उत्पन्न होने के कारण अङ्गज हैं।

भाव का एक उदाहरण—

कैसा यह, कैसा यह, भावना से प्रेरणा का
प्राणों से है मन का अमिट संयोग हुआ।
कैसी यह जीवन में लसित तरंग सखि? भट्ट

(२) १ शोभा (शरीर की सुन्दरता) २ कान्ति (विलास से वढ़ी शोभा) ३ दीप्ति (अति विस्तीर्ण कान्ति) ४ माधुर्य ५ प्रगल्भता ६ औदार्य और ७ धैर्य नामक सात अलंकार कृत्रिम न होने के कारण अयत्नज हैं।

दीप्ति का एक उदाहरण—

नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला रंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ बन बीच गुलाबी रंग। प्रसाद

(३) १ लीला २ विलास ३ विच्छित्ति (शृङ्गाराधायक अल्प वेषरचना) ४ बिब्बोक (गर्वाधिक्य से इच्छित वस्तु का अनादर) ५ किलकिंचित् (प्रिय वस्तु की प्राप्ति आदि के हर्ष से हास, अभिलाष

आदि कई भावों का संमिश्रण) ६ मोट्टायित (प्रिय-सम्बन्धी बातों में अनुरागद्योतक चेष्टा) ७ कुट्टमित (अङ्गस्पर्श से आन्तरिक हर्ष होने पर भी निषेधात्मक कर, सिर आदि का संचालन) ८ विभ्रम (जल्दी में वस्त्राभूषण का विपरीत धारण) ९ ललित (अंगों की सुकुमारता का प्रदर्शन) १० मद ११ विहृत (लज्जावश समय पर भी कुछ न कहना) १२ तपन १३ मौग्ध्य १४ विक्षेप (अकारण इधर-उधर देखने आदि से बहलाना) १५ कुतूहल १६ लसित १७ और १८ केलि, ये अठारह कृति-साध्य होने के कारण स्वभावज अलंकार हैं।

मद का एक उदाहरण—

मैं सुमनों की हृदय कहानी सुन रही ;
मैं कलिका के ओठों पर मधु छिड़कती ;
प्रात बात के उष्ण श्वास पीकर मदिर
अपने में ही भूल रही बेसुध बनी। भट्ट

विहृत का एक उदाहरण—

प्रणाम कर वह कृतज्ञता से झुका निगाहें शरम से गड़कर,
हटाये पीछे को पैर ज्यों ही कुमार ने अंक में लिया भर ;
झुका के सर को निकाल घूंघट दृगों को उसने लजा के मींचा। भक्त

'विच्छित्ति' का एक प्राचीन उदाहरण—

प्यारी कि ठोढ़ि को विन्दु 'दिनेश' किधौं बिसराम गोविन्द के जी को।
चारु चुभ्यो कनिका मनि नील को कैंधो जमाव जम्यौ रजनी को।
कैंधौं अनंग सिंगार को रंग लिख्यो वर मंत्र बशीकर पी को।
फूले सरोज मैं भौंरी बसी किधौं फूल ससी मैं लग्यो अरसी को।

नायिका का नवीन नख-सिख-वर्णन—

बीच-बीच पुष्प गुँथे किन्तु तो भी बन्धहीन
लहराते केशजाल, जलद श्याम से क्या कभी
समता कर सकती है
नील नभ तड़ित्तारकाओं का चित्र ले
क्षिप्रगति चलती अभिसारिका यह गोदावरी ?
हरगिज नहीं।
कवियों की कल्पना तो

देखती ये भौंएँ बालिका-सी खड़ी—
छूटते हैं जिनसे आदि रस के सम्मोहन शर
वशीकरण-मारण-उच्चाटन भी कभी-कभी।
हारे हैं सारे नेत्र नेत्रों को हेर-हेर—
विश्व भर को मदोन्मत्त करने की मादकता
भरी है विधाता ने इन्हीं दोनों नेत्रों में।
मीन-मदन फाँसने की वंशी-सी विचित्र नासा—
फूलदलतुल्य कोमल लाल ये कपोल गोल—
चिबुक चारु और हँसी बिजली सी—
योजनगन्ध पुष्प जैसा प्यारा यह मुखमण्डल—
फैलाते पराग दिङ्मण्डल आमोदित कर—
खिंच आते भौंरे प्यारे।
देख यह कपोत-कण्ठ
बाहुवल्ली कर सरोज
उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—
नितम्ब-भार चरण सुकुमार—
गति मन्द-मन्द
छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियों का,
देवों भोगियों की तो बात ही निराली है। निराला

बारहवीं छाया

अनुभाव-विवेचन

अंगज तथा स्वभावज स्त्रियों के अलंकार, सात्त्विक भाव और रति आदि से उत्पन्न अन्य चेष्टायें अनुभाव कहलाती[1] हैं।

शुक्लजी तथा उनके अनुयायीवर्ग जो यह कहते हैं कि अनुभाव के अन्तर्गत केवल आश्रय की चेष्टायें आ सकती हैं, ठीक नहीं है और यह भी ठीक नहीं है कि आश्रय में जो चेष्टायें दिखायी देती

---

१ उक्ताः स्त्रीणामलङ्काराः अङ्गजाश्च स्वभावजाः।
तद्रूपाः सात्त्विका भावास्तथा चेष्टाः परा अपि। साहित्यदर्पण

हैं उन्हें अनुभाव कहते हैं। दर्पणकार का लक्षण इस प्रकार है—'सीता आदि आलंबन तथा चन्द्र आदि उद्दीपन कारणों से राम आदि के हृदय में उद्बुद्ध रति आदि का बाहर प्रकाशित करने वाला, लोक में रति का जो कार्य कहाता है वही काव्य और नाटक में अनुभाव कहाता है'।

किन्तु इनके अतिरिक्त और भी अनुभाव हैं जिनका उल्लेख ऊपर की दो पंक्तियों में किया गया है। उनसे स्पष्ट है कि स्त्रियों के अलंकार भी अनुभाव के अन्तर्गत हैं जो आलबन से ही संबंध रखते हैं। अट्ठाइस अलंकारों में भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य, ये दश अलंकार पुरुषों में भी हो सकते हैं पर स्त्रियों में ही अधिक चमत्कारक होते हैं। इससे यह कहना संगत नहीं कि केवल आश्रय की चेष्टायें ही अनुभाव के अंतर्गत आ सकती हैं। अनुभाव में आलंबन की चेष्टायें भी सम्मिलित हैं।

अनुभावों के सानुराग परस्परावलोकन, भ्रूभंग, लीला, विलास, औदार्य, रोमांच, चाटुकारिता आदि असंख्य प्रकार हैं। ये सब कायिक, सात्त्विक, मानसिक आहार्य में बाँट दिये गये हैं। कायिक में शारीरिक चेष्टायें आती हैं। सात्त्विक अनुभाव स्वतः उद्भूत होते हैं। ये सत्त्व गुण से उत्पन्न होने के कारण सात्त्विक कहलाते हैं। ये भी एक प्रकार के अकृत्रिम अंग-विकार ही हैं। प्रमोद आदि मनोवृत्तियाँ हैं। इससे ये मानसिक अनुभाव हैं। किन्तु ये वाह्य चेष्टाओं से लक्षित होती हैं। इसी कारण इनको कायिक अनुभाव के अन्तर्गत मानना ठीक नहीं है। क्योंकि इनमें मुखविकास आदि वाह्य चेष्टाओं की प्रधानता नहीं है। वेशरचना आदि कायिक चेष्टाओं से अतिरिक्त होने के कारण आहार्य कहलाते हैं। इन चारों के अतिरिक्त उक्तियों के रूप में जो अनुभाव प्रकट होते हैं वे वाचिक कहलाते हैं। सूरदासजी की रचनाओं में उक्तियों का अत्यधिक विधान पाया जाता है।

> उर में माखनचोर गड़े
> अब कैसहु निकसत नहिं ऊधौ! तिरछे ह्वै जो अड़े। सूर

शुक्लजी ने निम्नलिखित चौपाई पर अनुभाव-सम्बन्धी विचार किया है जो इस प्रकार है।

बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी, पियतन चितै भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरछे नैननि। निज पति कहेउ तिनहिं सिय सैननि। तुलसी

······सीताजी में ये चेष्टायें अपने साथ राम के संबंध की भावना द्वारा उत्पन्न दिखाई पड़ती हैं।······अब प्रश्न यह है कि ये चेष्टायें अनुभाव होंगी कि हाव। हिंदी के लक्षण-ग्रन्थों में हाव प्रायः अनुभाव के अंतर्गत ही रखे गये हैं। पर यह ठीक नहीं है।······जिसकी रमणीयता या चित्ताकर्षता का वर्णन या विधान किया जाता है वह आलंबन होता है। अतः हाव नामक चेष्टायें आलंबनगत ही मानी जायँगी और आलंबनगत होने के कारण उनका स्थान विभाव के अन्तर्गत ही ठहरता है।

ऐसे स्थानों में इस प्रकार की शंका ही व्यर्थ है। क्योंकि सीताजी की ये चेष्टायें राम के उद्देश्य से नहीं। ग्रामीण स्त्रियों के समाधान के लिये की गयी हैं। यहाँ नायक-नायिका का शृंगारवर्णन ही नहीं है।

'हाव' अनुभाव के अन्तर्गत ही है और यही ठीक है। हिन्दी लक्षण-ग्रन्थों में ही नहीं, संस्कृत के आकर ग्रन्थों में भी यही बात है। अंगज अलंकारों में 'हाव' की गणना है और ये अलंकार अनुभाव ही हैं। यौवन के उक्त अट्ठाइस अलंकारों में यह आ जाता है। रस-उद्दीपक आलंबन की चेष्टायें उद्दीपन कहलाती हैं पर हाव इस प्रकार का नहीं होता। क्योंकि वह कार्यरूप है; कारण-रूप नहीं। इससे विभाव के अन्तर्गत हाव की गणना नहीं की जा सकती। यहाँ सीता के आङ्गिक विकार अनुभाव ही हैं जिनकी गणना विहृत और औदार्य में की जा सकती है, हाव में नहीं। क्योंकि यहाँ का भ्रू-नेत्र आदि का विकार संभोगेच्छा-प्रकाशक नहीं है।

आलंबन और आश्रय के कार्य ही तो अनुभाव हैं। इससे सभी प्रकार की चेष्टायें तद्गत होने के कारण विभाव के अन्तर्गत ही ठहर जाती हैं। जो चेष्टायें रसोद्दीपक होंगी वे उद्दीपन मानी जायँगी और जो अनुराग के वाह्यप्रकाशक कार्य होंगे वे अनुभाव कहे जायँगे। भानुभट्ट ने कहा भी है कि शोभाधायक होने से ये चेष्टायें उद्दीपन होती हैं और हृद्गत भावों को प्रकट करने से अनुभाव कही जाती हैं।[1]

---

[1] ये रसान् अनुभावयन्ति, अनुभवगोचरतां नयन्ति तेऽनुभावाः कटाक्षादयः करणत्वेन।
कटाक्षादीनां करणत्वेनानुभावकत्वं विषयत्वेनोद्दीपनविभावत्वम्। रसतरंगिणी

एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा कि आश्रय की चेष्टायें ही केवल अनुभाव नहीं होतीं, बल्कि आलंबन की चेष्टायें भी।

छूट्यौ गेह काज लोकलाज मनमोहिनी को,
भूल्यौ मनमोहन को मुरली बजाइबो।
देखो दिन छै में 'रसखानि' बात फैलि जैहै,
सजनी कहाँ लौं चन्द हाथन दुराइबो।
कालि हूँ कलिन्दी तीर चितयो अचानक ही,
दोउन को दोऊ मुरि मृदु मुसुकाइबो।
दोऊ परे पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ उन्हें,
भूलि गयी गैयाँ इन्हें गागरि उठाइबो।

इसमें रति स्थायी है। मनमोहन और मनमोहिनी दोनों के दोनों एक दूसरे के आलंबन और आश्रय हैं। दोनों का मृदु मुसुकाना, मुड़ना, कालिंदी का कूल उद्दीपन विभाव हैं। ये विषयनिष्ठ और वाह्य दोनों प्रकार के हैं। परस्पर पैयाँ पड़ना, बलैया लेना आदि अनुभाव हैं। दोनों के अपने काम भूल जाने में मोह संचारी है।

इसमें दोनों ओर से रति की चेष्टायें हैं। मुस्कुराने से रति भाव उद्दीपित होता है पर दोनों के पाँव पड़ने से उसका उद्दीपन नहीं होता बल्कि रति भाव के कार्य ही प्रकट होते हैं। इसमें दोनों के उद्दीपन और अनुभाव स्पष्ट हैं।

तेरहवीं छाया

संचारी भाव

संचरणशील अर्थात् अस्थिर मनोविकारों या चित्तवृत्तियों को संचारी भाव कहते हैं।

ये भाव रस के उपयोगी होकर जलतरंग की भाँति उसमें संचरण करते हैं। इससे ये संचारी भाव कहे जाते हैं। इनका दूसरा नाम व्यभिचारी है। विविध प्रकार से अभिमुख—अनुकूल होकर चलने के कारण इन्हें व्यभिचारी भाव भी कहते हैं। ये स्थायी भाव के साथी

हैं। रस के समान ही संचारी भाव भी व्यञ्जित या ध्वनित होते हैं। इनकी तेंतीस संख्या मानी गयी है।

१. निर्वेद

दारिद्र्य, ईर्ष्या, अपमान, आपत्ति, व्याधि, इष्टवियोग, तत्त्वज्ञान आदि के कारण अपनेको कोसने वा धिक्कारने का नाम निर्वेद है। इसमें दीनता, चिंता, अश्रुपात आदि अनुभाव होते हैं।

> हाय ! दुर्भाग्य इन आँखों से विलोका है,
> मैंने आर्यपति को गँवाते नेत्र अपने। वियोगी

यहाँ जयचंद के अपमान से उत्पन्न निर्वेद की व्यञ्जना है।

> शापित सा मैं जीवन का यह ले कंकाल भटकता हूँ,
> उसी खोखलेपन से जैसे कुछ खोजता अटकता हूँ।
> अन्धतमस है किन्तु प्रकृति का आकर्षण है खींच रहा,
> सब पर हाँ, अपने पर भी मैं झुँझलाता हूँ खीझ रहा। प्रसाद

इसमें विपत्ति से मनु का निर्वेद व्यञ्जित है।

> बालपनो गयो खेलन में कुछ द्यौस गये फिर ज्ञान कहाये।
> रीझि रहे रस के चसके कसके तरुनीन के भाव सुहाये।
> पैरिबो सिन्धु पर्‌यो श्रम को स्रम को करि भोजन खोजन धाये।
> 'बेनी प्रवीन' बिसै चहि रे कबहूँ नहिं रे गुन गोबिंद गाये।

इसमें भगवान के भजन न करने के कारण उत्पन्न खेद से, तत्त्वज्ञान से भी निर्वेद संचारी भाव की व्यञ्जना है।

टिप्पणी—निर्वेद का स्थिर स्वरूप तो शान्त रस का स्थायी भाव है, जिसके मूल में स्थिर वैराग्य वा तत्त्वज्ञान रहता है। किंतु जब यह किसी आघात से कुछ क्षणों के लिये हृदय पर प्रतिबिंबित होता है तो अन्य रसों में संचरण के कारण निर्वेद संचारी भी कहा जाता है।

२. ग्लानि

श्रम, मनस्ताप, भूख, प्यास आदि से मन की मुरझाहट, मलिनता, खिन्नता आदि होने को ग्लानि कहते हैं। इसके कार्य से अनुत्साह आदि अनुभाव होते हैं।

आवेगों से विपुल-विकला शीर्णकाया कृशांगी।
चिंतादग्धा, व्यथितहृदया, शुष्कओष्ठा अधीरा।
आसीना थी निकट पति के अश्रुनेत्रा यशोदा;
छिन्ना दीना विनतवदना मोहमग्ना मलीना। हरिऔध

यहाँ यशोदा की दीन दशा से ग्लानि की व्यञ्जना है।

गोरी का गुलाम मैं बना था हतचेत था।
आर्यता गँवाके मैं सदेह प्रेतवत था। वियोगी

जयचन्द की इस उक्ति में भी ग्लानि की व्यंजना है।

३. शंका

इष्टहानि और अनिष्ट का अंदेशा होना शंका संचारी है। इसमें मुखवैवर्ण्य, स्वरभंग आदि अनुभाव होते हैं।

हे मित्र मेरा मन न जाने हो रहा क्यों व्यस्त है ?
इस समय पल पल में मुझे अपशकुन करता त्रस्त है।
तुम धर्मराज समीप रथ को शीघ्रता से ले चलो।
भगवान मेरे शत्रुओं की सब दुराशायें दलो। गुप्तजी

इसमें शंका संचारी व्यंजित है।

माँगहि हृदय महेश मनाई
कुशल मातु पितु परिजन भाई। तुलसी

इसमें भी शंका की ही व्यंजना है।

४. असूया

परोन्नति का असहन और उसकी हानि की चेष्टा असूया है। इसमें अनादर, भौंहें चढ़ाना, निन्दा आदि अनुभाव होते हैं।

भरत राम के दास बनेंगे तू कौशल्या-दासी—
देवि, बनोगी, राम बनेंगे सीता सहित विलासी।
तब मैं दासी की भी दासी बनी रहूँगी, ईश्वर !
हाय ! तुम्हारे सर्वनाश के कारण हुए महीश्वर।
—राम चरित उपाध्याय

इससे मन्थरा की असूया व्यंजित है।

लेउ छड़ाँइ सीय कँह कोऊ, धरि बाँधहु नृप-बालक दोऊ।
तोड़े धनुष चाड़ नहिं सरई, जीवित हँमहिं कुँअरि को बरई। तुलसी

इसमें अन्य नृपतियों की असूया की व्यञ्जना है।

५. मद

वह अवस्था, जिसमें बेहोशी और आनंद का मिश्रण हो, मद है। यह मद्यपान आदि से उत्पन्न मस्ती, अल्हड़पन आदि अनुभावों की उत्पादिका है।

१ ....श्रवण कर
यह संवाद फेंक जाम निज कर से
गोरी उठा झूमता सहारा दिया बढ़के
उस प्रहरी ने—डगमग पग धरता,
बाहर शिविर के निकल आया व्यग्र-सा। आर्यावर्त

२ छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधुरी गंध।
ठौर ठौर झौरत झँपत भौंर झौर मधु अंध। बिहारी

इन पद्यों में मद संचारी की व्यञ्जना है।

६. श्रम

मार्ग चलने, व्यायाम करने, जागरण आदि से उत्पन्न खेद का नाम श्रम है। जम्हाई, अँगड़ाई, कामकाज में अरुचि, दीर्घ श्वास लेना आदि इसके अनुभाव है।

प्यासे काँटे पग से लग लग तलवे चाट माँगते जल;
झलके के मोती का पानी पिला उन्हें करती शीतल।
काँटा हुई जबान प्यास से साँस फूलता है जाता;
चारों ओर विकट मरुस्थली का है दृश्य नजर आता। भक्त

इस उक्ति में गयास की पत्नी के श्रम संचारी की व्यञ्जना है।

पुरते निकसी रघुबीर बधू धरि धीर हिये मग में डग द्वै,
झलकी भरि भाल कनी जल की पुट सूखि गये मधुराधर वै।
फिरि बूझति है चलनो अब केतिक पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै।
सिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चली जल च्वै। तुलसी

यहाँ भी उसी श्रम संचारी की व्यञ्जना है।

७. आलस्य

जागरण आदि से उत्पन्न अवसाद वा उत्साहहीनता, गर्भ, व्याधि आदि के कारण कार्य-शैथिल्य आलस्य है। जम्हाई, अँगड़ाई, कामकाज में अरुचि आदि इसके अनुभाव हैं।

१ दौड़ सकती थी जो न भार लिये गर्भ का
वह धिक्कारती थी मन में ही पति को। **वियोगी**

२ नीठि नीठि उठि बैठिहू प्यौ प्यारी परभात।
दोऊ नींद भरे खरैं गरैं लागि गिरि जात॥ **बिहारी**

इन पद्यों से आलस्य व्यञ्जित होता है।

८. दैन्य वा दीनता

दुःख-दारिद्र्य, मनस्ताप आदि से उत्पन्न ओजस्विता का अभाव दीनता है। इसमें मलिनता आदि अनुभाव होते हैं।

१ मर मिटे पिट गये सहा सब कुछ, पर निबल की सुनी गयी न कहीं।
है सबल के लिये बनी दुनिया, है निबल का यहाँ निबाह नहीं।
घर किसी का उजाड़ होता है, और बनते महल किसीके हैं।
है किसी गेह का दिया बुझता, और कहीं दीये जलते हैं घी के। **हरिऔध**

२ उदर भरे को जो पै गोत की गुजर होती
घर की गरीबी माँहि, गालिब गठौती ना।
रावरे चरन अरबिंद अनुरागत हौं
आँगत हौं दूध दही माखन मठौती ना।
याहू ते कहो तो और हो तो अनहोतो कहाँ
साबुत दिखात कंत, काठ की कठौती ना।
छुधा छीन दीन बाल बालिका बसनहीन
हेरत न होती देव द्वारिका पठौती ना। **सुदामाचरित**

इनमें दीनता संचारी की व्यञ्जना है।

९. चिन्ता

इष्ट वस्तु की अप्राप्ति आदि से उत्पन्न ध्यान का नाम चिन्ता है।

मन में सूनापन, संताप, ऊँची साँस लेना, अधोमुख होना आदि इसके अनुभाव हैं।

भोर ही भुखात ह्वै हैं कंद मूल खात ह्वै हैं
दुति कुम्हलात ह्वै हैं मुख जलजात को।
प्यादे पग जात ह्वै हैं मग मुरझात ह्वै हैं
थकि जै हैं घाम लगे स्याम कृष्ण गात को।
'पंडित प्रबीन' कहै धर्म के धुरीन ऐसे
मन में न राख्यो पीर प्रन राख्यो तात को।
मातु कहै कोसल कुमार सुकुमार मोरे
छोना ह्वै हैं सोअत बिछौना करि पात को।

इसमें राम की माता ने पुत्र के क्लेशों की जो कल्पना की है उससे चिन्ता की व्यञ्जना है।

आज बाँधी नहीं कवरी सखि न गूँथा हार।
और सुमनों से किया तुमने नहीं शृङ्गार।
अश्रु छल छल लोचनों में क्यों न जाने, एक
वेदना सी वस्तु कोई कर रही अभिषेक।
आज कैसे कर सकोगी प्रानधन की प्यार।
हाय! बाँधी नहीं कवरी, सखि न गूँथा हार। महादेवी

इसमें शृङ्गार के परित्याग आदि से चिंता सूचित होती है।

१०. मोह

भय, वियोग, दुःख, चिंता आदि से उत्पन्न चित्त-विक्षेप के कारण यथार्थज्ञान का खो जाना मोह है। ज्ञान लुप्त होना, गिरना, चिन्ता, भ्रम, सामने की वस्तु को भी न देखना आदि इसके कार्य हैं।

क्या करूँ कैसे करूँ, सब कुछ हुआ विपरीत जीवन,
कूप पर जाती कलश ले नीर लेने हेतु जब मैं
पैर ले जाते उन्हें अनजान में यमुना-नदी-तट।
—उ० शं० भट्ट

यहाँ चिन्ता की विवशता से मोह व्यंग्य है।

दूलह श्री रघुबीर बने दुलही सिय सुंदर मंदिर माँही।
गावत गीत सबै मिलि सुंदर वेद जुवा जुरि बिप्र पढ़ाहीं।

राम को रूप निहारत जानकी कंकन के नग की परिछाहीं।
या ते सबै सुधि भूलि गई कर टेक रही पल टारत नाँही। तुलसी

यहाँ सुख से उत्पन्न मोह की व्यञ्जना है।

११. स्मृति

सादृश्य वस्तु के दर्शन तथा चिन्तन आदि से पहले के अनुभूत सुख, दुःख आदि विषयों का स्मरण ही स्मृति है। इसमें भौंहों का चढ़ना आदि कार्य होते हैं।

१ लाई सखि मालिनें थीं डाली उस बार जब
जंबू फल जीजी ने लिये थे तुम्हे याद है ?
मैंने थे रसाल लिये देवर खरे थे वहीं
हँसकर बोल उठे निज निज स्वाद है।
मैंने कहा—रसिक, तुम्हारी रुचि काहे पर ?
बोले देवि दोनों ओर मेरा रसवाद है।
दोनों का प्रसाद भागी हूँ मैं हाय आली आज
विधि के प्रसाद से विनोद भी विषाद है॥ गुप्तजी

२ गोकुल की गैल गैल गैल गैल ग्वालिन की
गोरस के काज लाज बस कै बहाइबौ।
कहै 'रतनाकर' रिझइबौ नवेलिन कौ
गाइबौ बजाइबौ और नाचिबौ नचाइबौ।
कीबौ श्रमहार मनुहार के बिबिध बिधि
मोहनी मृदुल मंजु बाँसुरी बजाइबौ।
ऊधो सुख सम्पति समाज बृजमण्डल के
भूलै हू न भूलै भूलै हमको भुलाइबौ।

इन पद्यों में अनुभूत सुख-दुःख के स्मरण से स्मृति संचारी व्यञ्जित है।

१२. धृति

तत्त्वज्ञान, इष्टप्राप्ति आदि के कारण इच्छाओं का पूर्ण हो जाना धृति है। विपत्ति से लोभ, मोह, आदि के अनेक उपद्रवों से चंचल-चित्त न होना भी धृति है। किसी वस्तु की प्राप्ति वा अप्राप्ति वा नाश

से शोक न करना संतृप्तता, सानन्द वचन, मधुर स्मित, स्थिरता आदि इसके अनुभाव हैं।

देखने में मांस का शरीर है तथापि यह।
सह सकता है चोट वज्र की भी हँसके। आर्यावर्त

यहाँ विपत्ति में धृति की व्यञ्जना है।

रे मन साहसी साहस राख सुसाहस से सब जेर फिरैंगे।
ज्यों 'पद्माकर' या सुख में दुख त्यों दुख से सुख सेर फिरैंगे।
बैसे ही बेणु बजावत श्याम सुनाम हमारहु टेर फिरैंगे।
एक दिना नहिं एक दिना कबहु फिर वे दिन फेर फिरैंगे॥

इसमें विरहिणी नायिका के धैर्य की व्यंजना है।

मुझे राज्य का खेद नहीं, राम भरत में भेद नहीं।
मँझली बहन राज्य लेवें उसे भरत को दे देवें। गुप्तजी

इसमें कौशल्या का धैर्य ध्वनित होता है।

१३. व्रीड़ा

स्त्रियों के पुरुष के देखने आदि से, प्रतिज्ञा-भंग, पराजय, अनुचित कार्य करने आदि से लज्जा होना व्रीड़ा है। इसमें अधोमुख, विवर्ण और संकुचित होना आदि अनुभाव होते हैं।

छूने में हिचक देखने में पलकें आँखों पर झुकती हैं।
क़लरव परिहास भरी गूँजें अधरों तक सहसा रुकती हैं। प्रसाद

इस वर्णन से व्रीड़ा व्यंजित है।

सुनि सुंदर बैन सुधा रस साने सयानि है जानकी जान भली।
तिरछे करिं नैन दै सैन तिन्हें समुझाय कछू मुसकाय चली।
'तुलसी' तिहिं औसर सोहैं सबै अवलोकत लोचन लाहु अली।
अनुराग तड़ाग में भानु उदै बिकसी मनो मंजुल कंज कली।

सीताजी के राम को अपना पति बताने में व्रीड़ा संचारी है।

१४. चपलता

प्रेम अथवा ईर्ष्या-द्वेष के कारण चित्त का अस्थिर होना चपलता है। अनुराग-मूलक चपलता में बड़ा ही आकर्षण रहता है। इसमें खरी-खोटी बातें कहना, उच्छृंखल आचरण करना, स्वेच्छाचारिता से काम लेना आदि अनुभाव होते हैं।

अहह कितना कंटकित पथ यह तुम्हारा अहित, हितकर,
क्या यही उपयोग है पीयूष जीवन का गिराना—
गर्त दुख में व्यर्थ जिसके हेतु, जिसने सुधि न ली हो,
और तुमको छोड़कर यों गया जैसे जीर्ण कन्था। भट्ट

यहाँ राधा के प्रति नारद की उक्ति से चपलता की ध्वनि है।

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता, कँह गये नृप किसोर मन चीता।

यहाँ अनुरागमूलक चपलता व्यंजित है।

१५. हर्ष

इष्ट पदार्थ की प्राप्ति, अभीष्ट जन के समागम आदि से उत्पन्न आनन्द ही हर्ष है। इसमें रोमांच, मन की उत्फुल्लता, गद्गद वचन, स्वेद आदि अनुभाव होते हैं।

१ यह दृश्य देखा कवि चन्द ने तो उसकी
फड़की भुजायें कड़ी तड़की कवच की। वियोगी

२ मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये यह अलस जीवन सफल अब हो गया।
कौन कहता है जगत है दुःखमय यह सरस संसार सुख का सिंधु है।
—प्रसाद

भुजाओं के फड़कने आदि तथा प्रियतम के मिलने आदि से हर्ष संचारी व्यंजित है।

१६. आवेग

किसी सुखकर वा दुःखद घटना के कारण, प्रिय वा अप्रिय बात के श्रवण से हृदय जब शान्त स्थिति को छोड़कर उत्तेजित हो उठता है तब उसे आवेग कहते हैं। इसमें विस्मय, रोमांच, स्तंभ, कंप आदि कार्य होते हैं।

'हा लक्ष्मण हा सीते' दारुण आर्तनाद गूँजा ऊपर;
और एक तारक सा तत्क्षण टूट गिरा संमुख भूपर।
चौंक उठे सब हरे! हरे! कह हा मैंने किसको मारा;
आहत जन के शोणित पर ही गिरी भरत-रोदन-धारा।
दौड़ पड़ी बहु दास-दासियाँ मूर्च्छित सा था वह जन मौन,
भरत कह रहे थे सहलाकर 'बोलो भाई! तुम हो कौन? गुप्तजी

बाण लगने पर हनुमानजी के मुख से 'हा लक्ष्मण, हा सीते'; का आर्त्तनाद सुनकर भरतजी की जो तात्कालिक अवस्था थी उसमें आवेग संचारी व्यंजित है।

सुनि आहट पिय पगनि की भभरि भगी यों नारि।
कहुँ कंकन कहुँ किंकिनी कहूँ सुनूपुर डारि। प्राचीन

यहाँ नायिका के आचरण से आवेग व्यंजित है।

१७. जड़ता

इष्टानिष्ट के देखने-सुनने से चित्त की विमूढ़ात्मक वृत्ति का—किंकर्तव्यविमूढ़ावस्था का नाम जड़ता है। इसमें अपलक देखना, गुम-सुम रहना आदि अनुभाव होते हैं।

चित्रित से हो, हो एक ध्यान विस्मृति-विमुग्ध जन-कुल महान।
ऐसा प्रसंग का था विधान, चैतन्य बना सबका नवीन। सो० द्विवेदी

पूर्वार्द्ध से जड़ता संचारी की व्यंजना है।

हलैं दुहूँ न चलै दुहूँ, दुहूँ बिसरिगे गेह।
इकटक दुहुँनि दुहूँ लखैं, अटकि अटपटे नेह। प्राचीन

प्रेमी और प्रेमिका की इस निश्चलता में जड़ता व्यंजित है।

१८. गर्व

धन, बल, विद्या आदि का अभिमान ही गर्व है। उपेक्षावृत्ति, अविनय, अनादर आदि इसके अनुभाव हैं। उत्साह-प्रधान गर्व में वीर रस ध्वनित होता है।

साहस है खोलो सौकड़ों को, तलवार दो,
सामने खड़े हो, फिर देखो क्षण भर में
बाजी लौट आती है महान आर्य देश की।
दे दो शेष निर्णय का भार तलवार को। आर्यावर्त

पृथ्वीराज के वक्तव्य में गर्व की व्यंजना है।

भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही, विपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही।
सहस बाहु भुज छेदन हारा, परसु बिलोकु महीप कुमारा। तुलसी

परशुराम की इस उक्ति में गर्व संचारी है।

मेरे तप का तीव्र तेज है बढ़ रहा,
रविमंडल को भेद ब्रह्म के शीर्ष तक।
फैला है आंतक जगत परमाणु में।
मिटा रहा हूँ सतत लिखावट भाग्य की। भट्ट

विश्वामित्र के इस कथन में गर्व संचारी व्यंजित है।

१६. विषाद

इष्ट-हानि, आरब्ध कार्य में असफलता, असहायावस्था आदि के कारण निरुत्साह होना, पुरुषार्थ-हीन होना विषाद है। ऊँची उसाँसें लेना, सन्ताप, व्याकुलता, सहायान्वेषण, पछतावा आदि इसके अनुभाव हैं।

आज जीवन की उषा में हृदय में औदास्य भरकर
तुम निराले ढंग से क्या सोचती हो मलिन तनमन?
विश्व का उद्‌गार वैभव समुज्ज्वल सुख साधना का
क्या तुम्हें आनन्द सा उद्बुद्ध करता है न कुछ भी?
यहाँ इस एकान्त में अत्यन्त निर्जन में सुमुखि क्या
विश्व अनुपल जगमगाता और हँसता स्वर्ग सा प्रिय
देख पड़ता कुछ न तुमको भरा सा सुखरागमय यह? भट्ट

यहाँ 'विशाखा' की उक्ति से 'राधा' का विषाद व्यञ्जित है।

का सुनाइ विधि काह सुनावा।
का दिखाइ यह काह दिखावा। तुलसी

अयोध्यावासी की इस उक्ति में विषाद की व्यञ्जना है।

२०. औत्सुक्य

किसी प्रिय वस्तु की प्राप्ति में विलंब सहन न करना, इष्ट कार्य की तात्कालिक सिद्धि की इच्छा औत्सुक्य है। जल्दबाजी, जोर से साँस आना, पसीना छूटना, संताप होना आदि इसके अनुभाव हैं।

मानुष हौं तो वही 'रसखान' बसौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मझारन।

पाहन हौं तो वही गिरि के जो कियो व्रज छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरौ करौं वहि कालिंदीकूल कदंब की डारन।

इसमें जो व्रजवास की इच्छा है उससे उत्सुकता व्यञ्जित है।

वयवती युवती बहु बालिका सकल बालक वृद्ध वयस्क भी।
विवश से निकले निज गेह से स्वदृग का दुखमोचन के लिये। हरिऔध

संध्याकाल में जंगल से लौटते हुए श्रीकृष्ण को देखने के लिये गोकुलवासियों की आतुरता में औत्सुक्य व्यंग्य है।

२१. निद्रा

परिश्रम, नशा आदि के कारण वाह्येन्द्रियाँ जब विषयों से निवृत्त हो जाती हैं तब जो विश्राम करने की मनःस्थिति होती है वही निद्रा है। इसमें जम्हाई, अँगड़ाई, आँखों का झपना, उच्छ्वास आदि अनुभाव होते हैं।

चिन्तामग्न राजा घूमता है उपवन में
होकर विदेह-सा बिसार आत्मचेतना
बंद हुई आँखें—हुआ शिथिल शरीर भी। वियोगी

यहाँ जयचन्द की निद्रा व्यञ्जित है।

चपल वायु-सा मानस पा स्मृतियों के घात।
भावों में मत लहरे विस्मृत हो जा गात।
जाग्रत उर में कंपन नासा में हो वात।
सोयें सुख दुख इच्छा आशायें अज्ञात। पंत

इसमें सोने की व्यञ्जना है। यहाँ 'सोयें' सुख-दुख आदि के लिये आया है, सोनेवाले व्यक्ति के लिये नहीं। इससे स्वशब्दवाच्य दोष नहीं लगता।

२२. अपस्मार

अपस्मार चित्त की वह वृत्ति है जिसमें मिरगी रोग का सा लक्षण लक्षित होता है। भूतावेश, वेदना, आघात, आदि से हृदय का दुर्बल होना, इसका कारण है। गिर-गिर पड़ना, कँपकँपी आना, मुँह से झाग निकलना आदि अनुभाव हैं।

जा छिनते छिन साँवरे रावरे लागे कटाच्छ कछू अनियारे।
त्यों पद्माकर ता छिनते तिय सों अँग अँग न जात सम्हारे।

ह्वै हिय हायल घायल सी घन घूमि गिरी परै प्रेम तिहारे
नैन गये फिर फेन बहे मुख चैन रह्यौ नहिं मैन के मारे।

यहाँ नायिका की स्थिति में अपस्मार की व्यञ्जना है।

२३. स्वप्न

निद्रानिमग्न पुरुष के विषयानुभव का नाम स्वप्न है। इसमें कोप, आवेग, भय, ग्लानि, सुख, दुःख आदि अनुभाव होते हैं। जाग्रद्वस्था में भी स्वप्न में वर्तमान की सी चित्त की दशा का होना भी स्वप्न है।

१ खुल गये कल्पना के नेत्र महीपाल के
दीख पड़ी वृद्धा पराधीना बंदिनी—
आर्यभूमि रक्त बहता है अंग-अंग से। **आर्यावर्त**

२ मानस की सस्मित लहरों पर किस छवि की किरणें अज्ञात,
रजत स्वर्ण में लिखतीं अविदित तारक लोकों की शुचि बात ?
किन जन्मों की चिरसंचित सुधि बजा सुप्त तंत्री के तार,
नयन नलिन में बँधी मधुप सी करती मर्म मधुर गुंजार। **पंत**

इनमें स्वप्न की व्यञ्जना है।

२४. विबोध

निद्रा दूर करनेवाले कारणों से वा अज्ञान के मिटने से सचेत होने का नाम विबोध है। इसमें जम्हाई, अँगड़ाई, मुख पर प्रकाश, शान्ति आदि अनुभाव होते हैं।

कुंज भवन तजि भवन को चलिये नन्दकिसोर।
फूलति कली गुलाब की चटकाहट चहुँ ओर। **बिहारी**

गुलाब की कली की चटकाहट से नवोढ़ा का जागरण प्रतीत होता है।

हाथ जोड़ बोला साश्रुनयन महीप यों
'मातृभूमि इस तुच्छ जन को क्षमा करो।
धोऊँगा कलंक रक्त देकर शरीर का।
आज तक खेयी तरी मैंने पाप-सिंधु में,
अब खेऊँगा उसे धार में कृपाण की। **आर्यावर्त**

इस उक्ति से देशद्रोही जयचंद का विबोध व्यंग्य है।

२५. अमर्ष

निन्दा, अपमान, मान-हानि आदि के कारण उत्पन्न चित्त की चिढ़ वा असहिष्णुता अमर्ष है। इसमें नेत्रों का लाल होना, भौंहों का चढ़ना, तर्जन-गर्जन, संताप, प्रतिकार के उपाय आदि अनुभाव होते हैं।

> जहाँ गया तू वहीं राम लक्ष्मण जावेंगे—
> रण में मेरी दृष्टि आज यदि वे आवेंगे।
> उठने की है देर आज ही प्रलय करूँगा
> रावण हूँ मैं पुत्र! सहज मैं नहीं मरूँगा। द्वा० च० उपा०

इससे रावण का अमर्ष व्यञ्जित होता है।

> गरब सुअंजन ही बिना कंजन को हरि लेत।
> खंजन मद भंजन अरथ अंजन अँखियन देत। विहारी

इस दोहे से कंजन और खंजन पर अमर्ष व्यञ्जित होता है। क्योंकि वे यों ही कमल की कान्ति और काजल डालने पर खंजन के मानमर्दन को मुस्तैद हैं।

> रे नृप बालक काल बस बोलत तोहिं न सम्हार।
> धनुही सम त्रिपुरारि धनु विदित सकल संसार। तुलसी

इसमें शिवधनु के भंग होने पर लक्ष्मण के अभिमानभरे वचन को न सहकर परशुराम की जो उक्ति है उससे अमर्ष संचारी व्यञ्जित होता है।

२६. अवहित्था

भय, गौरव, लज्जा आदि से उत्पन्न हर्षादि के भावों को चतुराई से छिपाने का नाम अवहित्था है। अन्य दिशा की ओर देखना, मुँह नीचा कर लेना, बातचीत को पलट देना, जम्हुआना आदि इसके अनुभाव हैं।

> कपिवर का लांगूल बँधा पट-सन-बल्कल से
> कपि ने साधा मौन पराभव सहकर खल से।
> मार-मारकर असुर कीट को लगे नचाने,
> बाजे रंग-विरंग मग्न हो लगे बजाने। द्वा० च० उपा०

इसमें हनुमानजी के अपने भाव को गुप्त रखने की व्यञ्जना है।

देखन मिस मृग, विहग, तरु फिरय बहोरि, बहोरि ।
निरखि निरखि रघुवीर छवि, बाढ़इ प्रीति न थोरि। **तुलसी**

रामदर्शन की लालसा से सीता के मृग, विहग देखने की बहाने-बाजी से अवहित्था ध्वनित है।

२७. उग्रता

अपमान, दूषित व्यवहार, वीरता आदि के कारण उत्पन्न निर्दयता ही उग्रता है। इसमें घुड़कना, डाँटना-डपटना, मारना आदि अनुभाव हैं।

हम संवेदनशील हो चले यही मिला सुख।
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख।
प्रकृति शक्ति तुमने यन्त्रों से सबकी छीनी।
शोषण कर जीवनी बनायी जर्जर झीनी।
और इड़ा पर यह क्या अत्याचार किया है?
इसीलिये तू हम सब के बल यहाँ जिया है।
आज बंदनी मेरी रानी इड़ा यहाँ है।
ओ यायावर अब तेरा निस्तार कहाँ है? **प्रसाद**

उक्त पंक्तियों मे मनु के प्रति क्षुब्ध प्रजा के जो भाव हैं उनसे उग्रता की व्यञ्जना है।

२८. मति

शास्त्रादि के विचार से किसी तथ्य का निर्णय कर लेना मति है। सन्तोष, आत्मतृप्ति, ढाढ़स बँधना आदि इसके अनुभाव हैं।

अपनहि नागर अपनहि दूत। से अभिसार न जान बहूत।
की फल तेसर कान जनाय। आनब नागर नयन बझाय। **विद्यापति**

जिसमें आप ही दूती और आप ही नायिका बनी रहे उस मिलन को सब नहीं जान सकते। किसी तीसरे को जनाकर क्या करना है? नागर को स्वयं नयनों से उलझा करके ले आऊँगी।

यहाँ नायिका ने कृष्ण-मिलन का जो निश्चय किया है उससे मति की व्यञ्जना है।

नहीं, ऐसा मत कहो, वे सुन रहे संसार मेरे
हृदय में बैठे हुए सखि, प्राणप्रिय राधाविमोहन। **भट्ट**

स्वर बदलकर कृष्ण के स्वयं अपनी निन्दा करने पर राधा की उक्ति से मति की व्यञ्जना है।

सुनती हौ कहा, भजि जाउ घरैं, बिध जावोगी काम के बानन में,
यह बंशी 'निवाज' भरी विष सों विष सों भर देत है प्रानन में।
अब ही सुधि भूलि हो भोरी भटू बिरमो जनि मीठी सी तानन में
कुल कानि जो आपनि राख्यो चहौ अँगुरी दै रहौ दुउ कानन में।

मुग्धा नायिका को जो सखी का उपदेश है उससे मति व्यंजित है।

२९. व्याधि

रोग, वियोग आदि से उत्पन्न मन के सन्ताप को व्याधि कहते हैं। इसमें लेटे रहना, पांडु हो जाना, कम्प, ताप आदि अनुभाव होते हैं।

मानस मंदिर में सती पति की प्रतिमा थाप।
जलती सी उस विरह में बनी आरती आप। गुप्तजी

इससे ऊर्मिला की व्याधि की व्यंजना होती है।

धर्म धुरंधर धीर भरि नयन उघारेउ राउ।
सिर धुनि लीन्ह उसास भरि मारेसि मोहि कुठाउ। तुलसी

इसमें भावी राम-वियोग के कारण राजा दशरथ की व्याधि व्यञ्जित है।

औंधाई शीशी सुलखि विरह जरी बिललात।
बीचहि सूख गुलाब गो छींटो छुयो न गात। बिहारी

बीच ही में गुलाब-जल का सूख जाना नायिका की व्याधि को द्योतित करता है।

३०. उन्माद

भय, शोक आदि से चित्त का भ्रान्त होना उन्माद है। हँसना, रोना, अल्ल-बल्ल बकना आदि इसके अनुभाव हैं।

आप ही आप पै रूसि रही कबहूँ पुनि आपु ही आपु मनावै।
त्यों 'पदमाकर' ताकि तमालनि भेंटिबे को कबहूँ उठि धावै।
जो हरि रावरो चित्र लखै तौ कहूँ कबहूँ हँसि हेरि बुलावै।
व्याकुल बाल सुआलिन सों कह्यो चाहै कछू तो कछू कहि आवै॥

इस पद्य में नायिका के असंबद्ध व्यवहारों से उन्माद की—विक्षिप्त भाव की प्रतीति होती है।

आके जूही निकट फिर यों बालिका व्यग्र बोली
मेरी बातें तनक न सुनीं पातकी पाटलों ने।
पीड़ा नारीहृदयतल की नारि ही जानती है।
जूही! तू है विकचवदना शान्ति तू ही मुझे दे। **हरिऔध**

राधाजी की उपर्युक्त उक्ति में उन्माद की व्यञ्जना है।

तुम यह, तुम वह, यहाँ इधर ही तो खड़ी,
उधर चलूँ क्या, नहीं शिखर पर हँस रही,
और गा रहीं गीत सुनाई पड़ रहा,
नहीं, नहीं तुम वहाँ नहीं तुम हो कहाँ! **भट्ट**

विश्वामित्र की इस उक्ति से प्रमाद की प्रतीति होती है।

३१. त्रास

प्रवल विरोध, भयानक वस्तु का दर्शन, बिजली कड़कना आदि प्राकृतिक उत्पात के कारण चित्त का व्यग्र होना त्रास संचारी है। इसमें देहकम्प, चीखना, चिल्लाना, पसीना आना आदि अनुभाव होते हैं।

१ देखते ही रौद्र मूर्ति वीर पृथ्वीराज की,
चीख उठा राजा ज्यों सहसा पथिक के—
सामने भयानक मृगेन्द्र कूदे काल-सा। **वियोगी**

२ सखि परबोधि सयन तल आनी।
पिय हिय हरख धयल निज पानी।
छुइते राइ मलिन भै गेली
विधु करे कुमुदिनी मलिन भेली। **विद्यापति**

कृष्ण के छूते ही राधा के मलिन होने से त्रास की व्यञ्जना है।

३२. वितर्क

सन्देह के कारण मन में उत्पन्न ऊहापोह वितर्क है। भ्रूचालन, शिरःकंप, अंगुलीनर्तन आदि अनुभाव होते हैं।

दुख का जग हूँ या सुख की पल, करुणा का धन या मरु निर्जल,
जीवन क्या है मिला कहाँ सुधि भूली आज समूल। **महादेवी**

यहाँ अपने सम्बन्ध में इस ऊहापोह से वितर्क व्यञ्जित है।

जो पै कहौं, रहिये तो प्रभुता प्रगट होय,
चलन कहौं तौ हितहानि नहीं सहनै।
भावै सु करहु तौ उदास भाव प्राणनाथ
संग लै चलौ तो कैसे लोकलाज बहनै।
कैसो 'केसोराइ' की सौं सुनहु छबीले लाल
चल ही बनत जो पै नाहीं राज रहनै।
तुम ही सिखावो सीख सुनहु सुजान पिय,
तुम ही चलत मोहि जैसे कछू कहनै॥

नायिका की 'क्या कहूँ, क्या न कहूँ' आदि भाव वितर्क है।

३३, मरण

मरण चित्तवृत्ति की ऐसी दशा है जिसमें मृत्यु के समान कष्ट की अनुभूति हो अथवा वह दशा भावान्तर से इस प्रकार अभिभूत हो गयी हो कि मृत्यु-कष्ट नगण्य जान पड़े।

आज पतिहीना हुई, शोक नहीं इसका,
अक्षय सुहाग हुआ, मेरे आर्यपुत्र तो—
अजर अमर हैं सुयश के शरीर में। **आर्यावर्त**

इसमें मृत्यु की व्यञ्जना न तो अमाङ्गलिक ही है और न शोक-कारक ही।

राधा की वाढ़ी वियोग की वाधा, सु 'देव' अबोल अडोल डरी रही।
लोगन की वृषभानु के भौन में, भोरते भारिये भीर भरी रही।
वाके निदान ते प्रान रहे कढ़ि, औषधि मूरि करोरि करी रही।
चेति मरू करिके चितई जब, चार घड़ी लों मरीये धरी रही॥

इसमें मरण की सारी दशाएँ हो गयीं पर वास्तविक मरण नहीं हुआ। यहाँ मरण का ऐसे ढंग से वर्णन किया गया है कि शोक उत्पन्न नहीं होता।

तेरहवीं छाया

संचारी भाव और चित्तवृत्तियाँ

सभी भावों का मन से सम्बन्ध है। क्योंकि भाव मन के ही विकार होते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर बहुत-से मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि तैंतीसों संचारी भावों का मनोविकार से सम्बन्ध नहीं। उनके अन्धानुकरणकारी भारतीय विवेचक विद्वान् भी इसी बात को दुहराने लगे हैं। एक समालोचक का कहना है—

"वे सब के सब (३३ संचारी) मनोविकार नहीं हैं। उनमें कुछ तो बुद्धिवृत्तियाँ हैं और कुछ शरीर के धर्म। मरण, आलस्य, निद्रा, अपस्मार, व्याधि आदि शरीर के धर्म हैं। मति, वितर्क आदि बुद्धि की वृत्तियाँ हैं।"

एक दूसरे विद्वान् की यह उक्ति है—

"तैंतीसों संचारियों की जाँच-पड़ताल से ज्ञात होता है कि वे सदोष हैं। उनमें सभी भाव भावनास्वरूप नहीं हैं। उनमें कुछ शारीरिक अवस्थाएँ हैं; कुछ भावनाओं के भीतर तीव्रता प्रदर्शक के प्रकार हैं; कुछ प्राथमिक भावनाएँ हैं; कुछ सभिन्न भावनाएँ हैं और कुछ ज्ञानात्मक अवस्थाएँ[1] हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि 'रसविमर्श' में संचारियों का जो विभाजन है, वह मनोविज्ञानात्मक है। पर हम यह मानने को तैयार नहीं कि सभी संचारी मनोविकार नहीं या भावनास्वरूप नहीं हैं। और हम यह भी मानने को तैयार नहीं कि सब संचारियों को भाव कहना उपलक्षणमात्र[2] है या सभी संचारियों को स्थूल रूप से भाव कहा जाता है। हमारे कुछ आचार्यों ने भी ऐसे विवेचकों को ऐसा विचार करने को प्रोत्साहन दिया है।

(१) दर्पणकार के मरण के लक्षण और उदाहरण ये हैं—

'बाण आदि के लगने से प्राणत्याग का नाम मरण है। इसमें देह का पतन आदि होता है[3]। उदाहरण का आशय है कि राम के

---

१ मराठी 'रसविमर्श' पृष्ठ १२८

२ या सभी संचारियों को स्थूल रूप से भाव कहा जाता है।

३ शराद्यैर्मरणं जीव-त्यागोऽङ्गपतनादिकृत्। साहित्य-दर्पण

बाण से आहत ताड़िका रक्तरंजित होकर यमपुरी चली गयी।'
इसमें देहत्याग से मन का क्या सम्बन्ध है ? यह तो शरीर-धर्म है। मानसिक अवस्था नहीं, शारीरिक अवस्था है। पण्डितराज को यह बात खटकी और उन्होंने इस लक्षण द्वारा इसे सम्हाला।

'रोग आदि से उत्पन्न होनेवाली 'जो मरण के पहले की मूर्च्छा-रूप अवस्था है उसे मरण कहते हैं।'

"यहाँ प्राणों का छूट जाना रूप जो मुख्य मरण है, उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता। क्योंकि ये जितने भाव हैं ये सब चित्तवृत्ति-रूप हैं। उनमें उस प्रकार के मरण का कोई प्रसंग ही नहीं। दूसरे शरीर-प्राण-संयोग हर्ष आदि सभी व्यभिचारी भावों का कारण है। वह ऐसा कारण नहीं कि केवल कार्य की उत्पत्ति के पूर्व ही वर्त्तमान रहे। किन्तु ऐसा कारण है जो कार्य की उत्पत्ति के समय भी रहता है। इस अवस्था में मरण भाव मुख्य मरण (शरीर-प्राण-वियोग) रूप में नहीं लिया जा सकता। क्योंकि उसकी उत्पत्ति के समय शरीर-प्राण-संयोग उसका कारण नहीं रह सकता। अतः मरण के पूर्वकाल की चित्तवृत्ति ही यहाँ मरण नामक व्यभिचारी भाव है। क्योंकि उसकी उत्पत्ति के समय शरीर-प्राण-संयोग रहता है[1]।"

पण्डितराज की इस वैज्ञानिक व्याख्या से भी उन्हें सन्तोष नहीं। कारण यह कि लक्षण और उदाहरण से मरण व्यंजित होना चाहिये सो नहीं होता और होना चाहिये उसीकी व्यंजना।

उदाहरण का अनुवाद है—

जेहि पियगुन सुमिरत अर्धहि सेज बिलोकी हाय।
अब वह बोलति ना सुतनु थके बुलाय बुलाय।
—पु० श० चतुर्वेदी

यहाँ मूर्च्छा की व्यंजना होती है और यह 'मोह संचारी' का अनुभाव है[2]।

यह सब कुछ होते हुए भी मरण मनोविकार है और उसे भाव की संज्ञा प्राप्त हो सकती है। आचार्यों के 'मरण' भाव के लक्षणों और उदाहरणों में जो गड़बड़ी है उसका कारण यह है कि 'मरण' को

---

१ हिन्दी 'रसगंगाधर'

२ मोहो विचित्तता भीतिदुःखवेगानुचिन्तनैः।
मूर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत्। साहित्य-दर्पण

असाङ्गलिक और वर्जनीय समझा जाता[1] है और रस-विच्छेद का कारण भी माना जाता[2] है। मरण के सम्बन्ध में निम्नलिखित व्यवस्था है।

मरण के प्रथम की अवस्था—वियोग में शरीर त्याग करने की चेष्टा—का ही मरण में वर्णन होना[3] चाहिए। जैसे,

पूछत हौं पछिताने कहा फिरि पीछेते पावक ही को मिलौगे।
काल की हाल में बूड़ति बाल बिलोकि हलाहल ही को हिलौगे॥
लीजिये ज्याय सुधामधु प्याय कै न्याय नहीं विषगोली गिलौगे।
पंचनि पंच मिले परपंच में काहि मिले तुम काहि मिलौगे॥ **देव**

पंच तत्त्वों में पाँचों—क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम—भूतों के मिल जाने पर अर्थात् मर जाने पर किससे मिलोगे। यहाँ मरण की पूर्वावस्था में मरण की व्यंजना है। क्या कोई भी मनोवैज्ञानिक साहसपूर्वक कह सकता है कि यहाँ नायिका की जो अवस्था है वह मनोविज्ञानमूलक नहीं ?

यह भी व्यवस्था है कि मरण का वर्णन इस प्रकार होना चाहिये जिससे शोक उत्पन्न[4] न हो। जैसे,

नील नभोदेश में मा भारत वसुन्धरा
दीख पड़ीं, बैठी कोकनद पर मोद में।
आर्यपुत्र और कविचंद मातृक्रोड़ में
बैठे हैं, प्रकाश पूर्ण देवरूप धर के,
मानो गणराज और कार्तिकेय बैठे हों
गोद में भवानी के—विचित्र वह दृश्य था। **आर्यावर्त**

महारानी संयोगिता के स्वर्गीय आर्यपुत्र पृथ्वीराज का जो

---

१ विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रत तथा॥

२ रसविच्छेद-हेतुत्वात् मरणं नैव वर्ण्यते। **सा० दर्पण**

३ शृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम्। **दशरूपक**
मरणमिति न जीवित-वियोग उच्यते। अपितु चैतन्यावस्थैव, प्राणत्यागकर्तृकात्मिका या सम्बन्धाद्यवसरगता मन्तव्या। **अभिनव भारती**

४ मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्र मन्तव्यं येन शोकाऽवस्थानमेव न लभते।
—अभिनव

दिव्य दर्शन प्राप्त हुआ उससे रानी के मन में मरण-मूलक जो भावनायें जगीं क्या वे शरीर-वृत्ति कही जायँगी ?

अतः मरण का हमारा यह लक्षण है—'चित्तवृत्ति की ऐसी दशा जिसमें मृत्यु के समान कष्ट की अनुभूति हो अथवा वह दशा भावान्तर से इस प्रकार अभिभूत हो गयी हो कि मृत्युकष्ट नगण्य जान पड़े।' जैसे,

> आज पति-हीना हुई शोक नहीं इसका,
> अक्षय सुहाग हुआ, मेरे आर्यपुत्र तो—
> अजर-अमर हैं सुयश के शरीर में। वियोगी

(२) श्रम संचारी का यह लक्षण है—'रति और मार्ग चलने आदि से उत्पन्न खेद का नाम श्रम है। वह निद्रा, निःश्वास आदि उत्पन्न करता[1] है'। दर्पणकार के उदाहरण का यह तुलसीकृत अनुवाद है जो उससे कहीं सुन्दर है।

> पुरतें निकसीं रघुवीरवधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
> झलकी भरी भाल कनी जल की पुट सूखि गये मधुराधर वै॥
> फिरि बूझती है चलनो अब केतिक पर्णकुटी करि हौ कित ह्वै।
> तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चली जल च्वै।

इसमें महारानी सीता की सुकुमारता तो स्पष्ट व्यञ्जित है। श्रम संचारी की व्यञ्जना भी कोमलता और मार्मिकता से की गयी है। पतिव्रता प्रत्येक दशा में पति की अनुगामिनी होती है, यह वस्तुध्वनि भी होती है। अन्तिम पंक्ति से राम के अत्यन्त अनुराग और विषाद भी व्यञ्जित हैं।

इसमें अधरों का सूखना और श्रमविन्दुओं का झलकना शारीरिक धर्म हैं 'पर कितनी दूर अब चलना है और कहाँ कुटिया छवावोगे' में जो हृदयमंथन है वह तो शरीर-वृत्ति नहीं है। इस कथन में भी तो श्रमव्यञ्जना है। इससे श्रम को केवल शारीरिक वृत्ति मानने वाले मनोवैज्ञानिकों का मानमर्दन तो अवश्य हो जाता है।

पण्डितराज का यह वाक्य 'शरीर-प्राण-संयोग हर्ष आदि सभी व्यभिचारी भावों का कारण है' बड़ा मार्मिक है। यह बात ज्ञान-विज्ञान से सिद्ध है कि जबतक मन और इन्द्रिय का संयोग नहीं होता

---

[1] खेदो रत्यध्वगत्यादे: श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः। साहित्य-दर्पण

तबतक किसी वस्तु का बोध नहीं होता। जब हम उन्मन होकर कोई पुस्तक पढ़ते हैं तब खाक-पत्थर कुछ भी समझ में नहीं आता। क्योंकि चंचल चित्त कहीं और चक्कर लगाता रहता है। शरीर थक जाता है तो मन भी सुस्त पड़ जाता है। श्रान्त मन का प्रभाव शरीर पर भी पड़ता ही है। इस दशा में कैसे कोई कह सकता है कि श्रम मनोविकार नहीं है!

> पूजा पाठ भजन-आराधन, साधन सारे दूर हटा,
> द्वार बंद कर देवालय के कोने में क्या है बैठा?
> अन्धकार में छुप मन ही मन किसे पूजता है चुपचाप?
> आँख खोल घर देख यहाँ पर कहाँ देव बैठा है आप?
>
> —गिरिधर शर्म्मा

यह 'गीतांजलि' के एक गीत का एकांश है। इसमें मानसिक श्रम की स्पष्ट व्यंजना है। पूजा-पाठ-भजन को हम शारीरिक श्रम मानें भी तो वह मानसिक श्रम के आगे नगण्य है।

(३) निद्रा की भी गणना शरीर-वृत्तियों में की जाती है। यह भौतिक निद्रा है। संचारी भाव के रूप में भी निद्रा होती है। यह मानसिक निद्रा है। भौतिक निद्रा इसी मानसिक निद्रा का परिणाम है। यह चित्तवृत्ति है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रमाण लीजिये। दर्पणकार लक्षण लिखते हैं—

'चित्त का संमीलन अर्थात् बाह्य विषयों से निवृत्ति ही निद्रा है। यह परिश्रम, ग्लानि, मद आदि से उत्पन्न होती है। इसमें जँभाई, आँख मीचना, अँगड़ाई आदि होती[1] है'। इसमें चित्त का सम्मीलन स्पष्ट बता रहा है कि निद्रा चित्त का ही विकार है।

योग में भी निद्रा को चित्तवृत्ति ही कहा गया है। निद्रा प्रत्यय-विशेष है। जब सत्वपूर्वक तम का आविर्भाव होता है तब उठने पर हम कहते हैं 'हम सुख से सोये, हमारा मन प्रसन्न है, बुद्धि निर्मल हो गयी है'। जब रजोगुण-प्रधान तमोगुण होता है तब हम कहते हैं 'दुख से सोये, मन अकर्मण्य हो गया है, अस्थिर होकर घूम रहा है।' यह ज्ञान हमें जागने पर बना रहता है। ज्ञान-तन्तु का इस प्रकार विच्छेद

---

१ चेतःसंमीलनं निद्रा श्रमक्लमगदादिजा।
जृम्भाक्षिमीलनोछ्वासगात्रभङ्गादिकारणम्।—सा० दर्पण

नहीं होता। योग के अनुसार सुषुप्ति भी चित्तवृत्ति [1] ही है। पर यह भावात्मक निद्रा नहीं है।

'सुख से सोये' कहने में केवल ज्ञान की हीं मात्रा नहीं। भाव की भी है। जबतक अनुभूति न होगी तबतक सुख की बात नहीं आ सकती। अनुभूति मन की ही बात है।

भावात्मक निद्रा निद्रा की पूर्वावस्था है। इसमें तन्द्रा की प्रबलता रहती है। उदाहरण लें—

> कहती सार्थक शब्द कुछ बकती कुछ बेमेल।
> झपकी लेती वह तिया करती मन में खेल। अनुवाद

यहाँ निद्रा नहीं है। साथक शब्द कहने में ज्ञानेन्द्रिय की सक्रियता है। अनायास ऐसा हो जाता हो, यह बात नहीं। क्योंकि यह स्वप्नावस्था में ही संभव है। 'सार्थकानर्थकपदं ब्रुवती' में यह बात नहीं कही जा सकती। यहाँ निद्रा की व्यंजना नायक के मन में एक भाव पैदा करती है। इससे सन्तोप न हो तो यह उदाहरण लें—

> कल कालिंदी-कूल कदंबन फूल सुगन्धित केलि के कुंजन में ;
> थकि भूलन के झकझोरन सों बिखरी अलकैं कच पुंजन में।
> कब देखहुंगी पिय अंक में पौढ़त लाड़िली को सुख रंजन में ;
> कहियो यह हंस! वहाँ जब तू नँदनंदन लैं कर कंजन में।—पोद्दार

ललिता की हंस के प्रति इस उक्ति में राधाजी की निद्रावस्था की व्यंजना है। यहाँ निद्रा नहीं है जो भौतिक कही जाती है। किन्तु निद्रा संचारी भाव है। यह भाव विप्रलंभ शृंगार की पुष्टि करता है।

एक चित्त की तन्मयावस्था भी होती है जो प्रलय से भिन्न है। इसमें आदमी सोता नहीं पर सोने की सारी क्रियायें दीख पड़ती हैं। फिर भी चित्त का व्यापार चलता रहता है। इसमें बाह्य विषयों से निवृत्ति नहीं होती, ज्ञानेन्द्रियों की सक्रियता बनी रहती है और बुद्धि का विपयाकार कुछ परिणाम होता है। ये बातें निद्रा में नहीं होतीं। एक ऐसा उदाहरण उपस्थित किया जा सकता है।

> चिन्तामग्न राजा घूमता है उपवन में—
> होकर विदेह सा बिसार आत्मचेतना,

---

[1] अभावप्रत्ययालंबनावृत्तिर्निद्रा, योगसूत्र (१-१०) के व्यासभाष्य और टीका देखो।

बंद हुईं आँखें; हुआ शिथिल शरीर भी;
खुल गये कल्पना के नेत्र महीपाल के। —वियोगी

कवि ने इसे जाग्रत स्वप्न कहा है। हम इसे मानसिक निद्रा कहते हैं। क्योंकि स्वप्न भौतिक निद्रा का ही परिणाम है।

शरीर-वृत्ति वा शरीरावस्था के द्योतक कुछ संचारियों का विचार किया गया। एक रागात्मक मनोऽवस्था का भी विचार करें।

"प्रोफेसर वाटवे का कहना है कि स्मृति किसी भावना का विभाव वा कारण हो सकती है। स्मृति भूत-कालीन प्रसंग का संस्कार है। हर्ष, शोक, क्रोध आदि भावनायें गत प्रसंग के स्मरण से उद्दीपित होती हैं। इस प्रकार भावनोद्दीपन का कारण स्मृति है। स्मृति स्वतः भावना नहीं है। वह बुद्धि का व्यापार[1] है।"

स्मृति की जो उपर्युक्त व्याख्या है वह भ्रामक है। एक प्रत्यक्ष स्मरण होता है जैसे कहा जाता है कि 'कामिनी का स्मरण भी मनोविकार के लिये पर्याप्त है'। यही स्मरण मनोविकृति का कारण माना जा सकता है। क्योंकि यहाँ दो विभिन्न वस्तुएँ हैं। पर भावात्मक स्मृति विभिन्न प्रकार की होती है। क्योंकि सदृश वस्तु के दर्शन, चिन्ता आदि से पूर्वानुभूत सुख-दुःख आदि रूप वस्तु के स्मरण को स्मृति कहते[2] हैं। स्मृति भी योग में चित्तवृत्ति मानी गयी है और ऐसा ही उसका भी लक्षण[3] है। यह स्मृति सुखदुःखात्मक ही होती है। स्मृति और सुखदुःख कारण-कार्य-रूप में नहीं हैं। हम इसकी ज्ञानावस्था को मानते हैं पर इसकी भावात्मकता उससे कहीं उत्कट है। उदाहरण से स्पष्ट समझें।

है विदित जिसकी लपट से सुरलोक संतापित हुआ,
होकर ज्वलित सहसा गगन की छोर था जिसने छुआ।
उस प्रबल जतुगृह के अनल की बात भी मन से कहीं—
हे तात संधिविचार करते तुम भुला देना नहीं। गुप्तजी

यहाँ श्रीकृष्ण के प्रति जो द्रौपदी की उक्ति है उससे जिस स्मृति की व्यञ्जना है वह अपमान रूप ही है। स्मृति अपमान से जड़ित है।

---

१ मराठी 'रसविमर्श' पृष्ठ १२०

२ सदृशज्ञानाचिन्ताद्यैःभ्रूसमुन्नयनादिकृत्।
स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते। सा० दर्पण

३ अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः। योगसूत्र

इसमें स्मृतिजनित अपमान नहीं, बल्कि स्मृति ही अपमान-जनित है।

जा थल कीन्हें विहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना ते करी बहु बातन ता रसनासों चरित्र गुन्यो करैं।
'आलम' जौन से कुञ्जन में करि केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैननि में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं।

विरहिणी व्रजांगना के इस कथन में हर्ष-विषाद का मिश्रण है। यहाँ स्मृति का उदय सादृश्य से नहीं, विपर्यय से है। दुःख में होने से सुख की स्मृति है। सुखस्मृति दुःख को और बढ़ा देती है। इसमें कारण-कार्य का वैषम्य है। इससे यह कहना कभी उचित नहीं कि स्मृति हर्ष, शोक आदि भावों का विभाव या कारण है। यदि सुखस्मृति से सुख ही होता तो कुछ समय के लिये हम कारण मान लेते। कभी संभोगशृङ्गार के विभावों से विप्रलम्भ शृंगार का प्रादुर्भाव नहीं होता।

बता कहाँ अब वह वंशीवट, कहाँ गये नटनागर श्याम?
चल चरणों का व्याकुल पनघट, कहाँ आज वह वृन्दा धाम? निराला

यमुना से कवि के इस प्रश्न में स्मृति की झलक है। कवि का उद्देश्य केवल यहाँ यही है कि प्राचीन काल के गौरव और सौंदर्य को विहंगम दृष्टि से सामने ला दे। यहाँ हर्ष आदि का भाव प्रकट करना उद्देश्य नहीं। यहाँ स्मृति संचारी रूप में है और भावात्मक।

पनघट व्याकुल नहीं था। जड़ में चेतन का भावावेश कभी संभव नहीं। पनघट में लक्षण-लक्षणा द्वारा पनघट पर की चंचल व्रज-बालाओं की व्याकुलता का भाव लिया गया है। यहाँ विशेषण-विपर्यय से भावना के आधिक्य की व्यञ्जना हुई है। यहाँ कौन ऐसा अहमक मनोवैज्ञानिक होगा जो स्मृति की भावात्मकता को सिर-माथे न ले।

इस प्रकार प्रत्येक संचारी भाव का विचार करने से उनका मनोविकार होना सिद्ध होता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिन आचार्यों ने इनको भावसंज्ञा दी है वे क्या यह नहीं समझते थे कि 'विकारो मानसो भावः।' हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि शरीर के साथ मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानसिक तथा शारीरिक दोनों तरह के विकार एक दूसरे से संगति रखते हैं। शारीरिक अवस्था के अनुकूल मन की भी गति होती है और इसीका विकास काव्य-साहित्य की भाव-भावनायें हैं।

भाव एक वृत्तिचक्र (System) जिसके भीतर बोधवृत्ति या ज्ञान (Cognition) इच्छा या संकल्प (Conation) प्रवृत्ति (Tendency) और लक्षण (Symptoms) ये चार मानसिक और शारीरिक वृत्तियाँ आती हैं।

नवीन विद्वानों ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से संचारियों का जो वर्गीकरण किया है वह विवेचनीय है। मराठी 'रसविमर्श' से वह यहाँ उद्धृत किया जाता है।

"१ शारीरिक अवस्था के निदर्शक तेरह व्यभिचारी भाव हैं—ग्लानि, मद, श्रम, आलस्य, जड़ता, मोह, अपस्मार, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध, उन्माद, व्याधि और मरण।

२ यथार्थ भावनाप्रधान सात व्यभिचारी हैं—औत्सुक्य, दैन्य, विषाद, हर्ष, धृति, चिन्ता और निर्वेद।

३ शंका, त्रास, अमर्ष और गर्व ये चार स्थायी भाव के मूलस्वरूप हैं।

४ ज्ञानमूलक मनोऽवस्था के चार व्यभिचारी हैं—मति, स्मृति, वितर्क और अवहित्था।

५ मिश्रित भावना के दो संचारी हैं—व्रीड़ा और असूया।

६ भावना को तीव्र करनेवाले तीन व्यभिचारी हैं—चपलता, आवेग और उग्रता।"

संचारियों में साधारणतः शंका, विषाद आदि दुःखात्मक हैं और हर्ष आदि सुखात्मक।

चौदहवीं छाया

एक संचारी का दूसरे संचारी का स्थायी होना

शुक्लजी कहते हैं—"एक संचारी का दूसरे संचारी का स्थायी बनकर आना लक्षण ग्रन्थ के अभ्यासियों को कुछ विलक्षण अवश्य लगेगा।"

पर इसमें कुछ भी विलक्षणता की बात नहीं है। ऐसे उदाहरणों का अन्त नहीं। एक लीजिये—

दूलह श्री रघुनाथ बने दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माँहीं।
गावत गीत सबै मिलि सुन्दरि बेद जुबा जुरि विप्र पढ़ाहीं।
रामको रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परिछाहीं।
याते सबै सुधि भूलि गई कर टेक रही पल टारत नाहीं। तुलसी

यहाँ 'पल टारत नाहीं' में 'जड़ता' संचारी की व्यंजना है जो 'सुधि भूल गयी' में व्यंजित 'मोह' संचारी का संचारी होकर आया है जिसे स्थायी कह सकते हैं। इसमें रघुनाथ आलम्बन, दूलह होना उद्दीपन, राम का रूप निहारना अनुभाव भी है। इस प्रकार एक संचारी के आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी, सभी इसमें वर्तमान हैं।

यहाँ रति स्थायी भाव के दोनों ही—मोह और जड़ता—संचारी भाव हैं पर मोह के साथ जड़ता का जैसा सम्बन्ध है वैसा रति के साथ नहीं। यहाँ मोह के पीछे-पीछे जड़ता लगी हुई है। इससे एक संचारी को दूसरे का स्थायी कहा जा सकता है।

शुक्लजी अपनी उपर्युक्त उक्ति के समर्थन में जो उदाहरण देते हैं वह ठीक नहीं जँचता। उसकी समीक्षा कीजिये—

सुनि पद्मावति रिस न सँभारी, सखिन्ह साथ आई फुलवारी।

"यह रिस या 'अमर्ष' स्वतन्त्र भाव नहीं है, क्योंकि पद्मावती का कोई अनिष्ट नागमती ने नहीं किया था। यह 'असूया' का संचारी होकर आया है।···उक्त उदाहरण में यह नहीं कहा जा सकता कि जिस प्रकार 'असूया' रति भाव का संचारी होकर आया है उसी प्रकार 'अमर्ष'। इस अमर्ष का सीधा लगाव 'असूया' से है न कि 'रति' से। यदि 'असूया' न होती तो 'अमर्ष' भी न होता।"

यहाँ अमर्ष स्वतन्त्र भाव ही है। नागमती ने उसके स्वामी को छीन लिया। इससे बढ़कर एक स्त्री का दूसरा क्या अनिष्ट हो सकता है? सपत्नी नागमती के बगीचे में चहल-पहल के समय राजा का वहाँ रहना सुनकर कभी कोई रानी अपने को सम्हाल सकती है? उसका क्रोध न रोकना, उबल पड़ना ही स्वाभाविक है। यहाँ 'असूया' को अवकाश ही नहीं है। क्योंकि अमर्ष की उत्पत्ति से वह दब गयी है। अमर्ष का स्वभाव है कि तत्काल उसकी प्रतिक्रिया करना। वह भी चल पड़ने से स्पष्ट ही है। सपत्नी का संग लुकाछिपा रहता तो असूया होती।

असूया और अमर्ष में प्रबलता अमर्ष की ही है। इससे यह असूया का संचारी नहीं हो सकता। यहाँ अमर्ष का मूल असूया नहीं। पद्मावती के पति को अपनालेने की नागमती की चेष्टा ही इसका कारण है। एक नयी कविता का उदाहरण लीजिये—

हे मित्र मेरा मन न जाने हो रहा क्यों व्यस्त है?
इस समय पल-पल में मुझे अपशकुन करता त्रस्त है।
तुम धर्मराज समीप रथ को शीघ्रता से ले चलो,
भगवान मेरे शत्रुओं की सब दुराशायें दलो। **गुप्तजी**

यहाँ त्रस्त होने की बात से 'शंका' संचारी मुख्य है। क्योंकि चिन्ता में भय नहीं होता और इसमें होता है। यही दोनों में अन्तर है। पहली पंक्ति में चिन्ता की व्यंजना है। यहाँ शंका का संचारी चिन्ता है। शंका संचारी स्थायी का स्थान ग्रहण कर सकता है। आप चाहें तो इसमें आत्मीय आलंबन, अपशकुन उद्दीपन, शीघ्रता से जाने की इच्छा और प्रार्थना रूप अनुभाव सभी मिलेंगे। त्रास या भय, ये स्थायी के संचारी हैं।

अपने सारे उपकरणों के साथ भी संचारी स्थायी भाव की समकक्षता नहीं कर सकता। क्योंकि ये रसावस्था तक पहुँच नहीं पाते और इनमें यह क्षमता भी नहीं कि विरोधी भावों को अपने में पचा सकें।

संस्कृत में इस प्रकार का भी विचार किया गया है—

एकेन नेत्रकमलं मलयन्करेण पाणिं परं च कलयन्नवनीतभाण्डे।
निद्राविरामकमनीयमुखाम्बुजश्रीर्मां पातु पादरजसा ननु नन्दबालः॥

इसमें बालनाट्य दिखलाते हुए नन्दबाल का स्मरण है। एक हाथ से तो नेत्रकमल को मल रहे हैं और दूसरा हाथ मक्खन के भाँड़ में डाल रहे हैं; नींद टूट जाने के कारण मुखकमल पर अनोखी कमनीयता हो रही है, ऐसे नन्दलाल अपने पदरज से मुझे पालें।

इसमें विबोध संचारी की व्यंजना है। यहाँ बुभुक्षा आलंबन विभाव, उस समय होनेवाला दधि-मंथन का नाद उद्दीपन और आँख मलना, हाथ डालना अनुभाव हैं। इन्हीं कारण कार्यों से यहाँ विबोध व्यंजित है।

पंद्रहवीं छाया

कल्पित संचारी

रति आदि स्थायी भाव जब रसावस्था को नहीं पहुँचते तब वे केवल भाव ही कहलाते हैं।

शार्ङ्गदेव का मत है कि अधिक वा समर्थ विभावों से उत्पन्न होने पर ही रति आदि स्थायी भाव हो सकते हैं पर यदि वे थोड़े वा अशक्त विभावों से ही उत्पन्न हों तो व्यभिचारी हो जाते[1] हैं। एक उदाहरण से समझें—

तब सप्तरथियों ने वहाँ रत हो महा दुष्कर्म में,
मिलकर किया, आरंभ उसको विद्ध करना मर्म में।
कृप, कर्ण, दुःशासन सुयोधन शकुनि सुतयुत द्रोण भी।
उस एक बालक को लगे वे मारने बहुविध सभी। गुप्तजी

यहाँ क्रोध स्थायी भाव है पर इसकी पुष्टि विभाव आदि से वैसी नहीं होती जैसी होनी चाहिये। इसमें अभिमन्यु का शौर्यमात्र प्रदर्शित है, जो एक उद्दीपन है। वह भी असमर्थ है। इससे क्रोध स्थायी भाव संचारी भाव सा हो गया है।

श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन तेज से जलने लगे;
सब शील अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे।
'संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े';
करते हुए यह घोषणा वे हो गये उठकर खड़े।
उस काल मारे तेज के तन काँपने उनका लगा;
मानो पवन के जोर से सोता हुआ अजगर जगा। गुप्तजी

यहाँ अभिमन्यु वध पर कौरवों का हर्ष प्रकट करना आलंबन है। श्रीकृष्ण के ऐसे वाक्य

हे वीरवर! इस पाप का फल क्या उन्हें दोगे नहीं?
इस वैर का बदला कहो क्या शीघ्र तुम लोगे नहीं?

उद्दीपन है। अर्जुन के वाक्य, हाथ मलना आदि अनुभाव हैं। उग्रता, गर्व आदि संचारी हैं। इससे यहाँ रौद्र रस की जो व्यञ्जना होती है विभावों की अधिकता और उनकी प्रबलता ही है। इसका विचार अन्यत्र भी किया गया है।

---

१ रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नाः त एव व्यभिचारिणः॥ संगीतरत्नाकर

इस तरह मान लेने पर ही जब स्थायी भाव अन्य रसों में गये हुए होते हैं तो संचारी बन जाते हैं। रसान्तर में स्थित होने के कारण, इनकी वह आस्वाद्य-योग्यता वर्तमान नहीं रहने पाती जो अपने आधारभूत रस में रहती है।

इसीसे हास्य रस का हास स्थायी भाव जब शृङ्गार और वीर रस में जाता है तब संचारी हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि विलास-वासना के कारण हास्य-प्रवृत्ति का निर्माण होता है। बल्कि शृङ्गार रस के विभावों से हास्य रस कहीं-कहीं परिपुष्ट होता है, ऐसा ही अर्थ अभीष्ट है। सर्वत्र ऐसा ही समझना चाहिये। जैसे कि शृङ्गार में आनन्द के उद्‌गार से स्मित आदि होना अथवा आक्षेप के तात्पर्य से अवज्ञापूर्ण हँसी हँसना स्वाभाविक है। इस प्रकार वीर रस में उत्साह तो मेरुदण्डस्वरूप है ही, लेकिन क्रोध का यत्रतत्र दिखाई पड़ना भी संभव है। कारण यह कि शत्रु की उग्रता या अपने अस्त्र-शस्त्रों की विफलता चित्तवृत्ति को कभी-कभी उद्रिक्त—उत्तेजित कर खीझ पैदा कर देती है। इस भाव से प्रकृत रस का पोषण ही होता है, जिससे युद्ध की सन्नद्धता और तीव्र हो जाती है। इसी प्रकार शान्त रस में निर्वेद आधार है। परन्तु जुगुप्सा, जो वीभत्स रस का स्थायी है, वहाँ जब तब उदय लेकर विराग को अत्यन्त तीव्र बना देती है। कारण, घृणा की भावना किसी भी वस्तु के प्रति उत्पन्न अनासक्ति को और भी संवर्द्धित करेगी[1]। इस प्रकार शृङ्गार, रौद्र, वीर और वीभत्स रसों के विभावों से हास्य, करुण, अद्‌भुत और भयानक रस उत्पन्न हो सकते हैं। इन भावों के संचार का भी अपना विशिष्ट औचित्य होता है जिससे रसों का स्वरूप और सुन्दर हो जाता है। अथच इस रीति से यह भी सिद्ध होता है कि और-और रसों में जाकर ये स्थायी भाव संचारी हो जाते हैं।

प्रबन्ध-काव्यों और नाटकों में भी एक ही रस प्रधान रहता[2] है। शेष

---

१ शृङ्गारवीरयोर्हासः वीरे क्रोधस्तथा मतः।
शान्ते जुगुप्सा कथिता व्यभिचारितया पुनः॥
इत्याद्यन्यत् समुन्नेयं सदा भावितबुद्धिभिः। साहित्यदर्पण

२ एकः कार्यो रसः स्थायी रसानां नाटके सदा।
रसास्तदनुयायित्वात् अन्ये तु व्यभिचारिणः। संगीतरत्नाकर

रस, जो अवान्तर भेद से आते हैं, व्यभिचारी भाव का ही काम देते हैं। रामायण करुणरस काव्य है जैसा कि वाल्मीकिजी ने ही कहा है। शेष रस उसके सहायक हैं। शकुन्तला नाटक शृङ्गाररस-प्रधान है। पर उसमें करुण आदि रसों का भी समावेश है। मुख्यता न रहने से ये संचारी बन जाते हैं और शृङ्गार की पुष्टि करते हैं।

जो संचारी भाव स्वतन्त्र रूप से आते हैं, अर्थात् स्थायी भाव के सहायक होकर नहीं आते, उनकी अभिव्यक्ति स्वतन्त्र रूप से होती है। वे भाव कहे जाते हैं। क्योंकि प्रधान संचारी भाव ही होते हैं।

सोलहवीं छाया

संचारियों का अन्तर्भाव

संचारी भावों की कोई संख्या निर्धारित नहीं हो सकती। विचार-विमर्श की सुविधा के लिये इनकी ३३ संख्या निर्धारित कर दी गयी है। ये तेंतीसो संचारी भाव यथासंभव सभी रसों में उदित और अस्त होते रहते है। इन परिगणित मनोवृत्तियों के अतिरिक्त भी जो अनेक भाव हैं उनका इन्हीं में प्राय: अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे, मात्सर्य का असूया में, उद्वेग का त्रास में, दंभ का अवहित्था में, धृष्टता का चपलता में तथा विवेक और निर्णय का मति में, क्षमा का धृति में इत्यादि। ऐसे ही अनेक भाव हैं जिनके अन्तर्भाव की चेष्टा नहीं की गयी है, इन्हीं में अन्तर्भाव किया जा सकता है।

अनेक समालोचकों का विचार है कि साहित्य के आचार्य इस बात का दुराग्रह करते हैं कि तेंतीस से अधिक संचारी हो ही नहीं सकते और सबका इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। यह कहना उचित नहीं। क्योंकि आलंकारिक स्पष्ट कहते हैं कि तेंतीस तो न्यून संख्या का सूचक है, अधिक संख्या का नहीं[1]। पर इनकी निरर्थक संख्या बढ़ाना ठीक नहीं।

तेंतीसो संचारियों में भी कितने ऐसे हैं जिनमें नाममात्र का भेद है। जैसे, दैन्य—विषाद, शंका—त्रास आदि।

भोज ने 'शृङ्गार-प्रकाश' में मरण और अपस्मार को तो छोड़ दिये

---

१ त्रयस्त्रिंशदिति न्यूनसंख्याया व्यवच्छेदकं नत्वधिकसंख्यायाः।

हैं पर तेंतीस पूरा करने के लिये ईर्ष्या और शम को व्यर्थ ही जोड़ दिया है। क्योंकि इनका अन्तर्भाव असूया और निर्वेद में हो जाता है।

कवि देव ने 'छल' नामक ३४ वें संचारी का 'भावविलास' में उल्लेख किया तो तात्कालिक कविमण्डल चकित हो गया। पर यह उनका आविष्कार नहीं। 'रसतरंगिणी' में इसकी चर्चा है और अवहित्था नामक संचारी में इसे अन्तर्भूत किया गया है। 'देव' जी ने इसका कम खयाल किया कि यह भी व्यङ्ग ही होता है और उसे वाच्य बना डाला। उदाहरण का यह उत्तरार्द्ध है।

चूसि गई मुँह औचक ही पटु ले गयी पै इन वाहि न चीन्हो।
छैल भले छिन ही में छलैं दिन ही मैं छबीली भलौ छल कीन्हो।

इसके पूर्व की पंक्तियों में व्यञ्जित छल का भी महत्त्व नष्ट हो गया।

आचार्य शुक्ल ने 'चकपकाहट' को संचारी के रूप में उद्भावित किया है और इसे आश्चर्य का हलका भाव बताया है। "चकपकाहट किसी ऐसी बात पर होती है जिसकी कुछ भी धारणा हमारे मन में न हो और जो एकाएक हो जाय।" रावण चकपकाकर कहता है—

बाँधे बननिधि? नीरनिधि? जलधि? सिंधु? बारीस?
सत्य तोयनिधि? कंपती उदधि? पयोधि? नदीस? तुलसी

इसका अन्तर्भाव 'आवेग' संचारी भाव में हो जायगा। क्योंकि संभ्रम को आवेग कहते हैं। यहाँ आवेग उत्पातजन्य है।

ऐसा ही उनकी 'उदासीनता' संचारी का आविष्कार है। वे कहते हैं 'काव्य के भाव-विधान में जिस उदासीनता का सन्निवेश होगा वह खेद-व्यञ्जक ही होगी। उसे विषाद, क्षोभ आदि से उत्पन्न क्षणिक मानसिक शैथिल्य समझिये।

हम हुँ कहब अब ठकुरसुहाती, नाहिंत मौन रहब दिनराती।
कोउ नृप होउ हमहिं का हानी, चेरि छाड़ि अब होब कि रानी। तुलसी

यह सहज ही निर्वेद में चला जायगा। क्योंकि निर्वेद में आपत्ति, ईर्ष्या आदि के कारण अपने को धिक्कारा जाता है। वही बात इसमें है।

जायसी में शुक्लजी लिखते हैं—'जितना दुःख औरों का दुःख देख-सुनकर होता है उतना दुःख प्रिय व्यक्ति के सुख के अनिश्चयमात्र से होता है।...जिस प्रकार 'शंका' रति भाव का संचारी होता है उसी प्रकार यह 'अनिश्चय' भी। परिस्थिति-भेद से कहीं संचारी केवल अनिश्चय तक रहता है और कहीं शंका तक पहुँच जाता है।'

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि जब एक 'शंका' संचारी है ही, फिर बीच में 'अनिश्चय' बढ़ाने की क्या आवश्यकता है ? कौशल्या और यशोदा के मुख से जिस अनिश्चय की व्यञ्जना करायी गयी है उसको शंका की व्यञ्जना मानने में कोई साहित्यिक अपकर्ष नहीं होता। अनिश्चय के स्थान पर भी कालिदास कहते हैं—'स्नेहः खलु पापशङ्की'।

हृदय में कोई दुरभिसन्धि—कोई भेद-भाव न रखना सरलता है। निश्छल वचन, अकपट व्यवहार, अल्हड़पन आदि इसके अनुभाव हैं।

> उत्तेजित हो पूछा उसने उड़ा ! अरे वह कैसे ?
> फुर से उड़ा, दूसरा बोली उड़ा देखिये ऐसे।
> भोलापन यह देख चकित हो मुख-छवि खूब निहारी।
> क्षणभर रहा निरखता इकटक तन की दशा बिसारी। भक्त

देखे, साहित्याचार्य इस सरलता को—भोलापन को किस संचारी में ले जाते हैं। यह स्त्रियों का 'मौग्ध्य' नामक अलंकार नहीं है। वह अज्ञान वश जिज्ञासा में होता है।

आप यह शंका न करें कि भोलापन तो उक्त है पर इससे कुछ आता जाता नहीं। क्योंकि पूर्वार्द्ध से ही सरलता या भोलापन व्यंजित हो जाता है। सरलता समान भाव से स्त्री-पुरुषों में हो सकती है। इससे यह स्त्रियों के अलंकार में नहीं जा सकती।

> बोलीं वे हँसकर रह तू, यह न हँसी में भी कह तू।
> तेरा स्वत्व भरत लेगा ! वन में तुझे भेज देगा ?
> वही भरत जो आता है, क्या तू मुझे डराता है ?
> लक्ष्मण ! यह दादा तेरा धैर्य देखता है मेरा !
> एं ! लक्ष्मण तो रोता है ! ईश्वर यह क्या होता है ? साकेत

राम के यह कहने पर कि 'मुझको वन का वास मिला' 'राज्य करेंगे भरत यहाँ' कौशल्या की उक्ति है जिससे सरलता टपकी पड़ती है।

ऐसे ही आशा, निराशा, पश्चात्ताप, विश्वास, दयादाक्षिण्य आदि अनेक भाव हैं जिनके अनेक उदाहरण पाये जाते हैं पर न जाने क्यों आचार्यों ने इनका ग्रहण नहीं किया। संभव है, ये महत्त्व के भाव न समझे गये हों या इनका अन्तर्भाव संभव समझ लिया गया हो।

सत्रहवीं छाया

स्थायी भाव

कोषकार तो मन के विकार को ही भाव [1] कहते हैं पर आचार्य भरत का कहना है कि कवि के अन्तर्गत भाव की भावना करने से भाव की संज्ञा[2] है। अनेक साहित्यकार इसी मत के अनुयायी हैं। चित्तवृत्ति का रसानुकूल होना भाव है, यह भानुदत्त का मत[3] है।

शुक्लजी कहते हैं कि 'भाव का अभिप्राय साहित्य में तात्पर्य-बोधमात्र नहीं है, बल्कि वेगयुत जटिल अवस्था-विशेष है जिसमें शरीरवृत्ति और मनोवृत्ति दोनों का योग रहता है। क्रोध को ही लीजिये। उसके स्वरूप के अन्तर्गत अपनी हानि वा अपमान की बात का तात्पर्य-बोध, उग्र वचन, कर्म की प्रवृत्ति का वेग तथा त्योरी चढ़ाना, आँखें लाल हो उठना, ये सब बातें रहती हैं।'

उक्त दो प्रकार के स्थायी और अस्थायी (संचारी) भावों में स्थायी भाव की प्रधानता है। एक बच्चा भी भयावनी वस्तु देखकर भयभीत और लुभावनी वस्तु पर लट्टू हो जाता है। जब उसके खिलौने टूट जाते हैं तब उसे करुणा हो आती है और जब उसके मन-माने काम में बाधा पहुँचती है, झुँझलाहट से क्रोध प्रकट करता है। अजीब चीजें देख अकचकाता है और अपने आनन्ददायक कार्यों की बाधा दूर करने में उत्साह भी दिखाता है। आनन्द के समय हँसता है तो अनचाही वस्तु को देखकर मुँह भी फेर लेता है। इस प्रकार १ भय, २ अनुराग, ३ करुणा, ४ क्रोध, ५ आश्चर्य, ६ उत्साह, ७ हास और ८ घृणा, ये ही हमारे आठ मूल भाव हैं जो सदा के साथी हैं[4]। ये ही आठों भाव काव्य के स्थायी भाव कहे जाते हैं। भरत के मत से ये ही प्रधान आठ भाव हैं।

पके हुए मिट्टी के बर्तन में गंध पहले से ही विद्यमान रहती है

---

१ विकारो मानसो भावः। अमरकोष

२ कवेरंतर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते। नाट्यशास्त्र

३ रसानुकूलो भावो विकारः। रसतरंगिणी

४ जात एव हि जन्तुः इयतीभिः संविद्भिः परीतो भवति। अभिनवगुप्त

पर उसकी व्यक्ति तब तक नहीं होती जब तक उसपर पानी के छींटे नहीं पड़ते। अथवा यों समझिये कि काठ में आग लुप्त रहती है, दबी पड़ी रहती है, प्रत्यक्ष नहीं दीख पड़ती। जब घर्षण होता है तब उससे पैदा होकर अपना कार्य किया करती है। उसी प्रकार मनुष्य के अंतर में रति आदि भाव वासना रूप से दबे पड़े रहते हैं। समय पाकर वही अन्तःस्थ सुप्त भाव काव्य के श्रवण और नाटक-सिनेमा के दर्शन से उद्बुद्ध हो जाता है तब आनन्द का अनुभव होने लगता है। यही दशा स्थायी भाव की रसदशा कहलाती है।

शास्त्रकारों ने स्थायी भावों का बड़ा गुणगान किया है। इन्हें राजा और गुरु की उपाधि[1] दी है। अपने गुणों के कारण ही इन्हें ये उपाधियाँ प्राप्त हुई हैं। राजा के परिजन तभी तक पृथक्-पृथक् संबोधित होते हैं जब तक राजा के साथ नहीं रहते। साथ होने से राजा की बात कहने से सभी की बातें उसके भीतर आ जाती हैं। इसी प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से रस संज्ञा को प्राप्त होने पर केवल स्थायी भाव ही रह जाता है, शेष का नाम नहीं रहने पाता।

स्थायी भाव ही रसावस्था तक पहुँच सकते हैं, अन्यान्य भाव नहीं। विभाव, अनुभाव और संचारियों से पुष्ट होकर भी कोई संचारी भाव स्थायी भाव के समान रसानुभव नहीं करा सकता। कारण यह कि संचारी की ही प्रधानता मानी जायगी। उसका कोई स्थायित्व नहीं रह पाता।

कोई भाव संपूर्णतः किसी भाव के समान नहीं है। फिर भी उनमें कुछ समानता पायी जाती है। ऐसे चित्तवृत्ति-रूप अनेक भावों में से जिनका रूप व्यापक है, विस्तृत है वे पृथक् रूप से चुन लिये गये हैं और उन्हें ही स्थायी भाव का नाम दे दिया गया है। ये रति आदि हैं। इनकी गणना प्रधान भावों में होती है। इन्हें स्थायी भाव कहने का कारण यह है कि ये ही भाव बहुलता से प्रतीत होते[2] हैं और ये ही आस्वाद के मूल हैं। इनमें यह शक्ति है कि विरुद्ध वा अविरुद्ध

---

१ यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह॥ नाट्यशास्त्र

२ बहूनां चित्तवृत्तिरूपाणां भावानां मध्ये यस्य बहुलं
रूपं यथोपलभ्यते स स्थायी भावः।

दूसरे भावों को अपने में पचा लेते हैं, अन्य भाव इन्हें मिटा नहीं सकते।[1]

स्थायी भावों की आस्वादयोग्यता और प्रबन्धव्यापकता प्रधान लक्षण हैं। ये जब उत्कट, प्रबल, प्रभावी और प्रमुख होंगी तभी इनमें उक्त गुण आवेंगे। ये सभी बातें स्थायी भावों में ही संभव हैं। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की टीका में स्थायी भावों की पुष्टि में जो तर्क उपस्थित किये हैं उनसे यह सिद्ध है कि स्थायी भाव मूलभूत और सहजात[2] हैं।

कितने ही विद्वान् रति, हास आदि को सुखात्मक, शोक, भय आदि को दुःखात्मक और निर्वेद वा शम को उदासीन मनोभाव मानते हैं जो विवादास्पद हैं।

अठारहवीं छाया

स्थायी भाव के भेद

जो भाव वासनात्मक होकर चित्त में चिरकाल तक अचंचल रहता है उसे स्थायी भाव कहते हैं।

स्थायी भाव की यह विशेषता है कि वह (१) अपने में अन्य भावों को लीन कर लेता है और (२) सजातीय तथा विजातीय भावों से नष्ट नहीं होता[3]। वह (३) आस्वाद का मूलभूत होकर विराजमान रहता है और (४) विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से परिपुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो जाता है।

उपर्युक्त चारों विशेषताएँ अन्य सब भावों में से केवल निम्नलिखित नौ भावों में ही पायी जाती हैं जो स्थायी भाव के भेद हैं। इन नौ भेदों का क्रमशः संक्षेप में वर्णन किया जाता है।

---

१ अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भाव स्थायीति संज्ञितः। **सा० दर्पण**

२ नाट्यशास्त्र गायकवाड़ संस्करण पृष्ठ २८३, २८४, २८५ देखो।

३ विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः। **दशरूपक**

१. रति

किसी अनुकूल विषय की ओर मन की रुझान को रति कहते हैं।

प्रीति, प्रेम अथवा अनुराग इसकी अन्य संज्ञाएँ हैं।

स्थायी भाव जब सहायक सामग्री से परिपुष्ट होकर व्यंजित होता है तब रस में परिणत हो जाता है। जैसे, शृंगार रस में रति स्थायी भाव होता है। परन्तु जहाँ परिपोषक सामग्री नहीं रहती वहाँ स्वतंत्र रूपसे स्थायी भाव ही ध्वनित होता है। इसीके उदाहरण दिये जाते हैं।

१ जासु बिलोकि अलौकिक शोभा, सहज प्रतीत मोर मन क्षोभा।
सो सब कारन जान बिधाता, फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता। तुलसी

सीता की शोभा देख राम के मन में क्षोभ होने और अंग फड़कने से केवल रति भाव की व्यंजना है।

२ हृदय की कहने न पाती, उमँग उठती बैठ जाती।
मैं रही हूँ दूर जिनसे वह बुलाते पास क्यों? महादेवी

इस प्रकार की डाँवाडोल स्थिति में रति भाव की ही व्यंजना है।

३ उस दिन से ही प्रेममत्ता सुकुमारियाँ
निज प्रेमियों के रूप पर आर्यपुत्र का
स्थापित स्वरूप कर कल्पना के बल से
सुप्त रस-भावना को दीप्त करने लगीं। आर्यावर्त

अंतिम पंक्ति से स्पष्ट है कि रस-भावना दीप्त नहीं हुई जिससे रति भाव है।

४ कर में खंग हृदय में तुमको, रख जब समर जीत कर आऊँ,
अहे विधात्री! कम्पित स्वर में नव जीवन के गीत सुनाऊँ,
प्रेम अमोल बनेगा जब तब क्या न मुझे तुम प्यार करोगी?
—छोटेलाल भारद्वाज

शर्तबंदी की बात होने से यहाँ रति भाव ही है, शृंगार रस नहीं।

२. हास

विकृत वचन, कार्य और रूप-रचना से सहृदय के मन में जो उल्लास उत्पन्न होता है, उसे हास कहते हैं। जैसे—

दूर क्यों न बाँस की है बाँसुरी को धर देते,
पास में सिनेमा एक टाकी रख लीजिये।

छोड़कर पीताम्बर पीला त्यों दुपट्टा दिव्य,
शर्ट और पैंट बस खाकी कर लीजिये।
मक्खन, मलाई, दूध, घृत का विचार त्याग
खोल मधुशाला एक साकी रख लीजिये।
शंख, चक्र, गदा, पद्म छोड़ चारों हाथ बीच
छड़ी, घड़ी, हैट और हाकी रख लीजिये। चोंच

कृष्णजी को उपदेश देने में हास्य स्थायी भाव की व्यंजना ही है।

टूट चाप नहिं जुटहि रिसाने। बैठिय होइहिं पायँ पिराने॥
जो अति प्रिय तो करिय उपाई। जोरिय कोउ बड़ गुनी बोलाई॥

उस उक्ति में हास्य की व्यंजनामात्र है, परिपूर्णता नहीं।

३. शोक

प्रिय पदार्थ का वियोग, विभवनाश आदि कारणों से उत्पन्न चित्त की विकलता को शोक कहते हैं।

दुख की दीवारों का बंदी निरख सका न सुखी जीवन।
सुख के मादक स्वप्नों तक से बनी रही मेरी अनबन।

हरिकृष्ण प्रेमी

यहाँ केवल 'शोक' भाव की व्यंजना है। करुण रस की पुष्टि नहीं है।

भौंरन को लै के दच्छिन समीर धीर,
डोलति है मंद अब तुम धौं किते रहे।
कहे कवि 'श्रीपति' हो प्रबल वसन्त मति-
मंद मेरे कंत के सहायक जिते रहे॥
लागत बिरह जुर जोर तैं पवन ह्वै कै
परे घूमि भूमि पै सम्हारत निते रहे।
रति को विलाप देखि करुना अगार कछु
लोचन को मूँदि कै त्रिलोचन चिते रहे।

यहाँ 'कछु' शब्द से शोक भाव ही रह जाता है। करुण रस का परिपाक नहीं होता।

४. क्रोध

असाधारण अपराध, विवाद, उत्तेजनापूर्ण अपमान आदि से उत्पन्न हुए मनोविकार को क्रोध कहते हैं।

उठ वीरों की भाव-रागिनी, दलितों के दल की चिनगारी।
युग-मर्दित यौवन की ज्वाला, जाग-जाग री क्रांति कुमारी। दिनकर

यहाँ कवि की ललकार से क्रोध की ही व्यञ्जना है। रौद्ररस की पुष्टि नहीं है।

आज्ञा आप दीजिये केवल जो न करूँ रिपुहीन मही।
ईश शपथ फिर नाथ आज से मेरा लक्ष्मण नाम नहीं।

—रा० च० उपा०

यहाँ लक्ष्मण का क्रोध आज्ञाधीन होने के कारण रसावस्था तक नहीं पहुँच पाता। भावरूप में व्यञ्जित होकर ही रह जाता है।

५. उत्साह

कार्य करने का अभिनिवेश, शौर्य आदि प्रदर्शित करने की प्रबल इच्छा को उत्साह कहते हैं। जैसे—

यदि रोकें रघुनाथ न तो मैं अभिनव दृश्य दिखाऊँ।
क्या है चाप सहित शंकर के मैं कैलास उठाऊँ।
जनकपुरी के सहितचाप को लेकर बायें कर में;
भारतभूमि घूम मैं आऊँ नृप, सुनिये पल भर में। रा० च० उ०

'यदि रघुनाथ न रोकें' इस वाक्य के कारण उत्साह भाव मात्र रह जाता है। यहाँ वीर रस की पूर्णता नहीं होती।

शत्रु हमारे यवन उन्हीं से युद्ध है, यवनी गण से नहीं हमारा द्वेष है।
सिंह क्षुधित हो तब भी तो करता नहीं, मृगया, डर से दबी शृगाली वृन्द की।

—प्रसाद

इससे क्रोधभाव की ही व्यंजना होती है। इसमें शत्रु, युद्ध, क्षुधित और सिंह शब्द क्रोध भाव के व्यञ्जक हैं।

६. भय

हिंसक जीवों का दर्शन, महापराध, प्रबल के साथ विरोध आदि से उत्पन्न हुई मन की विकलता को भय कहते हैं।

पाते ही घृताहुति हठात् पूर्ण वेग से
जिस भाँति जागती हैं, सर्वभुक्-ज्वालाएँ
बिज्जु-सी तड़प उठती हैं, महाराज भी
सहसा खड़े हुए धनुष लेते हाथ में।

खौल उठा आर्यरक्त, भौंहें बंक हो गयीं
पीछे हटे प्रहरी सशंक गोरी हो गया। **आर्यावर्त**

यहाँ सशंक होने की बात से केवल भय भाव की ही व्यंजना है, भयानक रस का नहीं।

तीनि पैग पुहुमी दई, प्रथमहिं परम पुनीत।
बहुरि बढ़त लखि बामनहिं, भे बलि कछुक सभीत। **प्राचीन**

यहाँ 'कछुक सभीत' होने से भयानक रस का परिपाक नहीं होता यहाँ भय भावमात्र है।

७. जुगुप्सा

घृणा या निर्लज्जता आदि से उत्पन्न मन आदि इन्द्रियों के संकोच को जुगुप्सा कहते हैं।

लखि विरूप सूरपनखै, रुधिर चरबि चुचुवात।
सिय हिय में घिन की लता, भई सु द्वै द्वै पात। **प्राचीन**

यहाँ 'द्वै द्वै पात' से घृणा की व्यंजनामात्र होती है। वीभत्स रस का पूर्ण परिपाक नहीं होता।

८. आश्चर्य

अपूर्व वस्तु को देखने-सुनने या स्मरण करने से उत्पन्न मनोविकार को आश्चर्य कहते हैं। जैसे—

फैल गयी चर्चा तमाम क्षण भर में
कैदी वीर काफिर के भीस बाहुबल की।
कोई कहता था—यह जादू का तमाशा है,
कोई कहता था—असंभव त्रिकाल में
तोड़ देना सात तवे एक-एक मन का,
एक बाण मार के··· ··· ··· **आर्यावर्त**

यहाँ तवा तोड़ने की बात में विश्वास न होने के कारण आश्चर्य भाव की ही व्यंजना है। अद्भुत रस की नहीं।

तब देखी मुद्रिका मनोहर, राम नाम अंकित अति सुन्दर।
चकित चितै मुद्रिक पहचानी, हर्ष विषाद हृदय अकुलानी। **तुलसी**

यहाँ आश्चर्य स्थायी भावमात्र है। अद्भुत रस की पूर्णता नहीं।

९. निर्वेद

तत्त्व-ज्ञान होने से सांसारिक विषयों में जो विराग-बुद्धि उत्पन्न होती है उसे निर्वेद कहते हैं।

एरे मतिमंदे सब छाड़ि फरफंदे,
अब नन्द के सुनन्दे ब्रजचन्दे क्यों न बन्दे रे। वल्लभ

यहाँ वैराग्य का उपदेश होने से निर्वेद भाव-मात्र माना जाता है। शान्त रस का पूर्ण परिपाक नहीं होता।

काम से रूप, प्रताप दिनेस ते सोम से सील गनेस से माने।
हरिचन्द से साँचे बड़े विधि से मघवा से महीप विषै-सुख-साने।
शुक से मुनि सारद से बकता चिर जीवन लोमस ते अधिकाने।
ऐसे भये तौ कहा 'तुलसी' जु पै राजिवलोचन राम न जाने।

रामभजन के बिना मनुष्य सर्वोपरि होने पर भी तुच्छ है, इस उक्ति में निर्वेद भाव की व्यंजनामात्र है।

१०. वात्सल्य रस

पुत्र आदि के प्रति माता-पिता आदि का जो वात्सल्य स्नेह होता है वहाँ उसे वात्सल्य कहते हैं।

जो मिसरी मिछरी कहे कहे खीर सों छीर।
नन्हों सो सुत नंद कौ हरै हमारी पीर॥

नंद के नन्हे नंदन के कथन से दम्पति तथा श्रोताओं का केवल वात्सल्य भाव उद्बुद्ध हो उठता है।

११. भक्ति

ईश्वर के प्रति अनुराग को भक्ति कहते हैं।

जो जन तुम्हारे पद-कमल के असल मधु को जानते।
वे मुक्ति की भी कर अनिच्छा तुच्छ उसको मानते। गुप्तजी

इसमें भक्ति-भाव की व्यञ्जना है। मुक्ति से उसकी श्रेष्ठता प्रदर्शित है, भक्ति रस की पुष्टि नहीं है। क्योंकि केवल भक्ति के जानने भर की बात है।

इस पंक्ति से राम में केवल भक्ति-भाव का ही उदय होता है। इसकी पुष्टि नहीं होती। एक यह पंक्ति भी है—

रामा रामा रामा आठो यामा जपौ यही नामा।

उन्नीसवीं छाया

स्थायी भाव—वैज्ञानिक दृष्टिकोण

कह आये हैं कि स्थिरवृत्ति (Sentiments) ही हमारे स्थायी भाव हैं। यह भी कहा गया है कि स्थायी भाव सहजात, स्वयंसिद्ध और वासनारूप से वर्तमान रहने के कारण अविनाशी हैं। अभिनवगुप्त ने स्थायी भावों को तीन शब्दों से—वासना, संवित् (वृत्ति) और चित्तवृत्ति के नाम से अभिहित किया[1] है। उनके मत से ये स्थायी भाव के वाचक शब्द हैं। इससे स्थायी भावों का जो स्वरूप खड़ा होता है वह आधुनिक मनोविज्ञान के अनुकूल नहीं पड़ता। क्योंकि मनोवैज्ञानिक सेंटिमेंटों को उपलब्ध (Aquired) विकासशील तथा यत्र-तत्र ह्रासशील भी बताते हैं।

यदि हम उक्त तीनों शब्दों की तुलना करना चाहें तो वासना शब्द का Instinct सहज प्रवृत्ति अथवा Appetite क्षुधा वासना, संवित् शब्द का Concrete general sentiment जन्मजातवृत्ति और चित्तवृत्ति शब्द का Mental condition मनोऽवस्था अर्थ ले सकते हैं।

सहजप्रवृत्ति एक स्वयं प्रेरित शक्ति है जिसका व्यापार चिर-कालिक होता है। उसमें पूर्वापर-योजना विद्यमान रहती है। क्षुधा का साधारण अर्थ भूख है पर यहाँ इसका अर्थ वासना, काम वा इच्छा ही है। आत्मरक्षण, युद्ध-प्रवृत्ति आदि जितनी प्रवृत्तियाँ हैं उनका मूल यही एकमात्र स्वयं प्रेरित इच्छा है। मनोऽवस्था भिन्न-भिन्न चित्तवृत्तियों का ही वाचक है।

प्राच्य विद्वानों ने स्थायी भावों को ही रस की संज्ञा दी है। कारण यह कि वही प्रधान है और आस्वादयोग्यता भी उसीमें है। पर मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि भाव दो प्रकार के हैं—एक प्राथमिक (Primary) और दूसरा संमिश्र (Complex)। संमिश्र के भी दो विशिष्ट विभाग हैं—संमिश्र (Blended) और साधित (Deserved)। सहज प्रवृत्तियाँ और उनकी सहचर भावनाएँ प्राथमिक

---

१ नहिं एतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति।
केवलं कस्यचित् काचिदधिका चित्तवृत्तिः काचिदूना। नाट्यशास्त्र टीका

हैं। प्राथमिक भावना किसी सहज प्रवृत्ति से संबद्ध रहती है और उसका एक विशिष्ट ध्येय होता है।

जब कभी एक से अधिक परस्पर विरुद्ध वा परस्परानुकूल प्राथमिक भावनाएँ एक दूसरे के साथ मिल जाती हैं। जैसे, क्रोध एक भाव है वैसा द्वेष नहीं है। क्रोध विफल होने पर द्वेष होता है। द्वेष में भय और घृणा के भी भाव रहते हैं। साधित भाव प्राथमिक भावों के ऊपर मँडरानेवाले भाव हैं। हमारे यहाँ संचारी कहलानेवाले ये ही भाव हैं।

जब मन में एक स्थिर वृत्ति की स्थिति होती है तब दूसरी स्थिर वृत्ति भी बनती रहती है। जिस समय शक्तिबाणाहत लक्ष्मण के लिये राम शोकाकुल थे उस समय मेघनाद के प्रति उनका क्रोध उत्पन्न नहीं होता होगा, यह कोई नहीं कह सकता। कहने का अभिप्राय यह कि ऐसे समय की जो स्थिर वृत्तियाँ होती हैं उनमें एक प्रधान रहता है और दूसरा गौण। इङ्गलैंड के बड़े राजकुमार ने अपनी प्रेयसी के लिये साम्राज्य का परित्याग कर दिया। यहाँ रति की प्रधानता है, प्रबलता है। ऐसे स्थायी भाव को अनुपम स्थिरवृत्ति (Master sentiment) कहते हैं। यहाँ साम्राज्यत्याग के शोक को गौण स्थिरवृत्ति कह सकते हैं।

प्राथमिक और संमिश्र भावनाएँ प्रायः स्थायी संचारी जैसी हैं। पर इनकी एक विशेष बात पर ध्यान देना आवश्यक है। इससे इनका अन्तर स्पष्ट लक्षित हो जाता है। संमिश्र भावना में बुद्धि का व्यापार क्षणिक या कम होता है। पर जब यह स्थिर वृत्ति की अवस्था को प्राप्त होता है तब उसमें बुद्धि-व्यापार, तर्कशक्ति आदि मानसिक व्यापारों की अधिकता रहती है जिससे उसके औचित्य, सुसंगति, जीवनोपयोगिता और मर्यादा सिद्ध होती है। शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त का प्रेमाकर्षण हुआ। यह पहले तो साधारण रूप से वैसे ही हुआ जैसे मन में अनेक भाव उठते हैं। ये प्रायः ठहरते नहीं। मन का यह सहज स्वभाव है। मन में आया और गया। परन्तु दुष्यन्त का अनुरागजनित यह विचार काम करने लगा। कहाँ ऋषिकन्या और कहाँ राजपुत्र; दोनों का विवाह कैसे संभव हो सकता? इत्यादि। ऐसे प्रश्नों के अनन्तर यह निश्चय होना कि यह अवश्य क्षत्रिय के विवाह योग्य है। क्योंकि मेरे शुद्ध मन में इसके प्रति अनुराग हुआ

है। यदि यह मेरे योग्य न होती तो मेरा मन गवाही न देता। इस प्रकार बुद्धि, तर्क आदि के व्यापार से प्रेम-भावना स्थायी रति के रूप म परिणत हुई।

प्राथमिक भावना के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों और आलंकारिकों में मतभेद देख पड़ता है। अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय है। किन्तु मेग्डानल साहब विस्मय वा आश्चर्य (Surprise) को साधित भावना (Derived emotion) मानते हैं, प्राथमिक नहीं। क्योंकि इसमें भय की भावना मिश्रित है जिससे कौतूहल, आनन्द, आदर, जिज्ञासा आदि भावनाओं का प्रादुर्भाव होता है। ऐसे ही मनोवैज्ञानिक उत्साह को भाव ही नहीं मानते। उत्साह का न तो कोई विषय ही निश्चित है और न स्वतन्त्र कुछ ध्येय ही। यह सब प्रकार के कार्यों की एक प्रेरक शारीरिक-शक्ति-मिश्रित मानसिक शक्ति है। भानुदत्त ने भी कहा है कि उत्साह और विस्मय सब रसों में व्यभिचारी होते[1] हैं। शोक भी प्राथमिक भावना नहीं। इसकी भी न तो कोई स्वतन्त्र दिशा और न स्वतन्त्र ध्येय ही है। इसकी उत्पत्ति, पालनवृत्ति आदि सहज प्रवृत्तियों की सहचर भावना इष्ट-वियोग आदि से होती है। शोक भावना की कोई स्वतन्त्र प्रेरणा नहीं है। कहना चाहिये कि यह शोक प्रिय-वस्तु-मूलक प्रेम से ही उत्पन्न होता है।

मनोवैज्ञानिक शंड ने भावना के चार प्रमुख संघ—क्रोध, आनन्द, भय और शोक तथा दो मुख्यकल्प संघ जुगुप्सा और विस्मय माने हैं, उनके मत से ये ही मानवी छ भावनाएँ हैं। उनमें शृङ्गार रस के रति नामक स्थायी भाव का नाम ही नहीं है। प्रोफेसर[2] जोग शंड के आधार पर ही कहते हैं कि रति मूल भावना नहीं है और न उतनी वह व्यापक है। फिर भी स्थायी भावों में उसके महत्त्व का कारण यह है कि इच्छा-संघात में होनेवाली सारी भावनाओं में रति भावना प्रबल और व्यापक है। अर्थात् रति एक इच्छा है। अन्यान्य मूल भावनाओं में इच्छा का अभाव है और इच्छा ही रति का आधार है। पर मेग्डागल ने इसका खण्डन कर दिया है।

---

१ उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ। रसतरंगिणी

२ अभिनव काव्यप्रकाश (मराठी) ७५ पृष्ठ

इस प्रकार स्थायी भाव वा स्थिरवृत्ति के विवेचन में प्राच्य और पाश्चात्य विवेचक जो एकमत नहीं होते इसका कारण उनके दो प्रकार के दृष्टिकोण ही हैं। प्राच्यों का दृष्टिकोण दार्शनिक है और पाश्चात्यों का मनोवैज्ञानिक। दूसरी बात यह कि काव्य-शास्त्र भावों का वर्गीकरण रस की अनुकूलता और प्रतिकूलता के तत्त्व पर करता है और मानस-शास्त्र प्राथमिकता और साधितता के तत्त्व पर करता है। फिर भी पाश्चात्य वैज्ञानिक किसी न किसी रूप में हमारे ही नौ-दस भावों को रस-रूप में महत्त्व देते हैं और उनकी स्थिरता को मानते हैं।

बीसवीं छाया

स्थायी भाव की कसौटी

भाव अनेक हैं। उनकी संख्या का निर्देश असम्भव है। प्रत्येक चित्तवृत्ति एक भाव हो सकती है। पर सभी भाव रस-पदवी को प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसे तो रुद्रट का कहना है कि रस का मूल कारण रसन अर्थात् आस्वादन ही है।[1] अतः निर्वेद आदि संचारी भावों में भी यह पाया जाता है। इससे ये भी रस ही हैं। यही बात विंचेष्टर साहब भी कहते हैं कि रसत्व को प्राप्त करनेवाली भावनाएँ अनेक हैं। उनकी संख्या का निर्देश असंभव है।[2] इस संबंध में हमें विचार कर लेना चाहिये। इसके लिये आचार्यों ने कई सिद्धान्त बना रखे हैं। वे ये हैं—

(१) आस्वाद्यत्व—भावों के स्थायी होने और रसत्व को प्राप्त होने के लिये पहली कसौटी है आस्वाद्यता। यहाँ एक प्रश्न होता है कि आस्वाद्यता किसकी और आस्वादक कौन ? यह निश्चय है कि आस्वादन स्थायी भावों का होता है। पर आस्वादक के सम्बन्ध में मतभेद है। कोई कवि को मानता है और कोई सामाजिक को अर्थात् वाचक, श्रोता और दर्शक को। यह भी मत है कि अनुकर्ता को भी रसास्वाद होता है। जो भी हो। यह निश्चय है कि सामाजिकों को रसास्वाद

---

१ रसनात् रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः। निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः। काव्यालंकार

2 Some Principles of Literary Criticism.

होता है जैसा कि भरत ने लिखा है—दर्शक स्थायी भावों का आस्वाद लेते हैं और आनन्द पाते हैं।[1] इस आस्वाद्यता को रसनीयता और अनुरंजकता भी कहते हैं। शोक और विस्मय मूल-भूत भाव नहीं पर आस्वाद्य होने के कारण ही रसत्व को प्राप्त होते हैं।

(२) उत्कटत्व—इसका अभिप्राय भाव की प्रबलता है। जब तक कोई भाव प्रबल नहीं होता तब तक उसका मन पर प्रभाव नहीं पड़ता। लोभ एक प्रबल भाव है। इसमें उत्कटता भी है। यह इसीसे प्रमाणित है कि लोभ के कारण अनेकों सत्यानाश में मिल गये हैं। पर इसमें आस्वाद्यत्व नहीं, इसीसे यह स्थायी भावों में समाविष्ट नहीं होता, रसावस्था को नहीं पहुँच पाता। आस्वाद की उत्कटता के कारण ही काव्यालंकार के टीकाकार नमि साधु ने लिखा है कि सहृदयाह्लादन की अधिकता अर्थात् उत्कटता के कारण ही भरत ने आठ नौ ही रस माने हैं।[2] इससे यहाँ रुद्रट और विचेस्टर की बातें जमतीं नहीं।

(३) पुरुषार्थोपयोगिता—रति आदि स्थायी भाव प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से पुरुषार्थोपयोगी हैं। उद्भट ने तथा टीकाकार इन्दुराज ने कहा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के उपयोगी भाव अर्थात् स्थायी भाव ही रस हैं और अन्य भाव त्याज्य है।[3] मानस-शास्त्र का सिद्धान्त है कि सारी सहज-प्रवृत्तियों और उनकी सहचर भावनाओं के मूल में स्वरक्षण और स्ववंशरक्षण की प्रवृत्ति है। यद्यपि इस कसौटी का विज्ञान भी सहायक है तथापि इसमें धार्मिक भावना काम करती है। इससे इस कसौटी की उपेक्षा की जाती है। कारण यह कि आधुनिकों का ऐसी उक्तियों पर विश्वास नहीं कि काव्य से अर्थात् स्थायी भावों के अनुशीलन से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त होते हैं।[4]

(४) सर्वजन-सुलभत्व—ऐसे भाव जो सर्वसाधारण में सुलभ हों।

---

१ स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्च गच्छन्ति। ना० शा०
रसः स एव स्वाद्यत्वात् रसिकस्यैव वर्तनात्। द० रू०

२ भरतेन सहृदयावर्जकत्वप्राचुर्यात् संज्ञां च आश्रित्य अष्टौ वा नव वा रसा उक्ताः।

३ चतुर्वर्गैतरौ प्राप्यपरिहार्यौ क्रमाद्यतः। काव्यालंकार सा० सं०
स्थायिभाव एव तथा चर्वणापात्रम्। तत्र पुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित्संविद इति प्रधानम्।
—अभिनवगुप्त

४ चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि। काव्यादेव······। सा० दर्पण

कुछ भाव ऐसे हैं जो मूलतः मनुष्यमात्र में उत्पन्न होते हैं। ये सहजात होते हैं। ये वासना-रूप से विद्यमान रहते हैं। क्योंकि रति आदि वासना के बिना आस्वाद मिलता ही नहीं।[1] काव्यानन्द वा स्थायी भाव का जो सुख मिलता है वह वैयक्तिक नहीं होता। वह रस सर्वजन-सुलभ होता है। भले ही वासना की कमी-बेशी से उसकी अनुभूति कम-बेश हो। ऐसे सभी भाव नहीं हो सकते।

(५) उचित-विषय-निष्ठत्व—विषय के औचित्य को सभी मानते हैं। भावना को तीव्र रूप में आस्वादयोग्य बनाने के लिये उचित विषय का ग्रहण आवश्यक है।[2] कुरूपा को रूपवती के रूप में वर्णन करने से रसनीयता कभी नहीं आ सकती। ऐसे अनुचित और निकम्मे विषय को लेने से भाव प्रभावशून्य होगा। इससे न तो उसमें स्थायित्व ही आ सकता और न आस्वादयोग्यता के अभाव से वह रसत्व को ही प्राप्त कर सकता। भावना को स्थायी रूप देने के लिये विषय को उचित, उत्कट, महत्त्वपूर्ण और मानवजीवन से सम्बन्ध रखनेवाला होना चाहिये।

(६) मनोरंजन की अधिकता—रस के लिये यह आवश्यक है कि उसमें मनोरंजन की अधिक मात्रा विद्यमान हो; क्योंकि काव्य का एक उद्देश्य आनन्ददान भी है। इसीसे नव रस का सिद्धान्त माना जाता है[3]।

मनोविज्ञान की दृष्टि से भी आस्वाद्यता और उचितविषयनिष्ठता की महत्ता है और मान्यता है। उसके दो सिद्धान्त और भी हैं—प्राथमिकता और उदात्तता। प्राथमिक भावना सार्वत्रिक और उत्कट होती है। पर यह सिद्धान्त सर्वत्र लागू नहीं होता। शोक प्राथमिक भावना नहीं, पर इसकी आस्वाद्यता और उत्कटता प्रत्यक्ष है। उदात्तीकरण (Sublimation) मानव-जीवन को उन्नत बनानेवाला तत्त्व है। इससे मानव-मन की वृद्धि और सौंदर्य-दृष्टि विकसित होती है।

---

१ न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनम्। सा० दर्पण

२ स्थायिनस्तु रसीभावः औचित्यादुच्यते। अ० गुप्त

३ एते नवैव रसाः पुमर्थोपयोगित्वेन रंजनाधिक्येन वा इयतामेव उपदेश्यत्वात्।
—अभिनवगुप्त

जिस भावना में यह तत्त्व हो वह स्थायित्व को प्राप्त कर सकता है। हमारे रसशास्त्रियों ने उदात्त नामक रस की कल्पना की है।

इस प्रकार की कसौटी पर कसने से रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, शम, वात्सल्य और भक्ति नामक ११ स्थायी भाव सिद्ध होते हैं। आदि में आठ ही रस माने गये हैं। अनन्तर क्रमशः शम, वात्सल्य और भक्ति की गणना है। पंडितराज भक्ति को भावों में गिनते हैं।

मानस-शास्त्र की दृष्टि से रति, अमर्ष, शोक, हास, भक्ति, वात्सल्य, भय, विस्मय और शम, ये नौ स्थायी भाव हैं जो रसत्व को प्राप्त होते हैं। क्रोध और जुगुप्सा व्यभिचारी भाव के ही योग्य हैं।

कवि बनारसी दास की एक प्राचीन पुस्तक है—'अर्ध-कथानक'। उसमें रति, हास्य, शोक, उत्साह, भय, जुगुप्सा, शम स्थायी भावों के स्थान पर क्रमशः शोभा, आनन्द, कोमलता, पुरुषार्थ, चिन्ता, ग्लानि, वैराग्य स्थायी भाव माने गये हैं। क्रोध दोनों में एक-सा है और विस्मय के स्थान पर आश्चर्य है जो उसीका नामान्तर है। शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचारने पर ये स्थायी भाव नहीं हो सकते।

इक्कीसवीं छाया

स्थायी और संचारी का तारतम्य

स्थायी भाव संचारी भाव से जातितः भिन्न होता है। अर्थात् पहला स्थिर, दूसरा अस्थिर, पहला स्वामी, दूसरा सेवक और पहला आस्वाद्य और दूसरा आस्वाद-पोपक है।

स्थायी भाव के जो विभाव होते हैं वे ही संचारी भाव के भी होते हैं। इस दशा में संचारी के अन्य विभाव नहीं होते। यदि कहीं होते हैं, तो इनसे जो भावना उत्पन्न होती है उसका परिणाम स्थायी भाव में ही होता है। इससे इनका कोई महत्त्व नहीं है। एक उदाहरण लें—

> यौवन-सा शैशव था उसका यौवन का क्या कहना !
> कुब्जा से बिनती कर देना उसे देखती रहना। गुप्तजी

यहाँ गोपियों के प्रेम का आलंबन विभाव श्रीकृष्ण हैं और चिंता आदि संचारी। पर गोपियों का कुब्जा के प्रति जो असूया संचारी

है उसका विभाव स्थायी भाव के विभाव से भिन्न है। पर ये सब भी स्थायी के ही पोषक हैं।

धनिक ने लिखा है कि समुद्र से जैसे लहरें उठती हैं और उसीमें विलीन हो जाती हैं वैसे ही रति आदि स्थायी भावों में संचारियों का उदय और तिरोधान होता है। विशेषतः अभिमुख होकर वर्तमान रहने के कारण ये व्यभिचारी कहे जाते हैं।[1]

इससे स्पष्ट होता है कि जैसे समुद्र के होने से ही जल-कल्लोल उठते हैं वैसे ही स्थायी भावों के होने से ही इनका अस्तित्व है। दूसरी बात यह कि व्यभिचारी भाव स्थायी भाव के अनुकूल अपने कार्य करते हैं। तीसरी बात यह कि इनका पर्यवसान इन्हीं मे होता है।

महिम भट्ट ने लिखा है—स्थायी भावों का स्थायित्व निश्चित है पर व्यभिचारियों का नहीं। व्यभिचारियों में व्यभिचार भाव ही हैं। स्थायी यथास्थान दोनों हो सकते हैं, पर व्यभिचारी कहीं स्थायी नहीं हो सकते।[2]

पण्डितराज का शंका-समाधान भी यहाँ ध्यान देने योग्य है। वह ऐसा है—"ये रति आदि भाव किसी भी काव्यादिक में उसकी समाप्ति पर्यंत स्थिर रहते हैं, अतः इनको स्थायी भाव कहते हैं। आप कहेंगे कि ये तो चित्तवृत्ति-रूप हैं, अतएव तत्काल नष्ट हो जानेवाले पदार्थ हैं, इस कारण इनका स्थिर होना दुर्लभ है, फिर इन्हें स्थायी कैसे कहा जा सकता है ? और यदि वासना रूप से इनको स्थिर माना जाय तो व्यभिचारी भाव भी हमारे अन्तःकरण में वासना-रूप से विद्यमान रहते हैं, अतः वे भी स्थायी भाव हो जायेंगे। इसका उत्तर यह है कि यहाँ वासना-रूप में इन भावों का बार-बार अभिव्यक्त होना ही स्थिर पद का अर्थ है। व्यभिचारी भावों में यह बात नहीं होती। क्योंकि उनकी चमक बिजली की चमक की तरह अस्थिर होती है। अतः वे स्थायी भाव नहीं कहला सकते।"

---

१ विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिण. ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ । दशरूपक

२ स्थायित्वं स्थायिष्वेव प्रतिनियतं न व्यभिचारिषु। व्यभिचारित्वं व्यभिचारिष्वेव, नेतरयोः। तत्र स्थायिभावानामुभयी गतिः। न व्यभिचारिणाम्। ते नित्यं व्यभिचारिण एव न जातु कदाचित् स्थायिनः प्रकल्पन्ते। व्यक्तिविवेक

संचारी भाव आस्वाद्यमान स्थायी भाव के सहायक होते हैं। स्थायी भाव के समान इनकी कोई स्वतन्त्र आस्वादयोग्यता नहीं है। साहित्य-शास्त्रियों का यह भी कहना है कि संचारियों का भेद नित्य नहीं, नैमित्तिक है और वह परिपोष्य और परिपोषक भाव से है। स्थायी भाव सहचर वा सहजात है और संचारी भाव आगन्तुक है।

इस प्रकार स्थायी भाव की मुख्यता, श्रेष्ठता, महत्ता, सहजातता, भिन्नजातीयता आदि सिद्ध होने पर भी शार्ङ्गदेव का एक लक्षण सबको चौपट कर देता है। उसका आशय यह है कि 'समर्थ वा अधिक विभावों से उद्दीपित होने के कारण ही रति आदि भाव स्थायी भाव हो सकते हैं और शिथिल वा थोड़े विभावों से उद्दीपित होने पर वे व्यभिचारी हो जाते हैं।'[1] इसका उल्लेख पहले भी हो चुका है।

विभाव आदि की प्रबलता वा दुर्बलता से भावों का स्थायित्व और व्यभिचारित्व होने की बात विचारणीय है। क्योंकि भरत ने रससूत्र में विभाव, अनुभाव के साथ ही व्यभिचारी की भी गणना की है। दूसरी बात यह कि मुख्यतः रसचर्वणा स्थायी भाव की ही होती है। इस प्रकार की अनेक अन्यान्य मुख्य बातें हैं, जो उसकी गौरव-वृद्धि करती हैं। (दे० 'स्थायी भाव-विचार')। ऐसे स्थलों पर पण्डितराज का कहना है कि जब प्रधान रस को पुष्ट करने के लिये उस (अंगभूत शृङ्गार रस में हास आदि) को भी अधिक विभावादिकों से अभिव्यक्त किया जाता है तो रसालंकार होता है।

बाइसवीं छाया

भावों का भेदप्रदर्शन

शंका और भय—इन दोनों भावों के बीच अनिष्ट-भावना आदि के आशय समान-से रहते हैं। किन्तु इतना तो सर्वथा स्पष्ट है कि भय में वे आशय पूर्णतः पुष्ट होते हैं और शंका में मन की अशान्ति, आकुलता आदि रहते भी भय के भाव का एक धुँधला आलोक ही मन में आता है। शंका में भय की संभावनामात्र ही संभव है। क्योंकि उसमें सन्देह होता है, निश्चय नहीं।

---

१ रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठ विभावजाः।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नाः त एव व्यभिचारिणः। संगीतरत्नाकर

त्रास और भय—यों डरने का भाव दोनों में तुल्य है, किन्तु त्रास में एकाएक—अचानक—भय का उत्थान होता है। यह अतर्कित घटना को उपस्थित कर आतंकित करता है। भय में आकस्मिकता नहीं होती। वह अपने प्रभाव को सहूलियत से फैलाता है। ठीक इसके विरुद्ध त्रास शरीर को बिजली के स्पर्श-जैसा सहसा झन्ना देता है।

क्रोध और अमर्ष—हृदय की तीक्ष्णता और कटु भाव साधारणतः समान हैं, फिर भी अमर्ष में खीझने का भाव स्थायी होकर नहीं रहता है। प्रतिशोध की भावना रहते भी इसमें क्रोध के समान नितान्त उग्रता नहीं होती। रौद्र रस के स्थायी भाव क्रोध का उदय अक्षम्य तथा दण्डयोग्य अपराध करने से होता है; किन्तु अमर्ष का निन्दा आदि से। इस प्रकार दोनों भिन्न हैं। सारांश यह कि क्रोध की प्रारंभिक दशा अमर्ष है और उसकी उत्कट अवस्था क्रोध है।

शोक और विषाद—इन दोनों में भी विशेष और सामान्य का भाव है। जिस विषय पर अपना कुछ वश न चल सके, प्रतिकूलता अनुभव करते हुए केवल ओज को म्लान करते रहें, वह भाव विषाद के अन्तर्भूत होता है। इसमें इष्ट-विनाश की नितान्त मर्माहति नहीं होती और शोक में यही बात अनिवार्य होकर रहती है। प्रिय-नाश ही उसका उद्बोधक होता है।

क्रोध और उग्रता—में यह भिन्नता है कि जहाँ यह भाव स्थायी रूप से होता है वहाँ क्रोध है और जहाँ संचारी रूप से होता है वहाँ उग्रता कहलाता है। अर्थात् एक ही भाव स्थायी होने से क्रोध और क्षणस्थायी होने से उग्रता संचारी होता है।

अमर्ष और उग्रता—इन दोनों में यह भेद है कि अमर्ष निर्दयता-रूप नहीं होता; क्योंकि उसमें निन्दा, तर्जन-गर्जन आदि ही कार्य होते हैं और उग्रता निर्दयता-रूप होता है। क्योंकि इसमें ताड़न, बध तक कार्य होते हैं।

शङ्का और चिन्ता—शङ्का में भय आदि से उत्पन्न कम्पन आदि होता है, पर चिन्ता में यह बात नहीं है। उसमें भय नहीं होता, सन्ताप आदि होता है।

निर्वेद संचारी और निर्वेद स्थायी—निर्वेद संचारी इष्ट-वियोग आदि से उत्पन्न होता है। इसमें साधारण विरक्ति होती है।

इससे केवल उदासीन भाव का ही ग्रहण होता है। जो निर्वेद परमार्थ-चिन्तन तथा सांसारिक विषयों को असार समझकर विराग होने से उत्पन्न होता है वह शान्त रस का व्यञ्जक होकर शान्त रस का स्थायी भाव होता है। जहाँ इष्टवियोगादि-जनित निर्वेद होता है वहाँ शान्त रस को छोड़कर अन्यान्य रसों में संचारी होता है। क्योंकि वहाँ शान्त रस की व्यंजना नहीं होती। संचारी और स्थायी निर्वेद का यह अन्तर समझ लेना चाहिये।

ग्लानि और श्रम—ग्लानि में मानसिक और शारीरिक आधि तथा व्याधि के कारण अंगों की शिथिलता वा कार्य में अनुत्साह होता है और श्रम में शारीरिक परिश्रम के कारण थकावट उत्पन्न होती है।

गर्व और उत्साहप्रधान गर्व—जहाँ रूप, बल, विद्या आदि का गर्व होता है वहीं गर्व संचारी होता है और जहाँ प्रच्छन्न गर्व में उत्साह की प्रधानता होती है वहाँ वीर रस ही ध्वनित होता है, गर्व संचारी ध्वनित नहीं होता।

तेईसवीं छाया

रसनीय भावों की योग्यता

विंचेष्टर के मत से निम्नलिखित पाँच तत्त्व हैं जो भावों में तीव्रता उत्पन्न करके उन्हें रस-पदवी को पहुँचाते हैं, रस को उत्कृष्ट बनाते हैं। पहला है—मनोवेग की वा भावना की योग्यता, न्याय्यता वा औचित्य (Propriety)। अभिप्राय यह कि किसी भी भावना का आधार उचित हो। ऐसा न होने से उत्कृष्ट मनोभाव भी निर्बल हो जा सकता है। किसीको टिकट बटोरने की लगन है; कोई सिनेमा देखने का आदी है। इस प्रेम वा आसक्ति को हम सनक (Hobby) कह सकते हैं। इनमें साहित्यिक रचना की योग्यता नहीं। क्योंकि ये आधार खिलवाड़मात्र हैं। साहित्यिक दृष्टि से इनका महत्त्व नहीं। ये स्थायी भाव को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इससे आवश्यक है कि कोई भी रचना हो, उसकी आधारशिला वा पृष्ठभूमि सबल, गंभीर और मार्मिक हो। रचना का मूल्य इसीसे निर्धारित होना चाहिये कि उससे उद्वेलित मनोभाव योग्य, उपयुक्त, यथार्थ वा उचित है।

दूसरा है—भावना की तीव्रता (Power) और विशदता (Vividness) अर्थात् वर्ण्य विषय को प्रत्यक्ष कराने की सामर्थ्य। जब हम किसी रचना को पढ़कर भावमग्न हो जाते हैं और देश-दुनिया को भूल जाते हैं तब हम उस रचना को तीव्र और समर्थ कह सकते हैं। भावों की यह तीव्रता और विशदता राग-द्वेष जैसे सक्रिय भावों को उत्तेजित करती हैं वैसे ही शांत और करुण जैसे निष्क्रिय भावों को भी। ये दोनों बातें भावों को स्थायित्व भी प्रदान करती हैं। ये दोनों बातें बहुत कुछ रचनाकार के अन्तर की गंभीरता तथा संवेदनशीलता पर निर्भर करती हैं। यही कारण है कि पंचवटी-प्रसंग पर की गयी 'निराला' और 'गुप्त' की कविताओं में गहनता, निगूढ़ता, साकारता तथा अनुभूति की मार्मिकता की दृष्टि से बहुत कुछ अन्तर दीख पड़ता है। इनके लिये प्रकाशन-शक्ति भी होनी चाहिये।

तीसरा है—मनोवेग की स्थिरता वा चिरकालिकता (Steadiness)। स्थिरता से अभिप्राय यह है कि साहित्यिक रचना होने के लिये मनोवेगों या भावनाओं में स्थायित्व होना चाहिये। नाटकदर्शन वा काव्याध्ययन के समय हमारे मनोभाव एक समान तरंगित वा उद्वेलित होते रहे। इनका उत्थान-पतन तो अपेक्षित हैं, पर भंग नहीं। क्योंकि ऐसा होने से रचना रसवती नहीं कही जा सकती। स्थायित्व और सातत्य से यह भी अभीष्ट है कि रचना में चिरकालिकता होनी चाहिये। जैसे कि रघुवंश, रामायण, शकुन्तला, प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी आदि हैं। प्रतिभाशाली कवि और लेखक तथा कुशल कलाकार ही स्थिर मनोवेग वाली रचना कर सकते हैं। महाकवियों के ही मनोभाव जैसे तीव्र, पूर्ण तथा गंभीर होते हैं वैसे ही स्थिर तथा संयत भी होते हैं। वे भावों की बहिया में बह नहीं जाते।

चौथा है—भावना की विविधता (Variety) और व्यापकता (Range)। कोई भी रचना तब तक रुचिकर नहीं होती जब तक उसमें भावों की विविधता नहीं हो। किसी एक ही भाव को किसी काव्य या नाटक में उन्नत से उन्नत-तर करके दिखाया जाय, जो प्रतिभाशाली महाकवियों के लिये भी असंभव है, सामाजिकों को अरुचिकर हो सकता है। एक भाव को मुख्य बनाकर विविध भावों की अवतारणा की जा सकती है। ऐसी ही कुशल कलाकारों की रचना से हम आनन्दमग्न हो जाते हैं। यही कारण है कि शिक्षित और

अशिक्षित, दोनों ही रामायण पढ़-सुनकर परमानंद लाभ करते हैं; उसमें अपने जीवन के भले-बुरे सभी प्रकार के चित्र देखकर पुलकित होते हैं। अतः मनोवेगों की विविधता और व्यापकता के प्रदर्शन में ही साहित्यकार की साहित्यकारिता है।

पाँचवाँ है—भावना की उदात्तता, वृत्ति वा गुण (Rank of quality) सभी भाव एक-से नहीं होते। कोई भाव उदात्त वा प्रशस्त होता है तो कोई सामान्य वा साधारण। उदात्त भावों की श्रेष्ठता स्वतःसिद्ध है। यह उदात्तता दो पक्षों से प्रकट होती है—कलापक्ष से और भावपक्ष से। कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष मनोवेगों को अधिक तरंगित करता है और इसका प्रभाव हमारे चरित्र पर पड़ता है। भावों की सबसे वह उदात्तता प्रशंसनीय है जो आत्मा को विकसित करती है। जो कला के लिये कला को माननेवाले हैं, उनका भावना के इस तत्त्व से खण्डन हो जाता है। क्योंकि हमारी चित्त-वृत्तियों का लक्ष्य जीवन को सुखमय और उन्नत बनाना है। यह तभी संभव है जब कि एक देशीय आनंददान को छोड़कर; साहित्य के किसी एक लक्ष्य को छोड़कर उसकी उदात्तता का गुण माना जाय जिससे जीवन सुधरे। इसी बात को ध्यान में रखकर ही आर्नल्ड का कहना है कि विचारों की सुन्दरता तथा प्रभावशालिता के साथ किस प्रकार का जीवन व्यतीत किया जाय इसका सामंजस्य भी किया जाय। इस प्रकार के जीवन के व्याख्यान में कवि का महत्त्व है। साहित्य का ध्येय सत्य, शिव, सुन्दर होना चाहिये। यही भावना की उदात्तता है।

भावों को इस दृष्टि से देखकर जो रचना की जायगी, वह कल्याण-कर होगी। हास्य से निन्दनीय का उपहास, क्रोध से अन्याय का प्रतिकार, शृङ्गार से स्ववंशरक्षण आदि भावनाएँ जीवनोपयोगिनी बनेंगी। ऐसी भावनाएँ ही वाङ्मय के विभूषण होती हैं। मनोरंजन की अधिकता से उनकी सर्वजनप्रियता बढ़ती है।

यदि हम प्राच्य आचार्यों के विवेचन पर विचार करें तो यही कहेंगे कि उनके विचार हमारे विचारों से मिलते हैं और जहाँ हमारे विचार सूक्ष्म और पूर्ण हैं वहाँ वे स्थूल और अपूर्ण हैं।

चौबीसवीं छाया

रस की अभिव्यक्ति

सहृदयों के हृदयों में वासना या चित्तवृत्ति या मनोविकार के स्वरूप से वर्तमान रति आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा व्यक्त होकर रस बन जाते हैं।[1]

इन तीनों को लोक-व्यवहार में स्थायी भावों के कारण, कार्य और सहकारी कारण भी कहते हैं।[2]

कह आये हैं कि रति आदि चित्तवृत्तियों के उत्पादक कारण विभाव दो प्रकार का होता है। एक तो वह है जिससे वे उत्पन्न होती हैं और दूसरा वह है जिससे वे उद्दीप्त होती हैं। पहले का नाम आलंबन विभाव और दूसरे का नाम उद्दीपन विभाव है। चित्तवृत्तियों के उत्पन्न होने पर कुछ शारीरिक चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं जो भाव-रूप में उनके कार्य हैं। इन्हे ही अनुभाव कहते हैं। रति आदि चित्तवृत्तियों के साथ अन्यान्य चित्तवृत्तियाँ भी उत्पन्न होती हैं जो उनकी सहायता करती हैं। पर ये रति आदि के समान स्थायी नहीं होतीं। संचरण-मात्र करने से संचारी कहलाती हैं। 'हिन्दी रस गंगाधर' के एक उद्धरण से यह स्पष्ट हो जायगा।

"मान लीजिये कि शकुन्तला के विषय में दुष्यन्त की अन्तरात्मा में रति अर्थात् प्रेम हुआ। ऐसी दशा में रति का उत्पादन करनेवाली शकुन्तला हुई। अतः वह प्रेम का आलंबन कारण हुई। चाँदनी चटक रही थी, वनलताएँ कुसुमित हो रही थीं। अतः वे और वैसी ही अन्य वस्तुएँ उद्दीपन कारण हुईं। दुष्यन्त का प्रेम दृढ़ हो गया और शकुन्तला के प्राप्त न होने के कारण उनकी आँखों से लगे अश्रु गिरने। यह अश्रुपात उस प्रेम का कार्य हुआ। और इसी तरह उस प्रेम के साथ-साथ उसका सहकारी भाव चिन्ता उत्पन्न हुई। वह सोचने लगा

---

१ विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्। साहित्य-दर्पण

२ कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।
विभावा अनुभावाश्च कथ्यान्ते व्यभिचारिणः। काव्यप्रकाश

कि मुझे उसकी प्राप्ति कैसे हो ! इसी तरह शोक आदि में भी समझो। पूर्वोक्त सभी बातों को हम संसार में देखा करते हैं। अब पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार, संसार में रति आदि के शकुन्तला आदि आलंबन कारण होते हैं, चाँदनी आदि उद्दीपन कारण होते हैं, उनसे अश्रुपात आदि कार्य उत्पन्न होते हैं। और चिन्ता आदि उनके सहकारी भाव होते हैं। वे ही जब जिस रस का वर्णन हो, उससे उचित एवं ललित शब्दों की रचना के कारण मनोहर काव्य के द्वारा उपस्थित होकर सहृदय पुरुषों के हृदय में प्रविष्ट होते हैं तब सहृदयता और एक प्रकार की भावना—अर्थात् काव्य के बार-बार अनुसन्धान से उनमें से 'शकुन्तला दुष्यन्त की स्त्री है' इत्यादि भाव निकल जाते हैं और अलौकिक बनकर—संसार की वस्तुएँ न रहकर—जो कारण हैं वे विभाव, जो कार्य हैं वे अनुभाव और जो सहकारी हैं वे व्यभिचारी भाव कहलाने लगते हैं। बस इन्हीं के द्वारा, पूर्वोक्त अलौकिक क्रिया के द्वारा रसों की अभिव्यक्ति होती है।"

काव्य-प्रकाश के टीकाकार नागोजी भट्ट ने भी सीता-राम का दृष्टान्त देकर इसी प्रकार से रस की अभिव्यक्ति को समझाया है।

अभिनवगुप्त ने इसके तीन कारण दिखलाये हैं—हृदय-साम्य, तन्मयीभाव तथा साधारणीकरण। इनसे ही रस की अभिव्यक्ति होती है।[3]

सर्वत्र साहित्यिक रसानुभूति का यही प्रकार है। जहाँ जिस स्थायी भाव की यह सामग्री एकत्रित हुई वहाँ उस रस की अभिव्यक्ति हुई।

पचीसवीं छाया

रस समूहात्मक होता है

यद्यपि कहीं-कहीं ऐसा भी देखा जाता है कि अनुभाव और संचारी के बिना केवल विभाव से, कहीं केवल संचारी से, कहीं केवल अनुभाव से और कहीं दो से भी रस की व्यञ्जना होती है। ऐसे

३ हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात् ··· तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया··· तद्विभावादिसाधारण्यवशसंप्रबुद्धोचित निजरत्यादिवासनावेशवशात्।

—अभिनव भारती

स्थानों पर केवल एक से ही या दो से ही जो रस की अभिव्यक्ति होती है उसे ऐसा ही समझना बड़ी भूल है। वहाँ भी विभावादि तीनों से समूहात्मक ही रस-व्यञ्जना होती है। विभावादि में जो एक रहता है वह अन्य दो का आक्षेप कर लेता है। अर्थात् वह एक व्यञ्जनीय रस के अनुकूल अन्य दो का बोधक हो जाता है। जहाँ विभावादि में से जो एक रहता है वह रस का असाधारण संबंधी होने के कारण अन्य रस की व्यञ्जना होने नहीं देता। सारांश यह कि रस की अभिव्यक्ति प्रत्येक दशा में विभावादि समूहालम्बनात्मक ही होती है। अर्थात् एक भाव से अन्य दो भावों का आक्षेप हो जाता है। केवल विभाव के वर्णन का एक उदाहरण देखें—

सभी अन्तर में वही छवि सभी प्राणों में वही स्वर,
सभी भावों में वही धुन सभी गीतों में वही लय,
वृक्ष जैसे मूक से मृदु तान सुनने को समुत्सुक,
नदी जैसे तृषित-सी लहरें महा आकुल अमित पथ,
प्राण हो सब विश्व का केवल जड़ित उस मुरलिका में।

—उदय शंकर भट्ट

प्रेमिका राधा यहाँ आलंबन विभाव है और छवि, स्वर, धुन, लय आदि उद्दीपन विभाव हैं। कृष्ण-प्रेमिका राधा के असाधारण आलंबन होने के कारण अन्य रस की व्यञ्जना संभव नहीं। अतएव विभावों के बल से अंगों का वैवर्ण्य, उत्कर्ण होना आदि अनुभाव; मोह, चिन्ता, उत्कंठा आदि संचारियों का आक्षेप हो जाता है। इस दशा में इनका होना अवश्यंभावी है। अत: यहाँ विप्रलंभ शृङ्गार रस की व्यञ्जना है। इसी प्रकार अन्य दो को भी समझ लेना चाहिये।

केवल अनुभाव का उदाहरण—

टप टप टपकत सेदकन अंग-अंग थहरात।
नीरजनयनी नयन में काहे नीर लखात। हरिऔध

इस दोहे में स्वेदकण का टपकना, अंग थहराना, आँखों से आँसू का आना, सभी अनुभाव हैं। इसमें नीरजनयनी को आलंबन मान लिया। स्वेद, कंप और अश्रु रस के प्रकाशक हैं। इसीसे अनुभाव में इनकी गणना है। किन्हीं उद्दीपनों के कारण ही ये अनुभाव हुए होंगे। हर्ष, लज्जा आदि जो संचारी हैं उनका आक्षेप भी अनुभाव से ही हो जाता है।

इसी भाव का ऐसा ही उदाहरण यह भी है—

सब का हृदय-द्राक्ष हुआ ;
रोम-रोम से स्राव हुआ।
मोती - जैसे बड़े - बड़े।
टप-टप आँसू टपक पड़े। गुप्तजी

केवल उद्दीपन का उदाहरण—

दामिनि दमकि रही घन माहीं। खल की प्रीति जथा थिर नाहीं।
बरसहिं जलद भूमि नियराये। जथा नवहिं बुध विद्या पाये।

इनमें आदि के पदों में सोदाहरण उद्दीपन ही हैं। यहाँ राम आलंबन, राम का विकल होना अनुभाव और मोह, चिन्ता, स्मृति, धृति आदि संचारियों का आक्षेप हो जाता है।

केवल संचारी का उदाहरण—

विकसित उत्कण्ठित रहत छिनहू नहिं समुहात।
पति के आवत जात मँह ललना नयन लखात।

मानिनी नायिका के नेत्रों में मनाने में असमर्थ आशान्वित नायक के आने-जाने से जो भाव छाये हैं उनसे उत्सुकता, हर्ष, असूया संचारी की व्यञ्जना है। सापराध होने के कारण संभोग शृङ्गार में नायक की गणना नहीं की जा सकती। अतः यहाँ सँचारी के द्वारा विभाव, अनुभाव का आक्षेप हो जाता है।

एक विभाव और अनुभाव का उदाहरण लें—

पर न जाने मैं किसी के स्वप्न-सी क्यों खो रही हूँ,
आस ले, अनुराग ले, उत्ताल मानस में प्रलय भर;
किसी घन के बिन्दु-सी किसलय, कुसुम तृण, ताल में गिर
और गिर अंगार पर स्मृति चिह्न हाहाकार से?
इस नदी की लहर-सी टकरा रही, छितरा रही हूँ;
और बहती जा रही अज्ञात पथ में भूल सब कुछ
भूल सब अपना पराया स्मृति विकल का भार लेकर
ढो रही हूँ, क्या न जाने क्या न जाने खो रही हूँ। उ० श० भट्ट

आपने को खो-जाना, मानस में प्रलय भरना, घन-बिन्दु-सा गिरना, नदी की लहर-सी टकराना, छितराना, बहना, भार ढोना आदि अनुभाव ही अनुभाव हैं। राधा आलंबन विभाव है। राधा की जब ऐसी अवस्था है तब मोह, चिन्ता, दीनता, आवेग आदि संचारी का

आक्षेप होना स्वाभाविक है। उद्दीपन का भी अभाव है पर घन के विन्दु-सी, नदी की लहर-सी, दोनों उपमा के रूप में आयी हैं। किन्तु इनसे राधा की विकलता बढ़ती है। इससे उद्दीपन विभाव का भी आक्षेप हो जाता है। अब अनुभाव और संचारी का उदाहरण लें—

रुधिर निकलता है अभी तन में भी है मास।
भूखे भी हो गरुड़ तुम खावो सहित हुलास। अनुवाद

इसमें जीमूतवाहन का वाक्य अनुभाव है और धृति आदि संचारी हैं। पर हैं नहीं आलंबन और उद्दीपन। शंखचूड़ के स्थान पर जीमूतवाहन आया है। इससे शंखचूड़ आलंबन और उसको गरुड़ के खाने के लिये उसकी दयनीय दशा ही उद्दीपन है। ये दोनों नहीं हैं पर इनका आक्षेप हो जाता है।

इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

छब्बीसवीं छाया

विभाव आदि रस नहीं

किसी-किसी प्राचीन पण्डित का मत है कि विभाव ही रस है, किन्तु ऐसी बात नहीं है।

प्रारंभ में जब रस आस्वाद-रूप माना गया तब स्थूल बुद्धिवालों ने यह निर्णय किया कि आलंबन विभाव ही रस है। क्योंकि नट जब प्रेम का अभिनय करता है तब अपने प्रेम-पात्र का ध्यान आ जाता है और उसीकी बार-बार की भावना से आनन्द का अनुभव होता है। अतः प्रेम आदि का आलंबन विभाव ही रस है। अन्त में यह सिद्धान्त स्थिर किया गया कि 'भाव्यमानो हि रसः' अर्थात् बार-बार भावित हुआ प्रेम आदि का आलंबन ही रस है।

पर यह बात विचारकों को पसंद नहीं आयी। क्योंकि सीता, राम, दुष्यन्त, शकुन्तला आदि विभाव बाह्य पदार्थ हैं और रस अध्यात्म, अर्थात् आत्मा के भीतर की वस्तु है। उसकी प्रतीति भी आत्मा के भीतर होती है। अतः आलंबन को रस मानना अनुपयुक्त है।

दूसरी बात यह कि यदि प्रेम आदि का आलंबन ही रस-रूप माना जाय तो जब वह प्रेम के प्रतिकूल चेष्टा करे वा प्रेमानुकूल चेष्टा से विरत हो तब भी वही आनन्द आना चाहिये जो प्रेमानुकूल चेष्टा के समय मिलता था। क्योंकि सब अवस्थाओं में वही आलंबन समान भाव से वर्तमान रहता है। पर ऐसा नहीं होता। अतः आलंबन रस नहीं।

तीसरी बात यह कि रति आदि को रस मानने से सीता, राम आदि विभाव उसके विषय वा आधार बन जाते हैं। पर, यदि आलंबन ही रस बन जायेंगे तो उनका आधार क्या होगा ? अतः विभाव रस नहीं हो सकते !

इसी प्रकार किसी-किसी का कहना है कि आलंबन के कटाक्ष, अङ्गविक्षेप आदि शारीरिक चेष्टाएँ ही, जिन्हें अनुभाव कहा जाता है, रस हैं और उनका यह सोचना कि 'अनुभावस्तथा' अर्थात् बार-बार का भावित अनुसंधानित अनुभाव ही रस है, ठीक नहीं। क्योंकि यहाँ भी वही कारण उपस्थित होता है। आलंबन की चेष्टाएँ भी वाह्य हैं और रस अध्यात्म।

कुछ लोग कहते हैं कि वाह्य चेष्टाओं को वा वाह्य पदार्थों को जाने दीजिये। चित्तवृत्तियों को लीजिये। ये तो आभ्यन्तर हैं। पात्रों के हृद्गत भावों को यथार्थतः प्रकट करने में जो आनन्द आता है, वह न तो विभाव में है और न तो अनुभाव में; अतः ये दोनों रस नहीं हैं। रस है तो आलंबन की चित्तवृत्तियाँ, जिन्हें संचारी भाव कहते हैं। उनका मत है कि 'व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमति' अर्थात् प्रेम आदि के आलंबन वा आश्रय की चित्तवृत्तियाँ ही उस उस रस के रूप में परिणत होती हैं, किन्तु चिन्ता आदि संचारियों को भी रस मानना अनुचित है। कारण यह कि यद्यपि वे अध्यात्म हैं तथापि अचिर-स्थायी हैं और अपने विरुद्ध हर्ष आदि व्यभिचारियों से वाधित हो जाते हैं। रस स्थायी वस्तु है और अवाधित भी। अतः यह मत भी त्याज्य है।

नाटक-सिनेमा देखनेवाले सहृदय कभी पात्रों की, कभी उसके अभिनय की और कभी भावों के उत्थान-पतन की प्रशंसा करते हैं। कभी-कभी कोई फिल्म देखने के बाद दर्शक कह उठते हैं कि यह तो बड़ा रद्दी है। इसके न तो पात्र ही ठीक हैं और न उसके अभिनय ही।

मनोभावों का मनोहर विश्लेषण दिखलाना तो दूर की बात है। इस प्रकार विवेचक द्रष्टाओं ने नटों का नाट्य देखकर यह निर्णय किया कि आलंबन—पात्र, अभिनय—अनुभाव, और भावों का मनोहर विश्लेषण—संचारी भाव, इनमें जो चमत्कारक हो—सामाजिकों का मनोमोहक हो वही रस है और चमत्कारी न होने से तीनों में से कोई भी रस पद को प्राप्त नहीं कर सकता। इससे वे इस सिद्धान्त पर आये कि "त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसः" अर्थात् तीनों में जो चमत्कारी हो वही रस है, अन्यथा तीनों नहीं।

पहले इस मत का खण्डन हो चुका है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों में से कोई रस हो नहीं सकता, चाहे वह चमत्कारक हो वा चमत्कारशून्य। इसका कोई प्रश्न ही नहीं है। कारण यह कि भयानक रस का आलंबन व्याघ्र वीर, रौद्र और अद्भुत रसों का भी आलंबन हो सकता है। अश्रुपात आदि अनुभाव जैसे शृङ्गार रस के हो सकते हैं वैसे करुण और भयानक के भी। संचारी की भी यही दशा है। चिन्ता आदि चित्तवृत्तियाँ अर्थात् संचारी भाव, शृङ्गार रस के 'रति' स्थायी भाव को जैसे समर्थ बनाती हैं वैसे ही वीर, करुण और भयानक रसों के स्थायी उत्साह, शोक और भय को भी पुष्ट करती हैं। इस प्रकार एक रस के पूर्णतः निर्वाह करने में बड़ी गड़बड़ी मच जायगी। अतः एक-एक को पृथक्-पृथक् रस मानना भारी भ्रम है।

अन्त में भावुकों ने यह निश्चय किया कि वे पृथक्-पृथक् नहीं, सम्मिलित रूप में रस हैं। अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा संचारी तीनों इकट्ठे रस-रूप हैं, इनमें कोई एक नहीं। पर यह भी विवेचकों को रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। निश्चय हुआ कि जिससे आनन्द होता है वह एक ऐसी चित्तवृत्ति है—ऐसा मनोभाव है जो स्थायी रूप से रहता है। उसी मनोभाव को विभाव उत्पन्न करते हैं; उसके द्वारा ही अनुभाव उत्पन्न होते हैं, और संचारी साथ रहकर उसको ही पुष्ट करते हैं। संचारी भी चित्तवृत्तियाँ या मनोभाव ही हैं, पर स्थायी नहीं। स्थायी तो रति आदि इने-गिने भाव हैं। ये ही स्थायी भाव तीनों के संयोग से रस-रूप में परिणत होकर हमें आनन्द देते हैं।

सत्ताइसवीं छाया

रस व्यक्त होता है

काव्यप्रकाश-कार और साहित्यदर्पण-कार ने रसको व्यक्त कहा है। व्यक्त का अर्थ है प्रकटित वा प्रकाशित। अर्थात् जिसका अज्ञानरूप आवरण हट गया है उस चैतन्य का विषय होना—उसके द्वारा प्रकाशित होना। जैसे ढका हुआ दीपक ढक्कन के हटा देने पर पदार्थों को प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है उसी प्रकार आत्मा का चैतन्य विभावादि से मिश्रित रति आदि भाव को प्रकाशित करता है और स्वयं प्रकाशित होता है। इसके प्रकाशक वा व्यञ्जक विभाव, अनुभाव और संचारी हैं और रति आदि स्थायी भाव प्रकाश्य वा व्यंग्य हैं।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि प्रकाशित तो वही वस्तु होती है, जो पूर्व से ही विद्यमान हो। दीपक से घड़ा तभी प्रकाशित होगा जब कि उस स्थान पर वह पहले ही से विद्यमान हो। परन्तु रस के विषय में यह दृष्टान्त ठीक नहीं घटता, क्योंकि विभावादि की भावना के पूर्व रस का अस्तित्व नहीं रहता। फिर असत् वस्तु का प्रकाश कैसे होगा?

इसका उत्तर यह है कि यह कोई आवश्यक नहीं कि विद्यमान वस्तु को ही कर्मत्व प्राप्त हो। क्योंकि कर्म अनेक प्रकार के हैं। जब हम कहते हैं कि 'घड़ा बनाओ' तो बनने के पहले घड़े का अस्तित्व कहाँ रहता है? फिर भी हम घड़े का अस्तित्व मान लेते हैं। इसीसे लोचनकार ने कहा है कि रस प्रतीत होते हैं। यह वैसा ही व्यवहार है जैसा कहते हैं कि 'भात पकावो'। भात का अस्तित्व न रहते भी अर्थात् चावल रहते ही वह भात कहलाने लगता है, वैसा ही प्रतीति के पूर्व, रस के न रहने पर भी, प्रतीयमान रस का, रस प्रतीत होता है, यह व्यवहार होता है। इससे यह निश्चय है कि रस प्रतीत होते हैं। प्रतीति के पूर्व रस की सत्ता नहीं रहती।

दर्पणकार ने अरुचिपूर्वक दूसरा दृष्टान्त देकर इसका यों समाधान किया है कि दीप-घट की भाँति रस का व्यक्त होना नहीं है, किन्तु दध्यादि-न्याय से रूपान्तर में परिणत होकर रस व्यक्त होता है। कहने का अभिप्राय यह कि दूध में मट्ठा डालने पर चखने से दूध का भी स्वाद ज्ञात होता है और मट्ठे का भी। इनमें स्वरूप-भेद भी रहता है। कुछ काल तक यह बात रहती है। इसके उपरान्त न तो दूध का

ही रूप रह जाता है और न मट्ठे का ही। प्रत्युत दोनों मिलकर दही के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार विभाव, अनुभाव, संचारी, जो मट्ठे के स्थान पर रस के साधन-स्वरूप हैं और रति आदि स्थायी, जो दूध के स्थान पर साध्यस्वरूप हैं, तभी तक पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं जब तक भावना की तीव्रता से एकाकार होकर दही की भाँति रस-रूप में परिणत नहीं हो जाते।

व्यञ्जक विभावादि और व्यंग्य स्थायी सभी एक ही ज्ञान के विषय हैं। अत: यह समूहालम्बन-ज्ञान है। समूहालम्बन-ज्ञान वह है जिसमें एक साथ अनेक पदार्थ प्रतीत होते हैं। रस में भी यही बात है। अत: यह कहा जा सकता है कि समूहालम्बन-ज्ञान ही रस है और वह व्यक्त होता है।

यही कारण है कि[1] आचार्यों ने प्रपानक रस के समान रस को आस्वादस्वरूप बताया है। प्रपानक का एक रूप आजकल का अमझोरा है। यह आग में पकाये कच्चे आम के रस में चीनी, भूना जीरा और हींग, नमक, गोलमिर्च, पुदीना आदि देकर बनाया जाता है। इन वस्तुओं का पृथक्-पृथक् स्वाद होता है, किन्तु सम्मिलित रूप में इनके स्वाद से प्रपानक का जैसा एक विलक्षण स्वाद हो जाता है वैसा ही विभावादि के सम्मेलन से स्थायी भाव का एक अपूर्व आस्वाद हो जाता है जो विभावादि के पृथक्-पृथक् आस्वाद से विलक्षण होता है।

आचार्यों के रस को प्रपानक रस के समान चर्व्यमाण[2] (आस्वाद्यमान) कहने का अभिप्राय यही है कि पृथक्-पृथक् प्रतीयमान हेतु-स्वरूप विभावादि भावना की तीव्रता और व्यञ्जना की महत्ता से अखण्ड एक रस के रूप में परिणत हो जाते हैं।

---

१ ततः संमिलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम् ।।
प्रपानकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत् ।। साहित्यदर्पण

२ चर्व्यमाणतैकद्वारः·····प्रानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः । काव्यप्रकाश
चर्व्यमाण से ही 'चिबाना' शब्द बना है। कोई वस्तु जब तक चिबाई नहीं जाती तब तक रस नहीं मिलता, खाने में मजा नहीं आता। कोई वस्तु यों ही निगल जाने से उस वस्तु का स्वाद नहीं मिलता, मिलता तभी जब कि वह चबाई जाती है। ज्ञात होता है, 'चर्व्यमाण' के प्रयोग के समय आचार्यों के मन में यह बात पैठी हुई थी।

अट्ठाइसवीं छाया

रस-निष्पत्ति में आरोपवाद

भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के एक सूत्र में रस की परिभाषा दी है जो इस प्रकार है—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'।

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। इसमें 'संयोग' और 'निष्पत्ति' ऐसे शब्द हैं जिनकी व्याख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है और उनसे रस-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न मत स्थापित हो गये हैं। उनमें चार मुख्य हैं।

१ भट्टलोल्लट आदि का आरोपवाद

इनका मत मीमांसा दर्शन के अनुसार है। अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के धर्म की बुद्धि लाने का नाम आरोप है। अभिप्राय यह कि एक वस्तु को दूसरी वस्तु मान लेना जो यथार्थ में नहीं है। इनके मत में संयोग शब्द का अर्थ है 'सम्बन्ध' जो तीन प्रकार का होता है। उत्पाद्योत्पादक भाव, गम्यगमक भाव और पोष्यपोषक भाव। 'निष्पत्ति' शब्द के तीन अर्थ हैं—उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि।

विभाव उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध से रस को उत्पन्न करते, अनुभाव गम्यगमक भाव से रस को अभिव्यक्त करते और व्यभिचारी पोष्य-पोषक भाव-सम्बन्ध से रस को पुष्ट करते हैं।

दुष्यन्त और शकुन्तला का अभिनय करनेवाले नट यथार्थतः वे नहीं होते। उन दोनों का जो परस्पर प्रेम था वह उन्हीं में था। वह नटों में कभी संभव नहीं। अतः वे दोनों अनुकार्य हैं और नट अनुकर्ता। विभावों से आलंबित और उद्दीपित, अनुभावों से प्रतीत और संचारियों से परिपुष्ट रति आदि भाव ही रस हैं जो मुख्यतः अनुकार्य दुष्यन्त-शकुन्तला में होते हैं। फिर भी विभावादि के आकर्षक अभिनय में कुशल दुष्यन्त आदि के अनुकर्ता नटों पर और सुन्दर ढंग से काव्य पढ़नेवाले व्यक्ति पर उनका आरोप कर लेते हैं। अर्थात् दुष्यन्त और नट को भिन्न समझते हुए भी, उनकी वास्तविकता को जानते हुए भी अभिनेताओं को दुष्यन्त आदि मान लेते हैं और उनके अभिनय-कौशल से सामाजिक चमत्कृत होते हैं और आनन्द

का उपभोग करते हैं। अर्थात् नट में समान रूप के अनुसन्धानवश आरोप्यमाण ही सामाजिकों के चमत्कार का कारण[1] है।

सारांश यह कि लौकिक सामग्री से दुष्यन्त आदि में ही रस उत्पन्न होता है और वही रस अनुकृतिवश सामाजिकों को अभिनेताओं में विभावादि के साथ आरोपित प्रतीत होता है। लौकिक सामग्री का अभिप्राय आदि तथा उनकी चेष्टा आदि है। अत: यह रसप्रतीति आरोप-ज्ञान-जन्य है। अत: यह आरोपवाद है।

शकुन्तला के विषय में जो रति है उससे युक्त यह अभिनेता दुष्यन्त है, इस ज्ञान के दो अंश हैं—नट-विषयक ज्ञान लौकिक तथा शेष अलौकिक है। एक उदाहरण से समझ लीजिये। रामचरित ही रामायण है। उसकी अरण्य-लीला अपने अनुभव की घटना थी, लौकिक थी; पर जब उन्होंने अपनी ही लीला का अपने पुत्रों—लव-कुशों से रामायण के रूप में सुनी तो उस समय का उनका आनन्द अलौकिक था। वहाँ लौकिकता का लेश भी नहीं था।

उनतीसवीं छाया

रस-निष्पत्ति में अनुमानवाद

शंकुक प्रभृति कुछ विद्वानों को आरोपवाद में त्रुटि दीख पड़ी। उनकी अरुचि का कारण यह है कि जिसमें रति आदि स्थायी भाव होंगे उसीमें रस होंगे और उसीको उसका अनुभव होगा, सामाजिकों को किसी प्रकार होना संभव नहीं। क्योंकि व्याप्तिज्ञान ऐसा ही है। रति के मुख्य विभाव दुष्यन्त आदि सामाजिकों से एकदम भिन्न हैं। वे ही नहीं, उनके अनुकर्ता नट भी भिन्न ही व्यक्ति हैं। फिर उनमें रति किसी प्रकार नहीं हो सकती। यदि यह कहें कि दुष्यन्त-शकुन्तला का ज्ञान ही सामाजिकों को रसास्वादन का कारण होता है, सो भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि ऐसा होता तो उनके नाम लेने से भी रस-बोध हो जाता और सुख का नाम सुखी होने के लिये पर्याप्त था।

---

१ 'नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानवशात् आरोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः'

पर कभी ऐसा होता हुआ नहीं देखा जाता। अतः न्याय्य कारण की कल्पना होना ही उचित है।

शंकुक प्रभृति का अनुमानवाद

शंकुक का मत न्यायशास्त्रानुमोदित है। इनके मत से यहाँ संयोग का अर्थ अनुमाप्य—अनुमापक सम्बन्ध है और निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति वा अनुमान है। सामाजिक अभिनेताओं में दुष्यन्त आदि की अभिन्नता का अनुभव करते हुए नाटक के पात्रों में विभाव आदि के द्वारा दुष्यन्त आदि का अनुमान कर लेते हैं न कि आरोप। सामाजिकों को यही अनुमिति-ज्ञान रसबोध का कारण होता है।

पहले मत में तीन सम्बन्ध और तीन अर्थ माने गये हैं। किन्तु यहाँ एक अनुमाप्य—अनुमापक सम्बन्ध ही माना गया है। इसका अभिप्राय यह है कि विभाव आदि तीनों रस के अनुमापक हैं और रस उसका अनुमेय है—अनुमिति के योग्य है। उक्त अनुमितिज्ञान ही सामाजिकों के रसास्वाद का कारण होता है।

यह अनुमितिज्ञान प्रसिद्ध चारो ज्ञानों—सम्यक् ज्ञान, मिथ्या ज्ञान, संशय ज्ञान और सादृश्य ज्ञान—से विलक्षण है और चित्रतुरग-न्याय से होता है। अर्थात् चित्र का घोड़ा, यथार्थतः घोड़ा नहीं होता फिर भी वह घोड़ा मान लिया जाता है। नट यथार्थतः दुष्यन्त न होते हुए भी दुष्यन्त समझ लिया जाता है। शिक्षा और अभ्यास के कारण अभिनेता अपने अभिनय में ऐसा तन्मय हो जाता है कि उसे ऐसा भान ही नहीं होता कि मैं किसीका अनुकरण कर रहा हूँ। वह अपने मन से दुष्यन्त ही बन जाता है और सारी अवस्थाओं को अपने में अनुभव करने लगता है। फिर वह अपने कार्य-कौशल से ऐसा प्रकट करता है कि कृत्रिम होने पर भी अनुभाव आदि सत्य से प्रतीत होने लगते हैं और उन्हींके द्वारा सामाजिकों को भी उनके रति भाव आदि का अनुमान होने लगता है। यद्यपि सामाजिक नाटक के पात्रों को दुष्यन्त आदि समझते हुए ही रति आदि का अनुमान करते हैं तथापि वस्तु-सौंदर्य के बल से, चमत्काराधिक्य से रसनीयता आ जाती है। उससे सामाजिकों को यह ख्याल नहीं होता कि हम रति आदि का अनुमान दूसरे में करते हैं। ऐसे

ही नट यद्यपि अनुकरण ही करते हैं तथापि अपने नाट्यकौशल से अनुकार्य की ही रति आदि का तद्रूप हो अनुभव करने लगते हैं। इससे उन्हें भी रस की चर्वणा होती है।

सारांश यह कि नट या काव्य के पाठक को दुष्यन्त समझकर उनकी रति का अनुमान ही रस हो जाता है। नाटक आदि के कृत्रिम विभाव आदि को स्वाभाविक मानकर रति आदि का अनुमान कर लिया जाता है। उसीसे रस का आस्वाद प्राप्त होता है।

पहले में तद्रूपता की विशेषता है जो दूसरों में ही वर्तमान रहती है; अपने में वह दिखाई नहीं पड़ती। इस मत में जैसे नट रस का आस्वाद लेते हैं, वैसे सामाजिक भी। प्रकारान्तर से आत्मा में भी उसका कुछ न कुछ प्रवेश हो ही जाता है।

तीसवीं छाया

रसनिष्पत्ति में भोगवाद

भरतसूत्र के तीसरे व्याख्याता भट्टनायक का मत सांख्यशास्त्र के सिद्धान्त के अनुकूल है। शंकुक का यह विचार कि रस का अनुमान होता है, उन्हें उचित प्रतीत नहीं हुआ। कारण यह कि आनन्द प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, न कि अनुमान का। एक व्यक्ति में उद्भूत रस का आस्वादन अन्य व्यक्ति में अनुमान द्वारा नहीं हो सकता। अनुमान ज्ञान से किसी वस्तु का भी हो, प्रत्यक्ष ज्ञान के समान आनन्द प्राप्त नहीं होता। रति आदि भाव की सुन्दरता के वा चमत्कार के अनुमान से आनन्द उपलब्ध हो जा सकता है, यह कल्पना असंगत है। क्योंकि नाटक के पात्रों में न तो रस का अनुमान होता है और न अनुमान से सामाजिकों में रस ही प्रतीत होता है। वास्तव में उन्हें भोगात्मक आनन्द होता है। इनके मत में संयोग का अर्थ भोज्यभोजकभाव सम्बन्ध है और निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति वा भोग है। विभावादिकों के इसी सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति होती है।

भट्टनायक का भोगवाद

भट्टनायक के मत का सारांश यह है कि काव्य शब्दात्मक है। शब्दात्मक काव्य की तीन क्रियायें होती हैं। वे ही रस-बोध के कारण

होती हैं। वे हैं—अभिधा, भावना और भोग। इन्हें शब्दों के तीन व्यापार भी कह सकते हैं। रस के आविर्भाव की ये ही तीन शक्तियाँ हैं।

अभिधा वह है जिससे काव्य का अर्थ समझा जाता है। भावना है अर्थ का अनुसन्धान—अर्थ का बार-बार चिन्तन। इससे काव्य-वर्णित नायक-नायिका आदि पात्रों की विशेषता रह नहीं पाती और वे साधारण होकर हमारे रसास्वादन के अनुकूल बन जाते हैं। अभिप्राय यह कि भावना से व्यक्तिविशेष में उद्भूत रति आदि स्थायी भाव व्यक्तिगत सम्बन्ध को छोड़कर सामान्य रूप से प्रतीत होने लगते हैं—विभावादि का व्यक्तिसम्बन्ध साधारण हो जाता है, अर्थात् मनुष्यमात्र के अनुभव के योग्य हो जाता है। दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेम से दुष्यन्त-शकुन्तला का कोई सम्बन्ध न रहकर सामान्य दाम्पत्य प्रेम झलकने लगता है। इसमें 'अयं निजः परो वेति' का भेद नहीं रह जाता। जनसाधारण के भाव हो जाने से—जन-साधारण के अपने हो जाने से सामाजिक भी रसोपभोग करने लगते हैं। भावना के इस व्यापार का नाम है साधारणीकरण। इसे भावनत्व-व्यापार भी कहते हैं।

तीसरी क्रिया है भोग या भोगव्यापार। इसका अर्थ है सत्वगुण के उद्रेक से प्रादुर्भूत प्रकाशरूप से आनन्द का ज्ञान। अर्थात् आत्मानन्द में वह विश्राम, जिसके द्वारा हम रस का अनुभव करते हैं। भावना के प्रभाव से साधारणीकृत विभावादिकों से आनन्दित होने को ही भोग या भोगव्यापार कहते हैं। यह आत्मानन्द या आनन्दा-नुभव अन्य-सम्बन्धी ज्ञान से विरहित होने के कारण अलौकिक होता है—लौकिक सुखानुभव से विलक्षण होता है।

सारांश यह कि काव्य-नाटकों के देखने-सुनने से अर्थबोध होता है। फिर भावना से सामाजिक इस ज्ञान को भुला देता है कि यह देखा-सुना अपना है कि दूसरे का। पुनः साधारणीकृत रति आदि से सामाजिकों को जो अनुभव होता है वही रस है। इस प्रकार काव्य की क्रियाओं से ही कार्यसिद्ध हो जाता है। इसमें न तो आरोप की आवश्यकता होती है और न अनुमान की।

इकतीसवीं छाया

रसनिष्पत्ति में अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त भरतसूत्र के चतुर्थ व्याख्याकार हैं। ये भट्टनायक के मत को निराधार मानते हैं। इनका कहना है कि भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित तीनों वृत्तियों या क्रियाओं में भावना और भोग नामक दो क्रियाओं की जो कल्पना की गयी है उनमें कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है। ये निराधार हैं। अत: अमान्य हैं। अभिधा तो अर्थ के साथ लगा ही रहता है। इसकी पृथक् कल्पना की आवश्यकता ही क्या ? भावों में भावकत्व गुण सहज ही विद्यमान है। क्योंकि उसका अर्थ ही वह है। भोजकत्व का व्यापार व्यञ्जना द्वारा सम्पन्न हो ही जाता है। एक बात और। केवल शब्दों द्वारा न तो भावना ही हो सकती है और न भोग ही। अत: भावना और भोग को शब्दव्यापार मानना निर्मूल कल्पना है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

इनका मत है कि रति आदि स्थायी भाव सामाजिकों के अन्त:-करण मे वासना या संस्कार रूप से वर्तमान रहते हैं। वे ही विभावादिकों के संयोग से—काव्य या नाटक के श्रवण या दर्शन से व्यञ्जनावृत्ति के अलौकिक विभावन व्यापार द्वारा रसानुभव होता है। इनके मत से 'संयोग' का अर्थ व्यङ्ग्य-व्यञ्जक—प्रकाश्य-प्रकाशक सम्बन्ध है और निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति है।

अभिनवगुप्त साधारणीकरण को मानते हैं पर उसे भावना का व्यापार नहीं, व्यञ्जना का विभावनव्यापार बताते हैं। उसीसे सहृदय सामाजिक काव्यनाटक के दुष्यन्त-शकुन्तला आदि को अपने से अभिन्न समझते हुए उनके प्रेमव्यापार का अनुभव अभिन्नता से करते है। अभिप्राय यह कि रसव्यक्ति के मूलभूत विभावादि में रस व्यक्त करने की जो शक्ति है वह व्यक्तिगत विशेष सम्बन्ध को दूर कर रसास्वाद करानेवाला साधारणीकरण है। इनके सिद्धान्त से यह समस्या सहज ही सुलझ जाती है कि हम दूसरे के आनन्द से कैसे आनन्दित होते हैं। काव्य के पठन-पाठन तथा नाटक-सिनेमा के दर्शन से, अर्थात् काव्यनाटकों के विभावादि व्यञ्जकों के संयोग से

सामाजिकों के हृदयस्थ रति आदि की अव्यक्त वासना वैसे ही अभिव्यक्त हो जाती है—फूट पड़ती है जैसे मिट्टी के पके हुए पात्र में पहले से ही वर्तमान गंध जल के छीटों के संयोग से व्यक्त हो जाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रस की उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि अव्यक्त भाव की अभिव्यक्ति होती है। वासना का जाग्रत होना ही रसास्वाद है। अद्यावधि रस के विषय में यही मत प्रामाणिक रूप से मान्य है और काव्यप्रकाशकार मम्मट भट्ट जैसे वाग्देवतावतार विद्वान् भी साहित्य-शास्त्र के इस सिद्धान्त को सादर स्वीकार करते हैं।

बत्तीसवीं छाया

रसनिष्पत्ति में नवीन विद्वानों का मत

पण्डितराज जगन्नाथ ने साहित्य-शास्त्र के नवीन विद्वानों के नाम पर जो मत उद्धृत किया है वह यहाँ 'हिन्दी रसगंगाधर' से उद्धृत किया जाता है।

"काव्य में कवि के द्वारा और नाटक में नट के द्वारा जब विभाव आदि प्रकाशित कर दिये जाते हैं, वे उन्हें सहृदयों के सामने उपस्थित कर चुकते हैं तब हमें व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा, दुष्यंत आदि की जो शकुन्तला आदि के विषय में रति थी, उसका ज्ञान होता है—हमारी समझ में यह आता है कि दुष्यन्त आदि का शकुन्तला आदि के साथ प्रेम था। तदनंतर सहृदयता के कारण एक प्रकार की भावना उत्पन्न होती है जो कि एक प्रकार का दोष है। इस दोष के प्रभाव से हमारा अन्तरात्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाता है—अर्थात् हम उस दोष के कारण अपने को मन ही मन दुष्यन्त समझने लगते हैं। तब जैसे (हमारे) अज्ञान से ढँके हुए सीप के टुकड़े में चाँदी का टुकड़ा उत्पन्न हो जाता है—हमें सीप के स्थान में चाँदी की प्रतीति होने लगती है, ठीक इसी तरह पूर्वोक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यंतत्व से आच्छादित अपनी आत्मा में, शकुन्तला आदि के विषय में, अनिर्वचनीय सत्-असत् से विलक्षण (अतएव जिनके स्वरूप का ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता ऐसी) रति आदि चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न

हो जाती हैं—अर्थात् हमें शकुन्तला आदि के साथ व्यवहारत: बिलकुल भूठे प्रेम आदि उत्पन्न हो जाते हैं और वे (चित्तवृत्तियाँ) आत्मचैतन्य के द्वारा प्रकाशित होती हैं। बस उन्हीं विलक्षण चित्तवृत्तियों का नाम रस है।"

इस मत के अनुसार संयोग का अर्थ है एक प्रकार का भावना रूपी दोष और निष्पत्ति का अर्थ है उत्पत्ति। यह मत प्रचलित न हो सका। कारण यह कि सभी को, जिनमें रति आदि वासना का अभाव रहता है उन्हें आस्वाद नहीं होता। अनिर्वचनीय रति आदि की कल्पना निरर्थक है। दूसरे यह कि सीप के टुकड़े में चाँदी के टुकड़े जैसी प्रतीति रसप्रतीति नहीं। क्योंकि वह बाधित नहीं, प्रतीति के अनन्तर हमें उसका बोध बना रहता है। तीसरे यह कि सीप में चाँदी की भावना जैसी रस की भावना सहृदय-हृदय-सम्मत नहीं है।

रिचार्ड की रसनिष्पत्ति-प्रक्रिया

रिचार्ड कहते हैं कि प्रथम शब्दों का परिणाम (Visual) होता है। अर्थात् शब्दों का नाद मानस-कर्ण-कुहर में प्रवेश करके काव्य के वहिरंग और अन्तरंग का आभास देता है। फिर पाठकों को उसकी कल्पना (Tied imagery) होती है। अर्थात् काव्य की वर्णित वस्तु के जो शब्द कान में पड़ते हैं वह वस्तु कल्पना में दीख पड़ने लगती है। फिर पाठकों के मन में उसके समान कल्पना (Free imagery) जाग्रत होती है। पुन: पाठकों के प्रत्यक्ष अनुभव से उसका सम्बन्ध होता है जिससे उसकी भावना (Emotion) उद्दीपित होती है। इससे जो एक वृत्ति (Attitude) प्रस्तुत होती है उससे ही रस की अभिव्यक्ति होती है।

यह प्रक्रिया भट्टनायक और अभिनवगुप्त की रसनिष्पत्ति-प्रक्रिया से प्राय: मिलती-जुलती है।

तेंतीसवीं छाया

अनुभूतियाँ

अनुभूति का अर्थ है ज्ञान। यह चार प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष-ज्ञान, अनुमानज्ञान, उपमानज्ञान और शब्दज्ञान। हिन्दी साहित्य में अनुभूति शब्द संभवत: बँगला से आया है। इसका प्रयोग भाव के अनुभव

करने—'फील' करने के अर्थ में होने लगा है। अनुभूति को रस कहते हैं। अनुभूति के स्थान में आस्वादन, रस चर्वणा आदि शब्दों के प्रयोग हमारे यहाँ मिलते हैं।

अनुभूति के निम्नलिखित कई प्रकार होते हैं—

प्रत्यक्षानुभूति—प्रत्यक्षानुभूति वह है जिससे हमारा व्यक्तिगत साक्षात् सम्बन्ध रहता है। पिता-माता का वात्सल्य, बड़ों का स्नेह, मित्रों की मैत्री, विरोधियों का विरोध, शत्रुओं के क्रोध और द्वेष आदि व्यक्तिगत भावों की जो अनुभूति होती है वह प्रत्यक्षानुभूति कहलाती है। इसे साक्षात् अनुभूति वा वैयक्तिक भावों की अनुभूति भी चाहें तो कह सकते हैं।

हम बाह्य जगत् में जो देखते-सुनते हैं, अनुभव करते हैं उन्हीं को लेकर अनुभूति होती है। दृश्य जगत् से ही ज्ञान का संचय होता है। जिसे देखा नहीं, सुना नहीं और अनुमाना नहीं उसका ज्ञान कैसे संभव हो सकता है। अत: हमारे द्वारा जो कुछ गृहीत या अनुभूत है वही हमारे ज्ञान की वस्तु है, अनुभव की वस्तु है। यह सब उसीसे और हमारी प्रत्यक्षानुभूति से उपलब्ध होती है।

प्रातिभ अनुभूति—क्रोसे के मतानुसार प्रातिभ अनुभूति वा सहजानुभूति ही काव्य का प्राण है। अनुभूति और सहजानुभूति दो भिन्न भिन्न वस्तुयें हैं। काव्यरचना की स्थिति मे आने के पहले कवि की प्रेरक शक्तियों की दो प्रतिक्रियायें होती हैं। पहली स्थिति कवि की अनुभूति है। यह अनुभूति उस विशेष स्थिति में होती है जब कवि के सहृदय अंतर में जीवन और जगत् प्रतिफलित होते हैं। अनुभूतिकाल में कवि की सृष्टिचेतना अभिभूत होती है। उस समय रचना की प्रेरणा असंभव है। जब कवि अनुभूति से अलग हो जाता है तो उस अनुभूति की एक स्मृति रह जाती है और तब उसे व्यक्त करने की प्रेरणा मिलती है। इस व्यक्तीकरण में सहजानुभूति होती है। क्योंकि अनुभूति में हमारा ज्ञान विचार के रूप में रक्षित रहता है और सहजानुभूति में उसी ज्ञान का एक विशेष चित्र कल्पना से स्पष्ट हो जाता है।

काव्यानुभूति—हम जिन प्रेम, करुणा, क्रोध, घृणा आदि भावों का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं उनकी अनुभूति काव्य के पढ़ने-सुनने वा

नाटक के देखने से भी होती है। पहले की अनुभूति में हमारे मन की अवस्था एक सी नहीं रहती। जो प्रेम, हर्ष आदि भाव हमारे मन के अनुकूल होते हैं उनसे सुख प्राप्त होता है और जो शोक, क्रोध आदि भाव हमारे मन के प्रतिकूल होते हैं उनसे दुःख प्राप्त होता है। हम एक में प्रवृत्त होना चाहते हैं और एक से निवृत्त। इस प्रकार प्रत्यक्षानुभूति में सुखात्मक और दुःखात्मक दो प्रकार के भाव अनुभूत होते हैं। किन्तु काव्यानुभूति में यह भेद मिट जाता है। चाहे वह सुखात्मक भाव हो चाहे दुःखात्मक, दोनों में ही मन की एक ही अवस्था रहती है। वह उसमें प्रवृत्त ही रहता है, उससे निवृत्त होना नहीं चाहता। कारण यह कि काव्य-नाटक में प्रत्यक्षानुभूति का वह रूप नहीं रह जाता। वह कवि की सहजानुभूति के रूप में ढल जाता है। उसमें रमणीयता आ जाती है। यद्यपि इन दोनों के मूल में वस्तुतः कुछ भेद प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दोनों में एक प्रकार की ही चेष्टायें दीख पड़ती हैं, तथापि इनमें आकाश-पाताल का अन्तर पड़ जाता है।

रसानुभूति—काव्य की उस अनुभूति को जिसमें मन रम जाता है, आँसू बहाता हुआ भी पाठक, दर्शक या श्रोता उससे विलग होना नहीं चाहता, रस कहा जाता है। काव्यानुभूति और रसानुभूति में कोई विशेष अन्तर नहीं, पर कुछ लोगों का विचार है कि काव्यानुभूति विशेषतः कवि को और रसानुभूति दर्शक, पाठक और श्रोता को होती है। यह कहा जा सकता है कि दोनों को दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। दोनों का अन्योन्याश्रय रहता है। कवि जब काव्य की अनुभूति करता है और पाठक को उसमें रस मिलता है तभी वह काव्य कहलाता है। न्यूनाधिक की बात संभव हो सकती है। पर यह विषय विवादास्पद है। 'कवि और भावक' में इसका विवेचन किया गया है।

चौंतीसवीं छाया

सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति

ग्रीस के सौंदर्य-विवेचन की जो परंपरा है उसमें भौतिक दृष्टि की ही प्रधानता है। संभवतः प्लेटो ने अमूर्त आधार की महत्ता को ध्यान में रखकर कविता को संगीत के अंतर्गत माना था। चूँकि

करने—'फील' करने के अर्थ में होने लगा है। अनुभूति को रस कहते हैं। अनुभूति के स्थान में आस्वादन, रस चर्वणा आदि शब्दों के प्रयोग हमारे यहाँ मिलते हैं।

अनुभूति के निम्नलिखित कई प्रकार होते हैं—

प्रत्यक्षानुभूति—प्रत्यक्षानुभूति वह है जिससे हमारा व्यक्तिगत साक्षात् सम्बन्ध रहता है। पिता-माता का वात्सल्य, बड़ों का स्नेह, मित्रों की मैत्री, विरोधियों का विरोध, शत्रुओं के क्रोध और द्वेष आदि व्यक्तिगत भावों की जो अनुभूति होती है वह प्रत्यक्षानुभूति कहलाती है। इसे साक्षात् अनुभूति वा वैयक्तिक भावों की अनुभूति भी चाहें तो कह सकते हैं।

हम बाह्य जगत् में जो देखते-सुनते हैं, अनुभव करते हैं उन्हीं को लेकर अनुभूति होती है। दृश्य जगत् से ही ज्ञान का संचय होता है। जिसे देखा नहीं, सुना नहीं और अनुमाना नहीं उसका ज्ञान कैसे संभव हो सकता है। अतः हमारे द्वारा जो कुछ गृहीत या अनुभूत है वही हमारे ज्ञान की वस्तु है, अनुभव की वस्तु है। यह सब उसीसे और हमारी प्रत्यक्षानुभूति से उपलब्ध होती है।

प्रातिभ अनुभूति—क्रोचे के मतानुसार प्रातिभ अनुभूति वा सहजानुभूति ही काव्य का प्राण है। अनुभूति और सहजानुभूति दो भिन्न भिन्न वस्तुयें हैं। काव्यरचना की स्थिति में आने के पहले कवि की प्रेरक शक्तियों की दो प्रतिक्रियायें होती हैं। पहली स्थिति कवि की अनुभूति है। यह अनुभूति उस विशेष स्थिति में होती है जब कवि के सहृदय अंतर में जीवन और जगत् प्रतिफलित होते हैं। अनुभूतिकाल में कवि की सृष्टिचेतना अभिभूत होती है। उस समय रचना की प्रेरणा असंभव है। जब कवि अनुभूति से अलग हो जाता है तो उस अनुभूति की एक स्मृति रह जाती है और तब उसे व्यक्त करने की प्रेरणा मिलती है। इस व्यक्तीकरण में सहजानुभूति होती है। क्योंकि अनुभूति में हमारा ज्ञान विचार के रूप में रक्षित रहता है और सहजानुभूति में उसी ज्ञान का एक विशेष चित्र कल्पना में स्पष्ट हो जाता है।

काव्यानुभूति—हम जिन प्रेम, करुणा, क्रोध, घृणा आदि भावों का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं उनकी अनुभूति काव्य के पढ़ने-सुनने वा

नाटक के देखने से भी होती है। पहले की अनुभूति में हमारे मन की अवस्था एक सी नहीं रहती। जो प्रेम, हर्ष आदि भाव हमारे मन के अनुकूल होते हैं उनसे सुख प्राप्त होता है और जो शोक, क्रोध आदि भाव हमारे मन के प्रतिकूल होते हैं उनसे दु:ख प्राप्त होता है। हम एक में प्रवृत्त होना चाहते हैं और एक से निवृत्त। इस प्रकार प्रत्यक्षानुभूति में सुखात्मक और दु:खात्मक दो प्रकार के भाव अनुभूत होते हैं। किन्तु काव्यानुभूति में यह भेद मिट जाता है। चाहे वह सुखात्मक भाव हो चाहे दु:खात्मक, दोनों में ही मन की एक ही अवस्था रहती है। वह उसमें प्रवृत्त ही रहता है, उससे निवृत्त होना नहीं चाहता। कारण यह कि काव्य-नाटक में प्रत्यक्षानुभूति का वह रूप नहीं रह जाता। वह कवि की सहजानुभूति के रूप में ढल जाता है। उसमें रमणीयता आ जाती है। यद्यपि इन दोनों के मूल में वस्तुत: कुछ भेद प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दोनों में एक प्रकार की ही चेष्टायें दीख पड़ती है, तथापि इनमें आकाश-पाताल का अन्तर पड़ जाता है।

रसानुभूति—काव्य की उस अनुभूति को जिसमें मन रम जाता है, आँसू बहाता हुआ भी पाठक, दर्शक या श्रोता उससे विलग होना नहीं चाहता, रस कहा जाता है। काव्यानुभूति और रसानुभूति में कोई विशेष अन्तर नहीं, पर कुछ लोगों का विचार है कि काव्यानुभूति विशेषत: कवि को और रसानुभूति दर्शक, पाठक और श्रोता को होती है। यह कहा जा सकता है कि दोनों को दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। दोनों का अन्योन्याश्रय रहता है। कवि जब काव्य की अनुभूति करता है और पाठक को उसमें रस मिलता है तभी वह काव्य कहलाता है। न्यूनाधिक की बात संभव हो सकती है। पर यह विषय विवादास्पद है। 'कवि और भावक' में इसका विवेचन किया गया है।

चौंतीसवीं छाया

सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति

ग्रीस के सौंदर्य-विवेचन की जो परंपरा है उसमें भौतिक दृष्टि की ही प्रधानता है। संभवत: प्लेटो ने अमूर्त आधार की महत्ता को ध्यान में रखकर कविता को संगीत के अंतर्गत माना था। चूँकि

वे कला के आध्यात्मिक महत्त्व का मूल्य नहीं आँकते थे। इसलिये प्लैटो के शिष्य अरस्तू ने कला को अनुकरण कहा है। लेकिन हेगेल ने सौंदर्यतत्त्व को विस्तृति दी। उसने कला में धर्म और दर्शन की प्रतिष्ठा को महत्त्व दिया। हेगेल के अनुसार सौंदर्यबोध ईश्वर की सत्ता का परिचय पाना है; उसके द्वारा ईश्वर की सत्ता का अनुभव करना है। भारतीय काव्य-सिद्धान्त की इन सब बातों में अपनी विशेषता है।

काँट का कहना है कि जो बिना उपयोगिता के प्रसन्नता दे वह सौंदर्य है। जहाँ पर उपयोगिता को प्रश्रय मिल जाता है वहाँ प्रसन्नता उपयोगिता के लिये हो जाती है, सुन्दर वस्तु के लिये नहीं रहने पाती। सौन्दर्य की वास्तविकता इसी में है कि वह प्रसन्नता का मूल स्वयं हो।

सौंदर्य में मूर्त-अमूर्त का कोई भेद नहीं। सौंदर्य की सीमा में रूप-अरूप दोनों को ही रूप मिलता है। सौंदर्य अमूर्त हो ही नहीं सकता। क्योंकि बिना रूप के हमें सौंदर्य-बोध नहीं होता। हमारे सौंदर्य-बोध से ही यह संभव है कि हम अमूर्त को भी मूर्त कर लेते हैं। भाव को रूप देना अमूर्त को मूर्त बनाना ही तो सौंदर्य-सृष्टि है।

किंतु अन्य कलाओं की और काव्य-कला की सौंदर्य-सृष्टि में अंतर है। यह अंतर है प्रभाव का। किसी कला-पूर्ण मूर्ति या चित्र को देखकर हम उसके रूप पर मुग्ध हो सकते हैं, किंतु साधारणतः भाव-मग्न नहीं होते। भाव-मग्न तो हम तभी हो सकते हैं, जब उससे रसोद्रेक हो। चित्र, मूर्ति आदि में कलाकार की कुशलता से हमें केवल सौंदर्य की अनुभूति होती है। किन्तु काव्य ऐसी वस्तु है, जिससे हमें रसानुभूति भी होती है। यहाँ तक कि संगीत भी यदि काव्य का सहारा न ले, तो हृदय में रस का उद्रेक नहीं कर सकता। अपनी प्रभावोत्पादकता के लिये संगीत काव्य का सहारा लिया करता है। गायन, वादन, नर्तन आदि संगीत के अंतर्गत हैं। गायन में अगर कविता या भाव नहीं, तो वह केवल गायक की कलाबाजी भर होगी। वादन में केवल गत और नृत्य में हाव-भाव की प्रधानता रहती है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि अन्यान्य कला से हममें रसानुभूति नहीं, बल्कि सौंदर्यानुभूति होती है। सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति के अंतर को हम देख चुके। सौंदर्या-

नुभूति हमें मुग्ध कर सकती है, पर उसका कोई स्थायी प्रभाव हमारे हृदय में नहीं होता। क्योंकि भाव-तन्मयता की शक्ति उसमें नहीं होती। काव्य की जो शक्ति अपनी अभिव्यक्ति से हमें आकर्षित और अधिक काल के लिये प्रभावित करती है, वह उसकी भाव-विदग्धता या रसानुभूति है। कविता को केवल सुंदर बनाना उसका महत्त्व नष्ट करना है। कवि या पाठक उसकी सुंदरता पर जो मुग्ध होते हैं वह उसका वाह्य गुण है जिसपर पाश्चात्य समीक्षक मुग्ध हैं और उसीको सर्वेसर्वा मान बैठे हैं। रसानुभूति के अनन्तर कवि की काव्यकला की—उसकी सौंदर्यानुभूति की भी प्रशंसा की जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि काव्यकला अन्यान्य ललित कलाओं की अपेक्षा कहीं ऊँचे स्तर पर है।

पैंतीसवीं छाया

काव्यानन्द के कारण

यह बात सिद्धान्ततः स्थिर हो चुकी है कि काव्य पढ़ने-सुनने वा नाटक-सिनेमा देखने से रसिकों को जो आनन्द होता है वह साधारणीकरण से कुछ के मत से काव्यगत पात्रों के साथ रसिकों का तादात्म्य होने से आनंद होता है। आजकल ललित कलाओं के सम्बन्ध में 'तादात्म्य' शब्द का अधिकतर और अनावश्यक प्रयोग देखा जाता है।

तादात्म्य का अर्थ है काव्य तथा नाटक के पात्रों के मनोविकारों के साथ समरस वा सहधर्मी होना। हमें तो सर्वत्र तादात्म्य के स्थान पर 'साधारणीकरण' शब्द का ही प्रयोग अभीष्ट है। पर यह प्राचीन पारिभाषिक शब्द नये तादात्म्य शब्द के प्रचलन से दबता जाता है। किसी प्रकार का पात्र क्यों न हो उसके मानसिक विकारों में तन्मय होना ही तादात्म्य का यथार्थ अर्थ है।

राजा हरिश्चन्द्र जब स्वप्न में दिये हुए दान को भी सच्चा समझ दानपात्र को दे देते हैं, तब हम उनकी सत्यता के साथ समरस हो जाते हैं। ऐसे ही स्थानों में काव्य-नाटक के पात्रों की भावनाओं के साथ रसिकों की भावना का संवाद अर्थात् मेल खाता है। हरिश्चन्द्र के

इतना करने पर भी जब जहाँ विश्वामित्र अपनी उग्रता ही प्रकट करते हैं; उनके नम्र वचन पर भी क्रुद्ध रूप ही दिखलाते हैं वहाँ हम उनके मनोविकारों के साथ समरस नहीं होते। फिर भी जो हमें आनन्द होता है, उसका कारण यह है कि हमारा अनुभव उनके साथ मिल जाता है, अथवा उनके विषय में एक अपनी धारणा बना लेते हैं। ऐसे स्थानों में साधारणीकरण वा तादात्म्य का प्रयोग ठीक नहीं। यदि हो भी तो यही समझना चाहिये कि हमें आनन्द आया वा हमारा मन उस में एकाग्र हो गया। ।

संसार में बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ हमारे चारों ओर दिखायी देती हैं; जिनके संबंध में हमारी एक प्रकार की भावना हो जाती है। किसी के प्रति प्रेम उमड़ता है, तो किसी के प्रति वैर, किसी के प्रति श्रद्धाभक्ति होती है, तो किसी के प्रति अनादर, अश्रद्धा। पुरुष हुआ तो शत्रु, मित्र, बंधु, पड़ोसी नेता आदि का और स्त्री हुई तो मा, बेटी, बहन, पड़ोसिन, स्त्री, सेविका, आदि का संबंध जोड़ लेते हैं। उससे मन में एक भावना तैयार हो जाती है। इसी व्यक्तिगत संबंध वा अपने अनुभव के छल से हम काव्य वा नाटक के पात्रों के सुख-दुःख से समरस होते हैं, उनके साथ हमारा मेल बैठ जाता है और उनके साथ साधारणीकरण होने से हमें आनंद होता है।

व्यक्तिगत संबंध की कल्पना से ही सभी प्रकार के रसिक व्यक्ति राम द्वारा धनुर्भंग होने पर जनक-जानकी की प्रसन्नता से प्रसन्न होते हैं। जनक को कोई अपना राजा, कोई मित्र, कोई ज्ञानी आदि तथा कोई जानकी को बहन, कोई कन्या, कोई सखी आदि समझता है। प्रसन्नता का यही कारण है, यहाँ यह शंका हो सकती है कि युवक-युवती का प्रेमवर्णन पढ़कर वृद्धों को आनन्द कैसे संभव है। इसका उत्तर यह है कि उनके हृदय में जो पिछला संस्कार बंधा हुआ है, उससे ही उन्हें आनंद होता है।

विश्वामित्र की दुष्टता के सुन्दर चित्रण से जो आनन्द होता है, वह प्रत्यभिज्ञामूलक है। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है पूर्वावस्था के संस्कार से सहकारी इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न एक प्रकार का ज्ञान। जैसे कि यह वही घड़ा है, जो पहले मेरे पास था। अभिप्राय यह कि जो वस्तु हम पहले देख चुके हैं, उसका संस्कार हममें वर्तमान रहता है, अर्थात् पूर्वानुभूत वस्तु के सुख-दुःखात्मक जो हमारा अनुभव है

वह मिटता नहीं। काव्यनाटक में वैसा ही कुछ पढ़ने-देखने से उसका जो पुनः प्रत्यय हो जाता है, उसीसे आनन्द होता है। इसको सहानुभूति और आत्मौपम्य की संज्ञा भी दी जा सकती है। जहाँ पूर्वावस्था का संस्कार नहीं, जहाँ अननुभूत प्रसंग है वहाँ कैसे आनन्द होगा? इसका समाधान यह है कि वहाँ या तो अतृप्त इच्छा की पूर्त्ति से हमें आनन्द होता है या प्रसंग-विशेष पर नये नये अनुभव प्राप्त करने के कुतूहल से होता है।

सिनेमा के जो प्रसिद्ध सितारे हैं उनकी प्रसिद्धि का कारण क्या है? यही कि अनुकरण करने में वे अत्यन्त पटु हैं। नाटकीय पात्रों की भूमिका में वे पात्रों की गतिविधि, आचरण, चेष्टा आदि का ऐसा अभिनय करते हैं कि उनके अनुकरण से हमें आनन्द प्राप्त होता है। यह आनन्द अनुकृतिजन्य ही होता है। प्राच्य और पाश्चात्य समीक्षक इससे सहमत हैं। कारण यह कि एक के स्वाभाविक गुण-दोष का अन्यत्र तत्तुल्य परिदर्शन आनंद का कारण होता ही है।

विक्रमादित्य नामक चित्रपट में विक्रम के वैभवशाली राजभवन तथा उनके दरबार के तात्कालिक वर्णन का जो चित्र उपस्थित होता है उससे हमें कल्पना-जनित आनन्द का अनुभव होता है।

किसी-किसी कविता के, जिनमें वस्तु-विशेषों का यथार्थ वर्णन रहता है, पढ़ने से कहीं तो प्रत्यभिज्ञा होती है और कहीं कुतूहल-पूर्ति। किसी से नवीन बातों का अनुभव होता है और किसी से अपने मन का समाधान होता है। वहाँ वहाँ एतन्मूलक ही आनन्द होता है।

कहीं कहीं भाषा, शैली, अलंकार आदि से तो कहीं चरित्रचित्रण से, कहीं सुख की क्षणभंगुरता से तो कहीं भवितव्य की प्रबलता आदि देख-सुनकर आनन्द होता है। कहना चाहिये कि कवि बड़े ही अनुभवी होते हैं। इस कारण उनकी कलाकृति से बहुत सी जाननें-सुनने और सीखने-सिखाने की बातें मालूम होती हैं जिनसे आनन्द होता है।

सर्वोपरि काव्यानन्द की मूल बात है काव्य-नाटक के पात्रों में रहने वाली तटस्थता।

छत्तीसवीं छाया

रसास्वाद के बाधक विघ्न

मनुष्य का चित्त जब तक चंचल रहता है तब तक किसी बात को ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि चंचलचित्त अस्वस्थ रहता है अर्थात् अपनापन खोये रहता है। उसके मन में कोई बात आती है और उड़ जाती है। आत्मस्थ की दशा ही बोधदशा है। यह साधारण बातों के लिये भी आवश्यक है। रसबोध या रसानुभूति के लिये तो एक विशेष मानसिक अवस्था की आवश्यकता है। वह अवस्था सैद्धान्तिक ही नहीं, व्यावहारिक भी है। यह है चित्त की एकाग्रता।

भरतसूत्र के टीकाकार अभिनव गुप्त का अभिमत है कि सवथा वीतविघ्न अर्थात् विघ्नविरहित रसनात्मक प्रतीति से जो भाव गृहीत होता है वही रस है। कहने का अभिप्राय यह कि जबतक विघ्न दूर नही होते तब तक रसप्रतीति नहीं होती, रसास्वाद नहीं मिलता। विघ्न दूर करने वाले विभाव आदि हैं। संसार में संवित्—ज्ञान, रसन, आस्वादन आदि विघ्नविनिर्मुक्त ही होते हैं। ऐसे तो विघ्नों का अन्त नहीं। पर प्रधानतया सात विघ्नों का निर्देश किया गया है। वे विघ्न हैं[1]—

१ प्रतिपत्ति में अयोग्यता अर्थात् विश्वास-योग्य न होना, मन में न पैठना। उसको संभावनाविरह अर्थात वर्णनीय वस्तु की असंभवता कहते हैं।

कल्पनाप्रिय कवि जो कुछ वर्णन करता है उसमें ऐसी बुद्धि कभी न जगनी चाहिये कि क्या यह कभी संभव है! जहाँ ऐसी बुद्धि उपजी कि रसानुभूति हवा हुई। जब हमें यशोदा-विलाप, विरहिणी उर्मिला का कथन, गोपी-उद्धव-संवाद पढ़ते हैं तब हमारे मन में यह भावना नहीं जगती कि इन सबों ने ऐसा विलाप-आलाप-संलाप-कलाप किया

---

१ सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः। तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः। तथाहि लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिः। विघ्नाश्चास्यां सप्त। १ प्रतिपत्तावयोग्यता संभावनाविरहो नाम। २-३ स्वगतत्वपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशः। ४ निजसुखादि - विवशीभावः। ५ प्रतीत्युपायवैकल्य-स्फुटत्वाभावः। ६ अप्रधानता। ७ संशययोगश्च। अभिनवभारती

होगा। फिर हम उसके रस में मग्न होते हैं। वहाँ साहित्यिक सत्य सपने में भी इनकी असंभवता को, अप्रत्ययता को फटकने नहीं देता। कारण यह कि मातृवात्सल्य, पुत्रवियोग, पतिवियोग, प्रियवियोग आदि में सभी कुछ संभव है। पर भारतीयों का संस्कृति-संस्कृत हृदय 'मेघनादवध' काव्य की स्त्रीसेना से राम के संत्रस्त होने आदि की घटनाओं में वैसा रसमग्न नहीं होता। क्योंकि प्रतिपत्ति की अयोग्यता—संभावना का अभाव है।

इसमें आर्यों को अनौचित्य प्रतीत होता है। कथावस्तु, वर्णन आदि में अनौचित्य को प्रश्रय न मिलना चाहिये। उचित-विषय-निष्ठता एक बड़ी वस्तु है। इस पर एक सिद्धान्त ही स्थापित है। प्रायः सभी आचार्यों ने इसको माना है। स्पष्ट कहा गया है कि अनौचित्य ही रसभङ्ग का कारण है और औचित्य-योजना रसप्रकाशन का परम उपाय[1] है। लोचन में भी अभिनव गुप्त कहते हैं कि 'वर्णन ऐसा होना चाहिये जिसकी प्रतीति का खण्डन न हो'। पाश्चात्य भी संभावना-विरह के सिद्धान्त को मानते हैं।

२+३ **अपने और पराये के नियम से देश और काल का आवेश होना।** अभिप्राय यह कि नाटकगत पात्रों में सुख-दुःख के जो भाव देखे जाते हैं वे उन्हींके मान लिये जायँ तो समाजिक उनसे उदासीन हो जायँगे और उन्हें रस की प्रतीति नहीं होगी। यदि दर्शक के मन में ऐसे खयाल आ जायँ कि हमने ऐसे ही सुखदुःख भोगे हैं और ऐसे विचार में फँस जायँ कि ये बातें भूलने की नहीं, या इनको छिपाना चाहिये या इनको खुले आम कह देना चाहिये, तो दूसरे संवेदन की उत्पत्ति हो जायगी जो प्रस्तुत रसास्वाद के लिये भारी विघ्न होगा। देश-विशेष, काल-विशेष, व्यक्ति-विशेष की निरपेक्षता ही से सच्ची रसानुभूति हो सकती है। यही साधारणीकरण का व्यापार है। इससे स्वगतत्व और परगतत्व का भाव मिट जाता है। स्पष्टार्थ यह कि एक संवेदना के समय दूसरी संवेदना का होना रसास्वाद का परम विघ्न है।

४ अपने सुख आदि से ही विवश हो जाना। अभिप्राय यह कि

---

१ अनौचित्यादृते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्। प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा। ध्वन्यालोक

यदि किसी का बेटा हुआ हो या बेटा मर गया हो, उसको यदि नाटक-सिनेमा दिखाकर उसका मन बहलाया जाय तो यह असंभव है। क्योंकि रह रह कर उसका ध्यान अपने सुख-दुःख की ओर ही खिंच जायगा। निज-सुखादि-विवशीभूत व्यक्ति वस्त्वन्तर में अपनी चेतना को संलग्न कर ही नहीं सकता। इसीसे नाटक आदि में नृत्य, वाद्य, गीत आदि का प्रबन्ध रहता है जिससे मनोरंजन हो, हृदय का किल्विष दूर हो और साधारणतः असहृदय भी सहृदय हो जाय।

५ प्रतीति के उपायों की विकलता और उसका स्फुट न होना। अभिप्राय यह कि जिन उपायों से प्रतीति होती है उन्हीं का यदि अभाव हो और वे उपाय यदि अस्फुट हों तो प्रतीति कभी हो नहीं सकती। स्फुट प्रतीति होने के लिये उपायों की विकलता और अस्फुटता न होनी चाहिये। भावानुभूति के लिये प्रसाधनों की पूर्णता, वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण होना आवश्यक है। उपायों की अयोग्यता, अपूर्णता और अस्फुटता रसास्वाद के बाधक हैं। विभावादि से परिपोष पाकर स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं, यह न भूलना चाहिये। इस विघ्न को दूर करने के लिये नाटक का अभिनय उच्च कोटि का होना चाहिये।

६ अप्रधानता। अप्रधान वस्तु में किसी की लगन नहीं लगती। यदि कोई प्रधान वस्तु हो तो मन आप ही आप अप्रधान को छोड़कर प्रधान की ओर दौड़ जाता है। यहाँ अप्रधान हैं विभाव, अनुभाव और संचारी। यद्यपि ये अस्वाद-योग्य हैं, फिर भी पर-मुखापेक्षी हैं। चर्वणा के पात्र स्थायी भाव ही हैं—आस्वाद-योग्यता उन्हींमें है। इससे प्रधान ये ही हैं और सभी अप्रधान। स्थायी भाव ही क्यों प्रधान हैं, इसका उल्लेख अन्यत्र हो चुका है। सारांश यह कि मुख्य वस्तु रस है। विभाव आदि गौण हैं। जहाँ गौण को ही प्रधान बनाने की चेष्टा हो वहाँ अप्रधानता नामक रसविघ्न उपस्थित हो जाता है।

७ संशय-योग अर्थात् संदेह उपस्थित होना। यह कोई नियम नहीं कि अमुक अमुक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी अमुक अमुक स्थायी के ही हों। आँखों से आँसू आँख आने में भी निकलता है, आनन्द में भी और शोक में भी। बाघ आदि क्रोध, भय आदि स्थायी-भावों के कारण हो सकते हैं। उत्साह, भय आदि स्थायी भावों में

श्रम, चिन्ता आदि व्यभिचारी होते हैं। जहाँ यह संशय हो कि आँसू आनन्द के हैं या शोक के, वहाँ रसानुभव नहीं हो सकता है। पर विभाव यदि बन्धु-विनाश हो तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि रोना-धोना शोक के ही अनुभाव हैं; चिन्ता, दैन्य उसी के संचारी हैं। जहाँ ऐसे विषयों में संशय बना रहे वहाँ सम्यक् रूपेण रसचर्वणा नहीं हो सकती।

अभिनव गुप्त ने इन सातों का जो विस्तृत वर्णन किया है, उसका सारांश ही यहाँ विशद बनाकर लिखा गया है।

सैंतीसवीं छाया

साधारणीकरण

भट्टनायक के मत में कहा गया है कि भावना या भावकत्व का व्यापार है 'साधारणीकरण'। पहले पाठक या दर्शक सीता-राम या शकुन्तला-दुष्यन्त को व्यक्तिविशेष के रूप में ही ग्रहण करता है। पीछे काव्य में जो कुछ पढ़ता या सुनता है, या नाटक-सिनेमा में जो कुछ देखता है उससे कविप्रतिभा के कारण इतना प्रभावित होता है कि बारबार उसीका ध्यान करता है और उसीमें मग्न हो जाता है। उस समय देशकाल का बन्धन भी छिन्न हो जाता है। यह आत्मविभोर करने वाली दशा भावकत्व व्यापार से, बार बार की विभावना से उत्पन्न होती है। इससे होता यह है कि विभाव आदि और स्थायी भाव साधारण रूप से प्रतीत होने लगते हैं। अभिप्राय यह कि किसी विशिष्ट व्यक्ति में उद्भूत रति आदि स्थायी भाव व्यक्ति-विशेष के न रह कर सामान्य रूप धारण कर लेते हैं। सीता-राम या शकुन्तला-दुष्यन्त के रूप नहीं रह जाते। वे सामान्य दम्पति के रूप में ज्ञात होने लगते हैं। उनका प्रेम व्यक्तिगत सम्बन्ध को त्यागकर सर्वसाधारण का हो जाता है। विभावदिकों का सामान्य रूप में परिवर्तित हो जाना ही 'साधारणीकरण' है। इसीको साधारणतः स्वाकार से अभिन्न कहा गया है।

व्यक्तिगत साहित्य सर्वगत (Universal) साहित्य तभी हो सकता है जब कि साहित्यिक अपने को जानता है। जिस साहित्यिक

की अनुभूति में आन्तरिकता रहती है, जो अपने को पहचानता है वही सार्वजनीन साहित्य की सृष्टि कर सकता है। ऐसे ही साहित्यिक के आत्मज्ञान के माध्यम से सभी परिचित हो सकते हैं। साहित्यिक अपनी अभिज्ञता से जो चित्र चित्रित करता है वह सम्पूर्ण, सुन्दर और सार्थक होता है। ऐसे ही समग्र चित्र सभी सहृदयों के अपने हो सकते हैं; उनके साथ साधारणीकरण हो सकता है।

इसी साधारण अवस्था को मम्मटाचार्य यों व्यक्त करते हैं—'ये मेरे ही हैं, मेरे शत्रु के ही हैं, उदासीन व्यक्ति के ही हैं अथवा ये मेरे नहीं हैं, मेरे शत्रु के नहीं हैं और न उदासीन व्यक्ति के ही हैं, इस प्रकार नाना सम्बन्धों से सम्बन्धित विदित नहीं होते। क्योंकि ऐसे सम्बन्धों के ग्रहण वा त्याग के नियमों का ज्ञान इस अवसर पर बना नहीं रह पाता[1]। विभाव आदि के साणारण कर लिये जाने की ही यह महिमा है।

जो यह शंका करते हैं कि सीता आदि के विषय में राम आदि की रति को, जो उन्हीं की आत्मा में स्थित है, अपनी मानें तो हमें पाप लगेगा। इसका समाधान यही है कि साधारणीकरण में यह बात नहीं रहने पाती। कारण यह कि जो रति आदि स्थायी भाव तथा कटाक्षपात आदि अनुभाव प्रतीत होते हैं उनमें सीता-राम आदि आलम्बन विभावों का संबंध प्रतीत नहीं होता। साधारणीकरण में सभी सामान्य हो जाते हैं। सीता-राम आदि की विशेषता रह ही नहीं जाती[2]।

साधारणीकरण में विभावना की विभूति द्वारा साधारणीकृत विभाव आदि से साधारण रूप में स्थित रति आदि का भोग अर्थात् सामाजिकों को रसास्वाद होने लगता है। भोग सत्वगुण के उद्रेक से उत्पन्न आनन्द-स्वरूप होता है। यह लौकिक सुखानुभव से विलक्षण होता है। सत्व, रज और तम के उद्रेक से क्रमशः सुख, दुःख तथा मोह

---

१ ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेषपरिहारनियमानध्यवसायात्। काव्यप्रकाश

२ तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः किमिवानिष्टं कुर्युः। द० रू० ४'४१ की टीका।

उत्पन्न होते हैं। सत्व का उद्रेक सत्य का उद्रेक है और उसका स्वभाव है आनन्द का प्रकाश करना।

अनेको विदेशी विद्वान् साधारणीकरण के सम्बन्ध में ऐसा ही अपना अभिमत व्यक्त करते हैं जिनमें एक का आशय यह है कि 'भावतादात्म्य पाठक या दर्शक की उस दशा को व्यक्त करता है जिसमें वह कुछ काल के लिये व्यक्तिगत आत्मचैतन्य को खो देता है और किसी उपन्यास या नाटक के पात्र के साथ आत्मीयता स्थापित कर लेता[1] है'।

इसमें भावतादात्म्य Empathy इम्पैथी शब्द के लिये आया है। यह सिंपैथी Simpathy समानुभूति का सहोदर भाई है। समानुभूति में अनुभूति Feeling का साथ देना पड़ता है किन्तु इम्पैथी में तन्मयता की अवस्था हो जाती है। समानुभूति में समानुभूति के पात्र तथा समानभूति-प्रदर्शक के व्यक्तित्व की पृथक्ता का भान होता है पर एम्पैथी में कुछ काल के लिये दोनों का व्यक्तित्व एक हो जाता है।

इसी प्रकार के भाव रिचार्ड ऐसे समालोचक, क्रोसे जैसे दार्शनिक तथा लिप्स (Lipps) जैसे मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्त किये हैं।

साधरणीकरण में—चित्त की एकरूपता की अवस्था में करुणात्मक वर्णन भी हमें सुखदायक प्रतीत होता है। कारण यह है कि करुणा का जो लौकिक रूप होता है वह दुखदायी होता है। पर जब लौकिक विभाव आदि से वह अलौकिक रूप धारण कर लेता है तब उससे आनन्दोपलब्धि ही होती है। क्योंकि रसास्वाद आनन्दस्वरूप होता है। यह आनन्द व्यक्तिगत न होकर समाजिक-सुलभ होता है। यहाँ हृदय मुक्त—भावप्रवण रहता है। इस दशा में दुःखदायक दृश्य भी, वर्णन भी रसात्मक होने के कारण आनन्ददायक ही होता है। इसका प्रमाण सहृदयों का अनुभव [2] ही है।

---

1 Empathy connotes the state of the reader or spectator who has lost for a while his personal self consciousness and is identifying himself with some character in the story or screen.

२ करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥ सा० दर्पण

इस बात को मधुसूदन सरस्वती भी कहते हैं कि व्यवहार में जो व्यक्तिगत सुखदुःख होता है वह सुखदुःख-रूप होता है पर व्यक्ति-निरपेक्ष जो सुखदुःख है वह रसिकों को सुखात्मक ही प्रतीत होता है[1]।

एक पाश्चात्य कवि का उद्‍गार है कि 'हमारे दुःख के ही गीत बहुत मधुर होते हैं।'[2] इसमें यह ध्यान देने की बात है कि लौकिक दुःखदायी विचार न संगीत ही होता है और न मधुर ही। जब कवि अपने काव्य में विषाद की बात कहता है तभी वह मधुर संगीत होता है।

साधारणीकरण का सार तत्त्व यह है कि कवि अपनी सामग्री से जो भाव उपस्थित करता है उसका अनुभव निरवच्छिन्न रूप से सामाजिक को होना। रसिकों को जो काव्यानन्द प्राप्त होता है वह अस्वादनरूप होता है, इन्द्रिय-तृप्ति-कारक नहीं; सार्वजनिक होता है, वैयक्तिक नहीं; स्वानुभवजन्य होता है, अन्यजन्य नहीं। क्रीड़ारूप आत्म-विकार का आनन्द प्राप्त करने के लिये कवि सरस काव्य लिखता है और रसिक उसी प्रकार का आनन्द प्राप्त करने के लिये सरस काव्य पढ़ता है।

अड़तीसवीं छाया

साधारणीकरण में मतभेद

साधारणीकरण के सम्बन्ध में आचार्य भी एकमत नहीं कहे जा सकते। पर उन में एक ही बात है, ऐसा कहा जा सकता है। विचार किया जाय।

प्रदीपकार कहते हैं कि भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण।

---

१ बोध्यनिष्ठा यथास्वं ते सुखदुःखादिहेतवः ॥
बोद्धृनिष्ठास्तु सर्वेऽपि सुखमात्रैकहेतवः ॥
अतो न करुणादीनां रसत्वं प्रतिहन्यते ॥
भावानां बोद्धृनिष्टानां दुःखाहेतुत्वनिश्चयात् ॥ भगवद्भक्तिरसायन

2 Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts.

उसी व्यापार से विभाव आदि और स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है। सीता आदि विशेष पात्रों का साधारण स्त्री समझ लेना यही साधारणीकरण है। स्थायी और अनुभाव आदि का साधारणीकरण सम्बन्ध-विशेष से स्वतन्त्र होना ही[1] है।

साधारणीकरण के आविष्कारक भट्टनायक का यही मत है। इसकी व्याख्या आचार्यों ने अनेक प्रकार से की है और प्रायः इसीका उपपादन किया है। अभिव्यक्ति-वाद भी इस मत को मानता है, अर्थात् साधारणीकरण को स्वीकार करता है। किन्तु भावना और भोग को शब्द का व्यापार नहीं मानता बल्कि उन्हें व्यञ्जना द्वारा व्यञ्जित ही मानता[2] है। अभिनवगुप्त का अभिप्राय यह है कि भावना शब्द का अर्थ यदि विभावादि द्वारा चर्वणात्मक—आनन्दरूप रस-सम्भोग समझा जाय अर्थात् काव्यार्थ पाठक और श्रोता के चित्त में प्रविष्ट होकर रस-रूप में अनुभूत हो, यदि भावना का अर्थ इतना ही हो तो इसको स्वीकार किया जा सकता[3] है। साधारणीकरण में इस कविता की सी एक दूसरे की दशा हो जाती है।

दो मुख थे पर एक मधुर ध्वनि, दो मन थे पर एक लगन।
दो उर थे पर एक कामना, एक मगन तो अन्य मगन॥ एक कवि

दर्पणकार कहते हैं कि विभाव, अनुभाव और संचारी का जो एक व्यापार है—सामर्थ्य-विशेष है वही साधारणीकरण है। अर्थात् असाधारण को साधारण बनाना है, असदृश को सदृश तक पहुँचाना है। वह श्रूयमाण तथा श्रोता में, दृश्यमान तथा द्रष्टा में अभेद संपादित कर देता है। अभिप्राय यह कि काव्यनिबद्ध विभाव आदि काव्यानुशीलन वा नाटकदर्शन के समय श्रोता और द्रष्टा के साथ

---

१ भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणञ्चैतदेव यत् सीतादीनां कामिनीत्वादि-सामान्येनोपस्थितिः। स्थाय्यनुभावादीनां सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन। का. प्र. टीका

२ "न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम् भोगोऽपि काव्यशब्देन क्रियते"। त्र्यंशायामपि भावनायां कारणांशे ध्वननमेव निपतति....भोगकृतं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे सिध्येत्। ध्वन्यालोकलोचन

३ संवेदनाख्यव्यङ्ग्य (स्व) परसंवित्तिगोचरः। आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थं उच्यते। अभिनवभारती

अपने को संबद्ध रूप से प्रकाशित करते हैं। यह साधारणीकरण ही विभावन-व्यापार है[1]।

प्रदीप और दर्पण में दो बातें दीख पड़ती हैं। पहले में दर्शक, श्रोता और पाठक के सामान्यतः विभावादि के साथ साधारणीकरण की बात है। पाठक या दर्शक किसी के साथ नहीं बँधते। उनका सभी के साथ भावसाम्य की बात स्पष्ट है। दूसरे में 'प्रमाता' और 'तद्भेद' के कथन से एक बात स्पष्ट हो जाती है। वह है आश्रय के साथ द्रष्टा-श्रोता का बँध जाना, दोनों के भेदभाव का लुप्त हो जाना। किन्तु दोनों आचार्यों के विचारों का निचोड़ इनना ही है कि विभाव आदि के सामान्य कथन में सभी का समावेश हो जाता है। साधारणीकरण में साधारणतः काव्यगत भाव सभी सहृदयों के अनुभव का एक सा विषय बन जाता है। यह बात दोनों में पायी जाती है। अतः इसमें मतभिन्नता को प्रश्रय नहीं मिलता।

पण्डितराज साधारणीकरण को नहीं मानते। वे किसी दोष की कल्पना करते हैं और उसी दोष द्वारा अपनी आत्मा में दुष्यन्त आदि के साथ अभेद मान बैठते हैं। वे लिखते हैं "प्राचीन आचार्यों ने विभाव आदि का साधारण होना (किसी विशेष व्यक्ति से सम्बन्ध न रखना) लिखा है। उसका भी किसी दोष की कल्पना किये बिना सिद्ध होना कठिन है। क्योंकि काव्य में शकुन्तला आदि का जो वर्णन है उसका बोध हमें शकुन्तला (दुष्यन्त की स्त्री) आदि के रूप में ही होता है, केवल स्त्री के रूप में नहीं[2]। इस पर उनके शंकासमाधान भी पढ़ने के योग्य हैं।

पण्डितराज भी एक प्रकार से साधारणीकरण मानते हैं पर वे कहते हैं कि शकुन्तला आदि की विशेषता निवृत्त करने के लिये किसी दोष की कल्पना कर लेना आवश्यक है और उसी दोष से दुष्यन्त आदि के साथ अपनी आत्मा का अभेद समझ लेना चाहिये। यहाँ किसी न

---

१ व्यापारोऽस्ति विभावादेः नाम्ना साधारणीकृतिः। तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः। प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते। सा० दर्पण

२ यदपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तं तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादिबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु दोषविशेषकल्पनं बिना दुरुपपादम्। रसगंगाधर

किसी रूप में अभेद की बात आने से साधरणीकरण का एक रूप खड़ा हो जाता है। यहाँ अभेद समझने की बात विचारणीय है। क्योंकि कहाँ शकुन्तला के नायक दुष्यन्त चक्रवर्ती राजा और कहाँ हम सामान्य मनुष्य। दोष की कल्पना कहाँ तक इस पर पर्दा डाल सकती है!

सम्बन्ध-विशेष का त्याग वा उससे स्वतन्त्र होना ही साधारणीकरण है जैसा कि मम्मट आदि की व्याख्या से विदित है। समझिये कि वास्तव जगत् की घटनाओं में जो पारस्परिक संबंध होता है उनमें जैसे एक दो के तिरोधान होने से सभी सम्बन्ध तिरोहित हो जाते हैं वैसे ही वास्तव जगत् के देश, काल, नायक आदि के मन से तिरोहित होते ही उस संबंध के सभी विशेष स्वभाव तिरोहित हो जाते हैं और हृदय-संवादात्मक अर्थ के भाव से रसोद्रेक होने लगता है[1]। साधारणीकरण के इस मूल मन्त्र को छोड़ अनेकों विद्वान् विपरीत दिशा की ओर भटकते दिखाई पड़ते हैं।

शुक्ल जी यह कहते हैं, 'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यत: सब के उसी भाव का आलंबन हो सके तब तक रसास्वादन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इस रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।' इससे स्पष्ट है कि वे आलंबनत्व धर्म को प्रधानता देते हैं और स्पष्ट कहते भी हैं कि साधारणीकरण आलंबनत्व धर्म का होता है। इस दशा में वे अपरिमित को परिमित बना देते हैं, विस्तृत को संकुचित कर देते हैं। क्या रसोद्बोध में आलंबन ही आलंबन है? यदि अनुभाव विपरीत हो तब? शोकातुर व्यक्ति को ताल-लय से मंच पर गाना गाते देख सभी शोकग्रस्त हो सकते हैं? यहाँ तो शोक भाव का आलंबन सभी का आलंबन तो है और उससे साधारणीकरण भी होता है। पर उसके अनुभाव से सभी का साधारणीकरण नहीं हो सकता। अत: केवल आलंबन का ही नहीं, सभी का साधारणीकरण आवश्यक है।

श्यामसुन्दर दासजी कहते हैं कि साधारणीकरण कवि अथवा भावक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। चित्त के एकाग्र और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता

१ योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।

है।...आचार्यों का अन्तिम सिद्धान्त तो यही है जो हमने माना है। हमारा हृदय साधारणीकरण करता है'।

हम तो कहेंगे कि यह अन्तिम सिद्धान्त नहीं है। आचार्यों की पीढ़ी में पण्डितराज अन्तिम माने जाते हैं पर वे इस सम्बन्ध में दूसरी ही बात कहते हैं। हृदय के साधारणीकरण की बात कहने के समय अभिनव गुप्त का यह वाक्यांश 'हृदय-संवादात्मक-सहृदयत्व-बलात्' उनके हृदय में काम करता रहा। अभिनव गुप्त यह भी कहते हैं कि भाव के चित्त में उपस्थित होने पर अनादिकाल से संचित किसी न किसी वासना के मेल से ही रस रूप में परिपुष्ट होता[1] है। फिर यहाँ वासना को ही साधारणीकरण क्यों न कहा जाय? यहाँ यह शंका भी हो सकती है कि हमारा हृदय कवि के, आश्रय के, आलंबन के, भाव के, किस के साथ साधारणीकरण करता है? अतः इन ग्राम-मार्गों को छोड़कर भट्टनायक के राजमार्ग पर ही चलना ठीक है।

उनचालीसवीं छाया

साधारणीकरण और शुक्लजी

शुक्ल जी ने 'चिन्तामणि' प्रथम भाग के दो लेखों में साधारणीकरण को कई स्थानों पर समझाया है। उनमें कुछ विचारणीय बातें हैं। वे लिखते हैं—

"किसी काव्य का श्रोता वा पाठक जिन विषयों को मन में लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह आदि भावों तथा सौन्दर्य, रहस्य और गाम्भीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है वे अकेले उसीके हृदय से सम्बन्ध रखने वाले नहीं होते, मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालने वाले होते हैं। इसीसे उक्त काव्य के पढ़ने या सुनने वाले सहस्रों मनुष्य उन्हीं भावों या भावनाओं का थोड़ा या बहुत अनुभव कर सकते हैं।"

इसमें पहले तो भाव और भावना की बात भ्रामक है। इन पर विचार करने के पहले इनका अर्थ और इनमें जो अन्तर है वह

[1] अतएव सर्वसामाजिकानां मेकघनतेव प्रतिपत्तेः सुतरां रसपरिपोषाय सर्वेषाम-नादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्।

समझ लेना चाहिये। क्योंकि ये दोनों साहित्य के विचारणीय तत्त्व हैं।

भाव के अनेक लक्षण हैं जिनमें एक यह है—भावक के चित्त के सुख-दुःख-रूप भाव का जो भावन—वासन है वही भाव[1] है। भाव की इस व्याख्या में भावन और वासन दो शब्द आये हैं जिनके स्त्रीलिंग रूप भावना और वासना हैं। भावना का भाव भी अर्थ है और इस अर्थ में इसका प्रयोग भी अधिकतर देख पड़ता है। ऐसे स्थानों में भावना का अर्थ मनोविकार ही लिया जाता है।

साधारणतः भावना का अर्थ भावानुभव है। लोचनकार की 'रसभावना' शब्द का रति आदि की भावना ही अर्थ किया गया[2] है। भोज के लिखने का आशय है कि भावना से भाव होता है और भावना को पार कर जाने पर रस हो जाता है[3]।

भावना के बोध, विचार, कल्पना आदि भी अर्थ होते हैं। हम यदि इसका अन्तः साक्षात्कार वा अन्तर्मनन, अपने मन का बोध कहें तो बहुत उपयुक्त होगा। किसी विषय में जब बुद्धि, विचार, कल्पना संस्कृति, परिस्थिति आदि का योग होता है तब हमारी भावना बँधती है। भावना वस्तु-रूप नहीं, मनन-रूप है; विचार-रूप है। तुलसीदास कहते हैं—

जाकी रही भावना जैसी, हरिमूरति देखी तिन तैसी।

एक ही राममूर्ति को राजाओं ने भावना की भिन्नता से—अपने अपने खास खास खयाल से भिन्न भिन्न रूप में देखा। इसमें भिन्न भिन्न प्रकार का जो भावन है, चिन्तन है, यही भावना है।

इस दशा में शुक्लजी के भावों का और भावनाओं का 'तथा' द्वारा और फिर उनका एक ही स्थान में 'या' द्वारा पृथक् रूप से

---

१ सुखदुःखादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसः भावनं वासनं भावः। द० रू० ४-४. की टीका।

२ रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः। रत्यादिभावनेत्यर्थः।

—ध्वन्यालोक की बालप्रिया टीका।

३ आभावनोदयमनन्यधिया जनेन संभाव्यते मनसि भावनया स भावः। यो भावनापथमतीत्य विवर्तमानः साहंकृतौ हृदि परं स्वदते रसोऽसौ। शृङ्गारप्रकाश

निर्देश कहाँ तक संगत है यह चिन्त्य है, विचारणीय है और भ्रम में डालने वाला है। वात्सल्य, औदार्य, धीरता, सत्यनिष्ठा, धार्मिकता, रसिकता, महानुभावता, रूपमाधुर्य, गुणसौन्दर्य आदि ऐसे अनेक विषय हैं जिनकी भावना की जा सकती है। स्वयं ये भावना नहीं बन जा सकते। शायद इस भ्रम को समझ कर अन्यत्र वे भावना नहीं इनकी भावना लिखते हैं। जैसे 'सौन्दर्य, विचित्रता, भीषणता, क्रूरता इत्यादि की भावनायें बाहरी रूपों और व्यापारों से ही निष्पन्न हुई हैं'[1]।

एक बात और। शुक्ल जी सौन्दर्य को भावना मानते हैं और उसका साधारणीकरण करते हैं। विचार कीजिये। सौन्दर्य एक गुण है। इसका मानदण्ड भिन्न भिन्न है। हमारे लिये जो सुन्दर है वह दूसरे के लिये असुन्दर हो सकता है। इसका कारण यह है कि सौन्दर्य हमारे हृदय के भावों का प्रतिबिंब होता है। इसमें विचार भी मिश्रित रहता है। रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि आकृति का, रूप का सम्बन्ध वैयक्तिक है[2]। इससे भावना रूप में माने हुए सौन्दर्य का साधारणीकरण सम्भव नहीं। यहाँ फिर भी तुलसीदास की बात दुहरायी जा सकती है।

शुक्लजी आगे लिखते हैं—"साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलंबन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भावों का आलंबन हो जाती है।"

इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी आलंबन का ही साधारणीकरण मानते हैं। यह बात तब और स्पष्ट हो जाती है जब वे आश्रय के साथ तादात्म्य और आलंबन के साथ साधारणीकरण की बात कहते हैं। आचार्यों का यह अभिमत नहीं है। वे सब का साधारणीकरण मानते हैं। वे विभाव की बात कह कर आलंबन और आश्रय के दो रूपों की

---

१ चिन्तामणि पृष्ठ ३२६।

२ What you deprive truth of its appearance, it loses the best part of its reality for appearance is a personsl relationship. It is for me. *The world of personality.*

दो बातें मानते ही नहीं। आश्रय के साथ तादात्म्य की बात लेकर ही शीलद्रष्टा आदि की बात उठती है। यह विचार विषय को स्पष्ट बनाने की अपेक्षा और अस्पष्ट बना देती है।

संभवत: शुक्लजी को आश्रय के साथ तादात्म्य का सूत्र दर्पणकार की कारिका में मिला हो जिसका आशय यह है कि इसी साधारणीकरण रूप व्यापारके प्रभाव से उस समय प्रमाता—द्रष्टा, श्रोता अपने को समुद्र फाँदनेवाले हनुमान से अभिन्न समझने लगते[1] हैं। यहाँ प्रमाता के तदभेद की बात इस शंका का समाधान है कि 'अल्पशक्ति मनुष्य मात्र को समुद्र लंघन में कैसे उत्साह हो सकता है'। यह वर्णन इसकी एकांगिता सूचित करता है। इसीसे सामान्यत: दर्पणकार ने कहा है कि 'व्यापारोऽस्ति विभावादे:' अर्थात् विभाव (आलंबन-आश्रय-उद्दीपन) आदि (अनुभाव, संचारी, स्थायी) का साधारणीकरण होता है। इनका उद्देश्य कभी यह नहीं है, जैसा कि शुक्ल जी ने शायद् समझा है।

यहाँ तादात्म्य पर विचार कर लें। एक स्थान पर साधारणीकरण और दूसरे स्थान पर 'तादात्म्य' का प्रयोग भ्रामक ही नहीं अशुद्ध है। भ्रामक इससे कि एक ही बात के दो स्थानों पर दो रूप भासित होते हैं। क्या साधारणीकरण शब्द इनके लिये पर्याप्त नहीं था ? यदि तादात्म्य की बात को दर्पणकार का पथानुसरण कहा जाय तो दोनों के भावों में बड़ा अन्तर है। जहाँ दर्पणकार ने 'पाथोधिप्लवनादय:' कहकर उत्साह भाव के सम्बन्ध में तदभेद की बात कही है वहाँ शुक्ल जी केवल आश्रय के साथ तादात्म्य की बात कहते हैं। 'स आत्मा स्वरूपं यस्य तस्य भाव:' यह तादात्म्य शब्द का विग्रह है। क्या कोई समझदार यह कह सकता है कि जो वह है वह मैं हूँ ? क्या किसी की सारी वृत्तियाँ दूसरे की एक सी हो सकती हैं ? कोई किसी के सम्बन्ध में इतना ही कह सकता है कि उनके वे भाव या विचार मेरे जैसे हैं। अगर हम किसी के साथ तादात्म्य की बात कहते हैं वहाँ एक ही भूमिका में उपस्थित होने, समानधर्मा होने, समभाव होने की ही बात समझी जाती है। इस प्रकार दोनों के अन्तर की अनेक बातें पाठकों को उपलब्ध होंगी।

---

१ प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते। सा० द०

अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने आश्रय के साथ पाठक के तादात्म्य की बात पृथक् रूप से नहीं कही है। वे स्पष्टतः कहते हैं कि विभाव आदि के साधारणीकरण के कारण रसिकों की सुप्त रति आदि वासना प्रबुद्ध हो उठती है और सहृदयता के बल से हृदय हृदय का मेल हो जाता है। फिर तन्मयीभाव से उचित चर्वणा होने लगती है—आस्वाद मिलने लगता[1] है। इसमें स्थायी सहित सभी का साधारणीकरण माना गया है।

हाँ, यहाँ यह कहा जा सकता है कि साधारणीकरण की दो दिशायें हैं। एक ओर तो काव्य-नाटक-वर्णित वस्तु अपने देश-काल से रहित होकर दर्शक या पाठक के चित्त में साधारण स्वभाव से उपस्थित होती है और दूसरी ओर उसका साधारण स्वभाव काव्यज्ञ व्यक्ति मात्र के चित्त में एक ही रूप से प्रकाश पाता है। अर्थात् विभिन्न काव्यज्ञों के चित्त में भिन्न भिन्न भाव से प्रकाशित नहीं होता। केवल इस स्वभाव के उल्लसित होने से ही रस-सम्भोग नहीं होता जब तक कि हृदय-प्रसुप्त अनादि वासना से इसका संयोग नहीं हो जाता। वासना के न्यूनाधिक्य से रससंभोग में न्यूनाधिक्य होना संभव है।

कवि कर्णपूर कहते हैं कि जब चित्त काव्यवर्णित विभाव आदि से संयुक्त होता है और वहिरिन्द्रिय के समस्त व्यापारों को निरुद्ध कर देता है तब चित्त में जो एक चमत्कारिक सुख होता है वही रस है।[2] इससे स्पष्ट है कि सब का संश्लेप होता है अर्थात् साधारणीकरण होता है। यह नहीं कि एक ओर एक से साधारणीकरण और दूसरी ओर दूसरे से तादात्म्य।

चालीसवीं छाया

साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्य

"कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यञ्जना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के

---

१ तद्विभावादिसाधारण्यवशसंप्रबुद्धोचितनिजरत्यादिवासनावेशवशात्।
हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात्...तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया।
—नाट्यशास्त्र

२ वहिरन्तःकरणयोर्व्यापारान्तररोधकम्। सकारणादिसंश्लेषे चमत्कारिसुखं रसः।

मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जागेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शीलद्रष्टा या प्रकृतिद्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे[1]।"

यूरोपीय विचार के अनुशीलन का ही यह प्रभाव है कि शुक्लजी ने दो कोटि की रसानुभूति बतलायी है—एक संवेदनात्मक रसानुभूति प्रथम कोटि की और शीलद्रष्टात्मक रसानुभूति मध्यम कोटि की। संभव है, कहीं से निकृष्ट कोटि की रसानुभूति भी टपक पड़े।

पहली बात तो यह है कि रसास्वाद भिन्न भिन्न कोटि का नहीं होता। वह एकरूप ही होता है। क्योंकि उसे अखंड, स्वयंप्रकाश-स्वरूप और आनन्दमय कहा गया[2] है। यहाँ यह बात कही जा सकती है कि साधारणीकरण द्वारा सभी सामाजिकों के हृदय की एकता होने पर भी विभिन्न व्यक्तियों की वासना के वैचित्र्य से उसमें विचित्रता आ सकती है। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि आनन्द-स्वरूप रसास्वाद सत्वोद्रेक से ही होता है तथापि रजः तमः की उस पर छाया पड़ती है और इनके मिश्रण से रसभोग की अनेक प्रणालियाँ हो जा सकती हैं। ऐसे स्थानों पर साधारणीकरण नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि जब पात्र किसी भाव की व्यंजना करता है वह अपुष्टावस्था में भाव ही रह जाता है और संचारी संज्ञा को प्राप्त होता है। यहाँ की अनुभूति भावानुभूति होगी। इसकी व्यञ्जना की अवस्था में भी साधारणीकरण होगा। क्योंकि कोई भी भाव हो सामान्यावस्था में ही आने से अपनी स्थिति रख सकता है।

तीसरी बात यह कि यहाँ क्रोध की प्रबल व्यञ्जना की बात कही गयी है। उसका रूप ठीक नहीं। क्रोध का आलंबन शत्रु है। जो आलंबन हो उसमें कुछ न कुछ शत्रु का भाव होना आवश्यक है। कितना हू क्रूर प्रकृति का क्रोधी हो शत्रु-भाव-शून्य होने के कारण दीन या असहाय के प्रति क्रोध की व्यञ्जना नहीं कर सकता, प्रबल

---

१ चिन्तामणि १ला भाग पृ० ३१४।

२ सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः। साहित्यदर्पण

व्यञ्जना की बात तो दूर है। यदि वह करे तो कृत्रिम ही होगा, स्वाभाविक नहीं। इस दशा में सामाजिकों का मन नहीं रम सकता।

चौथी बात यह है कि शत्रु के प्रति किये जाने वाले क्रोध की कोई प्रबल व्यञ्जना करता है तो वहाँ 'अकाण्ड-प्रथन'—अनुचित स्थान में विस्तार—नामक रसदोष उपस्थित हो जाता है। क्योंकि दीन और असहाय कृपा के ही पात्र होते हैं न कि क्रोध के। यदि ऐसे व्यक्ति के प्रति क्रोध की प्रबल व्यञ्जना की जाती है तो अस्थान में विस्तार का दोष तो रखा ही है। पुनः पुनः दीप्ति का भी दोष लग जायगा। क्योंकि जब क्रोध की प्रबल व्यञ्जना है तो क्रोध को बार-बार उत्तेजन देना ही पड़ेगा। इससे यहाँ रस के रूप में वह लिया ही नहीं जायगा।

पाँचवीं बात यह है कि क्रोध की प्रबल व्यञ्जना में व्यञ्जना का रूप रह ही नहीं जायगा। यदि क्रोधी की क्रोध-व्यक्ति पर या किसी की अत्याचारप्रवणता पर हम भी आग-बबूला हो जाँय, मंच पर जूता चला बैठे तो उसका वह रूप लौकिक हो जायगा। पुनः पुनः दीप्ति का दोष तो है ही।

इसी से कहा जाता है कि साधारणीकरण का अतिरेक होने पर रसानुभव नहीं होता। यदि किसी को रोते देख उसके साथ हम भी रोने लगें तो यहाँ हम अपने को खो बैठते हैं। हम में रसानुभाव की शक्ति रह ही नहीं जाती। रसानुभव के लिये तन्मयीभवन-योग्यता का स्वातंत्र्य ही अपेक्षित है। द्रष्टा या श्रोता ऐसे स्थानों में अर्थात् भाव-व्यक्ति की दशा में क्रोधी व्यक्ति के प्रति जो भाव धारण करेगा वह संवेदनात्मक न होकर प्रतिक्रियात्मक होगा। यह वहीं तक भावात्मक रूप रख सकता है जो हमारी प्रतिक्रियात्मक भावना को सहला दे।

यदि क्रोध की व्यञ्जना कथमपि दीन के प्रति हो, क्योंकि जब कभी हम सब भिखमंगों पर झुँझला उठते हैं और उक्त दोनों दोष न लगें तो वहाँ करुण रस का संचार होगा और इसमें साधारणीकरण भी संभव है। इस दशा में कोई भी विरुद्ध भाव श्रोता या पाठक के मन में न उठेगा और न प्रतिक्रिया की भावना ही सुगबुगायगी। कारण यह कि करुण रस हृदय को इतना आर्द्र कर देता है कि किसी अन्य भाव को प्रश्रय ही नहीं मिलता। यही कारण है कि सीता की भर्त्सना करने वाले रावण की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। हमारा, विशेषतः सती-साध्वी स्त्रियों का, सीता के साथ साधारणीकरण हो

जाता है। डाक्टर भगवानदास कहते हैं, 'दूसरी प्रकृति के लोग पीड़ित, भयभीत, वीभत्सित आदि के भाव का अपने ऊपर चिंतन करके उसके साथ अनुकम्पा के करुण रस का और दुष्ट के ऊपर क्रोध, घृणा आदि के रस का आस्वादन करते हैं[1]।'

इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे अनेक अवसर आते हैं और वे रसदोष से दूर रहते हैं जहाँ आश्रय के पीड़न का भाव आलंबन के प्रति प्रत्यक्ष होता है। 'जीवन' नामक चित्रपट में पाकेटमार चंदू एक लड़का चुरा कर रमेश की स्त्री को देता है और उसके बदले में बार-बार जब रुपया माँगने आता है और उस पर अपनी धौंस जमाता है तब सभी दर्शक झुँझला उठते हैं और उनके मुँह से बुरा-भला निकल पड़ता है। यहाँ दर्शकों को एक ओर घृणा आदि का और एक ओर करुणा का आनन्द मिलता है। पर प्रबलता करुणा की ही रहती है।

उत्तम-प्रकृति पात्रों के सम्बन्ध की भावना आन्तरिक होती है और प्रिय होने के कारण उसकी क्रिया मन में बराबर होती रहती है। इससे यहाँ जो साधारणीकरण होता है वह दुष्ट-प्रकृति पात्रों के साथ नहीं होता। ऐसे पात्रों के सम्बन्ध की भावना रसिकों की जानकारी भर को जगा देती है। उसके प्रति सामाजिक का ममत्व नहीं रहता। ऐसे स्थानों में रसिकों को 'प्रत्यभिज्ञा' होती है। यों समझिये।

जहाँ कोई बलवान दुर्बलों को दलित या पीड़ित करने में अपने बल का प्रयोग करता है और उससे अपने को कृतार्थ समझता है वहाँ सामाजिकों को जो आनन्द होता है वह यह स्मरण करके होता है कि हम पर भी बलवान अत्याचारी ने अत्याचार करने में ऐसा ही बल-प्रयोग किया था। पूर्व ज्ञान का स्मरण ही प्रत्यभिज्ञा है। ऐसे स्थानों में साधारणीकरण का आनन्द नहीं होता। इस बात को डाक्टर भगवानदास भी कहते हैं—'एक किस्म (स्पृहणीय रस) वह जो अपने ऊपर-भयकारक, वीभत्सोत्पादक बलवान की सत्ता का 'स्मरण', आवाहन, कल्पन करके वह रस चखते हैं जो खल को अपने बल का प्रयोग दुर्बलों को पीड़ा देने के लिये करने से होता[2] है।"

किसी किसी का कहना यह भी है कि अपनी कल्पना के बल से दुष्ट-प्रकृति पात्रों के स्थान पर अपने को अधिष्ठित कर लेने से साधारणी-

---

१—२ पुरुषार्थ

करण हो सकता है और उससे उस भाव का, जिसे उक्त डाक्टर साहब रस कहते हैं, आनन्द भी मिल सकता है। पर सभी सामाजिकों के लिये यह संभव नहीं है।

यह ठीक है कि सभी सामाजिक एक प्रकृति के नहीं होते। यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है। इससे कुछ सामाजिक एक ओर जहाँ पीड़ित के प्रति अनुकम्पा के कारण करुण रस का आनन्द लेते हैं वहाँ दूसरी ओर क्रोधी पीड़क के प्रति कुछ सामाजिक को घृणात्मक भावानुभूति होगी। यहाँ काल्पनिक आनन्द की ही विशेषता होगी।

यह प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है कि बकरे की बलि को कितने आनन्द से देखते हैं और कितने उस स्थान से भाग जाते हैं। देखने वाले वीभत्स रस का आनन्द लेते हैं और भागने वाले करुण रस का। दर्शकों को पशुहन्ता के प्रति कोई दुर्भाव नहीं रहता पर पलायन-कर्ताओं को रोष नहीं तो घृणा अवश्य होती है और इसी भाव का उन्हें आनन्द होता है। दोनों प्रकार के व्यक्तियों को आनन्द प्राप्त होता है पर भिन्न भिन्न रूप से। इससे सिद्ध है कि सामाजिकों की प्रकृति एक सी नहीं होती। ऐसी ऐसी घटनाओं से उन्हें अपनी अपनी प्रकृति के अनुकूल आनन्द प्राप्त होता है। पर सर्वत्र ऐसा नहीं होता।

बंकिम चन्द्र के 'कपालकुण्डला' उपान्यास का वह अंश पढ़िये जहाँ कापालिक कपालकुण्डला को बलिदान की अवस्था में प्रस्तुत कर रखता है और आस्त्रान्वेषण को जाता है। हम इस प्रसंग को चाव से पढ़ते हैं। यहाँ कापालिक के प्रति हमारी घृणा नहीं होती। क्योंकि वह अपनी सिद्धि के लिये अपना कर्तव्य करता है। कपाल-कुण्डला के प्रति उसका कोई रागद्वेष या क्रोधक्षोभ नहीं है। यहाँ निःसंकोच सबसे साधारणीकरण होने की बात कही जा सकती है। शाक्तों को ही क्यों, सभी सहृदयों को संवेदनात्मक रसानुभूति होगी। कपालकुण्डला के भाग जाने से हमें आनन्द होता है, यह बात दूसरी है। पर पहले भी उसके बलिदान से हमारा मन भागता नजर नहीं आता। सिनेमा में जंगली जातियों की नरबलि के कृत्यों को देखते हैं तो हम उनसे घृणा नहीं करते। हम जानते हैं कि यह उनका स्वभाव है और उन्हें जंगली कह कर छोड़ देते हैं।

ऐसे स्थानों में आलंबन और आश्रय के प्रति सामाजिकों की दो प्रकार की अनुभूतियाँ मानी जा सकती हैं और उनके विषय में अपनी

गढ़ी हुई वृत्तियों से हमें रसानुभूति होती है, आनन्द मिलता है। यथार्थ बात तो यह है कि विभाव—आलंबन और आश्रय के सभी उचित भावों से साधारणीकरण होगा और संवेदनात्मक अनुभूति होगी।

शुक्लजी स्वयं कहते हैं कि 'यहाँ के आचार्यों ने श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य दोनों में रस की प्रधानता रक्खी है। इसीसे दृश्यकाव्य में भी उनका लक्ष्य तादात्म्य और साधारणीकरण (हम एक ही मानते हैं) की ओर रहता है। पर योरप के दृश्यकाव्यों में शीलवैचित्र्य या अन्तः प्रकृतिवैचित्र्य की ओर ही प्रधान लक्ष्य रहता है, जिसके साक्षात्कार से दर्शकों को आश्चर्य या कुतूहल मात्र की अनुभूति होती है।

अक्षरशः यह सत्य है। नाटक देखने से दर्शकों को काव्यानन्द प्राप्त हो, हमारे आचार्यों का यही लक्ष्य रहा। कुतूहल मात्र की अनुभूति तो बाजीगरी आदि से भी हो सकती है। यदि नाटक का आश्चर्य या कुतूहल मात्र ही उद्देश्य रहा; हृदय की गहरी अनुभूति नहीं हुई तो नाटक को काव्यसाहित्य का रूप देना ही व्यर्थ है। कौतुकात्मक अनुभूति क्षणिक और तात्कालिक होती है, ऊपर ही ऊपर की होती है। किन्तु संवेदनात्मक अनुभूति दीर्घकालिक होती है, गहरी होती है। जब तक विभावादि मन से दूर नहीं होते तब तक वह अनुभूति बनी रहती है और इसका प्राण साधारणीकरण ही है।

एकतालीसवीं छाया

साधारणीकरण क्यों होता है ?

एक लोकोक्ति है 'स्वगणे परमा प्रीतिः'—अपने गण में परम प्रीति होती है।। बालक से बालक का प्रेम होता है; जवान जवानों से जा मिलते हैं; वृद्धों का साथी वृद्धों के सिवा और कौन हो सकता है? ऐसे ही कर्मकार कर्मकारों के साथ, गायक गायकों के साथ, विलासी विलासियों के साथ, चोर चोरों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। इसका कारण यही है कि उनके विचार, कार्य, स्वभाव एक से होते हैं। ये सब भावना में भी काम आते हैं। यद्यपि इसका संकुचित क्षेत्र है तथापि इसमें भी साधारणीकरण का बीज है।

एक कहावत है, 'सौ सयाने एक मत'। अभिप्राय यह है कि समझदारों की समझ एक बिंदु पर पहुँचती है। हम जो कुछ पढ़ते हैं, सुनते हैं, उससे मन में जो भाव जगते हैं वे भाव दूसरे पढ़ने, देखने, सुनने वालों को भी जगते हैं। ग्रामसीमा के युद्ध में गाँव के गाँव एकमत हो युद्ध के लिये निकल पड़ते हैं। कड़खा गाते हुए देशसेवकों को जाते देख दर्शकों के मन में भी स्वदेशप्रेम उमड़ पड़ता है। ऐसी सामुदायिक घटनाओं को हम इतिहास में पढ़ते हैं या ऐसे दृश्यों को रूपकों में देखते हैं तो हमारी एक ही दशा हो जाती है। क्योंकि सभी सयाने हैं, समझदार हैं, सहृदय हैं। उनके एकमत होने, उनके हृदयों में एक से भाव उमड़ पड़ने का कारण सहृदयता ही है जो साधारणीकरण का रूप दे देती है।

मनुष्य सामाजिक जीव है। समाज में ही मनुष्य जनमता है, पलता है, बढ़ता है, विचरता है और उसीके अनुकूल चलता है। उसकी प्रवृत्ति वैसी ही बनती है और उसके संस्कार भी वैसे ही बँधते हैं। 'भेंड़ियों की माँद में पला लड़का' भी उन्हीं जैसा आचरण करता देखा गया है। अतः समाज जिसे अपनाता है, हम भी अपनाते हैं; जिसे त्यागता है, त्यागते हैं; जिसे आदर देता है, उसे आदर देते हैं; जिससे घृणा करता है, घृणा करते हैं और वैसे ही हमारे कार्य होते हैं जैसे कि उसके होते हैं। इसीसे हमारा साधारणीकरण होता है। इसमें सहानुभूति भी सहायक होती है।

कहने का अभिप्राय यह कि हम जिस वातावरण में रहते हैं वह एक प्रकार का है। उसके अनुकूल ही भावाभिव्यक्ति होती है। होनी ही चाहिये। साधारणीकरण का यह एक मूल मन्त्र है। रंगमंच पर हम चुम्बन के भाव का अनुमोदन नहीं कर सकते। क्योंकि हमारे सामाजिक वातावरण में वह श्लाघ्य नहीं है। ऐसे स्थानों में हमारा साधारणीकरण न होगा। रावण का सीता के प्रति या चंदू का रमेश की स्त्री के प्रति जो आचरण दिखाई पड़ता है उससे हमारा साधारणीकरण इसीसे नहीं होता कि ऐसी बातें हमारे सामाजिक वातावरण में अनुमोदित नहीं हैं, उचित नहीं मानी जातीं। इसीसे हमारे आचार्यों ने कहा है कि राम का सा आचरण करना चाहिये न कि रावण का सा। ऐसे प्रतिपक्षी पात्रों की सृष्टि नायक के चरित्र की पुष्टि के लिये की जाती है। कहीं-कहीं ऐसी सृष्टि कथावस्तु की सहायक होती है।

साधारणीकरण का एक दूसरा स्तर भी होता है जो वातावरण के स्तर से बहुत ऊँचा होता है। इसमें जो भाव-भावनायें होती हैं वे मानव-मानव की होती हैं। क्योंकि इसका स्रोत एक ही है। सभी मानवों का अवतार एक ही स्थान से हुआ है। अर्थात् मानवसृष्टि का मूल एक ही है। इस स्तर के भाव एक ही होते हैं। ये भाव मानव-मानव का भेद नहीं करते। सभी के लिये एक से प्रतीत होते हैं। ऐसे भावों के कल्पक समाजविशेष, जतिविशेष या देशविशेष के नहीं होते, विश्व के होते हैं।

'एकोऽहं बहु स्याम्' तक यह विचार पहुँच जाता है। इसका दार्शनिक दृष्टिकोण बहुत जटिल और बड़ा ही विवादपूर्ण है। परमात्म-आत्म-विवेचन की इति को कोई नहीं पहुँच सका और सभी 'नेति नेति' ही कहते हैं। किन्तु यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि हम सबों में, मानवमात्र में, एक ही परमात्म-तत्त्व है और हम सब उसी लीलामय की लीला के विकास हैं।

गीता का कथन है कि 'इस देह में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है'[1]। यही नहीं, 'मैं ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ और मुझ से ही स्मृति, ज्ञान और आपोहन (विचार के द्वारा संशय आदि दोषों को हटाने का नाम) होता है[2]।

कवि भी यही कहते हैं—

मृण्मय प्रदीप में दीपित हम शाश्वत प्रकाश की शिखा सुषुम।
हम एक ज्योति के दीप अखिल ज्योतित जिनसे जग का आँगन। पंत
सिन्धु का क्या परिचय दें देव, बिगड़ते बनते वीचि-विलास।
क्षुद्र हैं मेरे बुद्बुद प्राण, तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश। महादेवी

इस प्रकार मानव-हृदय में एक ही परमात्मा का अंश विद्यमान है और वह ज्ञान का भी मूल है। फिर एक हृदय का दूसरे हृदय से संवाद होना—मेल खाना स्वाभाविक ही नहीं, वैज्ञानिक भी है। इस कारण साधारणीकरण सहज होता है। यहाँ अनेक प्रकार के प्रश्न उठाये जा सकते हैं किन्तु सबका समाधान यही है कि सभी मानव-हृदय एक से नहीं होते। उनमें ईश्वरांश की अधिकता और न्यूनता भी होती है

१ ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
२ सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

जिसके साथ प्राक्तन संस्कार भी लिपटा रहता है; ज्ञान का न्यूनाधिक्य भी अपना प्रभाव दिखलाता है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि आत्मा की दिव्यता, महानता आदि गुणों पर संसार के संपर्क से मलिनता, क्षुद्रता आदि अवगुणों का पर्दा भी पड़ जाता है।

गीतांजलि विश्ववरेण्य क्यों हुई? उसके भावों के साथ विश्व-मानव का हृदय-संवाद क्यों हुआ? उसके साथ देशी-विदेशी का भाव क्यों न रहा? वही मानव-मात्र में एक तत्त्व की विद्यमानता कारण है जिससे साधारणीकरण हुआ। इसीसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर विश्वकवि माने गये और उनके काव्य ने सार्वभौमिकता का पद प्राप्त किया।

सार्वभौमिक साहित्य आनन्ददान के साथ साथ जीवनयात्रा को प्रशस्त करता है, विभिन्न संस्कृति तथा सभ्यता के मानवों को अकुंठित भाव से अपनी ओर आकर्षित करता है और अपनी विशाल बाहुओं को देश-काल-पात्र-निरवच्छिन्न व्यक्ति-सामान्य को अपने आलिंगन में आवद्ध करने के लिये निरन्तर फैलाये रहता है।

अब हमारी तुम्हारी की संकीर्णता से मुक्त होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त से साहित्य की सृष्टि करनी चाहिये जिसमें विश्वमानव की आत्मा को देखा जा सके और निर्विकल्प साधारणीकरण संभव हो।

बयालीसवीं छाया

साधारणीकरण के मूलतत्त्व

काव्य रस का व्यञ्जक है। अभिप्राय यह कि काव्य में ऐसी शक्ति रहती है जिससे रसोद्रेक, रसानुभूति वा रस-बोध होता है। वह शक्ति उसकी व्यञ्जना है। उसीसे पाठक, श्रोता या दर्शक कवि की अनुभूति को हृदयंगम करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि काव्य में रस नहीं, वल्कि उसमें रसानुभूति के ऐसे संकेत, सूत्र वा तत्त्व विद्यमान हैं जिससे मानव-मन की वासना जाग्रत हो उठती है और वे आनन्दोपभोग करने लगते हैं।

कवि के लिये मुख्य है अनुभूति की अभिव्यक्ति और पाठक के लिये मुख्य है व्यञ्जना द्वारा रसानुभूति। इससे आलंबन आदि के विषय में कवि और पाठक दोनों के दो दृष्टिकोण होते हैं। एक उदाहरण से समझें।

सुत बित नारि भवन परिवारा, होंहि जाँहि जग बारंबारा।
अस बिचारि जिय जागहु ताता, मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता॥

—तुलसी

इसमें काव्यगत यह रससामग्री है। (१) मूर्च्छित लक्ष्मण आलंबन (२) लक्ष्मण के गुणों का स्मरण आदि उद्दीपन (३) गद्गद वचन, अश्रुमोचन आदि अनुभाव (४) दैन्य आदि संचारी और (५) शोक स्थायी भाव हैं। कवि ने काव्य में व्यञ्जना का यही साधन प्रस्तुत कर दिया है।

किन्तु पाठक के सामने लक्ष्मण नहीं, (१) राम आलंबन (२) राम की दीनता, किंकर्तव्यविमूढ़ता आदि उद्दीपन (३) विषाद आदि संचारी (४) आँखों में आँसू भर आना, रोमांच होना, गला भर आना आदि अनुभाव और (५) शोक स्थायी भाव हैं।

इस प्रकार रससामग्री का पृथक्करण काव्य-शास्त्राभ्यासियों और हिन्दी के पाठकों को विचित्र सा जान पड़ेगा। क्योंकि इस प्रकार न तो संस्कृत के ग्रन्थों में और न हिन्दी के ग्रन्थों में विभाग किया गया है। कारण यह कि रसोद्रेक के लिये सभी का साधारणी-करण होना आवश्यक समझा जाता रहा है। किन्तु इस विभाजन में भी विभावादि का साधारणीकरण होने में कोई बाधा नहीं।

यदि यहाँ यह कहा जाय कि शुक्ल जी भी तो ऐसा ही कुछ—आश्रय के साथ तादात्म्य और आलंबन के साथ साधारणीकरण—कहते हैं, सो ठीक नहीं। यहाँ तो पाठक ही आश्रय हो जाता है। क्योंकि वही यहाँ रस-भोक्ता रसिक है। उनके मत जैसा इसमें केवल आलंबनत्व को प्रधानता नहीं दी जाती। बल्कि सभी का साधारणी-करण हो जाता है।

यदि हम उक्त मतभेदों की बातें मन में रख कर भी एक बात कहें तो सारी समस्या सुलझ जाय और आचार्यों की बातों का विरोध भी न हो, बल्कि प्रकारान्तर से उनकी बातों का ही समर्थन हो जाय। भाव की बात एक दो स्थानों पर प्रकारान्तर से पीछे कह भी आये हैं। वह यह कि कवि के भाव के साथ साधारणीकरण होता है। विभा-वादि के साथ साधारणीकरण का भी यही भाव है। समझिये कि कवि ने जो उपर्युक्त वर्णन किया है उसमें उनके अन्तर्हृदय की यही

भावना[1] है कि राम साधारण मानव के समान दुखित थे। यह भाव हमारे मन में भी उपजता है और हम राम के दुख को अपना समझने लगते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि उनके भाव हमारे भी भाव हो जाते हैं। ऐसी एकता की बात भी कही गयी[2] है। इस प्रकार आचार्यों की बात को—विभावादि को कवि के भाव के रूप में ले लिया जाय तो साधारणीकरण के सम्बन्ध में अड़चन की कोई बात नहीं उठती। एक उदाहरण से समझिये—

नृपाल निज राज्य को सुखित राम को दीजिये ;
वृथा न मन को दुखी तनिक भी कभी कीजिये।
यहाँ निरयदायिनी विषम कीर्ति को लीजिये ;
लबार ! परलोक में सतत हाथ को मीजिये। रा० च० उपा०

कैकेयी के 'लगे वचन बाण से हृदय में धरानाथ के'। सत्यव्रती दशरथ को लबार—मिथ्यावादी कहनेवाली कैकेयी से हमारा साधारणीकरण नहीं होता, आश्रय के आलंबन के प्रति व्यक्त किये गये भाव से हमारा मेल नहीं खाता। शुक्लजी के शब्दों में कहें तो आश्रय के साथ हमारा तादात्म्य नहीं होता।

अब यदि हम यह कहें कि यहाँ कवि को यह अभिप्रेत है कि कैकेयी से ऐसे ही वचन कहलाये जायँ कि दशरथ को पीड़ा पहुँचे, कैकेयी की क्रूरता प्रकट हो तो इन भावों से हमारा साधारणीकरण हो जाता है; व्यक्तिवैचित्र्य की बात भी दूर हो जाती है और आचार्यों के विभावादि के साथ साधारणीकरण की बात भी रह जाती है। जहाँ जैसा कवि ने जो भाव व्यक्त किया वहाँ वैसा ही हमारा हृदय हो गया। कवि वही है जो जैसा चाहे पाठकों को वैसा बना कर छोड़ दे। जिस कवि में यह शक्ति नहीं, जो कवि अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति से सामाजिकों को संवेदनशील नहीं बना सका, वह कवि नहीं।

यह भी देखा जाता है कि जहाँ कोई आश्रय (विभाव) नहीं रहता वहाँ आलंबन के प्रति कवि के भावों के साथ ही साधारणीकरण होता है। जैसे—

---

१ कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।

२ नायकस्य कवेः श्रोतुः समानानुभवस्तथा। भट्टतोत

सुरपति के हम ही हैं अनुचर जगत्प्राण के भी सहचर।
मेघदूत की सजल कल्पना चातक के चिरजीवनधर॥

अथवा

कौन कौन तुम परिहतवसना म्लानमना भूपतिता सी
वातहता विच्छिन्न लता सी रतिश्रान्ता व्रजवनिता सी। पंत

इनमें 'बादल' और 'छाया' के प्रति जो भाव हैं उन्हीं से साधारणीकरण होता है। इनमें आश्रय कोई नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि साधारणीकरण में कवि का व्यक्तित्व भी बहुत कुछ काम करता है। यदि कवि लोकसाधारण भाव को नहीं अपनाता और भाषा की कमजोरी या अनुभूति के अधूरेपन से उसको व्यक्त करने में समर्थ नहीं होता तो साधारणीकरण सम्भव नहीं। इसके लिये भाषा का भावमय होना आवश्यक है, रागात्मक होना अनिवार्य है। कवि सामान्य भावों की ही जागृति करता है। कवि को सहृदय का समानधर्मा होना चाहिये। तभी वह साधारणीकरण में समर्थ हो सकता है।

तेतालिसवीं छाया

लौकिक रस और अलौकिक रस

'अलौकिक' शब्द ने साहित्यिकों में एक भ्रम पैदा कर दिया है। वे इसका पारलौकिक, स्वर्गीय आदि अर्थ करते हैं। बड़े-बड़े विद्वान् भी इसके चक्कर में पड़ गये हैं। डाक्टर भगवान दास लिखते हैं 'लोकोत्तर भी कैसे कहा जा सकता है। लोक में ही तो काव्य-साहित्य के रस की चर्चा है।'[1] ऐसा लिखते हुए डाक्टर साहब लोकोत्तर से परलोक का ही भाव ग्रहण करते हैं।

अलौकिक का अभिप्राय न तो स्वर्गीय है और न पारलौकिक। इसका अर्थ है अलोक-सामान्य अर्थात् लौकिक वस्तु से विलक्षण। बस, केवल यही अर्थ है, दूसरा कुछ नहीं। इसका अलोक-सामान्य होना ही इसे ब्रह्मानन्द-सहोदरता की कक्षा को पहुँचाता है।

१, पुरुषार्थ, पृष्ठ १४०

रस लौकिक[1] भी होता है और अलौकिक भी। लौकिक की कोई महत्ता नहीं और अलौकिक की महत्ता का वर्णन काव्यशास्त्र करता है। आज अलौकिक रस को लौकिक सिद्ध करने का आन्दोलन-सा उठ खड़ा हुआ है।

कोई कहता है कि 'प्रत्यक्षानुभूति से काव्यानुभूति वा रसानुभूति कोई पृथक् वस्तु नहीं है। यह अवश्य है कि रसानुभूति प्रत्यक्षानुभूति का परिष्कृत रूप है। यह नहीं कि रसानुभूति प्रत्यक्षानुभूति की अपेक्षा मूलत: कोई भिन्न प्रकार की अनुभूति है।' यह रिचार्ड के प्रभाव का ही परिणाम है, जिन्होंने यह कहा था कि 'जो लोग अलौकिक आदि शब्दों में कला की महिमा गाते हैं, वे कला के सौन्दर्य के संहारक[2] हैं'। हमारा कहना है कि परिष्कृत रूप होना ही केवल उसकी अलौकिकता नहीं। ऐसी अनुभूति का लौकिक रूप नहीं होता; इसी में उसकी अलौकिकता है। मूलत: भी दोनों एक नहीं हैं।

अरस्तू भी कहता है कि 'कवि का यह कर्त्तव्य नहीं कि घटित घटना की आवृत्ति करे, बल्कि क्या घट सकता है।···इतिहास तथ्य पर निर्भर करता है। पर कविता तथ्य को सत्य में परिणत करती है।···काव्य का सत्य यथार्थता की नकल नहीं होता, बल्कि वह एक उच्च यथार्थता ही होता है, क्या हो सकता है, क्या है, यह[3] नहीं।' इससे लौकिक प्रत्यक्ष और कवि-प्रत्यक्ष एक नहीं हो सकते।

हम किसी असहाय-दुर्बल को सबल द्वारा ताड़ित और लांछित होते देखकर क्रुद्ध हो उठते हैं और उसकी प्रतिक्रिया के लिये कमर कस लेते हैं। किसी क्षुधित अबोध बालक की भूखी-सूखी मा को सड़क पर बिलबिलाती देखते हैं, तब हमारी करुणा चिल्लाकर कहती है कि कुछ दो, सहायता करो। किसी अनाथ विधवा को देखते हैं, तरस खाते हैं

१. रिचर्ड्स का कहना है—There is no gap between our every-day emotional life and the material of poetry.—*Practical Criticism (summary)*

2 *Principles of Literary Criticism.*

3 It is not the function of the poet to relate what has happened but what may happen··· poetry transforms its facts into truths. The truth of poetry is not a copy of reality but higher reality, what to be, not what is. —*Poetics*

और अनाथालय का प्रबंध करते हैं। इनमें अनुभूति भी है और प्रतिक्रिया की प्रेरणा भी। यह व्यक्तिगत क्रोध, करुणा की प्रत्यक्षानुभूति लौकिक अनुभूति है। यह काव्यानुभूति की समकक्षता नहीं कर सकती। कारण अनेक हैं—

कविता की उत्पत्ति प्रत्यक्षानुभूति से नहीं होती। उस समय कवि का हृदय इतना चंचल रहता है कि भाव को कोई रूप ही नहीं दे सकता। कवि जिस समय रचना करता है, उस समय वास्तविक घटना के साथ जो लौकिक भाव जड़े रहते हैं, उनका आश्रय नहीं लेता। लौकिक रूप में वास्तविक घटना के साथ अनुभूति—भाव हृदय के अंतस्तल में वासना रूप से अपना स्थान बना लेती है। जब समय पाकर वास्तव-निरपेक्ष वही वासना उद्बुद्ध होती है, तभी वह देश-काल से मुक्त होकर सर्वसाधारण के विभावन के योग्य होती है। फिर कवि इस विभावन-व्यापार के परिणाम-स्वरूप जो रचना करता है, वही आस्वाद-योग्य होती है। अर्थात् प्रत्यक्षानुभूति से जो संस्कार हृदय में बँध जाता है, वही समय-विशेष पर किसी सूत्र को पाकर आनन्दवेदनोद्वेलित कवि-हृदय से कविता के रूप में प्रकाश पाता है। वर्डस्वर्थ का कहना है कि समय-समय पर मन में जो भाव संगृहीत होता है, वही किसी विशेष अवसर पर जब प्रकाश में आता है, तभी कविता का जन्म होता है।[1] एक उदाहरण से समझें—

> वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी,
> वह दीपशिखा-सी शान्त भाव में लीन,
> वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
> वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
> दलित, भारत की ही विधवा है।—निराला

यहाँ विधवा का वह रूप नहीं है, जिससे करुणा का ही उद्रेक होता है, बल्कि उसमें भावुकता, पवित्रता, शान्ति तथा दीप्ति भी है। यदि इसको कोई परिष्कृत रूप कहे, तो ठीक नहीं। क्योंकि एक ही रूप को परिष्कृत-अपरिष्कृत कहा जा सकता है। किन्तु कविता में जो लौकिक अनुभव होता है वह तो रहता नहीं। वह रूपान्तर में प्रकट

1. Poetry takes its origin from emotion recollected in tranquility.

होता है; उसका वही लौकिक रूप नहीं रहता। इससे दोनों की अनुभूतियाँ एक प्रकार की नहीं कही जा सकतीं।

काव्यानन्द रसिकगत होता है, क्योंकि वह उसका भोक्ता है। काव्य-नाटकगत रस नहीं होता। क्योंकि उन्हीं पात्रों के वे वृत्त होते हैं। अभिप्राय यह कि नाटक के पात्र अपने ही चरित्र दिखलाते हैं। वे समझते हैं कि यह तो हमारा ही काम है। इसी से कहा है कि 'अभिनय की शिक्षा तथा अभ्यासादि के कारण राम आदि के रूप का अभिनय करनेवाला रस का आस्वादयिता नहीं हो सकता'[1]। किन्तु, यह भी संभव है कि यदि नट यह बात भूल जाय कि यह हमारी स्त्री है और हमलोगों के समान उसे काव्यार्थ की भावना होने लगे, तो उसे केवल लौकिक रस का ही आनन्द नहीं होता, बल्कि काव्य-रस का भी मजा मिलता है[2]। अब विचार करने की बात यह है कि कवि किसके लिये काव्य-नाटक की रचना करता है? वह काव्य-नाटक के पात्रों के लिये तो करता नहीं, करता है रसिकों के रसास्वाद के लिये। यदि पात्र रसानुभव करने लगे, तो अनेक दोष आ जाते हैं। एक तो यह कि जब पात्र आनन्दमग्न हो जायगा, तो उसके कार्य वैसे नहीं हो सकते, जिसके कृत्यों का वह अनुकरण करता है। क्योंकि उसका ध्यान अन्यत्र बँट जायगा। दूसरी बात यह कि उसका रूप लौकिक हो जायगा। काव्य-नाटकों में राम-सीता या दुष्यन्त-शकुन्तला की रति को लौकिक दुष्यन्त-शकुन्तला की रति मान लें, तो दर्शक उन्हें अपनी प्रणयिनी के साथ लौकिक शृंगारी पुरुष ही समझेगा। इससे होगा यह कि रसिक दर्शकों को रसास्वाद नहीं होगा। रहस्य के उद्घाटन से भलेमानसों को लाज भी लगेगी। कितनों को ईर्ष्या और डाह होगी तथा बहुतों को प्रेम भी उमड़ आ सकता है। इससे पात्रों को रसानुभव होता है, यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता। इसीसे कहा है कि नट को कुछ भी रसास्वाद नहीं होता। सामाजिक रस को चखते हैं। नट तो पात्र मात्र हैं।[3] तीसरी बात यह कि रस व्यंग्य होता है, यह

१. शिक्षाभ्यासादि - मात्रेण राघवादेः सरूपताम्।
दर्शयन्नर्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत्। सा० द०

२. काव्यार्थ-भावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते। दशरूपक

३. ···किंचिन्न रसं स्वदते नटः। सामाजिकास्तु लिहते रसान् पात्रं नटो मतः।
—संगीत रत्नाकर

सिद्धान्त भी भंग हो जायगा। इससे काव्यगत रस लौकिक होता है और रसिकगत रस अलौकिक। पहला दूसरे का कारण हो सकता है।

कवि योगी नहीं होते, जो ध्यानमग्न हो दिव्यचक्षु से देखकर राम आदि की अवस्था का ज्यों का त्यों वर्णन करते। वे उनकी सर्वलोक-साधारण अवस्था को झलका देते हैं। अभिप्राय यह कि रसिक धीरोदात्त आदि नायकों की अवस्थाओं के प्रतिपादक राम आदि की जो विभावना करते हैं वही उन्हें आस्वादित होता है। उदाहरण के लिए रामचरित्र को लीजिये। लोकोपकार के लिये राम ने लौकिक चरित्र दिखलाया। वही चरित्र लव-कुश के मुख से वाल्मीकि के श्लोकों में सुना, तो केवल वही नहीं, सभा की सभा चित्रलिखित-सी हो गयी। क्योंकि उस लौकिक चरित्र को कवि ने अपनी वाणी में अपने अंतःकरण की आनन्दवेदना से उसे ओतप्रोत कर दिया था। राम का चरित्र पहले लौकिक था और अब अलौकिक हो गया था।

अभिनव गुप्त कहते हैं—"वीतविघ्ना प्रतीतिः"। अर्थात् लौकिक प्रतीति में जो भाव उद्भूत होते हैं, वे ऐसे विघ्नों से घिरे रहते हैं कि स्वच्छन्द रूप से अपने को प्रकाशित नहीं कर सकते। किन्तु काव्य-नाटक के द्वारा जो भाव उत्पन्न होते हैं, उनमें ये सब विघ्न नहीं रह सकते। एक विघ्न की बात लीजिये—

हमारा व्यक्तिगत जो बोध है, अथवा सुख-दुःख के रूप में जो प्रकाश पाता है, वही सब कुछ नहीं है। बल्कि उसके साथ हमारा व्यक्ति-वैशिष्ट्य भी अज्ञात रूप से सम्बद्ध रहता है। उस सुख-दुःखादि से हमारा व्यक्तित्व एक पृथक् वस्तु है। जो लोग हमारे सुख-दुःख का अनुभव करते हैं, वे उसकी व्यर्थता का अनुभव नहीं करते। क्योंकि हमारे व्यक्तित्व का ज्ञान अनुभव-कर्त्ता को नहीं रहता। जब तक हमारे व्यक्तित्व से लिपटे हुए सुख-दुःख का ज्ञान न होगा, तब तक उसका ज्ञान अधूरा ही रहेगा। व्यक्तित्वशून्य सुख-दुःख का यथार्थरूप प्रकाशित नहीं हो सकता। इस प्रकार जो साधारण प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसे विषय रूप में किसी की अपेक्षा बनी रहती है। जब तक इस अपेक्षा की पूर्ति नहीं हो जाती, तब तक ज्ञान के बीच ज्ञान की विश्रान्ति नहीं होती। वह अपने को प्रकाशित करने के लिये अपना मार्ग ढूँढ़ा ही करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में यह

परापेक्षिता बराबर बनी ही रहती है। यह परापेक्षिता खण्ड-रूप से जैसे अपने को प्रकाशित कर सकती है, वैसे अखण्ड रूप से नहीं। यह परापेक्षिता अखण्ड रूप से स्वप्रकाश का विघ्न है। ऐसे विघ्न अनेक हैं।

काव्य-नाटक में जो आश्रय रूप से प्रतीत होता है वह साधारण रूप में रहता है। इसी से काव्यानुगत चेतना का जो उद्बोध होता है, वह उसमें वैसा विघ्न नहीं हो पाता। सारांश यह कि साधारण लोकविषय जब काव्यगत होता है, तब वह काव्यकला के प्रभाव से सब प्रकार के संबंधों से शून्य हो जाता है, परापेक्षिता रूप दोष से रहित हो जाता है और देश, काल तथा व्यक्ति का कुछ भी वैशिष्ट्य नहीं रहने पाता[1]। इस दशा में जब चेतनोद्बोध के साथ अन्तर्हृदय की वासना मिल जाती है तब रस-सृष्टि होती है। बिना बाधा-विघ्न के ही जब अन्तर्गत वासना रस-रूप में प्रकाशित होती है, तभी रस का चमत्कार प्रतीत होता है। यह अलौकिक रस में ही संभव है।

सीता आदि के दर्शन से उत्पन्न राम आदि की रति का उद्बोध परिमित होता है—केवल राम आदि में ही रहता है। दुष्यन्त-शकुन्तला आदि में जो रति उत्पन्न हुई, उसका आनन्द उन्हीं तक सीमित था। किन्तु काव्य-नाटक-गत राम-सीता, दुष्यन्त-शकुन्तला आदि का रतिभाव विभाव आदि द्वारा प्रदर्शित होकर जो रसावस्था को प्राप्त होता है, वह व्यक्तिगत न रहकर अनेक श्रोता और द्रष्टा को एक साथ ही समान रूप से अनुभूत होता है। इससे वह अपरिमित होता है। दूसरी बात यह कि रामादिनिष्ठ जो रति होती है, वह लौकिक रहती है। अतः रस अपरिमित और लोक-सामान्य न होने के कारण अलौकिक होता है। विघ्न की बात लिखी ही जा चुकी है। यही दर्पणकार कहते हैं कि परिमित, लौकिक और सान्तराय अर्थात् विघ्न-सहित होने के कारण अनुकार्यनिष्ठरत्यादि का उद्बोध रस नहीं हो सकता[2]।

---

१. तदपसारणे हृदयसंबादो लोकसामान्यवस्तुविषयः। अ० गुप्त

२. पारमित्यात् लौकिकत्वात् सान्तरायतया तथा।
अनुकार्य्यस्य रत्यादेः उद्बोधो न रसो भवेत्। सा० दर्पण

जो कहते हैं कि काव्य में सरस प्रसंग है, इससे रस काव्यगत ही है, उन्हें यह सोचना चाहिये कि यह उक्ति काव्य पढ़नेवाले रसिक की है; यह उक्ति रसिक के अनुभव की है। इससे ऐसी उक्ति का अर्थ यही हो सकता है कि काव्य का प्रसंग बड़ा प्रभावशाली है। उनमें अभिभूत करने की शक्ति बड़ी प्रबल है। यही सिद्ध होता है। यह नहीं कि काव्यगत रस है। काव्यगत रस लौकिक है और रसिक-गत रस अलौकिक।

आधुनिक काव्य-विवेचक कहते हैं कि काव्य में यदि रस नहीं रहता तो काव्यानंद कैसे प्राप्त होता ? काव्य में जो वस्तु होगी वही तो प्राप्त होगी। काव्य का आँवला रसिकों के हृदय में आम तो नहीं न हो जायगा ? इससे रस काव्यगत ही है और लौकिक ही है।

इन सब बातों का उत्तर यही है कि जो वस्तु मैं देखता हूँ और जैसी देखता हूँ, वह ठीक वैसी ही है, यह कहा नहीं जा सकता। जो मैं देखता हूँ वह अपनी ही दृष्टि से, उसमें दूसरे की दृष्टि नहीं। दूसरे की दृष्टि में वह मेरी-जैसी ही प्रतीत होगी, यह भी कहा नहीं जा सकता। उस वस्तु का जो वाह्य रूप है वह उसका असली रूप नहीं है। उसका एक आन्तर रूप भी है। मेरी पहुँच जहाँ तक हो सकती, वहीं तक मैं देख सकता हूँ। दूसरा मुझ से अधिक या कम भी देख सकता है। सभी का ज्ञान एक-सा नहीं होता और न सभी को एक वस्तु एक-सी प्रतीत होती। कहा है कि जब पंडितों ने विचार करना शुरू किया तो किसी-किसी कक्षा में अज्ञान उनके सामने आ खड़ा हुआ[1]। इस दार्शनिक विषय में इतने तर्क-वितर्क हैं कि उनका अन्त पाना कठिन है। फलितार्थ यह कि लोक में जिसका जो रूप रहता है, वह काव्य में नहीं रहने पाता और काव्य का रूप पाठकों के हृदय में, पाठकों के अनुसार अपने रूप बना लेता है, जो उन्हींका स्वनिर्मित होता है। इसीसे उन्हें आनन्द प्राप्त होता है।

कवि यह नहीं देखता कि वह वस्तु कैसी है, बल्कि यह देखता है कि वह उसे कैसी भासित होती है। इस दृष्टि में उसकी भावना काम

---

१. विचारयितुमारब्धे पण्डितैः सकलैरपि।
अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित्॥ पंचदशी

करती है। वह दृष्टि वस्तु के अन्तरंग में पैठ जाती है। दूसरों की दृष्टि और कवि की दृष्टि में यही अन्तर है। कवि जागतिक वस्तु को जब रंग-रूप दे देता है, वह वैसी नहीं रह जाती। उसकी प्रतिभा नयी प्रतिमा गढ़ देती है। कवि जब रचना करता है, तब उसे यह आनन्द प्राप्त नहीं होता, जो रचना के अनन्तर उसको बार-बार पढ़ने पर आनन्द पाता है। इस समय वह रसिक के स्थान पर हो जाता है। इसीसे कवि के काव्य में और रसिक के आस्वाद में अंतर है। इसीसे अभिनव गुप्त कहते हैं कि कवि काव्य का मूल बीज है। इससे पहले कविगत ही रस है। कवि भी सामाजिक के तुल्य[1] है।' अतः काव्यगत रस लौकिक है। क्योंकि कवि-निर्मिति के रूप में उसकी लौकिकता तब तक बनी रहती है, जब तक आस्वाद-योग्यता को नहीं पहुँचती। काव्य से जो रसिकों को रस मिलता है, वह केवल उससे भिन्न ही नहीं होता, बढ़ा-चढ़ा भी। इसीसे काव्य का आँवला रसिकों के हृदय में उनकी अनुभूति और कल्पना से जो रूप धारण करता है, उसका आनन्द निराला होता है। क्योंकि तब आँवला आँवला न रहकर मुरब्बा का रूप धारण कर लेता है। इसीसे भरत कहते हैं कि अनेक भावों और अभिनयों से व्यंजित स्थायी भावों का आनन्द सहृदय दर्शक लूटते हैं, और प्रसन्न होते हैं[2]।

मानसशास्त्र भी इसे मानता है और इसको आदर्शनिर्माण (ideal construction) कहता है। मिल्टन का इस संबंध में कहना है कि मैं तो आघातमात्र करता हूँ। संगीत-निर्माण का कार्य तो श्रोता पर ही छोड़ देता[3] हूँ। यह उपयुक्त विचार की ही विदेशी ध्वनि है।

अभिनव गुप्त कहते हैं—'काव्य वृक्ष-रूप है, अभिनय आदि नट का व्यापार पुष्प-स्थानीय है और सामाजिकों का रसास्वाद फल-

---

१. मूलवीजस्थानीयात् कविगतो रसः।
कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। अभिनवभारती

२. नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्च गच्छन्ति। नाट्यशास्त्र

3. He (Milton) strikes the key-note and expects his hearers to make out the melody.

स्वरूप[1] है'। भाव यह कि काव्यगत रूप तक रस-निर्माण नहीं होता, होता है रसिकों के हृदय में। विंचेष्टर भी यही बात कहते हैं कि 'पहले तो कवि-निर्मित काव्य में भावात्मक साधन होते हैं। फिर उसको पढ़कर हम समझते हैं कि वह हम में कहाँ तक भावों को जागृत करता है। काव्यगत सामग्री का प्रयोजन है पाठकों के हृदय में रसोदय करना[2]। अभिप्राय यह कि कवि रसानुकूल पात्रों का निर्माण करता है। अनन्तर वह काव्य के पात्रों में भावों को भरता है, जिससे हम कहते हैं कि काव्य में रस है। किन्तु, उसका परिणाम काव्य तक ही सीमित नहीं। वह सहृदयों के हृदय में ही उमड़कर विश्रान्ति पाता है। सारांश यह कि इस अवस्था को पहुँचने पर ही वह अलौकिकता को प्राप्त करता है। कवि और काव्य तक उसका रूप लौकिक ही रहता है।

लोक में जो शोक, हर्ष आदि होते हैं, उनसे दुःख और सुख ही होते हैं। ऐसा नहीं देखा जाता कि किसी को पुत्र-शोक हो और उसे देखकर किसी को आनन्द हो। किसी नरपिशाच की बात छोड़िये। किन्तु काव्य में शोक से भी आनन्द ही प्राप्त होता है, यदि आनन्द नहीं होता तो कोई रामायण के वनवास का प्रसंग क्यों पढ़ता ? इसका कारण उसका अलौकिक होना ही है। उसका लोक के साधारण सम्बन्ध से ऊपर उठ जाना है। कारण यह कि यह शोक अलौकिक विभावन को प्राप्त कर लेता है। रति आदि को आस्वादोत्पत्ति—रसोद्बोध के योग्य बनाना ही 'विभावन' कहलाता है।

लोक में जो वनवास आदि दुःख के कारण कहे जाते हैं वे यदि काव्य और नाटक में निबद्ध किये जायँ, तो उसका 'कारण' शब्द से व्यवहार नहीं किया जाता, बल्कि 'अलौकिक विभाव' शब्द से

---

१. वृक्षस्थानीयं काव्यम्, तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः। अ० भारती

2. By the phrase, emotional element in literature, then, we will understand the power of literature to awaken emotion in us, who read, emotional element in literature means the emotion of the reader.

—*Principles of Literary Criticism*,

व्यवहार होता है। कारण यह कि काव्य आदि में उपनिबद्ध होने पर उन्हीं कारणों में 'विभावन' नामक एक अलौकिक व्यापार उत्पन्न हो जाता है।

जब रंगमंच पर गीत-वाद्य होने लगता है और राम के से वसन-आभूषण पहनकर नट प्रवेश करता है, तब कम से कम उस समय तो वह व्यक्तिगत विशेषता को—अपनेपन को—अवश्य भूल जाता है। उस समय के लिये उसे देश, काल सब कुछ विस्मृत हो जाता है और अपने को राम ही समझने लगता है। उसके तात्कालिक मनोभाव को सत्य, मिथ्या वा संदिग्ध कुछ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वास्तव जगत् से सम्बद्ध ज्ञान को ही सत्य, मिथ्या वा संदिग्ध कह सकते हैं। उस समय वास्तव जगत् उससे दूर हो जाता है और वह एक आरोपित वा कल्पित जगत् में विचरण करने लगता है। राम रूपधारी नट को देखकर यह भान नहीं होता कि देश-काल-वर्त्ती किसी व्यक्ति को देखा जा रहा है। क्योंकि व्यक्तिगत विशेषता से वह परे हो जाता है। जो नट राम बना है, वह राम नहीं हो सकता। स्पष्टतः चित्र में यह भासित नहीं होता। इसीसे उसको देखने के समय उसे न तो राम ही कहा जा सकता है और न कोई दूसरा परिचित व्यक्ति। यह विभावन हमारे हृदय में चमत्कार पैदा कर देता है।

अभिप्राय यह कि शोकादि के कारण दुःख का उत्पन्न होना लोक-व्यवहार है। शोक के कारणों से शोक के उत्पन्न होने, हर्ष के कारणों से हर्ष के उत्पन्न होने का नियम लोक में ही किसी सीमा तक हो सकता है। यह लौकिक रस है। जब वे काव्य-निबद्ध हो जाते हैं, नाटक-सिनेमा में दिखाये जाते हैं, तब उक्त विभावन नाम का अलौकिक व्यापार उत्पन्न हो जाता है। अतः विभाव आदि के द्वारा उनसे आनन्द ही होता है, लोक में चाहे उनसे भले ही दुःख हो। इसी से रस अलौकिक है। दर्पणकार ने अलौकिकत्व के नीचे लिखे अनेक कारण दिये हैं—

(१) लौकिक पदार्थ ज्ञाप्य होते हैं, अर्थात् दूसरी वस्तुओं के द्वारा उनका ज्ञान होता है। पर रस ज्ञाप्य नहीं होता। क्योंकि अपनी सत्ता में कभी व्यभिचरित—प्रतीति के अयोग्य नहीं होता। अर्थात् जब होता है, तब अवश्य प्रतीत होता है। घट, पट आदि लौकिक पदार्थ ज्ञापक से अर्थात् ज्ञान करानेवाले दीपक आदि से

प्रकाशित होते हैं, वैसे ही उनके विद्यमान रहने पर भी कभी-कभी ज्ञान नहीं होता। ढके हुए पदार्थ को दीपक नहीं दिखा सकता। परन्तु रस ऐसा नहीं है। क्योंकि प्रतीति के बिना रस की सत्ता ही नहीं रहती। इससे रस अलौकिक है।

(२) लौकिक वस्तु नित्य होती है पर रस नित्य नहीं है। क्योंकि विभाव आदि के ज्ञान पूर्व रस-संवेदन होता ही नहीं और नित्य वस्तु असंवेदन काल में अर्थात् जब वस्तु का ज्ञान नहीं रहता, तब भी नष्ट नहीं होती। रस ज्ञानकाल में ही रहता है, अन्य काल में नहीं। अत: उसे नित्य भी नहीं कह सकते। अत: रस लोक-वस्तु-भिन्न-धर्मा है, अलौकिक है।

(३) लौकिक पदार्थ कार्य-रूप होते हैं पर रस कार्य रूप नहीं है। क्योंकि रस विभावादिसमूहालंबनात्मक होता है। अर्थात् विभाव आदि के साथ रस सामूहिक रूप से एक ही साथ प्रतीत होता है। यदि रस कार्य होता, तो उसका कारण विभाव आदि का पृथक् ज्ञान होता। लौकिक कार्य में कारण और कार्य एक साथ नहीं दीख पड़ते। अब यदि विभाव आदि को कारण मानें और रस को कार्य, तो इनकी प्रतीति एक साथ न होनी चाहिए। किन्तु रस-प्रतीति के समय विभाव आदि की भी प्रतीति होती रहती है। अत: विभाव आदि का ज्ञान रस का कारण नहीं और इसके अतिरिक्त अन्य कारण संभव नहीं। अत: रस किसी का कार्य नहीं हो सकता। कहने का अभिप्राय यह कि रसास्वाद के समय विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के साथ ही स्थायी भाव रस-रूप में व्यक्त होता है, जो लौकिक कार्य के विपरीत है। इससे रस अलौकिक है।

(४) लौकिक पदार्थ भूत, वर्तमान या भविष्यत् होते हैं, पर रस न तो भूत, न वर्तमान और न भविष्यत् ही होता है। यदि ऐसा होता तो, जो वस्तु हो चुकी उसका साक्षात्कार आज कैसे हो सकता है? पर ऐसा होता है। ज्ञाप्य और कार्य न होने के कारण रस वर्तमान नहीं है। क्योंकि वर्तमान में लौकिक वस्तुएँ इन्हीं दो रूपों में होती हैं। भविष्यत् भी उसे कैसे कहें जब कि वह आनन्दघन और प्रकाश-रूप साक्षात्कार अनुभव का विषय होता है। भविष्यत् की वस्तु वर्तमान में नहीं देखी जाती। अत: रस अलौकिक है।

इस प्रकार दर्पणकार ने रस की अलौकिकता के अन्य अनेक

कारण दिये हैं। जटिलता के कारण उनका यहाँ उल्लेख अनावश्यक है।

मनोवैज्ञानिक भी इस बात को मानते हैं कि काव्यानुभूति—रस एक विलक्षण अनुभूति है। रिचार्ड्स ऐन्द्रिय ही क्यों न कहें, परन्तु एन्द्रिय ज्ञानों की अपेक्षा असाधारण है। क्योंकि यह भावना से प्राप्त भावित (contemplated) अनुभूति होती है। ऐन्द्रिय ज्ञान की स्थूलता और प्रत्यक्षता इसमें अधिकतर नहीं रहती। रस आत्मानन्द-रूप होता है। 'रसो वै सः'। अनुभूति वा संवेदन सूक्ष्म रूप से होता है, पर चित्तद्रुति के कारण वह व्यापक और विस्तृत होता है। साधारणतः ऐन्द्रिय ज्ञान का यह रूप नहीं होता। यद्यपि इस अनुभूति के लिये रिचार्ड्स के कथनानुसार इन्द्रिय-विशेष का निर्माण नहीं है, तथापि यह भी नहीं कहा जा सकता है कि रसानुभूति अमुक इन्द्रिय से होती है। हमारे यहाँ मन को भी इन्द्रिय माना गया है और रस मानस-प्रत्यक्ष होता है। सहृदयता ही इस अनुभूति में सहायक है। यह डंके की चोट कहा जा सकता है कि रस लौकिक सुख की अपेक्षा असाधारण सुख है और एकमात्र अन्तःकरण की वृत्ति है। इसकी तह में पैठना साधारण नहीं। इसकी अनिर्वचनीयता मान्य है।

अन्त में अभिनव गुप्त की यही बात कहनी है कि रसना—आस्वाद-बोध-रूप होती है। किन्तु लौकिक अन्य बोधों की अपेक्षा विलक्षण है। क्योंकि विभाव आदि उपाय लौकिक उपायों से विलक्षण होते हैं। विभाव आदि के संयोग से रसास्वाद होता है। अतः उस प्रकार रसास्वाद के गोचर होने के कारण रस लोकोत्तर या अलौकिक है।[1]

रसतरंगिणी-कार ने अलौकिक रस के तीन भेद माने हैं—स्वाप्निक, मानोरथिक और औपनायक। इनमें अलौकिकता के यथार्थ तत्त्व न रहने के कारण इनका समादर न हुआ। कविवर 'देव' ने अपने 'भावविलास' में इनका उल्लेख किया है और तीनों के उदाहरण भी दिये हैं। पर इनमें कितनी अलौकिकता और रसवत्ता है जो विचारणीय है।

---

१. रसना बोधरूपैव। किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैवोपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगाद्रसना, यतो निष्पद्यतेऽतः तथाविधरचनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य। अभिनवभारती

चौआलिसवीं छाया

रस और मनोविज्ञान

रस के मूल भाव हैं और भाव हैं मन के विकार। इससे स्पष्ट है कि भाव का मन से गहरा सम्बन्ध है। रसों की व्याख्या भावों का मनोविज्ञान है।

हमारा शास्त्रीय रसनिरूपण विज्ञान-सम्मत है। यद्यपि प्राचीन काल में मनोविज्ञान का विश्लेषणात्मक कोई शास्त्रीय पृथक अंग नहीं था तथापि आचार्यों ने रस की विवेचना मे जो मनोवैज्ञानिक वैभव दिखलाया है वह वर्णनातीत है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने जो मानसिक शास्त्र की सृष्टि की है उसका विचार हमारे शास्त्रीय विचार के अनुकूल ही कहा जा सकता है। यहाँ उसका साधारण ज्ञान लाभदायक ही होगा।

मन पर बाहरी वस्तुस्थिति (External Expression) का क्या प्रभाव पड़ता है उसका एक उदाहरण लें। मेरी कन्या के बिदा का अवसर था। मन अवसन्न था। आँखे गीली थीं। मेरा डेढ़ दो वर्ष का पोता अवधेशकुमार मेरे कंधे पर खेल रहा था। हाथ पैर क्षणभर के लिये स्थिर न थे। उसे कंधे से उतार कर गोद में लिया। उसने मेरा मुँह उदास देखा। मेरे उमड़े आँसू पर उसकी नजर पड़ी। वह हाथ पैर उछालना भूल गया। उसका बालकिलोल न जाने कहाँ चला गया। वह भी दुखी होकर चुपचाप मेरा मुँह देखने लगा। उसको बहलाने के लिये हाथी के पास ले गया। पर वह हाथी को देखते ही गोद में मुँह छिपाकर मेरे शरीर से चिपक गया। उसका शरीर थरथर काँपने लगा। उसने कभी हाथी नहीं देखा था। उसे उसका विशाल काय, लंबी सूँढ़, मोटे खंभे जैसे पैर और सूप जैसे कान भयदायक प्रतीत हुए। उसकी ये दोनों अवस्थायें मनोवेग के ही परिणाम थीं।

मनोवेग मन की वह भावात्मक उच्छ्वसित अवस्था है जो किसी वाह्य या आन्तर प्रभाव से उत्पन्न होता है और हमारी आन्तरिक स्थिति में परिवर्तन लाकर प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देता है।

हमारे यहाँ मन के विकारों को एक ही भाव की संज्ञा दी गयी है। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने इनके दो विभाग किये हैं—भाव और

मनोवेग (Feelings and Emotions) फीलिंग्स और इमोशन्स। भावों में सुख-दुःख की और मनोवेगों में भय, क्रोध, विस्मय आदि की गणना होती है। मनोवेग या मनःक्षोभ भी सुख-दुःखात्मक होते हैं। व्यापक अर्थ में दोनों आ जाते हैं। अंग्रेजी में भी फीलिंग्स के अन्तर्गत इमोशन्स मान लिये जाते हैं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक इमोशन को शुद्ध फीलिंग—सुखात्मक वा दुःखात्मक अनुभूति नहीं मानते। वे उसे सर्वतोभावेन मानसिक अवस्था मानते हैं। भाव—सुख-दुःखानुभूति विचारों (Ideas) पर निर्भर करते हैं। विचारों में परिवर्तन होने के साथ ही भाव या इमोशन की अवस्था में भी परिवर्तन हो जाता है। एक तो विचार ही अनन्त हैं। दूसरे उनके योग-वियोग के प्रकार भी संख्यातीत हैं। अभिप्राय यह कि भावों का अन्त नहीं।

हमारे मानसिक संस्थान में तीन प्रकार के अनुभव माने जाते हैं—(१) संवेदानात्मक या बोधमूलक अनुभव (Sensation) सेन्सेशन कहलाता है जो ज्ञान से सम्बन्ध रखता है। (२) भावात्मक अनुभव (Feeling) फीलिंग के नाम से अभिहित है जो भावों से सम्बन्ध रखता है। (३) संकल्पात्मक या प्रेरणात्मक अनुभव (Conation) कोनेसन कहा जाता है जिसका सम्बन्ध क्रिया से रहता है।

यदि कोई कुछ कहता है और उसको हम समझ लेते हैं तो वह बोधात्मक अनुभव हुआ। यदि वह कहना कुछ ऐसा हुआ जिससे हमें प्रसन्नता हुई तो वह भावात्मक अनुभव होगा। और, वह कहना कुछ ऐसा हो जिससे हम कुछ कर गुजरने को उद्यत हो जायँ तो यह प्रेरणात्मक अनुभव होगा। दूसरे उदाहरण से भी समझ लें।

किसी फूल की गंध नाक में पैठी। यह संवेदन वा बोध हुआ। इस बोध की क्रिया भी बड़ी और विचित्र है। वह गंध अच्छी है या बुरी, तीव्र है या मंद, सुखदायक है वा दुःखदायक, ग्राह्य है वा अग्राह्य, घृण्य है वा स्पृहणीय, इत्यादि में से किसी का जो अनुभव होगा, वह हुआ भाव। और, वह बुरा, अयोग्य, दुःखदायक वा घृण्य होने के कारण फेंक देने या सुखदायक, ग्राह्य, स्पृहणीय वा अच्छा होने के कारण बार-बार सूँघने की इच्छा हो तो वह अनुभव संकल्पात्मक वा प्रेरणात्मक माना जायगा।

भाव के संबंध में तीन मत हैं। एक का कहना है कि भाव एक

प्रकार का संवेदन ही है जो सुखात्मक वा दुःखात्मक होता है। दूसरा कहता है कि भाव संवेदन तो नहीं पर उसका गुण है। सुख वा दुःख होना भाव का वैसा ही गुण है जैसा कि संवेदन कहीं मंद होता है और कहीं तीव्र। दूसरी बात यह कि अनेकों सुख-दुःख मानसिक ही होते हैं, जिनका संबंध संवेदन से नहीं होता। तीसरे का कहना यह है कि भाव का स्वतन्त्र स्थान है। कारण यह कि भाव स्वतः उद्भूत होता है जिसका सम्बन्ध भावुक से होता है और बोधात्मक अनुभव का सम्बन्ध वस्तु से होता है। दूसरी बात यह कि भावुकों के एक ही वस्तु के सम्बन्ध में भाव भिन्न भिन्न हो सकते हैं पर वस्तु-संबंधी बोध सभी का एक ही होगा।

मैग्ड्यूगल साहब ने मनोवेगों को सहजवृत्तियाँ (Instinct) इन्सटिंक्ट कहा है। सहजवृत्तियाँ वे ही कहलाती हैं जिनमें तीनों प्रकार के उक्त अनुभव माने गये हैं। अर्थात् सहजवृत्तियों में ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक अनुभव होते हैं। भावात्मक वृत्तियाँ (Sentiments) सेंटिमेंट्स स्थिर वा स्थायी होती हैं और इनसे संबंध रखने वाले मनोवेग अनेक होते हैं।

अलेक्जेंडर शंड का कहना है कि मन की प्रवृत्ति सहेतुक होती है। उसकी सिद्धि के लिये मन की सारी प्रवृत्तियों और शरीर के सारे अवयवों का योग आवश्यक होता है। ऐसे मानवी मनोव्यापार की एक प्रबल प्रवृत्ति दीख पड़ती है। अतः सहज प्रवृत्तियों का संघ बनता और उनका कार्य चलता रहता है। जब सहज प्रवृत्ति वा भावना एक रहती है तो प्राथमिक (Primary) कहलाती है और जब एक से अधिक सहज प्रवृत्तियाँ काम करने लगती हैं तो अनेक सहचर भाव भी एक दूसरे से मिल जाते हैं। इन मिश्रित भावनाओं को संमिश्र (Complex) और इनके विशिष्ट विभागों को साधित भावना (Derived emotion) अर्थात् संचारी या व्यभिचारी कहते हैं।

ड्रमंड और मेलोन ने मनोवेग और भाव—इमोशन और सेंटिमेंट का यह लक्षण किया है—मनोवेग मन की एक अवस्था है जिसका अन्तःसात्विक अनुभव हो। भाव या भाववृत्ति वह मनोवेगात्मक वृत्ति

है जिससे मनोवेग की उत्पत्ति होती है[1]। यह स्थायी भाव और संचारी भाव का गड़बड़घोटाला है।

मनोवैज्ञानिकों ने स्थिरवृत्ति के दो भाग किये हैं। पहली स्थिरवृत्ति मूर्तवस्तुविषयक (Concrete) होती है। इसके भी दो भेद हैं—मूर्तजातिविषयक (Concrete General) और मूर्तव्यक्तिविषयक (Concrete Particular)। जहाँ जाति वा किसी वर्ग का संबंध हो वहाँ जाति-विषयक स्थिरवृत्ति होती है। जैसे स्त्री-जाति, शत्रुवर्ग, बालकवृन्द आदि। जहाँ व्यक्ति-विशेष, विशिष्ट शत्रु, मित्र आदि से संबंध हो वहाँ व्यक्तिमूलक स्थिरवृत्ति होती है। दूसरी स्थिरवृत्ति है अमूर्तवस्तुविषयक (Abstract)। जहाँ मानसगोचर अमूर्त विषय होते हैं वहाँ यह होती है। जैसे कि समता, ममता, क्रूरता, दया आदि। यह भेद कोई महत्त्व नहीं रखता।

सहज प्रवृत्ति न तो मानसिक है और न शारीरिक, बल्कि दोनों का मिश्रित रूप है। इससे इसे मानस-शारीर (Psycho-physical) प्रवृत्ति कहते हैं। क्योंकि इनका उद्गम मानस तो है पर उनकी सहचर भावना का आविष्कार शरीर से ही संबंध रखता है। आगे इनका कोष्ठक दिया गया है।

मानस शास्त्र की दृष्टि से एक काव्य-पाठक के मानस-व्यापार का विचार किया जाय तो तीन मुख्य बातें हमारे सामने आती हैं। एक तो है उत्तेजक वस्तु (Stimulous)। यह है काव्य अर्थात् काव्य के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि। दूसरी उस उत्तेजक वस्तु के सम्बन्ध में प्रत्युत्तरात्मक क्रिया का करनेवाला सचेतन प्राणी। यह है सहृदय पाठक। और, तीसरी उस प्रत्युत्तरात्मक क्रिया (Response) का स्वरूप है उसकी सुखात्मक मनोऽवस्था। यह सुखात्मक मनोऽवस्था रसिकगत रस है जो पाठक के कंप, नेत्रनिमीलन, आनन्दाश्रु से प्रगट होता है। अभिप्राय यह कि मनोवेगों का आस्वादन ही रस है। यह हमारी रसप्रक्रिया के अनुरूप ही मानस-व्यापार है। मनोविज्ञान शास्त्र का यही नवनीत है।

---

1. The emotion is the state of mind as it is consciously felt, the sentiment is the emotional disposition out of which it arises.

सहज प्रवृत्ति का कोष्टक—चार्ट

सहज प्रवृत्ति	प्रवृत्ति की सहचर भावना	भावना का प्रकटीकरण
१. बचने की प्रवृत्ति वा पलायन (Instinct of escape)	भय वा डर	हाथ-पाँव काँपना, छाती धड़कना, पसीना छूटना आदि।
२. युद्धप्रवृत्ति (Combat)	क्रोध, संताप, झुँझलाहट, चिढ़, तेजी	भौंहें चढ़ना, आँखे लाल होना, मुट्ठी बँधना ओठ चवाना, स्वर बदलना आदि।
३. जुगुप्सा वा विद्वेष, दूरीकरण (Repulsion)	घृणा, ऊबना	नाक भौं सिकोड़ना, उबकाई आना, जी मचलना।
४. पालनवृत्ति, रक्षा (Parental)	अनुकम्पा, वात्सल्य, स्नेह आदि कोमल भाव	दुलारना, प्यार करना, स्वर बनाना, मा के अंगों से आनन्द का उछला पड़ना आदि।
५. दैन्यवृत्ति, अन्य से प्रार्थना (appeal)	दुःख, निराश्रयता, अनाथ होना, लाचारी, असह्यता का भाव	दुर्बल देह, शून्य दृष्टि, पेट पचकना आदि।
६. कामप्रवृत्ति (Pairing)	कामातुरता	रोमांचित होना, उल्लसित होना, आँखों का इशारा करना आदि।
७. जिज्ञासा, औत्सुक्य (Curiosity)	कौतूहल, विस्मय अद्भुत का भाव	खोज करना, सूक्ष्म दृष्टि डालना, अकचकाना आदि।
८. शरणागति, अधीनता (Submission)	हीनता की भावना, भक्ति, आदर, दैन्य	भक्ति भाव से बैठना, धीरे-धीरे बोलना, मुख पर तल्लीनता का भाव होना।

९. अहंभाव—अहंमन्यता (Self-assertion)	गर्व, अकड़ आत्मश्रेष्ठता का भाव	छाती तानना, जोर से बोलना, दूसरों के प्रति आँखों से तुच्छता प्रदर्शन।
१०. संघवृत्ति—समाज-प्रियता (Social or Gregarious)	आत्मीयता, निकटता, अनुकंपा मिलनेच्छा,	सहवास का सुख, अकेलेपन की बेचैनी के शारीरिक व्यापार।
११. भक्ष्यान्वेषण, भोजनोपार्जन (Food-seeking)	क्षुधा, भूख,	अन्न खोजने का व्यापार
१२. अर्जन, संचय, इकट्ठा करने की रुचि (Acquisition)	लोभ, स्वामी कहलाने की इच्छा अधिकार, स्थापन	इस इच्छा या भावना के अनुकूल शारीरिक व्यापार
१३. नवनिर्माण (Construction)	कलाकार होने की भावना, कुशलता का अभिमान	उसके लिये शरीर का व्यापार, काव्य-कला-निर्माण का उत्साह
१४. हास्य (Laughter)	विनोद, मौज, प्रसन्नता	मुँह चमकना, दंत-विकास होना, कंठ से शब्द निकलना।

ये सब प्रवृत्तियाँ स्थायी भावों के भीतर लायी जा सकती हैं। जैसे, शृङ्गार के अन्तर्गत ६, ४ और १० की प्रवृत्तियाँ आती हैं। ऐसे ही हास्य में ११ और १४ की, करुण में ५ और ८ की, रौद्र में २ की, वीर में १, ६ और १२ की, भयानक में १ की, अद्भुत में १३ और ७ की तथा वीभत्स में ३ की प्रवृत्तियाँ आती हैं। स्थायी में ११वीं प्रवृत्ति का कोई स्थान नहीं है। निवृत्ति-मूलक शान्ति में सहज प्रवृत्ति उदात्त स्वनिष्ठ आत्मभाव (Elevated Ego-Instinct) है। कोई-कोई १० को करुण में, ७, ८ और १० को भक्ति में तथा ४ को वात्सल्य में ले जाते हैं। इनमें वैज्ञानिकों का कुछ मतभेद है।

पैंतालिसवीं छाया

रस-विमर्श

काव्य की रसचर्चा से काव्य के रस का आस्वाद नहीं मिलता। वह सहृदयों—दिलदारों के हृदय से—दिल से अनुभव करने की—लुत्फ उठाने की वस्तु—चीज है। इसीसे रस को 'सहृदयहृदयसंवादी' कहा गया है। अर्थात्, सहृदयों के हृदय का अनुरूप होना—सहधर्मी होना रस का गुण है।

काव्यों के अनुशीलन से और लोक-व्यवहार-निरीक्षण से विशद बना हुआ जिनका मानसदर्पण काव्य की वर्णनीय वस्तु को प्रतिबिंबित करने की योग्यता रखता है वे ही हृदय की भावना में समरस होनेवाले सहृदय हैं।[1] अभिप्राय यह कि काव्य पढ़ते-पढ़ते जिनका हृदय ऐसा निर्मल हो जाता है कि उसमें काव्य के अंतरंग में पैठने की शक्ति आ जाती है। फिर जब वह कोई काव्य पढ़ता है तो उसके वर्णन से ऐसा मुग्ध हो जाता है, उसमें उसका मन ऐसा रम जाता है कि उससे हटना ही नहीं चाहता। ऐसे ही व्यक्ति सहृदय कहलाते हैं।

रस के दो उपादान हैं—वाह्य और आन्तर। वाह्य उपादान हैं कवि का काव्य, नाटक, उपन्यास आदि। आन्तर उपादान हैं चित्तवृत्तियाँ, मनोविकार वा राग। प्रचलित शब्दों में इन्हें भाव कहते हैं। काव्यवर्णित विभाव, अनुभाव आदि वाह्य उपादानों से मन के भाव रस-रूप में परिणत हो जाते हैं। अभिप्राय यह कि लौकिक उपादानों से भी हमारे मन में हर्ष-शोक के भाव जाग उठते हैं और हर्षित-शोकार्त होते हैं। पर ये भाव न तो रस हैं और न जिससे ये भाव उठते हैं वह काव्य ही है। किन्तु इन्हीं स्वप्निल भावों पर जब कवि अपनी प्रतिभा का मायाजाल फैलाकर एक मनोरम सृष्टि कर देता है, काव्य का रूप दे देता है तभी उससे सामाजिकों को रसानुभव होता है। यही उसकी लौकिकता से अलौकिकता है। यही कारण है कि लौकिक शोक से हम शोकार्त ही होते हैं पर काव्य के करुण रस से भी हम आनन्द ही प्राप्त करते हैं।

---

१ येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय-तन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः। ध्वन्यालोकलोचन

शयनगृह में आती हुई नववधू को देखकर क्या कभी हम उस रस का आस्वाद सकते हैं जो इस कविता से रसास्वादन होता है—

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात ! विकंपित मृदु उर, पुलकित गात,
सशंकित ज्योत्स्ना सी चुपचाप, जड़ित पद नमित पलक दृगपात ;
पास जब आ न सकोगी प्राण ! मधुरता में सी मरी अजान,
लाज की छुई मुई सी म्लान, प्रिये प्राणों की प्राण ! पंत

इसमें डेढ़ हाथ के घूँघुट लटकानेवाली न तो लौकिक नववधू ही है और न झमर झमर करना, अड़ती हुई आना आदि अनुभाव ही हैं। है यहाँ एक अलौकिक, कविकल्पित लाज की छुई मुई नायिका आलंबन और मिलन-मधुर, स्वाभाविक लाज के लजीले कार्य—अनुभाव।

कवीन्द्र रवीन्द्र यह भाव पहले ही व्यक्त कर चुके हैं—

द्विधाय जड़ित पदे कंप्रवक्षे नम्र नेत्रपाते
स्मित हास्ये नाहीं चलो सलज्जित वासर शय्याते
स्तब्ध अर्द्ध राते

किसी बालविधवा को देखते ही हम जीभ दाबकर हाय हाय करते हैं; आँखों में आँसू उमड़ आते हैं और दुःख ही दुःख होता है। पर ऐसी कविताओं को आँसू बहाते हुए भी हम पढ़ते हैं ; एक ही बार नहीं, बार-बार पढ़ना चाहते हैं और आनन्द लाभ करते हैं।

अभी तो मुकुट बँधा था माथ, हुए कल ही हलदी के हाथ ;
खुले भी न थे लाज के बोल, खिले भी चुम्बन शून्य कपोल ;
हाय रुक गया यहीं संसार, बना सिन्दूर अँगार !
बातहत लतिका वह सुकुमार, पड़ी है छिन्नाधार ! पंत

इससे स्पष्ट है कि काव्यरस अलौकिक होता है और हमें आनन्द ही आनन्द देता है। नित्य निरन्तर आनन्द-दान ही रस का कार्य है।

कोई किसी को कहे कि 'तेरे लड़का हुआ है' तो पिता को जो प्रसन्नता होती है वह न तो रस ही है और न वह वाक्य ही काव्य। किन्तु कवि इसी हर्ष को विभाव, अनुभाव की प्रतीति में ऐसा स्वाभाविक सुख से विलक्षण बनाकर रख देता है कि वह सहृदयों का हृदयाकर्षक होकर चमकने लगता[1] है अर्थात् वह हर्ष रस रूप में परिणत होकर आस्वादयोग्य हो जाता है। जैसे,

१ 'पुत्रस्ते जात' इत्यतो यथा हर्षो जायते तथा नापि लक्षणया। अपितु सहृदयस्य हृदयसंवादवलाद्विभावानुभावप्रतीतौ सिद्धस्वभावसुखादिविलक्षणः परिस्फुरति। लोचन

ज्यों भूप ने स्वसुतसंभववृत्त जाना, ऐसे हुए मुदित विग्रह भान भूले।
जैसे तपोनिरत आत्मनिधान योगी होता प्रसन्नमन अंतिम सिद्धि पाके॥
राजा हुए मुदित और प्रसन्न ऐसे दो दंड एक टक ही लखते रहे वे।
बोले तदा सचिव से सब राज्य में हों आनंद, मंगल, कुतूहल खेल नाना॥
—सिद्धार्थ

इसी रूप में सहृदय अपने हृदय को प्रतिफलित देखते हैं और यही सकलहृदयसमसंवेदना है। कवि लौकिक भाव को रसरूप देने के समय जब लौकिकता को पार कर जाता है तभी वह काव्य-रस की सृष्टि करने में समर्थ होता है।

डाक्टर भगवानदास कहते हैं, "किसी दुःखी-दरिद्र को देखकर किसी के मन में करुणा उपजे वा उसको धन दे, वा अन्य प्रकार से उसकी सहायता करे तो दाता तो करुणा का, दया का, दुःखी के शोक में अनुकंपा, अनुक्रोश, अनुशोक (अंग्रेजी में सिम्पैथी) का भाव हुआ पर रस नहीं आया। यदि सहायता कर चुकने के बाद उसके मन में यह वृत्ति उत्पन्न हो—कैसा दुःखी था, कैसा दरिद्र था, कैसा कृपापात्र था तो जानना कि उसको करुण रस आया।"

रसानुभव आगे-पीछे की बात नहीं। यह कौन कह सकता है कि जिस समय वह दान देता है उस समय उसके हृदय में यह अनुभूति न होती हो कि बड़ा ही दुखिया है। दुखी-दरिद्र होने की अनुभूति ही तो उसे प्रभावित या प्रेरित करती है कि इसे कुछ दान दो, इस पर दया करो, बड़ा ही दुखिया है। दान का तात्कालिक कार्य ही इस बात का प्रमाण है कि उसे कुछ अनुभूति हुई है। यह भावलंघन की सीमा है। अनुकंपा और सिम्पैथी का भाव उसी समय तक रहता है जिस समय वह मन में जाग जाता है, उसकी उद्रेकावस्था रहती है। जब उसकी प्रतिक्रिया हुई तब वह अनुभूति का परिणाम कही जायगी। यदि इसमें उपेक्षा का भाव हो, हटा देने या गलग्रह दूर करने के विचार से कुछ देना हो तो यह न तो भाव का रूप धारण कर सकता है और न रस का ही। इस अर्थ का समर्थन आपका यह रस-लक्षण कर रहा है—"अबुद्धिपूवक, अनिच्छा-पूर्वक, स्वाद नहीं, किन्तु बुद्धि-पूर्वक, इच्छापूर्वक आस्वादन की अनुशयिनी चित्तवृत्ति का नाम रस है।" इन दोनों दशाओं में करुणा का उपजना और उसका अनुभव होना आवश्यक है। ये भाव और रस लौकिक हैं। अलौकिक भाव-रस में

ज्ञान और अनुभव साथ ही साथ होते हैं। यही रस की अलौकिकता है। भाव और रस के सम्बन्ध में आगे-पीछे की बात कहना भ्रामक है, वे लौकिक ही क्यों न हों।

आप आगे यह लिखते हैं—"भाव, क्षोभ, संरंभ, संवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश (अंग्रेजी में इमोशन) का अनुभव रस नहीं है; किन्तु उस अनुभव का 'स्मरण', 'प्रतिसंवेदन', 'आस्वादन', 'रसन' रस है। 'भाव-स्मरणं रसः'।

यह कहना ठीक नहीं। भाव का अनुभव भी रस होता है। क्योंकि उसमें भी रसन है—आस्वाद-योग्यता है। आचार्य का कहना है कि रस, भाव, इनके आभास, भाव के उद्गम, शान्ति, सन्धि, सबलता, सभी रसन से—आस्वादित होने से रस[1] ही हैं। अनुभव ही तो आस्वादन है। प्रतिसंवेदन के स्थान पर अनुसंवेदन शब्द होता तो ठीक था। आप प्रमाण देते हैं 'भावस्मरणं रसः' पर व्याख्या में 'भाव के अनुभव का स्मरण लिखते हैं। भाव का स्मरण तो रस होगा ही जो उसका अनुभव है। भाव के अनुभव का स्मरण रस होता है यह बड़ी विचित्र बात है!

इस रूप में रस का विमर्श नये समलोचकों को भले ही पसंद की वस्तु नहीं हो पर आलंकारिकों की दृष्टि में, शुद्ध काव्यतत्वावगाहियों की दृष्टि में इससे बढ़कर दूसरी यथार्थ व्याख्या क्या हो सकती है?

छियालिसवीं छाया

रस-संख्या-विस्तार

रस आनन्द-स्वरूप है। जब हम आनन्द-रूप में उसे पाते हैं तब उसके भेदों की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। किन्तु, जब हम रसोत्पत्ति की विधाओं पर ध्यान देते हैं तब उसके भेदों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है और उसके मनमाने भेद करते हैं।

१ साहित्य के प्रथम आचार्य भरत मुनि ने प्रधानतः आठ रसों

---

1 रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः सबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः। साहित्य-दर्पण

का ही उल्लेख किया है।[1] नाट्यशास्त्र में शान्त रस का जो उल्लेख है, कहते हैं कि वह प्रक्षिप्त है। टीकाकार उद्भट ने वह अंश जोड़ दिया है। पहले-पहल उद्भट ने ही नाटक में शान्त रस की अवतारणा की है।[2]

२ दण्डी ने माधुर्य गुण के लक्षण में रस का नाम लिया है तथा बाग्-रस और वस्तु-रस नामक उसके दो भेद किये हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास को बाग्-रस का पोषक और अर्थालंकारों में ग्राम्यत्व दोष के अभाव को वस्तु-रस का पोषक माना है। पर स्वतन्त्र रूप से उन्होंने रसविवेचन नहीं किया[3] है।

३ रुद्रट ने उक्त नव रसों में एक प्रेयान् रस जोड़कर उसकी संख्या दस कर दी है। इसमें स्नेह स्थायी भाव, साहचर्य आदि विभाव, नायिका के अश्रु आदि अनुभाव होते हैं।[4] इस प्रेयान् रस का मूल कारण भामह और दण्डी के प्रेयस् अलंकार ही है, जिसमें प्रियतर आख्यान अर्थात् देवता, मान्य, प्रिय, पुत्र आदि के प्रति प्रीति-पूर्वक वचन कहा जाता[5] है।

४ भोज ने प्रेय के बाद दो अन्य रसों—उदात्त और उद्धत—की वृद्धि की। उन्होंने उदात्त का 'मति' और उद्धत का 'गर्व' स्थायी भाव स्थिर किये। उनके मत से धीरोदात्त और धीरोद्धत नायक इन दोनों रसों के नायक[6] हैं।

५ विश्वनाथ ने वत्सल नामक एक नये रस का उल्लेख किया जिसका स्थायी भाव वात्सल्य है। इसके पुत्र आदि आलंबन और अंगस्पर्श आदि अनुभाव[7] हैं।

६ प्रेयस् अलंकार से ही भक्तिरस की उद्भावना की गयी। पर शान्त रस में ही तब तक इसका अन्तर्भाव होता रहा जब तक

---

१ अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः। नाट्य शास्त्र

२ वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः। का० सं०

३ मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। काव्यादर्श

४ 'स्नेहप्रकृतिः प्रेयान्' आदि काव्यालंकार के १५–१७, १८, १९ श्लोक।

५ प्रेयः प्रियतराख्यानम्। काव्यादर्श

६ वीभत्सहास्यप्रेयांसः शांतोदात्तोद्धताः रसाः। स० क०

७ स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।...सा० दर्पण

रूपगोस्वामी तथा मधुसूदन सरस्वती ने उसका पक्ष समर्थन नहीं किया। भक्ति रस को इतनी प्रधानता दी गयी कि भक्ति में ही वीर आदि नव रस दिखला दिये गये। भक्ति को ही भागवत में भागवत रस माना गया[1] है।

७ इसी प्रकार अभिनव गुप्त ने आर्द्रता-स्थायिक स्नेह रस और गन्धस्थायिक लौल्य रस की कल्पना की।

८ रसतरङ्गिणी में निवृत्तिमूलक शान्त रस जैसे माना गया है वैसे ही प्रवृत्तिमूलक माया रस भी माना गया है।

९ उद्भट की दृष्टि में सभी भाव अनुभाव आदि से सूचित होने पर अर्थात् संचारी, स्थायी, सात्विक भाव, अनुभाव आदि से प्रेयस्वत् काव्य बन जाते हैं अर्थात् सभी भाव रस रूप धारण कर[2] सकते हैं।

१० मधुसूदन सरस्वती तो यहाँ तक कहते हैं कि जितनी चित्त-द्रुतियाँ—मनोविकार हैं सभी स्थायी भाव हैं जो विभाव आदि के कारण रसत्व को प्राप्त हो जाते[3] हैं।

११ इसी बात को रुद्रटकृत काव्यालंकार के टीकाकार नमि साधु कहते हैं कि ऐसी कोई चित्तवृत्ति ही नहीं जो परिपुष्ट होने पर रसावस्था को प्राप्त न[4] हो।

१२ संगीतसुधाकर में ब्राह्म, संभोग और विप्रलंभ नामक तीन अन्य रसों का उल्लेख है और क्रमशः आनंद, रति और अरति इनके स्थायी भाव माने गये हैं।

१३ मानस शास्त्र का भी एक प्रकार से यही सिद्धान्त है कि मानव-

---

१ निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिवत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः। भागवत

२ रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिः तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्॥ काव्यालंकार

३ यावत्यो द्रुतयश्चित्ते भावास्तावन्त एव हि।
स्थायिनो रसतां यान्ति विभावादिसमाश्रयात्॥ भ० भ० रसायन

४ यदुत सा नास्ति कापि चित्तवृत्तिः या परिपोषं गता
न रसीभवति। काव्यालंकार ४-५ की टीका

जीवन को पूर्णतः प्रकट करनेवाली जितनी प्रमुख, उत्कट और आस्वादयोग्य भावनायें हैं सभी रस हो सकती हैं।

इस प्रकार रस-संख्या के क्षेत्र में, क्रान्ति, अशान्ति, अराजकता का कारण भरत के स्थायी और संचारी भावों का गड़बड़घोटाला ही है। अर्थात् भरत निर्वेद, क्रोध आदि की गणना स्थायी और संचारी, दोनों में नहीं करते तो ऐसी धाँधली नहीं मचती।

कवि कलाकार है। वह एकता में अनेकता की कल्पना करता है। उन्हींमें उसकी कला विकास पाती है; सौन्दर्य-सृष्टि करती है। एक में अनेक भावनाओं के दिखाने में उसकी बुद्धि कुण्ठित-सी हो जाती है। प्रपात की एक धारा, वह विशाल ही क्यों न हो और उसमें सहस्र धाराओं को आत्मसात् करने की शक्ति ही क्यों न हो, कला की दृष्टि से झिर-झिर झरनेवाले झरने की समता नहीं कर सकती। एक ही रस में जीवन की रंगीनियाँ प्रकट नहीं होतीं। कलाकार 'एकमेवाद्वितीयं' का उपासक नहीं होता। वह 'एकोऽहं बहु स्याम' की उपासना करता है। रस की अनेकता की कल्पना में यही तत्त्व है। आचार्य तो उनका अनुधावन ही करते हैं।

सैंतालिसवीं छाया

रस-संख्या-संकोच

आचार्यों में रस-संख्या-विस्तार की जो भावना काम करती रही उसके बिपरीत आचार्यों ही में नहीं, कवियों में भी रस-संख्या-संकोच की भी भावना काम करती रही। कारण यह कि सभी भावनायें एक सी नहीं होतीं। यदि कोई प्रबल तो कोई सामान्य। यदि एक से दूसरे का काम निकल जाय तो दूसरे के अस्तित्व से क्या प्रयोजन? जैसे विशेषता वा भिन्नता दिखलाने की—पृथक्करण की प्रवृत्ति रही वैसे एकीकरण की प्रवृत्ति भी चलती रही। एकीकरण का कारण यह समझा जाता है कि आनन्द एक रूप है। वह चित्त की अचंचलता—एकाग्रता से उत्पन्न होता है। आनन्दरूप रस में भेद-भाव कैसा!

अहंकार शृङ्गार ही एक रस है

अहंकार ही शृङ्गार है, वही अभिमान है और वही रस है। उसीसे रति आदि भाव उत्पन्न[1] होते हैं। अहंकार ब्रह्मा का पहला आविष्कार है और उसीसे अभिमान की उत्पत्ति बतायी जाती है।

यह मनोविज्ञान के अनुकूल है। आत्मप्रवृत्ति (Ego Instinct) एक प्रधान प्रवृत्ति है और उसका अविष्कार व्यापक रूप से होता है। अहंकार सांसारिक पदार्थों से सम्बन्ध रखता है और उन-उन पदार्थों से रति, शोक आदि भावनायें उद्भूत होती हैं। जब कहता हूँ कि मैं क्रोधी हूँ, शोकार्त हूँ, दयालु हूँ, प्रसन्न हूँ, तब रस का अनुभव होता है और 'मैं हूँ' इसमें अहंकार प्रत्यक्ष सा हो जाता है। थोड़े में 'मैं हूँ' इस प्रकार आत्मा को अपने अस्तित्व का अनुभव करना ही आनन्द है।

रति शृङ्गार ही एक रस है

व्यासदेव ने रति शृङ्गार को ही प्रधानता दी है और उसे ही एक रस माना है। उन्होंने रति की उत्पत्ति अभिमान से मानी है। वह परिपोष प्राप्त करके शृङ्गार रस में परिणत हो जाती है। हास्य आदि अन्य रस अपने स्थायि-विशेषों से परिपुष्ट होकर अन्य रस बनते हैं जो उसके ही भेद[2] हैं।

भोज कहते हैं कि शास्त्रकारों ने शृङ्गार, वीर, करुण आदि दस रस माने हैं पर आस्वादयोग्यता से हम शृङ्गार को ही एक रस मानते[3] हैं।

---

१ तच्च आत्मनोऽहंकारगुणविशेषं ब्रूमः।
स शृङ्गारः सोऽभिमानः स रसः। तत एव रत्यादयो जायन्ते। शृङ्गारप्रकाश

२ अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी।
व्यभिचार्यादिसामान्यात् शृङ्गार इति गीयते॥
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।
स्वस्वस्थायिविशेषोऽथ परिपोषस्वलक्षणाः॥ अग्निपुराण

३ शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यवीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः॥
आम्नासिषुर्दश रसान्सुधियो वयं तु शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः॥
—शृङ्गारप्रकाश

प्रेम ही एक रस है

रति के अन्तर्गत ही प्रेम, प्रीति आदि भी मान लिये गये हैं। किन्तु रति में प्रेम एक विशेष स्थान रखता है। भोज ने प्रेम को बड़ा महत्त्व दिया[1] है। कवि कर्णपूर का तो कहना है कि समुद्र में तरंग की भाँति सभी रस और भाव प्रेम ही में उन्मीलित और निमीलित होते[2] हैं।

भवभूति का प्राप्य प्रेम कवि सत्यनारायण के शब्दों में इस प्रकार है—

सुख-दुख में नित एक, हृदय को प्रिय विराम थल।
सब विधि सों अनुकूल विशद लच्छनमय अविचल॥
जासु सरसता सकै न हरि कब हूँ जरठाई।
ज्यों-ज्यो बाढ़त सघन-सघन सुन्दर सुख दाई॥
जो अवसर पर संकोच तजि परनत दृढ़ अनुराग सत।
जगदुर्लभ सज्जन प्रेम अस बड़ भागी कोऊ लहत॥

कबीरदास कहते हैं—

पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ हुआ न पंडित कोय।
एकै अक्षर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय॥

अभिप्राय यह कि एक प्रेम ही से सब कुछ होता है।

भारतेन्दु का कथन है—

जिहि लहि फिर कछु लहन की आस न चित में होय।
जयति जगत पावन करन प्रेम बरन यह दोय॥
डरै सदा चाहे न कछु सहै सबै जो होय।
रहै एक रस चाहिकै प्रेम बखाने सोय॥

एक अंग्रेज का कथन है—

God is love, love is god—प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है।

---

१ रसन्त्विहं प्रेमाणमेव मामनन्ति। शृ० प्र०

२ उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेमण्यखण्डरसत्वतः।
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ॥ अलंकारकौस्तुभ

शृङ्गारिक प्रेम को अनुराग, स्वजन-परिजन के प्रेम को सौहार्द, बड़ों के प्रति छोटों के प्रेम को भक्ति, छोटों के प्रति बड़ों के प्रेम को वात्सल्य और विकल होकर जो प्रेम किया जाता है उसे कार्पण्य कहते हैं। इस प्रकार प्रेम पाँच प्रकार का होता है।

करुण ही एक रस है

महाकवि भवभूति कहते हैं कि करुण ही एक रस है जो निमित्त-भेद से अन्यान्य रसों के रूप ग्रहण करता[1] है।

कारुणिक कवि पन्त कहते हैं—

वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान।

एक अंग्रेज कवि की उक्ति है—

Our sweetest songs are those
that tell of saddest thought.

अर्थात् हमारे मधुरतम संगीत वे ही हैं जिनमें आह उपजानेवाले भाव भरे हुए हैं।

अद्भुत ही एक रस है

चित्त-विस्तार-रूप जो चमत्कार (विस्मय) है वही रस का सार है। उसका सर्वत्र अनुभव होता है। उस सार चमत्कार में अद्भुत रस ही वर्तमान रहता है। इससे अद्भुत ही एक रस[2] है।

आत्मरस ही एक रस है

आत्मा से विभिन्न पदार्थों में जो रसबुद्धि होती है वह मिथ्या है, सच्ची नहीं। क्योंकि आत्मा ही के लिये तो सब वस्तुयें प्रिय होती हैं।

---

१ एको रसः करुण एव निमित्तभेदात् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
—उ० रा० चरित

२ रसे सारः चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते। तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणः स्वयम्। साहित्यदर्पण

इससे एक आत्मरस ही निश्चित, समर्थ और नित्य है। और आत्मानंद ही सब कुछ[1] है।

इस प्रकार एकीकरण में अनुभव, आग्रह और मतविशेष का प्रभाव ही विशेषतः दृष्टिगोचर होता है। किन्तु इससे कलाविकास का क्षेत्र संकुचित हो जाता है।

अड़तालिवीं छाया

रसों का मुख्य-गौण-भाव

भरत ने चार रसों को मुख्यता दी है। वे हैं—शृङ्गार, वीर, रौद्र तथा वीभत्स। इन चारों से ही हास्य, करुण, अद्भुत तथा भयानक रसों की उत्पत्ति भी बतायी[2] है। इससे प्रथम चारों की प्रधानता सिद्ध होती है।

भरत के श्लोकों में जो रस और स्थायी भावों का क्रम दिया हुआ है वह एक दूसरे से मिलता जुलता है। जैसे, शृङ्गार—हास, करुण—रौद्र, वीर—भयानक, वीभत्स—अद्भुत तथा रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय[3]। पर उपर्युक्त उत्पत्ति-क्रम से इसका मेल नहीं खाता।

भरत ने वीभत्स को प्रधानता दी है पर विचारकों की दृष्टि में उसकी गौणता है। कारण यह कि वह यथास्थान हल्की घृणा पैदा करके शान्त हो जाता है। इसका साधन पीब, हड्डी, मांस आदि वृत्ति-संकोचक जुगुप्सित वस्तुएँ हैं। समाज में घृणित कर्म करने वाले मनुष्यों की ओर दृष्टिपात करते हैं तब वीभत्स की व्यापकता लक्षित होती है पर वह उत्कटता उसमें नहीं पायी जाती जो दिये हुए उदा-

---

१ आत्मनोऽन्यत्र या तु स्यात् रसबुद्धिर्न सा ऋता।
आत्मनः खलु कामाय सर्वमन्यत् प्रियं भवेत्।
सत्यो ध्रुवो विभुर्नित्यो एक आत्मरसः स्मृतः। पुरुषार्थ
आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानंदः स स्वराड् भवति। छान्दोग्य

२ शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः वीभत्साच्च भयानकः। नाट्यशास्त्र

३ नाट्यशास्त्र ६—१६, १०

हरणों में है, भले ही उसमें स्थायित्व और आस्वाद्यत्व की अधिकता हो। हास्य भी छिछला समझा जाता है पर शिष्ट तथा गंभीर हास्य भी होता है जिसकी आस्वाद्यता अत्यधिक होती है। इसका तो गौण स्थान है ही।

अभिनव गुप्त रसों के स्थान-निर्देश के सम्बन्ध में यों उल्लेख करते हैं—भरत के श्रृङ्गार को प्रथम स्थान देने का कारण यही है कि वह सकल-जाति-सामान्य है, अत्यन्त परिचित है और उसके प्रति सभी का आकर्षण है। प्राय: सभी आचार्यों ने भी श्रृङ्गार की प्रधानता मानी है। श्रृङ्गार का अनुयायी होने से हास्य का दूसरा स्थान है। निरपेक्ष होने से हास्य के विपरीत करुण है। इससे उसका तीसरा स्थान है। करुण से उत्पन्न होने अर्थात् मूल में करुणा होने से रौद्र चौथा माना गया। यह अर्थ-प्रधान है। पाँचवा वीभत्स है। यह धर्म-प्रधान है और धर्म अर्थ का मूल है। वीर का कार्य भयार्तों को अभय-प्रदान ही है। इससे छठा भयानक है। भय के विभावों से निर्माण होने के कारण वीभत्स का सातवाँ स्थान है। आठवाँ स्थान अद्भुत का है। क्योंकि वीर के अन्त में अद्भुत होना ही चाहिये[1]।

भरत ने चार मुख्य रसों से चार गौण रसों की जो उत्पत्ति बतायी है उसका यह आशय नहीं कि गौण रसों के मूल मुख्य रस हैं। उनका फलितार्थ यही इतना है कि उनके विभावों से ये रस उत्पन्न होते हैं; उनसे वे वे रस परिपुष्ट होते हैं। यही कहना ठीक है कि श्रृङ्गारमूलक हास्य होता है। यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि इनसे ये ही रस उत्पन्न हो सकते हैं, दूसरे नहीं। वीर, वत्सल आदि रसों के विभावों से भी हास्य उत्पन्न हो सकता है।

शंड का कहना है कि तात्विक दृष्टि से देखने पर कोई एक भावना दूसरी भावना से स्वतंत्र नहीं। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से ऐसी कुछ भावनायें हैं जो मूलभूत और स्वतंत्र कही जा सकती हैं। ऐसी भावना या भावनाओं के संघ ये हैं। (१) आनन्द (Joy) (२) विषाद (Sorrow) (३) भय (Fear) और (४) क्रोध (Anger) ये चार मुख्य हैं और (५) जुगुप्सा (Disgust, Repugnance)

---

१ 'तत्र कामस्य सकल जातिसुलभतया...' से लेकर 'पर्यन्ते कर्तव्यो नित्यं रसोऽद्भुत इति' तक की विवृति। अभिनव भारती

(६) विस्मय (Surprise, Curiosity, Wonder) ये दो गौण हैं। इनमें हमारी पाँच भावनायें तो मिल जाती हैं। बचे वीर, शृङ्गार, और हास्य। हास्य को वे आनन्द में ले लेते हैं। कारण यह कि हास्य का क्षेत्र संकुचित है और आनन्द (Joy) का क्षेत्र व्यापक है। उसमें सभी प्रकार के आनन्द अन्तर्भूत हो जाते हैं। क्रोध (Anger) में रौद्र और वीर दोनों को सम्मिलित कर लेते हैं। रति को वे मूल भावना मानते ही नहीं और न उसकी व्यापकता को स्वीकार करते हैं। किन्तु शृङ्गार की प्रधानता को कौन मिटा सकता है! इसके समाधान में कहा जाता है कि मनुष्य में कुछ भावना-संघों के अतिरिक्त एक इच्छा होती है। उसके योग से नाना भाँति की भावनायें प्रबल हो उठती हैं जिनसे मन उनके अधीन हो जाता है; उनके प्रभाव से प्रभावित हो उठता है। इसी इच्छा के छओ मूल भावनायें सहायक हो जाती हैं। ऐसी ही इच्छा रति है और रति वा प्रेम करने वाला प्रेमी कहा जाता है। ऐसी विशिष्ट इच्छा को अधिकारी स्वभाव वा धर्म (Ruling sentiment) कहते हैं।

यह इच्छा अधिकतर अवसरों पर प्राथमिक भावनाओं में नहीं पायी जाती। सहसा दृष्टि-पथ में आया हुआ चित्र बरबश मन आकर्षित कर लेता है। वह इच्छामूलक नहीं होता। हम इच्छा नहीं करते कि हमें आनन्द हो। ऐसे ही बन्धुविनाश से दुःख, सान्धकार कन्दरा से भय, अबला पर अत्याचार से जो क्रोध होता है उसे इच्छा का परिणाम तो नहीं कहा जा सकता। जुगुप्सा और आश्चर्य को ऐसा न समझिये। पहले ही क्षण में व्याप्त होनेवाली ये भावनायें हैं। पर रति तो इच्छा पर ही निर्भर करती है। उक्त भावनाओं की सी रति नहीं है। बाल-वृद्ध में रति नहीं पायी जाती।

पर शंड की तथा उनके अनुयायियों की इस भ्रान्त धारणा को कि आनन्द में हास्य का और इच्छा में शृङ्गार का अन्तर्भाव हो जायगा या उनसे ही इनका सम्बन्ध है, मैग्डुगल ने छिन्न भिन्न कर दिया है। प्राच्य आचार्यों ने तो भावों की मूलभूतता को अपने भाव-परीक्षण का निकष ही नहीं माना है।

रसों के मुख्य और गौण भाव की परीक्षा के लिये दो बातें ध्यान में रखनी चाहिये। एक तो व्याप्यव्यापकभाव और दूसरा उपकार्योपकारकभाव। एक रस या भाव दूसरे रस या भाव से मिले होते हैं।

भावों में संमिश्रण की प्रबलता है। यह भी देखा जाता है कि एक रस दूसरे का उपकारक है। दूसरे से पहले का उपकार ऐसा होता है कि वह तीव्रता से आस्वाद्य हो जाता है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर एक रस में दूसरे रस के संचारी होने की तथा एक रस के दूसरे रस के विरोधी होने की व्यवस्था काव्यशास्त्र में दी गयी है।

संचारी होने की बात लिखी जा चुकी है। रस-विरोध को देखिये—

करुण, रौद्र, वीर और भयानक रसों के साथ शृङ्गार का; भयानक और करुण के साथ हास्य का; हास्य और शृङ्गार के साथ करुण का; हास्य, शृङ्गार और भयानक के साथ रौद्र रस का; भयानक और शान्त के साथ वीर रस का; शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त के साथ भयानक रस का; वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य, भयानक के साथ शान्त रस का तथा शृङ्गार के साथ वीभत्स रस का विरोध रहता है। इन विरोधी रसों के साथ साथ रहने का भी प्रकार कहा गया है।

सारांश यह कि दोनों परीक्षणों से जो रस व्यापक और उपकार्य हों उन्हें मुख्यता और जो व्याप्त और उपकारक हों उन्हें गौणता देनी चाहिये। मुख्यता के अन्यान्य कारणों का यथास्थान उल्लेख हो चुका है। इस विषय में प्राय: सभी प्राच्य और पाश्चात्य पंडित, एकमत हैं।

उनचासवीं छाया

रसों के वैज्ञानिक भेद

सभी रस आत्मरक्षण वा स्ववंशरक्षण से सम्बन्ध रखते हैं। हमारी सारी स्वाभाविक क्रियायें और सारे भाव व्यक्ति और जाति के हिताहित के विचार से ही जागते हैं। काम भाव की सहज प्रवृत्ति प्रजनन ही है। इससे आत्मरक्षा ही केवल नहीं होती, वंश की भी रक्षा होती है और जाति की भी। हास्य रस शृङ्गार का सहायक है। हास्य आमोद-प्रमोद से पारस्परिक प्रीति का पोषण करता है। हास्य चिन्ता और मानसिक किल्विष को दूर कर चित्त को हल्का कर देता है। उसका प्रभाव स्वास्थ्य पर भी पड़ता है जिससे आत्म-रक्षा होती है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। इससे वह एक के दुख से दुखी होता

है। सहानुभूति का यह भाव ही करुण रस को उपजाता है। यह करुण अपनी इष्टहानि से ही केवल सम्बन्ध नहीं रखता। सहानुभूति-मूलक होने से इसका बहुत व्यापक क्षेत्र है। भरत के कथनानुसार रौद्र अर्थ-प्रधान है और वीर धर्म-प्रधान। इन दोनों का सम्बन्ध आत्म-रक्षा से है। ऐसे ही भयानक, वीभत्स और अद्भुत को भी समझना चाहिये।

इच्छा के दो रूप हैं—राग और द्वेष। इन्हें काम और क्रोध भी कह सकते हैं। राग के प्रीति रूप का शृङ्गार से, सम्मान रूप का अद्भुत से और दया रूप का करुण से सम्बन्ध है। द्वेष के भय रूप का भयानक से, क्रोध रूप का रौद्र से और जुगुप्सा रूप का वीभत्स रस से सम्बन्ध है। हास्य में प्रीति और अपमान वा घृणा का तथा वीर में क्रोध, दया आदि का मिश्रण है। ऐसे ही भक्ति, शान्त, वत्सल आदि संमिश्रित रस हैं। मूलतः इच्छा वा वासना के दो रूप और उनके अवान्तर भेद ही मुख्य हैं। ऐसे तो विकृतियों—मनोविकारों का अन्त नहीं है।

मानसिक संख्यान के विचार से रसों के तीन विभाग होते हैं। (१) ज्ञानसम्बद्ध (२) भावसम्बद्ध और (३) क्रियासम्बद्ध। ज्ञान से सम्बन्ध रखनेवालों की श्रेणी में शान्त, अद्भुत और हास्य रस आते हैं। ज्ञान बुद्धि-प्रधान होता है और इन रसों में बुद्धि की प्रधानता है। भावों से सम्बन्ध रखनेवाले शृङ्गार, करुण, वीभत्स और रौद्र ठहरते हैं। इनमें भावों की ही प्रधानता लक्षित होती है। क्रिया से सम्बन्ध रखने वाले वीर और भयानक रस माने जाते हैं। इनमें क्रियात्मक प्रवृत्ति ही अधिक दीख पड़ती है। प्रधानता को लक्ष्य में रख कर ही ये भेद किये गये हैं। ये शुद्ध भेद नहीं कहे जा सकते। क्योंकि इनका कुछ न कुछ परस्पर मिश्रण रहता ही है।

त्रिगुण—सत्व, रज तथा तम—के आधार पर भी इनके भेद किये जाते हैं। रजोगुणी प्रकृति के शृङ्गार, करुण और हास्य रस हैं। इनका राग से विशेष सम्बन्ध है। शृङ्गार का सहायक होने से हास्य की भी गणना इसी में होती है।

कितनों का कहना है कि शोक भाव तमोगुण-सम्पन्न होता है और करुण सत्वगुण-सम्पन्न। क्योंकि इसमें परोपकार की प्रेरणा रहती है। पर राग की अधिकता इसकी ओर ध्यान नहीं जाने

देती। शृङ्गार के समान ही करुण से भी अनुभवी व्यक्ति अभिभूत होता है। यहाँ इस मतभेद का कोई महत्त्व नहीं।

रस-साक्षात्कार का कारण अन्त:करण में रजोगुण तथा तमोगुण को दबाकर सत्वगुण का सुन्दर स्वच्छ प्रकाश होना बताया गया है। रजोगुण-तमोगुण से असंस्पृष्ट मन ही सत्व है। फिर इन रसों को रजोगुणात्मक कैसे कहा जा सकता है। इसका समाधान यह है कि रस-साक्षात्कार में सत्वोद्रेक तो आवश्यक है ही पर उससे यहाँ मतलब नहीं। यहाँ उनकी प्रकृति से मतलब है। उनके कार्य से न तो औद्धत्य और न शान्ति ही प्रकट होती है बल्कि उनकी मध्यस्थता ज्ञात होती है। रजोगुणी प्रकृति के अनुकूल ही शृङ्गारी, कारुणिक तथा परिहासप्रिय व्यक्ति भी रजोगुणी होते हैं।

तमोगुणी प्रकृति के रौद्र, वीर और भयानक रस हैं और ऐसी ही प्रकृति के रुद्र, वीर और भयार्त व्यक्ति भी होते हैं। रौद्र का स्थायी क्रोध है। यह तभी आता है जब अपने स्वार्थ में किसी प्रकार की बाधा पहुँचती है। क्रोधी का स्वभाव कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि वह आत्मज्ञान खो बैठता है और हिताहित को भी भूल जाता है। ऐसों को सभी तामसी प्रकृति के व्यक्ति कहते हैं। जहाँ क्रोध स्वाभाविक अवस्था में रहता है वहाँ अपने स्वार्थबाधक विघ्नों को दूर करने की प्रतिक्रिया होती है। मन में उत्साह आता है और वीर रस की उत्पत्ति होती है। इस रस में भी क्रोध का भाव रहना स्वाभाविक है। भयार्तों की रक्षा भी वीर का काम है। यह वीरता के विपरीत नहीं है। इसमें आत्म-रक्षा के लिये वह शक्ति आ जाती है जो वीरता के अनुकूल ही कही जा सकती है। इन तीनों के स्थायी भाव आत्म-रक्षा से ही अधिक सम्बन्ध रखते हैं।

सतोगुणप्रधान शान्त, वीभत्स तथा अद्‌भुत रस हैं। वीभत्स और अद्‌भुत शान्त के सहायक होने से इस श्रेणी में आये हैं। दूषित वस्तु, घृणोत्पादक पदार्थ, अपघात, मृत्यु आदि से ही इसका सम्बन्ध है। दूषित वस्तु हमारे स्वास्थ्य को नष्ट करती है। घृणा सांसारिक वस्तुओं से मुख मोड़ देती है। यही विराग शान्त का सहायक है। इनसे हमारी शारीरिक और आध्यात्मिक रक्षा होती है। विश्वस्रष्टा का यह विश्व और उसका वैचित्र्यमय विकास आश्चर्य का ही तो विषय है। इनका विवेचन वैराग्य का मार्ग प्रशस्त करता है

और हम शान्ति की ओर अग्रसर होते हैं। इससे स्पष्ट है कि भाव हमारे जीवन के कितने उन्नायक है।

उक्त तीनों विभागों को क्रमशः प्रकृति के अनुसार दिव्यादिव्य, अदिव्य और दिव्य भी मान सकते हैं। बात, पित्त और कफ की प्रकृति के व्यक्तियों के आधार पर भी रसों का विभाग किया जा सकता है। इनकी व्याख्या आवश्यक नहीं।

नव रसों के अतिरिक्त भी ऐसे अनेक रस हैं, जिनका साहित्य में अस्तित्व ही नहीं, महत्त्व भी माना गया है। उनका भी इन्हीं में अन्तर्भाव कर लिया गया है। जैसे, रजोगुण में वात्सल्य रस, तमोगुण में माया रस और सतोगुण में भक्ति रस आदि।

पाश्चात्य विचारकों ने रसों के मुख्यतः दो प्रधान भेद माने हैं। इसका आधार उनका वर्णन है। वे हैं—विशाल और सुन्दर। अंग्रेजी में विशाल के लिये Sublime शब्द है। पर इसके लिये उपयुक्त शब्द है उदात्त। भावना का उदात्तीभवन (Sublimation) और सौन्दर्य-सृष्टि रस के पोषक हैं। निसर्ग की उदात्त गंभीरता और असामान्य विभूति के विशाल मनोधर्म के अनुभव से ही उदात्त की भावना जगती है। भोज ने और चिपलूणकर शास्त्री ने उदात्त रस को माना है पर इसकी कोई विसात नहीं। विशालता से अभिप्राय है महानता का। यह विशालता आकार की ही नहीं, गुण की भी होती है। इसमें सौन्दर्य न हो सो बात नहीं। सौन्दर्य रहता है पर विशालता से लिपटा हुआ। जब हम पढ़ते हैं—

मेरे नगपति, मेरे विशाल !
साकार दिव्य गौरव विराट, पौरुष के पुंजीभूत अनल।
मेरी जननी के हिमकिरीट, मेरे भारत के दिव्य भाल ॥ दिनकर

तब नगपति की विशालता के साथ उसके सौन्दर्य का भी अनुभव करते हैं। यह कहना गलत है कि विशालता में भयानकता मिली हुई होती है। विशालकाय पर्वत, महासमुद्र, अरण्यानी, अनन्त आकाश, विस्तृत घाटी, महामरुभूमि, महाप्रपात आदि देख कर हम कहाँ भयभीत होते हैं, आश्चर्यान्वित अवश्य होते हैं। इनके सम्बन्ध के कार्य भले ही भयानक हों। जैसे, पर्वत पर चढ़ना, समुद्र में कूदना, जंगल में भटकना आदि। इन्हें देख कर परमेश्वर की

परम प्रभुता का ध्यान हो आता है जिससे शान्ति मिलती है। जब हम निम्नलिखित पद्य पढ़ते हैं तब महानता का ही अनुभव करते हैं।

सहयोग सिखा शासित जन को शासन का दुर्वह हरा भार।
होकर निरस्त्र सत्याग्रह से, रोका मिथ्या का बल प्रहार॥ पंत

साहित्य में सौन्दर्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सौन्दर्य को शृङ्गार में ही सीमित कर देना उसका महत्त्व नष्ट कर देना है। सहृदयता सौन्दर्य-सृष्टि करती है। सौन्दर्य आकर्षण पैदा करता है और उसमें आनन्द देने की शक्ति है। 'सौन्दर्य सान्त में अनन्त का दर्शन है।' काव्य में सौन्दर्य की ही महिमा अमिट होकर रहती है।

पचासवीं छाया

रस-सामग्री-विचार

रस काव्यगत है या रसिकगत, इस विषय को लेकर प्राच्य आचार्यों, पाश्चात्य समीक्षकों और मनोवैज्ञानिकों में बड़ा ही मतभेद है। हमारे आचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि विभावादि काव्यगत होता है और रस रसिकगत। धनंजय ने कहा है 'काव्यवर्णित अथवा अभिनय में प्रदर्शित विभाव, अनुभाव, संचारी तथा सात्विक भावों से श्रोता तथा द्रष्टा के अन्तःकरण में परिवर्तमान रति आदि स्थायी भाव आस्वादित होकर रस-पदवी को प्राप्त होते हैं। जैसे घृत आयुवर्द्धक होने के कारण स्वतः आयु ही कहा जाता है वैसे ही काव्य रसिकों को आनन्द देने के कारण रसवत् कहा जाता[1] है।

पाश्चात्य विवेचक मानस शास्त्र पर बहुत निर्भर करते हैं। इससे काव्यविचार के समय कवि का मानस टटोलते हैं और तदनुसार काव्य में ही रस का होना मानते हैं। वे कहते हैं कि जो काव्य में होगा वही तो पाठक या श्रोता के मन में उपजेगा। इससे काव्यगत

---

१ वक्ष्यामाणस्वभावैः विभावानुभावव्यभिचारिसात्विकैः काव्योपात्तैरभिनयोपदर्शितैर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरता निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः, तेन रसिकाः सामाजिकाः, काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवत्, आयुर्घृतमित्यादिव्यपदेशात्।

द० रु० ४,१ की टीका

ही रस है। कितने कहते हैं कि काव्यगत रस और रसिकगत रस में भिन्नता है। काव्यगत रस का रूप एक ही रहता है पर रसिकों की मानसिक स्थिति की भिन्नता के कारण उसके रूप में अन्तर पड़ जाता है। इस प्रपंच में न पड़कर हम तो यही कहेंगे कि रस रसिकगत ही होता है। क्योंकि उसकी व्युत्पत्ति यही कहती है। रस्यते–आस्वाद्यते (सामाजिकैः) इति रसः। अर्थात् सामाजिक जिसका आस्वाद लें वह रस है। आप यहाँ कह सकते हैं कि (सामाजिकैः) कर्ता के स्थान पर (कविभिः) कहें तो रस काव्यगत हो जायगा। पर नहीं। महामुनि भरत ने स्पष्ट कहा है कि 'सहृदय दर्शक ही आस्वाद लेते हैं और प्रसन्न[1] होते हैं। धनंजय का भी यही कहना[2] है। इसी बात को प्रकारान्तर से अभिनवगुप्त भी कहते हैं—कवि के मूल बीज होने के कारण रस कविगत है। कवि भी सामाजिक के समान ही है। क्योंकि जब वह अपनी रचना का स्वतः पाठ करने लगता है तब उसमें और सामाजिक में कोई भेद नहीं होता। इससे काव्य को गुच्छ समझिये। फूल के स्थान पर नट के अभिनय आदि को मानिये और सामाजिकों के रसास्वाद को ही फल जानिये।[3]

आचार्यों ने काव्यगत भी रस माना है पर वे उसे लौकिक[4] रस कहते हैं, अलौकिक नहीं। अलौकिक रस रसिकों ही में होता है। कारण यह कि काव्यगत विभाव आदि का संबंध सीधे लोक से है, इससे लौकिक है। रसिकों की यह सामग्री साधारणीकृत होती है। अतः उनके द्वारा आस्वाद्यमान रस अलौकिक है। इससे यह प्रमाणित होता है कि काव्यगत और रसिकगत विभाव आदि सामग्री पृथक्-पृथक् है।

---

१ नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्च गच्छन्ति।

२ रसः स एव स्वाद्यत्वात् रसिकस्यैव वर्तनात्। (द० रु० ४,३८)

३ एवं मूलबीजस्थानीयात् कविगतो रसः। कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः फलस्थानीयः सामाजिक-रसास्वादः।

अभिनवभारती

४ तयोर्विभावानुभावयोः लौकिकरसं प्रति हेतुकार्यभूतयोः संव्यवहारादेव सिद्धत्वात्। द० रु० ४,२ की टीका

यदि विभाव आदि के दो रूप—लौकिक और अलौकिक मान लेते हैं तो ये रूप वीभत्स रस में दिखाई नहीं पड़ते। कारण यह कि घृणित वस्तु का वर्णन पढ़ने या उसके दर्शन से द्रष्टा ही अर्थात् रसिक ही नाक भौं सिकोड़ते हैं, छी छी थू थू करते हैं। ये अनुभाव काव्यगत पात्र के नहीं, रसिक के ही होते हैं। आवेग आदि संचारियों के संचार रसिक में ही दिखायी पड़ते हैं। इस संबंध में पंडितराज इस प्रकार की शंका का उत्थान करके कि यदि कोई यह कहे कि आश्रय और रसिक दोनों के स्थान पर एक ही को मान लेने से लौकिक-अलौकिक का बखेड़ा खड़ा हो जायगा तो हम यही कहेंगे कि ऐसे दृश्य के किसी द्रष्टा का आक्षेप कर लेंगे। न भी आक्षेप करें तब भी जैसे अपने तथा अपनी स्त्री के शृङ्गार-वर्णन के पढ़ने से पति को आनन्द होता है, वैसे यहाँ भी मान लिया जा सकता है। अर्थात् लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के रसों के उपभोक्ता एक ही आश्रय को मान लेने से कोई हानि नहीं। किन्तु ऐसे स्थान पर द्रष्टा का आक्षेप कोई महत्त्व नहीं रखता। रसिक वा विशेष द्रष्टा या कवि में कोई अन्तर नहीं। यदि हम लौकिक और अलौकिक दोनों की रस-सामग्री पृथक्-पृथक् मान लें तो यह कठिनाई दूर हो जा सकती है।

'शेरमार खाँ शेर मारने को शमशीर लिये आगे बढ़ते हैं पर जब बिल्ली का गुर्राना सुनते हैं तब गिरते-पड़ते भाग खड़े होते हैं।' ऐसा वर्णन पढ़ने से पाठकों को हँसी ही आती है। यहाँ काव्यगत पात्र के विभाव आदि भयानक रस के हैं और रसिक के ये ही सब हास्य रस के हैं। इस प्रकार तथा अन्यान्य प्रकार की रसगत अड़चनों को दूर करने के लिये काव्यगत नायक और रसिक, दोनों की रस-सामग्री का निर्देश पृथक्-पृथक् होना चाहिये। यह आवश्यक नहीं कि दोनों के विभाव, अनुभाव आदि सब भिन्न ही भिन्न हों। कोई कोई एकरूप भी हो सकते हैं।

एक उदाहरण से समझिये—

रामानुज लक्ष्मण हो यदि तुम सत्य ही,
तो हे महाबाहो, मैं तुम्हारी रण-लालसा
मेटूँगा अवश्य घोर युद्ध में, भला! कभी
होता है विरत इन्द्रजित रणरंग से? मधुप

इसमें (१) मेघनाद के आलंबन लक्ष्मण हैं। (२) उत्साह स्थायी-

भाव है। (३) लक्ष्मण की ललकार उद्दीपन है। (४) लक्ष्मण की इच्छा-पूर्ति करना अनुभाव है और (५) गर्व, आवेग, अमर्ष आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार यहाँ काव्यगत रससामग्री है।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि काव्यगत पात्र लक्ष्मण इन्द्रजित् के ही विषयालंबन होते हैं, हमारे आलंबन नहीं होते। होता है इन्द्रजित् जिसे आश्रयालंबन कहते हैं। क्योंकि उसकी ही उक्तियाँ हमारे लिये उद्दीपन का काम करती हैं। इससे रसिकगत रस-सामग्री निम्नलिखित होगी। साधारणीकरण की बात अलग है।

(१) इन्द्रजित् मेघनाद आलंबन विभाव (२) इन्द्रजित् के वीरोचित स्वाभिमानपूर्ण उद्गार उद्दीपन विभाव (३) उत्साह-दर्शक शारीरिक चेष्टा, आदर-भाव, रोमांच आदि अनुभाव और (४) हर्ष औत्सुक्य आदि संचारी भाव हैं। (५) उत्साह स्थायी भाव समान है। अभिनवगुप्त काव्यगत पात्र और रसिक, दोनों में स्थायी भाव का होना मानते हैं।

प्राचीन उदाहरणों में भी यह बात पायी जाती है। शकुन्तला के एक श्लोक का अनुवाद उदाहरण रूप में लें—

राजा दुष्यन्त सारथी से कहते हैं कि देखो, यह मृग बार बार मनोहर ढंग से मुँह मोड़कर पीछे आते हुए रथ को देखता है। बाण लगने के भय से अपने पिछले भाग को, अगले भाग में सिकोड़ लेता है। दौड़कर चलने के परिश्रम के कारण खुले मुख से अधचबाये कुश मार्ग में बिखरे पड़े हैं और ऊँची-ऊँची छलांगें भर कर अधिकांश तो आकाश में और थोड़ा जमीन पर चलता है।

यह काव्यप्रकाश के भयानक रस का उदाहरण है। इस पर उद्योतकार कहते हैं—रथ पर बैठे राजा आलंबन, बाण लगने का डर और राजा का अनुसरण उद्दीपन, गरदन मरोड़ना, भागना आदि अनुभाव, शंका, श्रम आदि व्यभिचारी और भय स्थायी भाव हैं। यह हुई काव्यगत सामग्री।

यहाँ हरिण के लिये राजा भले ही आलंबन हों पर रसिकों का आलंबन भयभीत हरिण ही है। उद्दीपन है राजा का पीछा करना। अनुभाव हैं—बाण लगने न लगने की शारीरिक चेष्टा, कातर वचन आदि। संचारी हैं—शंका, चिन्ता, दैन्य आदि। इस प्रकार इसमें रसिकगत रस-सामग्री है। रस-प्रकरण के अन्यान्य उदाहरणों में भी ऐसा ही समझना चाहिये।

चौथा प्रकाश

एकादश रस

पहली छाया

श्रृङ्गार रस

नौ रसों में श्रृङ्गार रस की प्रधानता है। भरत आदि आचार्यों ने इसकी प्रथम गणना की है। इसे आदि रस भी कहते हैं और रसराज भी। कारण यह है कि इसकी तीव्रता और प्रभावशालिता सब रसों से बढ़ी चढ़ी है। दूसरी बात यह कि कामविकार सर्वजाति-सुलभ, हृदयाकर्षक तथा अत्यन्त स्वाभाविक है। इस रस के प्रभाव से महामुनियों के मन भी मचल गये हैं। उनका आसन डगमगा गया है। इसीसे आचार्य कहते हैं कि नियमतः संसारियों को श्रृङ्गार रस का अनुभव होता है। अपनी कमनीयता के कारण यह सब रसों में प्रधान[1] है। यह भी एक कवि का कथन है कि परमानन्ददायक रस श्रृङ्गार ही है। श्रृङ्गार-रस-प्रधान काव्य के कारण ही माधुर्य की प्रतिष्ठा[2] है।

नव रस सब संसार में नव रस में संसार।
नव रस सार सिंगार रस युगलसार सिंगार॥ प्राचीन

रुद्रट कहते हैं कि श्रृङ्गार रस आबाल-वृद्ध में व्याप्त है। रसों में कोई ऐसा दूसरा रस नहीं जो इसकी सरसता को प्राप्त कर सके।

---

1 श्रृङ्गाररसो हि संसारिणां नियमेन अनुभवविषयत्वात् सर्वरसेभ्यः कमनीयतया प्रधानभूतः। ध्वन्यालोक

२ श्रृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः। तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति।

सम्यक् रूप से इस रस की रचना करनी चाहिये। शृङ्गार रस से हीन काव्य नीरस होता[1] है। देवजी तो यहाँ तक कहते हैं—

नव रसनि मुख्य सिंगार जहँ उपजत बिनसत सकल रस।
ज्यों सूक्ष्म स्थूल कारन प्रगट होत महा कारन बिबश॥

शृङ्गार के दो प्रधान रूप हैं—एक लौकिक और दूसरा अलौकिक। लौकिक दाम्पत्य-सम्बन्ध-रूप है। इसका एक उत्कृष्ट रूप है और दूसरा निकृष्ट रूप है।

१ उत्कृष्ट रूप—

सावनी तीज सुहावनी को सजि सूहैं दुकूल सबै सुख साधा।
त्यों 'पदमाकर' देखै बनै न बनै कहते अनुराग अगाधा॥
प्रेम के हेम हिंडोरन में सरसै बरसै रस रंग अगाधा।
राधिका के हिय झूलत साँवरो साँवरे के हिय झूलति राधा॥

यहाँ राधा का प्रेम विषयासक्तिमूलक नहीं कहा जा सकता।

२ निकृष्ट रूप—

प्रेम करना है पापाचार प्रेम करना है पापविचार।
जगत् के दो दिन के ओ अतिथि, प्रेम करना है पापाचार।
प्रेम के अन्तराल में छिपी, वासना की है भीषण ज्वाल।
इसी में जलते हैं दिन रात, प्रेम के बंदी बन विकराल।
प्रेम में इच्छा की है जीत, और जीवन की भीषण हार।
न करना प्रेम, न करना प्रेम, प्रेम करना है पापाचार।

रा० कु० वर्म्मा

जहाँ आसक्ति की प्रबलता हो वहाँ का शृङ्गार निकृष्ट हो जाता है। उपदेश रूप में प्रेम का निकृष्ट रूप ही प्रकट किया गया है। अलौकिक शृङ्गार का प्राचीन रूप कबीर की कविता में मिलता है—

आई गवनवाँ की सारी उमरि अबहीं मोहीं बारी।
साज समाज पिया लै आये और कहरिया चारी।
बम्हना बेदरदी अँचरा पकरि कै जोरत गँठिया हमारी।
सखी सब गावत गारी॥

---

१ अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः, सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम्।
तदिति विरचनीयः सम्यगेषः प्रयत्नात् भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम्।
—का० लं०

कबीरदास मृत्यु से मिलने को प्रियतम से मिलना बताते हैं और उसे गौना का रूप देते हैं। आध्यात्मिक शृङ्गार भी इसे कह सकते हैं।

अलौकिक शृङ्गार का नवीन रूप यह है—

कैसे कहते हो सपना है अलि, उस मूक मिलन की बात।
भरे हुए अब तक फूलों में मेरे आँसू उनके हास॥ **महादेवी**

भरत ने शृङ्गार से हास्य की उत्पत्ति मानी है। हास्य ही क्यों? शृङ्गार की प्रेरणा से करुणा, क्रोध, भय, घृणा, आश्चर्य आदि की उत्पत्ति भी मानी जाती है। किसी भी महाकाव्य में इसका प्रमाण मिल सकता है। भोजराज कहते हैं कि रति आदि उनचासो भाव शृङ्गार को घेर कर ऐसे उसे समृद्ध करते हैं जैसे किरणें सूर्य की दीप्ति को उद्दीपित करती हैं। उनके कहने का भाव यही है कि रति शृङ्गार ही हास्य, वीर आदि का भी मूल भाव है। देव ने सभी रसों का वर्णन शृङ्गार के अन्तर्गत करके दिखला दिया है।

यह लिखा जा चुका है कि कामप्रवृत्ति की सहचर भावना शृङ्गार भावना है। शृङ्गार भावना के तीन स्तम्भ हैं—सहज प्रवृत्यात्मक (Instinctive) भावनात्मक (Emotional) और बौद्धिक (Intellectual)। इसका प्राथमिक रूप शारीरिक और दूसरा रूप संमिश्र भावनात्मक मानसिक है। कहने का अभिप्राय यह कि शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा सौंदार्यात्मक स्वरूपों का समुच्चयात्मक शृङ्गार भावना ही रस-पदवी को प्राप्त करता है। फ्रायड ने तो नैतिक दृष्टि से शृङ्गार को इतना पतित और घृणित बना दिया है कि मैग्डुगल आदि मनोवैज्ञानिक उस मत को प्रश्रय देने को प्रस्तुत ही नहीं।

शृङ्गार की रसराजता के कई कारण हैं। एक तो यह कि संयोग-विप्रयोग जैसा भेद किसी अन्य रस में नहीं। दूसरा यह कि जो आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा तथा मरण संचारी संयोग में वर्जित हैं वे भी वियोग में आ जाते हैं। फलितार्थ यह कि शृङ्गार में सभी संचारियों का संचरण हो जाता है पर अन्य रसों में गिनेगिनाये संचारियों का। तीसरी बात यह कि शृङ्गार की व्यापकता इतनी है कि इसकी सीमा

---

१ रत्यादयोऽर्धशतमेकविवर्जिता हि भावाः पृथग्विविधभावभुवो भवन्ति।
शृङ्गारतत्त्वमभितः परिवारयन्त्यःसप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्द्धयन्ति। शृ० प्र०

का कोई निर्देश नहीं कर सकता। इसी से पाठकों और दर्शकों को जितनी अनुभूति शृङ्गार में होती है उतनी और किसी रस में नहीं होती। चौथी बात यह कि इस रस का आनंद शिक्षित-अशिक्षित, रसिक-अरसिक, सभ्य-असभ्य, नागरिक-देहाती, सहृदय-असहृदय, सभी प्रकार के मनुष्यों को प्राप्त होता है। पाँचवी बात यह कि मनुष्येतर प्राणियों में भी रति-भाव की प्रबलता देखी जाती है और उसकी आस्वाद्यता भी कही जा सकती है। छठी बात यह कि जिस रति को शृङ्गार का स्थायी भाव कहा गया है उसका क्षेत्र व्यापक है[1]। शृगार से दाम्पत्य-विषयक जैसा रत्याविष्कार होता है वैसे ही वीर में भी पौरुष-विषयक रत्याविष्कार होता है। इस प्रकार रति उत्कट भावना का द्योतक है। हिन्दी कवियों ने भी इसे रसराज की उपाधि दी है। मतिराम का दोहा है—

जो बरनत तिय पुरुष को कविकोविद रतिभाव।
तासों रीझत हैं सुकवि, सो सिंगार रसराव॥

दूसरी छाया

शृङ्गार-रस-सामग्री

प्रेमियों के मन में संस्कार-रूप से वर्तमान रति या प्रेम रसावस्था को पहुँच कर जब आस्वादयोग्यता को प्राप्त करता है तब उसे शृङ्गार रस कहते हैं।

शृङ्गार शब्द सार्थक है। जैसे शृङ्गी पशुओं में यौवनकाल में ही शृङ्ग का पूर्ण उदय होता है और उनके जीवन का वसन्त-काल लक्षित होता है वैसे ही मनुष्यों में भी शृङ्ग अर्थात् मनसिज का स्पष्ट प्रादुर्भाव होता है; उनका मिथुनविषयक चेतना पूर्णरूप से जागरित होती[2] है। शृङ्ग शब्द के इस पिछले लक्ष्यार्थ को उत्तेजित और अनुप्राणित करने की योग्यता जिस अवस्था में पायी गयी है उसको शृङ्गार कहना सर्वथा सार्थक है।

---

१ मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनात्मिका। इच्छा रतिः। भावप्रकाश

२ शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
पुरुषप्रमदाभूमिः शृङ्गार इति गीयते। काव्यप्रकाश

आलंबन विभाव

नव रस में शृङ्गार रस सिरे कहत सब कोइ।
सरस, नायिका नायकहिं आलंवित ह्वै होइ॥ पद्माकर

यह रस उत्तमप्रकृति अर्थात् श्रेष्ठ नायक-नायिका को, चाहे राजा, मजूर, किसान या अन्य कोई हो, आलंबन या आश्रय के रूप में लेकर ही प्राय: स्वरूप-योग्यता को प्राप्त करता है।

उद्दीपन विभाव

सखा, सखी, दूती, चंद्र, चाँदनी, ऋतु, उपवन आदि इसके उद्दीपन हैं।

सखी, सखा तथा दूती को संस्कृत के आचार्यों ने शृङ्गार रस में नायक-नायिका के सहायक नर्म सचिव माना है। किन्तु हिन्दी के आचार्यों ने इनकी गणना उद्दीपन विभाव में की है। इनके उद्दीपन विभाव मानने का कारण यह जान पड़ता है कि सखा, सखी या दूती के दर्शन से नायिकागत वा नायकगत अनुराग उद्दीपित होता है। भरत मुनि के वाक्य में प्रियजन शब्द के आने से सम्भव है, हिन्दीवालों ने इन्हें उद्दीपन में मान लिया[1] हो।

नायक-नायिका की वेशभूषा, चेष्टा आदि पात्रगत तथा षड्ऋतु, नदीतट, चंद्र, चाँदनी, चित्र, उपवन, कविता, मधुर संगीत, मादक वाद्य, पक्षियों का कलरव आदि शृङ्गार रस के बहिर्गत उद्दीपन हैं।

अनुभाव

प्रेमपूर्ण आलाप, स्नेहस्निग्ध परस्परावलोकन, आलिंगन, चुंबन, रोमांच, स्वेद, कम्प, नायिका के भ्रूभङ्ग आदि अनेक अनुभाव हैं जो कायिक, वाचिक और मानसिक होते हैं।

संचारी भाव

उग्रता, मरण और जुगुप्सा को छोड़ कर उत्सुकता, लज्जा, जड़ता, चपलता, हर्ष, मोह, चिन्ता आदि सभी भाव संयोग शृङ्गार रस के संचारी भाव होते हैं।

---

१ ऋतुमाल्यालङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः।
उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति॥ नाट्य-शास्त्र

संयोग या संभोग शृङ्गार में उन्माद, चिन्ता, असूया, मूर्च्छा, अपस्मार आदि नहीं होते। क्योंकि उसमें आनन्द ही आनन्द है। वहाँ तो हर्ष, चपलता, व्रीड़ा, गर्व, मद आदि ही होंगे। वैसे ही विप्रलंभ शृङ्गार में आनन्दोत्पादक संचारी भाव नहीं होते। वहाँ तो संताप, कृशता, प्रलाप, निद्रा आदि अधिकतर होते हैं। इससे चिन्ता, व्याधि, उन्माद, अपस्मार आदि संचारी भावों का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक है। विप्रलंभ में संयोग से भिन्न अनुभाव भी होते हैं। आलिंगन, अवलोकन आदि विप्रलंभ में संभव नहीं।

स्थायी भाव

शृङ्गार का स्थायी भाव रति है।

किसी नारी के प्रति किसी पुरुष का चित्त चंचल हो उठे और वह उसके प्रति अपनी कामना प्रकट करे और वह कामना वा आकर्षण साधारणीकृत हो भी तो उसे रति कहना ठीक नहीं। यह तो रत्याभास है। जब स्त्री और पुरुष परस्पर अपने को एकात्म-भाव से ग्रहण करते हैं अर्थात् वे आदर्श रूप से सम्बद्ध होते हैं तभी उनके परस्पर प्रकाशित भावों के आस्वाद को यथार्थ रति कहते हैं[1]।

मम्मट भट्ट देवता, मुनि, गुरु, नृप, पुत्र आदि के विषय में उत्पन्न होनेवाली रति को भाव कहते हैं—रतिर्देवादिविषया। वे कान्ता-विषयक रति को ही शृङ्गार मानते हैं। नीचे के लक्षण में इसीकी स्पष्टता है।

नायिका और नायक के पारस्परिक प्रेमभाव को रति कहते हैं[2]।

शृङ्गार रस संभोग और विप्रलंभ के भेद से दो प्रकार का होता है।

---

१ एकैव ह्यसौ तावती रतिर्यत्र अन्योन्यसंविदैकवियोगो न भवति।

२ यूनोरन्योन्यविषया स्थायिनीच्छा रतिः स्मृता। **रससुधाकर**

तीसरी छाया

संभोग शृङ्गार

जहाँ नायक और नायिका का संयोगावस्था में जो पारस्परिक रति रहती है वहाँ संभोग शृङ्गार होता है। यहाँ संयोग का अर्थ संभोग-सुख की प्राप्ति है।

संयोग वा नायक और नायिक की एकत्र स्थिति में भी विप्रलंभ वा वियोग का वर्णन होता है। उदाहरणार्थ मान की अवस्था को ले लीजिये। वियोग में भी स्वप्नसमागम होने पर संयोग ही माना गया है। संयोग की एक वह अवस्था भी है जिसमें नायक-नायिका की परस्पर रति तो होती है पर संभोग-सुख की प्राति नहीं होती। इसको संभोग में सम्मिलित करना उचित नहीं।

नायक-नायिका के पारस्परिक-व्यवहार-भेद से संभोग शृङ्गार के अनेक भेद होते हैं पर यही एक भेद माना गया और सभी का इसी में अन्तर्भाव हो जाता है।

> किन्नरियों सा रूप लिये मदिरा की बूँदें लाल,
> टूट रहे कितने मेरे चुंबन के तारे बाल।
> उष्ण रक्त में थिरक रहीं तुम ज्वालागिरि सी लीन
> लोलुप अंगों में लय होकर आज बनी मन मीन। अंचल

काव्यगत रस-सामग्री—१ नायक आश्रय २ नायिका आलंबन ३ किन्नरियों सा रूप उद्दीपन ४ चुंबन अनुभाव ५ आवेग, चपलता, मद आदि संचारी (६) रति स्थायी भाव हैं। इनसे शृङ्गार रस ध्वनित होता है।

रसिकगत रससामग्री—(१) पाठक आश्रय (२) नायक आलंबन (३) चुंबन, अंगो में लिपटना आदि उद्दीपन (४) हर्ष-सूचक शारीरिक चेष्टा, रोमांच आदि अनुभाव (५) हर्ष, आवेग आदि संचारी (६) रति स्थायी भाव हैं।

संयोग शृङ्गार

जहाँ नायिका की संयोगावस्था में पारस्परिक रति होती है पर संभोग-सुख प्राप्त नहीं होता वहाँ यह होता है।

एक पल मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे।
चपलता ने इस विकंपित पुलक से,
दृढ़ किया मानो प्रणय संबंध था। पंत

इसमें आलंबन नायिका, नायिका का सौन्दर्य उद्दीपन, नायिका का निरीक्षण अनुभाव, लज्जा आदि संचारी तथा रति स्थायी हैं।

यहाँ संयोग-सुख की ही प्राप्ति है, संभोग-सुख की नहीं। क्योंकि प्रिय को प्रिया की प्राप्ति नहीं हुई।

अधिकतर रस-सामग्री का समग्र उल्लेख नहीं पाया जाता। कवियों का अभिप्रेत समझ कर प्रसंगानुसार उसकी कल्पना कर ली जाती है; उसका अध्याहार हो जाता है। सर्वत्र काव्यगत और रसिकगत रससामग्री का भेद नहीं किया गया है। वर्णनानुसार इनका भेद कर लेना चाहिये।

दोऊ जने दोऊ के अनूप रूप निरखत
पावत कहूँ न छवि सागर को छोर हैं।
'चिंतामनि' केलि के कलानि के विलासनि सों
दोऊ जने दोउन के चित्तन के चोर हैं।
दोऊ जने मंद मुसकानि सुधा बरसत
दोऊ जने छके मोद मद दुहुँ ओर हैं।
सीताजी के नैन रामचन्द्र के चकोर भये
राम नैन सीता मुख चन्द्र के चकोर हैं।

इसमें राम-सीता दोनों आलंबन हैं और उद्दीपन हैं दोनों की मुस्कुराहट आदि चेष्टायें। चंद्रचकोर की भाँति एक दूसरे का मुँह देखना आदि अनुभाव हैं। दोनों के पारस्परिक प्रेमानुराग रूप रति स्थायीभाव है। हर्ष, मोह, आवेग आदि संचारी हैं। पारस्परिक दर्शन आदि से संभोग शृङ्गार है। इसमें काव्यगत सामग्री और रसिकगत सामग्री प्रायः एक प्रकार की है।

दोउ की रुचि भावे दुऊ के हिये दोउ के गुण दोष दोऊ के सुहात हैं।
दोउ पै दोउ जीते बिकाने रहे दोउ सों मिलि दोउन ही में समात हैं।
'चिरजीवी' इतै दिन द्वैक ही ते दोउ की छवि देखि दोऊ बलि जात हैं।
दिन रैन दोऊ के बिलोके दोऊ पय तौन दोऊन के नैन अघात हैं।

प्रायः इसकी भी सभी बातें वैसी ही हैं।

चौथी छाया

विप्रलंभ शृङ्गार

वियोगावस्था में भी जहाँ नायक-नायिका का पारस्परिक प्रेम हो वहाँ विप्रलंभ शृङ्गार होता है।

मैं निज अलिन्द में खड़ी थी सखि एक रात,
रिमझिम बूँदें पड़ती थीं घटा छाई थी।
गमक रहा था केतकी की गंध चारों ओर,
झिल्ली झनकार यही मेरे मनभाई थी।
करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपुरों से,
चंचला थी चमकी घनाली घहराई थी।
चौंक देखा मैंने चुप कोने में खड़े थे प्रिय,
माई मुखलज्जा उसी छाती में छिपाई थी। गुप्तजी

इसमें ऊर्मिला आलंबन विभाव है। उद्दीपन हैं बूँदों का पड़ना, घटा का छाना, फूल का गमकना, झिल्लियों का झनकारना आदि। छाती में मुँह छिपाना आदि अनुभाव हैं। लज्जा, स्मृति, हर्ष, विबोध आदि संचारी भाव हैं। इन भावों से परिपुष्ट रति स्थायी भाव विप्रलंभ शृङ्गार रस में परिणत होकर ध्वनित होता है।

यहाँ पूर्वानुभूत सुखोपभोग की स्मृति का वर्णन रहने पर भी उसकी प्रधानता सिद्ध न होने से भावध्वनि नहीं है।

इस कविता में रसिकगत सामग्री का स्पष्ट उल्लेख नहीं है पर उनका अध्याहार कर लिया जाता है। जैसे, (१) आलंबन इसमें लक्ष्मण हैं (२) उद्दीपन हैं अँधेरे में उनका चुपचाप खड़ा होकर ऊर्मिला का विलास देखना। इसमें बूँदों का पड़ना आदि को भी उद्दीपन में सम्मिलित किया जा सकता है। (३) अनुभाव हैं हर्षजनित शारीरिक चेष्टा आदि (४) संचारी हैं—हर्ष, वेग, गर्व आदि (५) रति स्थायी है।

इसमें जैसे ऊर्मिला को लेकर लक्ष्मण को आनन्द है वैसे ही लक्ष्मण को लेकर रसिकों को। यहाँ अनुभाव आदि उक्त नहीं। पर कवि-अभिप्रेत समझ कर यहाँ उक्त अनुभाव और संचारी का अध्याहार कर लिया गया है।

शान्ति-स्थान महान कण्व मुनि के पुण्याश्रमोद्यान में,
वाह्य-ज्ञान-विहीन लीन अति ही दुष्यन्त के ध्यान में,
बैठी मौन शकुन्तला सहज थी सौन्दर्य में सोहती।
मानो होकर चित्र में खचित सी थी चित्त को मोहती। गुप्तजी

इसमें दुष्यन्त आलंबन, कण्व का शान्त आश्रम उद्दीपन, शकुन्तला का चित्रित सा बैठा रहना अनुभाव तथा जड़ता, चिन्ता आदि संचारी हैं। इनसे रति भाव की पुष्टि होती है जिससे विप्रलम्भ शृङ्गार ध्वनित होता है।

देखहु तात वसन्त सुहावा, प्रियाहीन मोंहि डर उपजावा।

यहाँ प्रिया आलंबन, वसन्त उद्दीपन, भय होना आदि अनुभाव तथा औत्सुक्य, चिन्ता आदि संचारी हैं। इनसे पुष्ट रति भाव से विप्रलंभ शृङ्गार व्यंजित होता है।

इसके निम्नलिखित चार भेद होते हैं—१ पूर्वराग, २ मान ३ प्रवास और ४ करुण।

१ पूर्वराग—

······क्या हुआ मैं मग्न थी अपनी लहर में
पर न जाने दृष्टिपथ में आ गये वे क्या कहूँ री!
वज्रकीलित से हुए उत्कीर्ण से मेरे हृदय में। भट्ट

यहाँ राधा आलंबन, दृष्टिपथ में आना उद्दीपन, वज्र-कीलित होना अनुभाव और हर्ष, विषाद, चिन्ता आदि संचारी हैं। कृष्ण के दृष्टिपथ में आने के कारण राधिका की जो अन्तर्वेदना है वही पूर्वानुराग है। इसे अभिलाषाहेतुक वियोग भी कहते हैं।

चहत दुरायो तो सों कौ लगि दुरावों दैया,
साँची हौं कहौं री बीर सब सुन कान दै।
साँवरो सों ढोटा एक ठाढौ तीर जमुना के,
मो तन निहार्यो नीर भरि अँखियान दै।
वा दिन ते मेरी ही दसा को कुछु बूझै मति
चाहै जो जिवायो मोहि वाहि रूप दान दै।
हा हा करि पाँय परौं रह्यौ नाँहि जाय घर,
पनघट जान दै री पन घट जान दै।

नायिका की अधीरता और कृष्ण-मिलन की उत्सुकता पूर्वानुराग सूचित करती हैं।

दर्शन के चार भेद होते हैं—प्रत्यक्ष दर्शन, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन और श्रवण-दर्शन। उक्त पद्यों में प्रत्यक्ष दर्शन है।

आनन पूरन चन्द लसै अरविन्द विलास विलोचन देखे।
अंबर पीन हँसै चपला छवि अंबुद मेचक अंग उरेखे।
काम हु ते अभिराम महा 'मतिराम' हिये निहचे करि लेखे।
तैं बरन्यो निज बैनन सौं सखि, मैं निज नैनन सों मनो देखे।

इसमें सखी के वर्णन से नायिका को श्रवण-दर्शन हुआ।

२ मान—

रे मन आज परीक्षा तेरी
विनती करती हूँ मैं तुम्हसे बात न बिगड़े मेरी
यदि वे चल आये हैं इतना तो दो पद उनको है कितना?
क्या भारी वह मुझको जितना? पीठ उन्होंने फेरी। गुप्तजी

इसमें गोपा आलंबन, पीठ फेरना उद्दीपन, विनती करना आदि अनुभाव और अमर्ष, आदि संचारी हैं। गोपा का यह प्रणायमान है।

ठाढ़े हुते कहुँ मोहन मोहिनी आइ तितै ललिता दरसानी।
हेरि तिरीछे तिया तन माधव माधवै हेरि तिया मुसकानी।
रूठि रही इमि देखि कै नैन कछू कहि बैन बहू सतरानी।
यों 'नँदराय' जू भामिनि के उर आइगौ मान लगालगी जानी।

इसमें प्रत्यक्ष-दर्शन-जनित ईर्ष्यामान है।

ईर्ष्यामान के लघुमान, मध्यममान और गुरुमान तीन भेद हैं।

३ प्रवास—

इसके तीन कारण माने गये हैं—शाप, भय और कार्य। कार्यवश प्रवास के भूत, भविष्य और वर्तमान नामक तीन भेद होते हैं। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

पर कारज देह के धारे फिरो परजन्य यथारथ ह्वै दरसो।
निधि नीर सुधा के समान करो सब ही बिधि सज्जनता सरसो।
'घन आनँद' जीवनदायक हो कछु मेरियो पीर हिये परसो।
कबहूँ या बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवाँन को लै बरसो।

इस प्रवास का भूतकाल से सम्बन्ध होने के कारण भूत प्रवास है।

४ करुण—

करुण से करुण विप्रलम्भ शृङ्गार का अभिप्राय है।

कालिय काल महा विषज्वाल जहाँ जल ज्वाल जरै रजनी दिन।
ऊरध के अध के उबरैं नहिं जाकी बयारि बरै तँह ज्योतिन।
ता फनि की फन-फाँसिन में फँदि जाय फँस्यो उकस्यो न अजौ छिन।
हा ब्रजनाथ सनाथ करौ हम होती हैं नाथ अनाथ तुम्हैं बिन। देव

यहाँ कृष्ण से निराश होकर गोपियों की जो उक्ति है उसमें करुण विप्रलम्भ शृङ्गार है।

करुण रस और करुण विप्रलम्भ में अन्तर यह है कि जब नायक-नायिका की मृत्यु वा मिलन की असंभवता पर रति की प्रतीति होती है तब करुण-विप्रलम्भ होता है और करुण रस में ऐसी बात नहीं होती।

विप्रलंभ में दस काम-दशायें होती हैं—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति। इनमें चिंता, स्मरण, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण वैसे ही हैं जैसे संचारी में। शेष चार में से दो के उदाहरण दिये जाते हैं।

१ काम-दशा में अभिलाष—

आते अपने कोमल कर से मेरा अंक मिटा देते।
आते मेरे घट का जीवन हाथों से ढरका देते॥
आते छाया-चित्र नयन परदे में पुनः खींच लेती।
हो आनंद विभोर सदा को अपने नयन मींच लेती॥ भक्त

२ काम-दशा में गुणकथन—

राधा—देखती हूँ सभी बंधन, शक्तियाँ, मर्याद सीमा,
अवधि सारी तोड़ डाली इस अलौकिक व्यक्ति ने आ।
विशाखा—गूँजती है कान में ध्वनि प्रतिक्षण, वह रूप, वह छवि,
नेत्र में। सब खो गया है, हो गया है कृष्णमय जग।

—उ० शं० भट्ट

पाँचवीं छाया

रौद्र और वीर रस—शङ्कापक्ष

बहुतों का विचार है कि वीर और रौद्र दोनों रस प्राय: एक से हैं। इससे इनके पृथक् पृथक् रखने में कोई स्वारस्य नहीं। दोनों के ही आलंबन शत्रु ही हैं और शत्रु की चेष्टायें ही दोनों के उद्दीपन[1]। उग्रता, अमर्ष, आवेग आदि अनेक संचारी भाव भी दोनों के एक[2] ही हैं। केवल अनुभाव में कुछ भिन्नता है—वीर के कम और रौद्र के अधिक अनुभाव हैं। वीर का स्थायी उत्साह है और रौद्र का क्रोध।

उत्साह का अर्थ है कार्यारंभ में स्थायी संरंभ अर्थात् स्थिरता तथा उत्कट आवेश[3]। अंग्रेजी में इसको Energetic enthusiasm—शक्ति-मूलक व्यग्रता, औत्सुक्य, अनुराग वा प्रयत्न कहते हैं। अभिप्राय यह कि नये नये कार्यों के आरंभ में उनकी समाप्ति तक मन का प्रस्तुत होना ही उत्साह है। इसीको कहा है कि 'अच्छे लोग बारंबार विघ्नों से बाधित होने पर भी आरब्ध कार्य का परित्याग नहीं करते[4]। इस व्याख्या से यही प्रकट होता है कि स्वस्थ शरीर और मन में जो कार्यकरी शक्ति की स्फूर्ति—लहर उठती है अर्थात् मन में काम करने की जो उमंग होती है वही उत्साह है। यह त्वराजनक वा आतुरतामूलक एक चित्तवृत्ति है। इसे आप स्वाभाविक कहें चाहे नैमित्तिक, है यह शरीर और मन का धर्म ही; शरीर और मानस की एक प्रेरक शक्ति ही। इसको भाव नहीं कहा जा सकता।

आचार्यों ने उत्साह को स्थायी भाव ही नहीं माना है, संचारी

---

१ वीर—'आलंबनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः।
रौद्र—'आलंबनमरिस्तत्र'
वीर—विजेतव्यादिचेष्टाद्याः तस्योद्दीपनरूपिणः।
रौद्र—तच्चेष्टोद्दीपनं मतम्। सा० द०

२ रौद्र—औग्र्यावेगोत्साहविवोधामर्षचापल्यादिव्यभिचारी
वीर—धृतिस्मृत्यौग्र्यगर्वामर्षमत्यावेगहर्षादिव्यभिचारी। काव्यानुशासन

३ कार्यारम्भेषु संरंभः स्थेयानुत्साह उच्यते। सा० द०

४ विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति।

भाव भी। संचारी भावों में भी इसको सब रसों में होनेवाला कहा[1] गया है। किन्तु उत्साह की उक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि वह भाव नहीं है। दूसरी बात यह कि इसका कोई विषय निश्चित नहीं। रति में भी उत्साह हो सकता है और भय में भी। इसका कोई स्वतंत्र ध्येय नहीं, विजय भी हो सकता है, भयार्तावस्था में पलायन भी। अभिनव गुप्त ने तो उत्साह को भी शान्त रस का स्थायी माना[2] है। इस अनिश्चित दशा में उत्साह को वीर रस का स्थायी भाव मानना कहाँ तक संगत है, विचारणीय है।

यहाँ यह बात कही जा सकती है कि वीरता उत्साह पर निर्भर करती है। जिससे इसके दान-धर्म-युद्ध-दया के भेद से चार भेद होते हैं। इनकी क्या गति होगी। इसका समाधान यह है कि दया, दान, त्याग आदि वीरों का शान्ति, भक्ति और करुण रसों में यथायोग्य अन्तर्भाव हो जा सकता है।

अब क्रोध को लीजिये। प्रतिकूल व्यक्तियों के विषय में तीव्रता के उद्बोध का नाम क्रोध[3] है। अर्थात् शत्रु के प्रति कठोरता प्रकट करने को क्रोध कहते हैं। क्रोध रौद्र का स्थायी भाव है। युद्धप्रवृत्ति की सहचर भावना क्रोध है पर वीर रस का प्रायः कोई ऐसा उदाहरण नहीं जिसमें क्रोध की भावना न हो। एक दो उदाहरण दिये जाते हैं।

सूर्यास्त से पहले न जो मैं कल जयद्रथवध करूँ।
तो शपथ करता हूँ स्वयं मैं ही अनल में जल मरूँ। गुप्तजी

इस उत्साह में क्रोध है।

बेचि देह दारा सुअन, होइ दास हू मन्द।
रखि हौं, निज बच सत्य करि अभिमानी हरिचंद।

क्या धर्मवीर की इस उक्ति में क्रोध की झलक नहीं पायी जाती ?

ऐसे उदाहरणों में उत्साह का भाव नहीं देखा जाता पर क्रोध का परिणाम अवश्य देखा जाता है। इससे इन दोनों के स्थानों में एक ही रस मानना ठीक है।

---

१ उत्साह विस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ। संगीत रत्नाकर

२ उत्साह एवास्य स्थायी इत्यन्ये। अ० गुप्त

३ प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते। सा० द०

अब प्रश्न यह है कि किसका किसमें अन्तर्भाव किया जाय। किसी का कहना है कि क्रोध व्यापक है और उत्साह व्याप्य। इस प्रकार वीर रस रौद्र रस में व्याप्त है। अतः रौद्र रस में वीर रस का अन्तर्भाव स्वाभाविक है। दूसरा पक्ष कहता है कि पहले क्रोध होता है, फिर वीर रस के कार्य दीख पड़ते हैं। इस प्रकार वीर रस के परिणाम-स्वरूप रौद्र रस के मानने से रौद्र का ही वीर रस में अन्तर्भाव होना ठीक है। एक का कहना है कि रौद्र रस की कोई स्वतन्त्र आस्वादयोग्यता ही नहीं और क्रोध के स्थान में अमर्ष को मान लेने से दोनों का एक ही में समावेश हो जायगा। अमर्ष का अर्थ है निन्दा, आक्षेप, अपमान आदि के कारण उत्पन्न हुए चित्त का अभिनिवेश[1] अर्थात् स्वाभिमान का जागना। युद्धप्रवृत्ति प्रतिकार-भावना से ही उद्भूत होती है। इसमें असहनशीलता होती है। अमर्ष शब्द का भी यही अर्थ है। क्रोध की अपेक्षा अमर्ष की भावना व्यापक होती है। इससे वीर रस का स्थायी भाव अमर्ष माननीय है।

उपर्युक्त विचार मनोवैज्ञानिकों और नवीनतावादियों का है। हम इसे विचारणीय ही मानते हैं, मान्य नहीं।

छठी छाया

रौद्र-वीर-रस—समाधानपक्ष

प्राचीनों ने मनन पूर्वक ही नौ रसों को मान्य ठहराया है। क्योंकि इनमें आस्वाद की उत्कटता है, रञ्जकता है, स्थायिता है और है उचित-विषयनिष्ठता। इन रौद्र और वीर, दोनों में भी पृथक् पृथक् रसवत्ता है। इन पर थोड़ा विचार कीजिये।

उत्साह स्थायी भाव है और सहजात भी है। किसीको ग्लानि हो तो यह पूछा जा सकता है कि वह ग्लान क्यों है पर राम क्यों उत्साही है यह नहीं पूछा जा सकता[2]। क्योंकि वह तो एक स्थायी भाव है—सहजात है। मानवी मनःकोश में वासना-रूप से उत्साह भी वर्तमान रहता है जैसे कि रति आदि। भले ही मनोवैज्ञानिक इसे

---

१ अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता। सा० द०

२ ननु राम उत्साहशक्तिमानित्यत्र हेतुप्रश्नमाहु। अ० गुप्त

शरीर-मन-धर्म मानें। क्रोध भी ऐसा ही स्थायी भाव है। यदि वीर में क्रोध भाव की झलक दीख पड़ती है वह अमर्ष संचारी का प्रभाव है।

क्रोध दो प्रकार का होता है—एक पाशविक और दूसरा भावात्मक। पहले में नाश की भावना प्रबल होती है और दूसरे में भाव की प्रबलता। पाशवी क्रोध जैसी इसमें तीव्रता नहीं होती। क्योंकि इसमें अन्यान्य भावनायें भी काम करती हैं। इसे सात्विक क्रोध भी कह सकते हैं। एक तीसरा बौद्धिक क्रोध भी माना जाता है जिसमें दोनों की प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं।

इन पर ध्यान देकर तुलना कीजिये। क्रोध में हिताहित का विचार नहीं रहता। अन्यान्य गुणों का लोप हो जाता है। किन्तु उत्साह में धीरता, प्रसन्नता आदि गुण रहते हैं। हिताहित का भी ध्यान रहता है। वीर उदार होता है और क्रोधी अनुदार। क्रोध निर्बल पर भी उबल पड़ता है, क्रोधी अयोग्य व्यक्ति पर भी रौद्र रूप धारण कर सकता है पर निर्बल पर वीरता नहीं दिखायी जा सकती। क्रोधी में प्रतिक्रिया की—बदला चुकाने की भावना प्रबल रहती है पर वीर में नहीं। उत्साही होने के कारण वीर में क्रियात्मकता की अधिकता रहती है पर रुद्र में क्रोधी में भय के मिश्रण से शारीरिक क्रिया—उछल कूद, डींग हाँकना आदि अधिक देखी जाती है। क्रोध का संबंध अधिकतर वर्तमान से रहता है और उत्साह का भविष्य से। एक उदाहरण से समझिये।

> हे लंकेश्वर सीता दे दो स्वयं माँगते हैं हम राम।
> कैसे भूले नीति, विचारो बिगड़ा नहीं अभी है काम॥
> खरदूषण-त्रिशिरा-बध-गीला मेरा कहीं धनुष पर बाण,
> यदि चढ़ गया, समझ लो तो फिर कभी न होगा तेरा त्राण। राम

साहित्य-दर्पण मे दिये हुए युद्धवीर के उदाहरण का यह अनुवाद है। इसके प्रत्येक पद से एक एक ध्वनि निकलती है जिसका वर्णन मूल पुस्तक की टीका में दिया गया है। यहाँ अभीष्ट केवल यह है कि इस वीर रस मे जो क्रोध आ गया है वह अमर्ष संचारी के रूप में है। राम जैसे धीर-वीर-गंभीर व्यक्ति के मुँह से ऐसे ही शब्द निकले हैं जिन्होंने अपनी और रावण की मर्यादा इस पद्य में बहुत रक्खी है। यहाँ भावनात्मक क्रोध का रूप है।

रौद्र में सात्विक क्रोध नहीं देखा जाता पर उत्साह में—अमर्ष संचारी के रूप में क्रोध देखा जाता है। अमर्ष को वीर रस का स्थायी मानने में अनेक दोष दिखलायी पड़ते हैं।

जो लोग यह कहते हैं कि धर्मवीर, दानवीर आदि का शान्ति, भक्ति आदि रसों में अन्तर्भाव हो जायगा, यह ठीक नहीं। ऐसे तो यह भी कहा जा सकता है कि करुण रस यथावसर शृङ्गार रस और वात्सल्य रस में अन्तर्भाव हो जायगा। दूसरी बात यह कि जहाँ अमर्ष का कुछ भी संचरण नहीं वहाँ वीर रस में उत्साह के अतिरिक्त कौन सा स्थायी भाव माना जायगा? कर्मवीर का एक उदाहरण लीजिये—

> चिलचिलाती धूप को जो चाँदनी देते बना।
> काम पड़ने पर करे जो शेर का भी सामना॥
> जो कि हँस-हँस के चवा लेते हैं, लोहे का चना।
> है कठिन कुछ भी नहीं जिनके है जी में यह ठना॥
> कोस कितने ही चलें पर वे कभी थकते नहीं।
> कौन-सी है गाँठ जिसको खोल वे सकते नहीं॥ हरिऔध

यहाँ अमर्ष का कहाँ लेश है? कर्मवीर में उत्साह स्थायी का ही आस्वाद है। इसमें भावात्मक या सात्विक क्रोध की गंध भी नहीं है।

पण्डितराज के 'पाण्डित्यवीर' का उदाहरण लें—

> यदि बोलें वाक्पति स्वयं कै सारद हू आइ।
> हूँ तयार हम मुख सुमिरि सब विधि विद्या पाइ। पु० चतु०

अमर्ष का कुछ भी लवलेश नहीं।

अथवा सत्यवीर 'हरिश्चन्द्र' के इस पद्य में भी अमर्ष कहाँ है?

> चंद टरै सूरज टरै टरै जगत बेवहार।
> पै दृढ़ श्री हरिचंद के टरै न सत्यविचार॥

आधुनिक काल में सत्याग्रह, आमरण अनशन, भूख हड़ताल करनेवाले वीरों में अमर्ष का लवलेश मान सकते हैं। वह भी महात्मा गाँधी में नहीं। पर उक्त वीरों में वा निम्नलिखित वीरों में अमर्ष नहीं मान सकते।

कार्लाइल के कविवीर, दार्शनिकवीर, लेखकवीर आदि अनेक वीरों तथा महाभारत के 'शूराः बहुविधाः प्रोक्ताः' के उदाहरण-स्वरूप

बुद्धिशूर आदि का किसी रस में समावेश होना कठिन है, भले ही क्षमाशूर, गुरु-शुश्रूषा-शूर आदि शूर शान्ति-भक्ति में समा जायँ।

काव्यादर्श में दण्डी ने रसवत् अलंकार में इन दोनों के जो रूप दिखाये हैं उनसे ये और स्पष्ट हो जाते हैं।

रौद्र रस—जिसने मेरे सामने द्रौपदी को बाल पकड़ कर खींचा वह पापी दुःशासन क्या क्षण भर भी जी सकता है। इस प्रकार आलंबन-स्वरूप शत्रु को देख कर भीम का स्थायी भाव क्रोध बहुत ही बढ़ कर रौद्र रसत्व को प्राप्त कर गया। इससे यहाँ का यह कथन रसवत् अलंकारयुक्त है [1]।

वीर रस—समुद्र सहित पृथ्वी का बिना विजय किये, अनेक यज्ञ बिना किये और याचकों को बिना धन दिये हुए हम कैसे राजा हो सकते हैं। इसमें उत्साह स्थायी भाव अपनी तीव्रता से वीर-रसात्मक हो गया। इससे यह इस कथन को रसवत् बना सका [2]।

इससे वीर रस तथा उत्साह स्थायी भाव की पृथक्-पृथक् आवश्यकता निर्बाध है। क्रोध को स्थायी और रौद्र रस को वीर रस बना कर उत्साह और रौद्र को उड़ा देना 'अव्यापार में व्यापार' करने के समान साहित्य का विघातक कार्य है।

---

१ निगृह्य केशेष्वाकृष्टा कृष्णा येनाग्रतो मम।
सोऽयं दुःशासनः पापो लब्धः किं जीवति क्षणम्॥ २८२
इत्यारुह्य परां कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गतः।
भीमस्य पश्यतः शत्रुमित्येतद्रसवद्वचः॥ २८८

२ अजित्वा सार्णवामुर्वीमनिष्ट्वा विविधैर्मखैः।
अदत्वाचार्थमर्थिभ्यो भवेयं पार्थिव कथम्॥ २८४
इत्युत्साह- प्रकृष्टात्मा तिष्ठन् वीररसात्मना।
रसवत्त्वं गिरामासां समर्थयितुमीश्वरः॥ २८५

दशरूपक २ रा परिच्छेद

सातवीं छाया

वीररस

महात्मा गाँधी संसार में शान्ति का उपाय एकमात्र अहिंसा ही को बताते हैं। वे कहते हैं कि 'हिंसा से हिंसा बढ़ती है'। पर सांसारिक युद्ध का निःशेष होना कठिन है। मानव-समाज के युद्ध-विरुद्ध होने पर भी उसका ह्रास नहीं होता, दिनों दिन बढ़ता ही जाता है जो स्वार्थी सभ्यता की महिमा है। युद्ध का नामोनिशान मिट जाय तो भी वीर रस का ह्रास नहीं हो सकता। कारण यह कि केवल युद्ध ही वीरता-प्रदर्शन का स्थान नहीं है। यद्यपि युद्ध में ही वीररस की प्रधानता मानी गयी है, जान हथेली पर रखनेवाले सिपाही ही 'विक्टोरिया क्रास' पाते हैं तथापि युद्ध ही एकमात्र वीरता-प्रदर्शन का क्षेत्र नहीं है। अन्य भी अनेको स्थान हैं। सत्याग्रह-वीर गाँधी क्या किसी वीर से कम हैं। ? यद्यपि इनकी वीरता उनसे कम नहीं। फिर भी अब तक किसीने ऐसे पुरस्कार से उन्हें पुरस्कृत नहीं किया। यह युद्ध वीर के सम्बन्ध में लौकिक पक्षपात है।

पराक्रम, आत्मरक्षा, निर्भयता, युद्ध, साहस आदि के कार्य करने में वीरता प्रकट होती है। समाज मे पद-पद पर वीरता-प्रदर्शन की आवश्यकता है। कोई किसी अबला पर अत्याचार होते देख कर उसके प्रतिकार के लिये आगे बढ़ता है और घायल होकर मर जाता है। वह क्या किसी वीर से कम है ? कोई डूबते हुए बच्चे को बचाने में स्वयं डूब जाता है क्या वह वीर नहीं ? शक्तिशून्य अत्याचारी के अत्याचार को क्षमा कर देना शक्तिशाली की सच्ची वीरता नहीं है ? शत बार है। शत्रु से सच्चा व्यवहार भी सच्ची वीरता है जो गाँधीजी की इस उक्ति से झलकती है।

'अगर किसी ऐसे भी पुरुष को विषधर काट खाय, जो अपने मन में मेरे प्रति शत्रुता का भाव रखता हो तो मेरा यह कर्तव्य है कि फौरन उसके विष को चूस कर उसकी जान बचा लूँ।'

यही सच्ची वीरता है, यही सच्ची चेभेलरी (Chivelory) है। जीवन एक प्रकार का युद्ध है और इसमें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक युद्ध बराबर चलता ही रहता है। सभी प्राणी किसी न किसी रूप से इसमें अपनी शक्ति के अनुरूप भाग लेता है।

वीर रस का स्थायी उत्साह है। उत्साह-प्रदर्शन की कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती। इसीसे इसके अनेकानेक भेद किये गये हैं। इतने भेद किसी रस के नहीं। मनुष्य के धृति, क्षमा, दम, अस्तेय शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध आदि जितने गुण हैं, मनुष्य को जितने परोपकार, दान, दया, धर्म आदि सुकर्म हैं और ऐसे ही जितने अन्यान्य विषय हैं, सभी में वीरता दिखलायी जा सकती है। किसी विषय में संलग्नता, अतिशयता, साहसिकता का होना ही तो उत्साह है। किसी की किसी विषय में असाधारण योग्यता की शक्ति हो तो वह उस विषय में वीर है।

मनुष्य में जो एक प्रच्छन्न शौर्य-शक्ति है उसे कोई आत्मसंरक्षण (Self defence) कोई प्रतिरोधन (Resistance) और कोई युद्धाभिलाप कहते हैं। ऐसी शक्ति से सम्पन्न पुरुष का स्वभाव भयशून्य, वाणी ओजपूर्ण और व्यवहार साहसिक हो जाता है। जब शौर्य का वेग बढ़ जाता है तब वही स्वभाव कठोर, वचन रुक्ष और व्यवहार उग्र हो जाता है।

भारतीयों में सभी प्रकार की वीरताओं के समावेश के लिये, भयभीतता को दूर करना और अपनी शक्तियों को पुष्ट करना चाहिये। इसके लिये आवश्यक है कि वीर कवियों, वीर कविताओं, वीर गाथाओं और वीर कृत्यों को पढ़ें, सुनें और करें। ऐसा करके ही हम जाति में जीवन ला सकते हैं; देश का गौरव बढ़ा सकते हैं। मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिये वीर भाव की परम आवश्यकता है। अपने मन में हीन भावना, तुच्छ विचार और नैराश्य को प्रश्रय देना उन्नति का बाधक, वीरत्व का विघातक और सुख का नाशक है। सत्य का पक्ष-समर्थन आत्मोन्नति-कारक तथा शौर्यवर्द्धक है।

आठवीं छाया

वीर - रस - सामग्री

जिस विषय में से जहाँ उत्साह का संचार हो अर्थात् उत्साह भाव का परिपोष हो वहाँ वीर रस होता है।

आलंबन विभाव—शत्रु, दीन, याचक, तीर्थ, पर्व आदि।

उद्दीपन विभाव—शत्रु का पराक्रम, याचक की दीन दशा आदि।

अनुभाव—रोमांच, गर्वीली वाणी, आदर-सत्कार, दया के शब्द आदि ।

संचारी भाव—गर्व, धृति, स्मृति, दया, हर्ष, मति, असूया, आवेग आदि ।

स्थायी भाव—उत्साह ।

प्रधानतः वीर रस के चार भेद माने गये हैं—युद्धवीर, दयावीर धर्म्मवीर और दानवीर। किन्तु वीर शब्द का जैसा प्रयोग प्रचलित है उसके अनुसार केवल युद्ध वीर में ही वीर रस का प्रयोग सार्थक माना जाता है। अब तो उपाधिभेद से, जैसा कहा गया है, उद्योग-वीर, क्षमावीर आदि अनेकों वीर उपलब्ध हैं। उक्त मुख्य चार भेदों की रससामग्री भी भिन्न-भिन्न है।

१ युद्धवीर। आलंबन—शत्रु, उद्दीपन-शत्रु के कार्य, अनुभाव—वीर की गर्वोक्ति, युद्ध-कौशल आदि। संचारी भाव—हर्ष, आवेग, औत्सुक्य असूया आदि।

२ दानवीर। आलंबन—याचक, दान-योग्य पात्र आदि। उद्दीपन अन्य दाताओं के दान, दानपात्र की प्रशंसा आदि। अनुभाव—याचक का आदर-सत्कार आदि। संचारी—हर्ष, गर्व आदि।

३ धर्मवीर। आलंबन—धर्मग्रन्थ के वचन आदि। उद्दीपन—धर्म्म-फल, प्रशंसा आदि। अनुभाव—धर्माचरण। संचारी—धृति, मति, विबोध आदि।

४ दयावीर। आलंबन—दया के पात्र। उद्दीपन—दयापात्र की दीन-दशा आदि। अनुभाव—सान्त्वना के वाक्य। संचारी—धृति, हर्ष, मति आदि।

इसी प्रकार अन्य वीरों के उपादानों की सत्ता पृथक्-पृथक् समझनी चाहिये। किन्तु स्थायी भाव सब का एक ही रहता है। पहले जो आलंबन, उद्दीपन आदि का उल्लेख है वह प्रायः सब प्रकार के वीरों का मिश्रित रूप से है। उदाहरण—

तोरेउँ छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जो न करउँ प्रभु पद सपथ पुनि न धरौं धनु हाथ। तुलसी

जनकपुर में धनुषयज्ञ के प्रसंग पर 'वीर-विहीन मही मैं जानी' आदि वाक्य जब राजा जनक ने कहे तब लक्ष्मण ने उपयुक्त दोहा कहा है।

काव्यगत रस-सामग्री—(१) धनुष आलंबन विभाव है (२) जनक की कटु उक्ति उद्दीपन विभाव है। (३) आवेश में आये हुए लक्ष्मण की उक्तियाँ अनुभाव हैं। (४) आवेग, औत्सुक्य, मति, धृति, गर्व आदि संचारी भाव हैं। (५) उत्साह स्थायी भाव है।

रसिकगत रस-सामग्री—(१) लक्ष्मण आलंबन (२) लक्ष्मण की उक्ति उद्दीपन (३) लक्ष्मण का तोड़ने की क्रिया में हस्तलाघव का प्रदर्शन आदि अनुभाव (४) संचारी प्रायः पूर्ववत् और (५) उत्साह ही स्थायी भाव है

जब उक्त चारो सामग्री से स्थायी भाव पुष्ट होता है तब वीर रस व्यञ्जित होता है। यहाँ 'तव प्रताप बल' उत्साह का बाधक न होकर साधक हो गया है।

इस प्रकार प्रत्येक उदाहरण की सामग्री को समझ लेना चाहिये।

युद्ध वीर—

साहस हो खोलो सींकड़ों को तलवार दो।
सामने खड़े हो देखो क्षण भर में
बाजी लौट आती है महान आर्य देश की।
मान जावें पंच हम पावभर लोहे को।
दे दो शेष निर्णय का भार तलवार को।
एकबार पीसकर दाँत महा योद्धा ने
मारा झटका तो छिन्न भिन्न हो के श्रृङ्खला
छिटक गयी यों मानो ओले पड़े नभ से।
गरजा सरोष महा बाहु बल विक्रमी
तोड़ डाला बेड़ियों को खींच क्षण भर में। आर्यावर्त

इसमें पृथ्वीराज आलंबन और उद्दीपन है गोरी का उत्पीड़न। अनुभाव हैं पृथ्वीराज की ये उक्तियाँ और उनके कार्य तथा स्मृति, गर्व आदि संचारी हैं।

बल के उमंड भुजदंड मेरे फरकत
कठिन कोदंड खैंच मेल्यो चहै कान तैं।
चाउ अति चित्त में चढ्यो ही रहे युद्धहित
जूटै कब रावन जु बीसहु भुजान तैं।

'ग्वाल' कवि मेरे इन हत्थन को सीघ्रपनो
देखेंगे दनुज जुत्थ गुत्थित दिसान तें।
दसमत्थ कहा, होय जो पै सो सहस्रलक्ष,
कोटि कोटि मन्थन कौं काटौं एक बान तें।

लक्ष्मणजी की इस उक्ति में रावण आलम्बन, जानकी हरण उद्दीपन, लक्ष्मण के ये वाक्य अनुभाव और गर्व औत्सुक्य आदि संचारी हैं।

निकसत म्यान तें मयूखें प्रलै भानु कैसी
फारे तमतोम से गयंदन के जाल को।
लागति लपटि कंठ बैरिन के नागिन सी
रुद्रहिं रिझावै दै दै मुण्डनिके भाल को।
लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली,
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करवाल को।
प्रति भट कटक कटीले केते काटि काटि,
कालिका सी किलक कलेऊ देति काल को। भूषण

इसमें शत्रु आलंबन, शत्रु के कार्य उद्दीपन, तलवार के कार्य अनुभाव और गर्व, आवेग, औत्सुक्य आदि संचारी हैं।

धर्मवीर

रहते हुए तुम सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं,
इससे मुझे है जान पड़ता भाग्य-बल ही सब कहीं।
जल कर अनल में दूसरा प्रण पालता हूँ मैं अभी
अच्युत युधिष्ठर आदि का अब भार है तुमपर सभी। गुप्तजी

इसमें अर्जुन आलंबन, प्रण का पूरा न होना उद्दीपन, अर्जुन का प्रण पालने को उद्यत होना अनुभाव और धृति, मति आदि संचारी भाव हैं। इनसे यहाँ धर्मवीरता की व्यञ्जना है।

दयावीर

पापी अजामिल पार कियो जेहि नाम लियो सुत ही को नरायण।
त्यों 'पदमाकर' लात लगे पर विप्रहु के पग चौगुने चायन॥
को अस दीनदयाल भयो दशरत्थ के लाल से सूधे सुभायन।
दौरे गयंद उबारिबे को प्रभु वाहन छाड़ि उपाहने पायन॥

इसमें दया का पात्र गयंद आलंबन, गयंद की दशा उद्दीपन,

गयंद को उबारने के लिये दौड़ पड़ना अनुभाव और धृति, आवेग, हर्ष आदि संचारी हैं।

दानवीर

हाथ गह्यो प्रभु को कमला कहै नाथ कहा तुमने चितधारी।
तंडुल खाय मुठी दुइ दीन कियो तुमने दुइलोक बिहारी॥
खाय मुठी तिसरी अब नाथ कहा निज बास की आस बिसारी।
रंकहि आप समान कियो तुम चाहत आपहि होन भिखारी॥ न०दास

इसमें सुदामा आलंबन, सुदामा की दीन दशा उद्दीपन, दो मुट्ठी चावल खाकर दो लोक देना आदि अनुभाव और हर्ष, गर्व, मति आदि संचारी हैं। इनसे दानवीरता की व्यञ्जना होती है।

जो सम्पति शिव रावनहिं दीन दिये दस माथ।
सो संपदा बिभीखनहिं सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥ तुलसी

यहाँ विभीषण आलंबन, शिव के दान का स्मरण उद्दीपन, राम का दान देना तथा उसमें अपने बड़प्पन के अनुरूप तुच्छता का अनुभव करना, अतएव संकोच होना अनुभाव और स्मृति, धृति, गर्व, औत्सुक्य आदि संचारी हैं। इनसे स्थायी भाव परिपुष्ट होता है जिससे दानवीर की ध्वनि होती है।

नवीं छाया

रौद्र रस

जहाँ विरोधी दल की छेड़खानी, अपमान, अपकार, गुरु-जन-निंदा तथा देश और धर्म के अपमान आदि से प्रतिशोध की भावना जागृत होती है वहाँ रौद्र रस होता है।

आलंबन—विरोधी दल के व्यक्ति।

उद्दीपन—विरोधियों द्वारा किये गये अनिष्ट काम, अपकार, अपमान, कठोर वचन आदि।

अनुभाव—मुखमण्डल पर लाली दौड़ आना, भौंहें चढ़ाना, आँखें तरेरना, दाँत पीसना, होंठ चबाना, हथियार उठाना, विपक्षियों को ललकारना, गर्जन-तर्जन, हीनतावाचक शब्द-प्रयोग आदि।

संचारी भाव—उग्रता, अमर्ष, चंचलता, उद्वेग, मद, असूया, श्रम, स्मृति, आवेग आदि।

स्थायी भाव—क्रोध।

निम्नलिखित व्यक्ति शीघ्र क्रुद्ध होते हैं—(१) भलाई के बदले बुराई पानेवाले (२) अनादृत होनेवाले (३) अपूर्ण वा अतृप्त आकांक्षावाले (४) विरोध सहन न करनेवाले और (५) तिरस्कृत निर्धन आदमी।

निम्नलिखित व्यक्ति क्रोधपात्र होते हैं—(१) हमको भूलनेवाले (२) हमारी प्रार्थना को ठुकरानेवाले (३) समय-असमय का खयाल न कर हँसी करनेवाले (४) हमको चिढ़ानेवाले (५) हमारे आदरणीय विषयों पर अश्रद्धा रखनेवाले (६) आत्मीय होते भी सहायता न करनेवाले (७) मतलब साधनेवाले (८) कृतघ्नता दिखलानेवाले (९) हमारे प्रतिकूल आचरणवाले (१०) दुख देकर सुखी होनेवाले (११) हमारे दुख में सुखी होनेवाले (१२) जान-सुनकर हमारा अपमान होते-देखनेवाले (१३) विशिष्ट व्यक्ति के सम्मुख वा सभासमाज में तिरस्कार करनेवाले।

मातु-पितहिं जनि सोचबस करसि महीप किसोर।
गर्भन के अर्भकदलन परसु मोर अति घोर॥ तुलसी

जनकपुर में धनुषभंग पर यह राम की उक्ति है।

काव्यगत रस-सामग्री—(१) कटु वचन बोलनेवाले तथा धनुष भंग करके धनुष की महिमा घटानेवाले राम-लक्ष्मण आलंबन विभाव हैं। (२) लक्ष्मण की कटूक्ति उद्दीपन-विभाव है (३) परशुराम की वाणी, मुँह पर क्रोध की अभिव्यक्ति, फरसे की महिमा बखान कर उसे दिखलाना अनुभाव हैं (४) आवेग, उग्रता, असूया, मद आदि संचारी है।

रसिकगत रस-सामग्री—(१) परशुराम आलंबन विभाव (२) परशुराम की उक्ति उद्दीपन (३) संचारी और (४) अनुभाव दोनों के एक से हैं। इन से (५) क्रोध स्थायी भाव की पुष्टि होती है और उस जिससे यहाँ रौद्र रस की व्यञ्जना होती है।

श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्षोभ से जलने लगे।
सब शील अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे॥

संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े।
करते हुए यह घोषणा वे हो गये उठकर खड़े॥ गुप्तजी

यहाँ रौद्र रस की व्यञ्जना में अभिमन्यु-बध पर कौरवों का उल्लास आलंवन, श्रीकृष्ण के पूर्वोक्त वचन उद्दीपन और अर्जुन के वाक्य अनुभाव तथा अमर्ष, उग्रता, गर्व आदि संचारी हैं।

अति प्यारा है तनय देख तू अपनी मा का।
सुरविजयी हूँ मेघनाद मैं वीर लड़ाका॥
मेरा-तेरा युद्ध भला कैसे होवेगा?
जो न भगेगा अभी समर में मर सोवेगा॥ रा० च० उ०

यहाँ लक्ष्मण आलंबन, कुम्भकर्ण का बध आदि उद्दीपन, मेघनाद का गर्जन-तर्जन, हीन वचन का कथन आदि अनुभाव हैं और अमर्ष, उग्रता आदि संचारी हैं। इनसे रौद्र रस पुष्ट हो व्यंजित होता है।

—भीषम भयानक प्रकास्यो रन भूमि आनि,
छाई छिति छत्रिन की गति उठि जायगी।
कहै 'रतनाकर' रुधिर सो रूँधेगी धरा,
लोथनि पै लोथनि की भीति उठि जायगी।
जीति उठि जायगी अजीत पांडु पुत्रन की,
भूप दुरजोधन की भीति उठि जायगी।
कै तो प्रीति रीति की सुनीति उठि जायगी कै,
आज हरि प्रन की प्रतीति उठि जायगी।

इसमें दुर्योधन-पक्ष का पराजय आलंबन, पाण्डवों की अपराजेयता, कृष्ण की प्रतिज्ञा उद्दीपन है। भीष्म के ये भीषण वचन अनुभाव और गर्व, अमर्ष आदि संचारी हैं।

दसवीं छाया

भयानक रस

भयंकर परिस्थिति के कारण भय उत्पन्न होता है। इसके मूल में संरक्षण की प्रवृत्ति है। यह जीवधारीमात्र में होता है। भय का कारण प्राण गँवाना या शारीरिक कष्ट उठाना या धन-जन की हानि या ऐसा ही अन्य दुःखदायक कार्य होता है। इसका मन पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है।

भय सहचर भावना है और उसकी सहज प्रवृत्ति पलायन या विवर्जन है। भय का सामना करने की शक्ति न होने के कारण भागने को बाध्य होना पड़ता है।

भयदायक वस्तुओं में व्यक्ति और विषय दोनों आ जाते हैं। इनकी विकरालता और प्रबलता आदि ही भय के कारण होते हैं। लोकसमाज के अपवाद आदि से भी भय होता है। जिससे हानि हो उसीसे केवल भय हो, यह बात नहीं। प्रेमपात्र रुष्ट न हो जाय, इससे प्रेमी को भय होता है। बाल्यकाल का जूजू वा भकोल सयाने होने पर भयदायक नहीं रहते। इससे अवस्था-विशेष भी भयदान का कारण हो सकता है।

बहुतों को भयानक जन्तु भय के कारण न होकर आनन्ददायक बन जाते हैं। सरकस के शेरों और को खेलाने में जानवर के खेलाड़ियों और सँपेरों को भय नहीं होता। साधु बाबा भी बिल्ली की भाँति एक शेर को पाल लेते हैं। सारांश यह कि जिससे हानि वा दुःख पहुँचना अनिवार्य है उससे भय होता है और जहाँ इन दोनों की अनिश्चयता रहती है वहाँ आशंका कहलाती है।

स्वाभाविक भीरुता कायरता है और धर्मभीरुता आस्तिकता है। भय का प्रभाव शरीर और मन दोनों पर पड़ता है जिससे मुँह सूख जाता है और मन किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है। कुछ भय वास्तविक होते हैं और कुछ कल्पित तथा भ्रमजनित। यथार्थता ज्ञात होने से ये दोनों भय दूर हो जाते हैं। भय के समय साहस और धैर्य से काम लेना आवश्यक है। जो साहसी और शूर होते हैं वे सदा निर्भय रहते हैं।

भयानक रस मनुष्य को अधीर बनानेवाला है। इसमें शत्रु भी मित्र हो जाता है और मित्र भी शत्रु। प्रबल आतंक मनुष्य को शिथिल बना देता है और उससे आत्मरक्षा के भाव लुप्त हो जाते हैं। तथापि समाज में शृङ्खला रखने के लिये भय की आवश्यकता है। बालकों में भय का भाव भरना या भय द्वारा शिक्षा देना उन्हें निर्बल बनाना है।

× × × ×

भयदायक वस्तु के देखने वा सुनने से अथवा प्रबल शत्रु के विद्रोह आदि करने से जब हृदय में वर्तमान भय

स्थायी भाव होकर परिपुष्ट होता है तब भयानक रस उत्पन्न होता है।

आलंबन विभाव—व्याघ्र, सर्प आदि हिंसक प्राणी, बीहड़ तथा निर्जन स्थान, श्मशान, बलवान् शत्रु, भूत-प्रेत की आशंका आदि।

उद्दीपन विभाव—हिंसक जीव की भयानक चेष्टा, शत्रु के भयोत्पादक व्यवहार, भयानक स्थान की निर्जनता, निस्तब्धता, विस्मयोत्पादक ध्वनि आदि।

अनुभाव—रोमांच, स्वेद, कंप, वैवर्ण्य, चिल्लाना, रोना, करुणा-जनक वाक्य आदि।

संचारी भाव—शंका, चिन्ता, ग्लानि, आवेग, मूर्च्छा, त्रास, जुगुप्सा, दीनता आदि।

स्थायी भाव—भय।

> कर्तव्य अपना इस समय होता न मुझ को ज्ञात है;
> कुरुराज चिंताग्रस्त मेरा जल रहा सब गात है।
> अतएव मुझको अभय देकर आप रक्षित कीजिये,
> या पार्थ प्रण करने विफल अन्यत्र जाने दीजिये। गुप्तजी

काव्यगत रस-सामग्री—इसमें अभिमन्युवध आलंबन, पार्थ की प्रतिज्ञा उद्दीपन, शरीर का जलना आदि अनुभाव और त्रास, शंका चिन्ता संचारी हैं। इनसे परिपुष्ट भय स्थायी रस रूप में व्यंजित है।

रसिकगत रस-सामग्री—अर्जुन आलंबन, उनकी असहाया-वस्था उद्दीपन, रोमांच होना, तरस खाना आदि अनुभाव और शंका, चिन्ता, त्रास आदि संचारी भाव हैं।

> एक ओर अजगरहिं लखि एक ओर मृगराय।
> बिकल बटोही बीचही पर्यो मूरछा खाय॥ प्राचीन

यहाँ अजगर और सिंह आलंबन विभाव हैं। उन दोनों की भयंकर आकृति तथा चेष्टा उद्दीपन विभाव हैं। मूर्च्छा, विकलता आदि अनुभाव हैं। स्वेद, कंप, रोमांच, आवेग आदि संचारी भाव हैं। इनसे स्थायी भाव भय परिपुष्ट होता है और भयानक रस की प्रतीति होती है। इसमें काव्यगत तथा रसिकगत रस-सामग्री प्रायः एक-सी है।

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठे बार-बार,
दिल्ली दहसति चितै चाह करखति है।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुरपति,
फिरति फिरंगिन की नारी फरकति है।
थर थर काँपत कुतुबसाह गोलकुन्डा
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
राजा शिवराज के नगारन की धाक सुनि
केते पादसाहन की छाती दरकति है। **भूषन**

इसमें बलवान् शत्रु शिवराज आलंबन, नगारन की धाक सुनि उद्दीपन, बीजापुरपति का बिलखना आदि अनुभाव और त्रास, शंका आदि संचारी हैं। यहाँ भयानक रस की अभिव्यक्ति तो है, पर भूषण का अभीष्ट शिवाजी की वीरता की प्रशंसा करना है। इससे यहाँ भयानक रस नहीं, राजविषयक रति भाव है।

ग्यारहवीं छाया

अद्भुत रस

नारायण पण्डित अद्भुत रस की ही प्रधानता देते हैं जैसा कि कहा जा चुका है। कारण यह कि रस का सार चमत्कार है और उस चमत्कार का सार-स्वरूप अद्भुत रस है। चमत्कार में विलक्षणता रहती है और वही चित्ताकर्षण करती है।

अभिनवगुप्त के मत से "चमत्कार शब्द के तीन अर्थ हैं। एक अर्थ है प्रसुप्त वासना के साथ साधारणीकरण का मिलन-जनित वा परिचय-जनित एक विशिष्ट चेतना का उद्बोध (Aesthetic attitude of the mind)। दूसरा है चमत्कारजनित अलौकिक आह्लाद। और तीसरा है चमत्कार द्वारा ही उद्भूत कम्प-पुलकादि शारीरिक विकार।"

"उसको साक्षात्कार कहा जा सकता है अथवा मन का अध्यवसाय। निश्चयात्मिका वृत्ति भी उसे कह सकते हैं, संकल्प वा स्मृति कह सकते हैं अथवा स्फूर्ति वा प्रतिभा कह सकते हैं।[1]

---

१ 'नाट्य-शास्त्र' टीका पृष्ठ २८१ गायकवाड़ संस्करण

अभिप्राय यह कि चमत्कार एक प्रकार की स्फूर्ति है वा प्रतिभा। इसी रूप से चित्त में इसका उदय होता है। मम्मट ने चमत्कार शब्द का आस्वाद वा चर्व्यमाणता यही अर्थ किया है। किसी-किसी ने सौन्दर्यात्मक विशिष्ट बोध को चमत्कार कहा है। पर विश्वनाथ चमत्कार का अर्थ हृदय-विस्तार, विकास कहते हैं। उसे आश्चर्य (Wonder) भी कहते हैं[1]। विश्वनाथ का मत यह है कि रस में चमत्कार प्राण-रूप है वह चमत्कार विस्मय ही है। अर्थात् सारे रसों में प्राण-स्वरूप एक चमत्कार (Sublemity) रहता है।

अद्भुतता में लोकोत्तरता का थोड़ा-बहुत समावेश रहता है। क्योंकि वह आश्चर्य की उत्पादिका होती है। अद्भुत से विचार को उत्तेजना मिलती है। इससे दार्शनिक और वैज्ञानिक भावों का उदय होता है—(Philosophy begins in wonder)। अद्भुतता का एक कारण अस्वाभाविकता भी है। साहित्यिक अद्भुतता में कूट काव्य, चित्र काव्य तथा विरोधाभास अलंकारों की गणना होती है। इनकी यथार्थता ज्ञात होने पर आश्चर्य नहीं रहता। किन्तु सब जगह ऐसी बात नहीं। एक उदाहरण—

> आपु सितासित रूप चितै चित श्याम शरीर रँगै रँग राते।
> 'केशव' कानन हीन सुनै सु कहै रस की रसना बिन बातें॥
> नैन किंधौ कोउ अंतरयामि री जानति नाहिन बूझहि ताते।
> दूरलौं दौरत है बिन पायन दूर दुरी दरसै मति जाते॥

यद्यपि आँख की इन बातों का समाधान किया जा सकता है तथापि नेत्रों का अद्भुत वर्णन मन में घर करनेवाला है। अन्य उदाहरणों में भी यह बात पायी जाती है।

विस्मय वा अद्भुत की सहज प्रवृत्ति जिज्ञासा है। इसका समावेश बौद्धिक भावनाओं में होता है। क्योंकि इसमें भावना की अपेक्षा बुद्धि की प्रबलता रहती है। इसमें विचार करना पड़ता है, तर्क-वितर्क करना पड़ता है, ऊहापोह में उलझना पड़ता है, उलझन मिटाने के लिये मस्तिष्क को चक्कर काटना पड़ता है। आश्चर्य और विस्मय यद्यपि एकार्थवाची हैं तथापि आश्चर्य से ऐसा ज्ञात होता है जैसे हृदय पर एक धक्का-सा लगा और क्षण भर में वह भाव जाता

---

१ चमत्कारश्चित्त-विस्तार-रूपो विस्मयापरपर्यायः। सा० द०

रहा। इसकी कई अवस्थाएँ होती हैं। विस्मय स्थायी-सा ज्ञात होता है।

वैष्णवों ने चार प्रकार के अद्‌भुत माने हैं। पहला दृष्ट वह है जिसके देखने पर आश्चर्य प्रकट किया जाय। दूसरा श्रुत वह है जिसकी अलौकिकता सुनने पर आश्चर्य प्रकट किया जाय। तीसरा संकीर्तित वह है जिसका संकीर्तन—वर्णन-कथन आश्चर्य रूप में किया जाय। और, चौथा अनुमित वह है जिसकी अनुमान द्वारा अद्‌भुतता प्रकट की जाय। अन्तिम दो के उदाहरण इस प्रकार के हैं।

संकीर्तित—

तुम कौन हो, क्या कर रहे हो, क्या तुम्हारा कर्म है?
कैसा समय, कैसी दशा, कैसा तुम्हारा धर्म है?
हे अनघ! क्या वह विज्ञता भी आज तुमने दूर की?
होती परीक्षा ताप में ही स्वर्ण के सम शूर की। गुप्तजी

अर्जुन की अधीरता पर श्रीकृष्ण की उक्ति है। इसमें अर्जुन के गुण का संकीर्तन है। इससे आश्चर्य की ध्वनि होती है।

अनुमित—

अस्तुति करि न जाय भय माना।
जगत पिता मैं सुन करि जाना॥ तुलसी

रामचंद्र की अद्‌भुत बाललीला पर कौशल्या की यह उक्ति है। यहाँ अनुमित आश्चर्य की ध्वनि है।

गीता के एकादशवें अध्याय में अर्जुन का विश्वरूप-दर्शन आश्चर्य ही का क्यों महाश्चर्य का विषय हैं।

बारहवीं छाया

अद्‌भुत रस-सामग्री

विचित्र वस्तु के देखने वा सुनने से जब आश्चर्य का परिपोष होता है तब अद्‌भुत रस की प्रतीति होती है।

आलंबन विभाव—अद्‌भुत वस्तु तथा अलौकिक घटना आदि।

उद्दीपन विभाव—आश्चर्यमय वस्तु की विलक्षणता तथा अलौकिक घटना की आकस्मिकता।

अनुभाव—आँखे फाड़कर देखना, रोमाञ्च, स्तम्भ, स्वेद, मुख पर उत्फुल्लता तथा घबड़ाहट के चिह्न आदि।

संचारी भाव—जड़ता, दैन्य, आवेग, शंका, चिन्ता, वितर्क, हर्ष चपलता, औत्सुक आदि।

स्थायी भाव—आश्चर्य।

> इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोरि कि आन बिसेखा ॥
> देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँस दीन्ह मधुर मुसुकानी ॥ तुलसी

काव्यगत रस-सामग्री—(१) राम आलंबन विभाव (२) यहाँ-वहाँ एक रूप में बालक राम को देखना उद्दीपन विभाव (३) भय-मिश्रित हर्ष, शंका, वितर्क आदि संचारी भाव (४) घबड़ाना, आँखें फाड़कर यहाँ-वहाँ देखना अनुभाव (५) और स्थायी भाव विस्मय हैं।

रसिकगत रस-सामग्री—(१) कौशल्या आलंबन विभाव (२) प्रभु-प्रभुता देखकर राम की मा का घबड़ाना उद्दीपन विभाव (३) मुख पर विस्मय का भाव होना, रोमांच होना आदि अनुभाव (४) हर्ष, भगवद्भक्ति, प्रेम, वितर्क आदि संचारी भाव (५) स्थायी भाव विस्मय वा आश्चर्य हैं।

> उस एक ही अभिमन्यु से यों युद्ध जिस जिसने किया,
> भाग गया अथवा समर से विमुख होकर ही जिया।
> जिस भाँति विद्युद्दाम से होती सुशोभित घनघटा,
> सर्वत्र छिटकाने लगा वह समर में शस्त्रच्छटा।
> तब कर्ण द्रोणाचार्य से साश्चर्य यों कहने लगा,
> आचार्य देखो तो नया यह सिंह सोते से जगा। गुप्तजी

इसमें अभिमन्यु आलंबन, अनेक महारथियों से एक साथ युद्ध करना उद्दीपन, कर्ण आदि का साश्चर्य देखना अनुभाव और शंका, चिन्ता, वितर्क आदि संचारी हैं। इनसे परिपुष्ट आश्चर्य स्थायी भाव रस रूप में परिणत होकर व्यञ्जित होता है।

इसमें जो साश्चर्य शब्द है उससे स्वशब्दवाच्य दोष नहीं लग सकता। क्योंकि इसका सम्बन्ध द्रष्टा के साथ है। अभिमन्यु के अलौकिक कृत्य में ही चमत्कार है जिससे अद्भुत रस यहाँ व्यङ्ग है।

> रिस करि लेजैं लै कै पूतै बाँधिबो को लगी,
> भावत न पूरी बोली कैसो यह छौना है।

देखि देखि देखै फिर खोलि के लपेटा एक,
बाँधन लगी तो बहू क्यौंहू कौ बँध्यौना है।
'ग्वाल' कवि जसुदा चकित यौं उचारि रही,
आली यह भेद कछू पर्‌यौ समुझौ ना है।
यही देवता है किधौं याके संग देवता है,
या किहूँ सखी ने करि दीन्ह्यो कछु टौना है।

कृष्ण के बंधनकाल में रस्सियों का छोटा पड़ना आलंबन विभाव है, कृष्ण का न बँधना उद्दीपन विभाव है, संभ्रम आदि अनुभाव हैं और वितर्क, चिन्ता, शंका आदि संचारी भाव हैं। इनके द्वारा विस्मय स्थायी भाव अद्भुत रस मे परिणत होता है।

तेरहवीं छाया

करुण रस

कह आये हैं कि भवभूति एक करुण रस को ही मानते हैं। अन्य रस पानी के बुलबुले-जैसे हैं। जल जैसा करुण ही सब का मूल है। कारण यह कि करुण का संवेदन बड़ा तीव्र होता है और उसकी मात्रा सुख की अपेक्षा अधिक होती है। एक दिन का दुख सौ दिनों के सुख पर पानी फेर देता है।

क्रौंची-वियोग कातर क्रौंच की वेदना से कवि के चित्त में वेदना का संचार हुआ। इसी वेदना से उद्वेलित हृदय का उद्‌गार श्लोक-रूप में प्रकट हुआ और उसने अन्त में महाकाव्य का आकार धारण कर लिया। इसी से रामायण करुण-रस-पूर्ण है और उसका परिपाक अन्त तक—सीता के अत्यन्त वियोग पर्यन्त उसका निर्वाह किया गया है [1]। संसार में सुख कम और दुःख अधिक है।

सुख सरसों शोक सुमेरू। पंत

जीवमात्र दुःख दूर करने की निरन्तर चेष्टा करता है। यह दुःख आनन्द में भी विद्यमान है। कवि आरसी की उक्ति है—

आनन्द अचानक रो उठता, लगते ही कोई शर निर्मम।

---

१ रामायणे हि करुणो रसः स्वयं आदिकविना सूत्रितः। शोकः श्लोकत्वमागतः इत्येवं वादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्त वियोगपर्यन्त मेव स्वप्रबन्धमुपन्यस्यता। ध्वन्यालोक

एक अन्य कवि का यह कैसा मर्मोद्गार है—

> ......अलौकिक आनन्देर भार,
> विधाता याहारे देय, तार वक्षे वेदना अपार।
> तार नित्य जागरण, अग्नि देवतार दान,
> ऊर्द्ध शिखा ज्वालि, चित्ते अहोरात्र दग्ध करे प्राण।

अर्थात् विधाता जिसपर अलौकिक आनन्द का भार लाद देता है उसके हृदय में अपार वेदना होती है। उसका जागरण स्वाभाविक हो जाती है। देवता का दान अग्नि समान चित्त में शिखाएँ फैलाकर दिन-रात प्राण को जलाते रहता है। इसी से यह कहावत भी चरितार्थ होती है कि 'समझदार को मौत है।' अभिप्राय यह कि अनुभवी का आनन्द वेदना विकल होता है।

करुण में 'सहानुभूति' की मात्रा अधिक रहती है। यह अन्यान्य रसों में भी पायी जाती है। हँसते को देखकर हँसना और भागते को देखकर भागना, सहानुभूति का ही एक रूप है। समान विचार वा अनुभूति से यह उत्पन्न होती है। इससे सहानुभूति को समानुभूति कहना ही ठीक है। करुण में इसकी विशेषता रहती है। क्योंकि समानुभूति सामाजिकता से उत्पन्न होती है। इसमें परोपकार, उदारता, स्वार्थहीनता आदि सद्गुणों का समावेश रहता है। मूल इसका आत्मौपम्य है। प्रिय व्यक्ति की करुणभावना को मन में लाकर उसका समरस होना शोक की समानुभूति है। शकुन्तला ने समानुभूति का भाव जड़-जंगम से भी रखा था। उनसे बिदा होने के समय भाई-बहन से बिदा होने का-सा भाव प्रकट किया था। यहाँ भावाभास नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यहाँ तो 'उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्" है। कवि कहता है कि 'जीव मन के जितने प्रिय सम्बन्धों को जोड़ता है उतने शोकशंकु उसके हृदय में अंकित होते हैं'[1]।

यही शोक करुणरस का स्थायी भाव है। इष्टनाश आदि के कारण चित्त की विकलता को शोक[2] कहते हैं। यहाँ आदि से नाश के

---

१ यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान मनसः प्रियान्। तावन्तोऽस्य विलिख्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः।

२ इष्टनाशादिभि श्चेतो वैक्लव्यं शोकशब्दभाक्। सा० द०।

साथ विरह, विपत, दुराशंका का भी ग्रहण है। कहने का भाव यह कि जिनके साथ, चाहे वे मृग, शुक आदि हों या लता, वृक्ष आदि हों, मन का प्रिय संबंध बना हुआ है उनके नाश होने, वियुक्त होने, विपद् में पड़ने से मन में कष्ट के काँटे चुभे, वही शोक है। अभिलाषाओं, इच्छा-आकंक्षाओं तथा प्रिय प्रवृत्तियों का विफल होना भी शोकजनक होता है।

कह आये हैं कि शोक प्राथमिक भावना नहीं है। मनुष्य की प्रीति, पालनवृत्ति, वात्सल्य आदि की सहचर भावना जब इष्ट वियोग आदि से विकल हो उठती है वा उसके प्रतिकार में असमर्थ हो जाती है तब शोक उत्पन्न होता है। केवल प्रीतिमात्र शोक की उत्पादिका नहीं है। जिससे प्रेम नहीं उसके दुःख-शोक से हमें क्या? यह शोक प्रियवस्तुमूलक होने के कारण आज स्थायी नहीं संचारी माना जाता है। इसको स्थायी मानने का कारण आस्वाद की उत्कटता और सहानुभूति की स्वतंत्र भावना ही हो सकती है। रति-वात्सल्य आदि की भावना भी इसके स्थायित्व में सहायक होती है। अन्यथा इसमें संचारी का ही भाव झलकता है।

यदि प्रिय-संबंधी मात्र तक ही परमित न रख करके अर्थात् माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पुत्र, पति, बन्धु, परिजन आदि के वियोग तक में ही आबद्ध न करके करुण का रूप सहानुभूति-मूलक मान लें तो ससीम न होकर यह असीम हो जायगा। केवल दलित-पीड़ित तक ही नहीं, बल्कि प्राणिमात्र और प्रकृतिमात्र तक करुण का विस्तृत क्षेत्र हो जाय जैसा कि ऊपर उदाहरण दिया गया है। तो शोक को प्राथमिक भावना का भी पद प्राप्त हो सकता है।

चौदहवीं छाया

करुण रस की सुख-दुःखात्मकता

दुःखान्त-साहित्य से आनन्द क्यों होता है, यह एक प्रश्न है। इसके समाधान में हम केवल यही नहीं कहना चाहते कि करुण आदि रस में भी जो आनन्द मिलता है, उसमें सहृदयों का अनुभव

ही प्रमाण है या यदि दुःख होता तो करुण प्रधान काव्य के देखने-सुनने में कोई प्रवृत्त ही क्यों होता[1]? कुछ और बातें भी इसमें विचारणीय हैं।

एक तो हमारे यहाँ वियोगान्त या दुःखान्त काव्य-नाटक आदि लिखने का ही निषेध है और युद्ध-बध अनेक बातों का रंगमंच पर दिखलाना भी निषिद्ध है[2]। प्रो० विचेष्टर भी निष्ठुरतापूर्वक हत्या आदि प्रदर्शन के विरुद्ध हैं। देखो S. P. L, Criticism. P. 66 इसीसे हमारे यहाँ प्राय: सुखान्त नाटकों की ही भरमार है। अब जो दुःखान्त नाटक और एकांकी लिखे जाने लगे हैं वह पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव है। यत्र-तत्र प्राच्य साहित्य में जो करुण रस दीख पड़ता है वह रस-विशेष की परिपुष्टि के लिये ही जैसे कि 'बिना विप्रलंभ के—वियोग के शृङ्गार का परिपोष होता ही[3] नहीं।' 'उत्तर राम चरित्र' आदि एक-दो नाटक-काव्य इसके अपवाद हैं।

करुण बड़ा कोमल रस है। यह सहानुभूति के साथ सहृदयता को भी उत्पन्न करता है। इसके आँसू अमल, शुद्ध तथा दिव्य होते हैं। आँसू हृदय की मलिनता को दूर कर देते हैं। दुःख से हमारी आत्मा शुद्ध और परिष्कृत हो जाती है। दुःख ही कर्तव्य का स्मरण दिलाता है। दुःख से ही महान् व्यक्तियों के धैर्य की परीक्षा होती है। जब हम हरिश्चन्द्र, महात्मा गाँधी जैसे महान् पुरुषों की कष्ट-कथा सुनते हैं तब हमारे मन में उनके प्रति गौरव के भाव जगते हैं। हम भी अपने मन में ऐसा अनुभव करने लगते हैं कि कितना हू कष्ट क्यों न झेलना पड़े, कर्तव्य-विमुख न होना चाहिये। काव्य-नाटक के आदर्श चरित्रों से, जो दुःख में ही निखरते हैं, हमे दुःख नहीं होता, बलिक हमारा हृदय उत्साह और गौरव से भर जाता है और ऐसो के सामने नतमस्तक हो जाते हैं। सुखान्त नाटक की अपेक्षा, जिसमें दुःख की व्याख्या हो जाने से मन की अशान्ति दूर

---

१ करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्। सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।
किंच तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः। सा० दर्पण

२ दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः। सा० दर्पण

३ न विना विप्रलम्भेन शृङ्गारः पुष्टिमश्नुते। सा० द०

हो जाती है, दुःखान्त नाटक का प्रभाव क्षणिक नहीं होता। हमारा दिल देर तक कचोटता रहता है।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने इसपर बहुत विचार किया है और उनके भिन्न-भिन्न मत हैं। शोकान्त काव्य-नाटक के पढ़ने, सुनने और देखने से आनन्द होने के ये कारण हैं (१) मन में यह कल्पना होती है कि संसार असार है, जीवन क्षणभंगुर है, इसका साक्षात्कार होता है। (२) शौर्य, औदार्य आदि गुण प्रकट करनेवाले नायक की मृत्यु से उसके प्रति आदर बढ़ता है। (३) सद्गुणों का उत्तेजन और दुर्गुणों का प्रशमन देखा जाता है। (४) दूसरों के दुःख होने की कल्पना होती है। (५) शोकान्त नाटकों की घटनाओं से सामाजिकों की कल्पना-शक्ति का संचालन होता है। (६) रचनाकार के रचनाकौशल का चमत्कार-दर्शन देखने को मिलता है। (७) दुःख में गुणगण को अधिक विकसित देखा जाता है। (८) नये ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा होती है। (९) दुःखी को देखकर दया के भाव जगने से प्रत्यक्ष सहायता के भाव जगते हैं, इत्यादि। ये सब सचेतसामनुभव' ही तो हैं।

एक-दो आचार्य रसों से सुख ही सुख होता है, इसके विरुद्ध हैं। दुःखात्मक रस से दुःख ही होता है, सुख नहीं, ऐसा मानते हैं। उनके मत से करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक दुःखात्मक रस हैं और शेष सुखात्मक। वे कहते हैं कि विभाव, अनुभाव आदि से स्पष्ट सुख-दुःख का निश्चय होता है[1]।

करुण रस के पाँच भेद किये गये हैं। जैसे—

करुण अतिकरुन औ महाकरुन लघुकरुन हेतु।
एक कहत हैं पाँच यों दुख में सुखहिं सचेतु॥

अर्थात् करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुख करुण ये पाँच भेद करुण के होते हैं। इन्हें भेद मानना ठीक नहीं। यह करुण की मात्रा के ही भेद कहे जा सकते हैं। सुखकरुण का एक उदाहरण लें—

बहू, बहू, वैदेहि बड़े दुख पाये तुमने।
माँ मेरे सुख आज हुए हैं दूने दूने॥ गुप्तजी

---

१ स्थायिभावाश्रितोत्कर्षः विभावव्यभिचारिभिः। स्पष्टानुभवनिश्चेयः सुख-दुःखात्मको रसः। नाट्यदर्पण

यहाँ सुख में भी दुःख की स्मृति करुणा का उद्रेक करती है। महाकरुण के ही लिये भवभूति ने लिखा है—पत्थर भी रो पड़ता है और वज्र का हृदय भी फट जाता है—'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।' करुण की यही महिमा है।

पंद्रहवीं छाया

करुण-रस-सामग्री

इष्ट वस्तु की हानि, अनिष्ट वस्तु का लाभ, प्रेम पात्र का चिरवियोग, अर्थ-हानि आदि से जहाँ शोक-भाव की परिपुष्टि होती है वहाँ करुण रस होता है।

आलंबन विभाव—वन्धुविनाश, प्रियवियोग, पराभव आदि।

उद्दीपन विभाव—प्रिय वस्तु के प्रेम, यश या गुण का स्मरण, वस्त्र, आभूषण, चित्र आदि का दर्शन आदि।

अनुभाव—रुदन, उच्छ्वास, छाती पीटना, मूर्च्छा, भूमिपतन, प्रलाप, दैवनिन्दा आदि।

संचारी भाव—व्याधि, ग्लानि, मोह, स्मृति, दैन्य, चिन्ता, विषाद, उन्माद आदि।

स्थायी भाव—शोक।

प्रियविनाशजनित, प्रियवियोगजनित, धननाशजनित, पराभव-जनित आदि करुण रस के भेद होते हैं।

> जो भूरिभाग्य भरी विदित थी अनुपमेय सुहागिनी,
> हे हृदय-वल्लभ ! हूँ वही अब मैं महा हतभागिनी।
> जो साथिनी होकर तुम्हारी थी अतीव सनाथिनी,
> है अब उसी मुझसी जगत में और कौन अनाथिनी। गुप्तजी

काव्यगत रस-सामग्री—अभिमन्यु का शव आलंबन है। वीर-पत्नी होना, पति की वीरता का स्मरण करना आदि उद्दीपन है। उत्तरा का क्रन्दन अनुभाव है। स्मृति, दैन्य, चिन्ता आदि संचारी हैं। इनसे परिपुष्ट स्थायी भाव शोक से करुण रस ध्वनित होता है।

रसिकगत रस-सामग्री—उत्तरा आलंबन, उसका पूर्व के सुख-सौभाग्य का स्मरण उद्दीपन, पद्य-रूप में कथन अनुभाव और मोह, विषाद, चिन्ता आदि संचारी हैं।

प्रिय पति वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है ?
दुखजलनिधिडूबी का सहारा कहाँ है ?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ
वह हृदय हमारा नैनतारा कहाँ है ? हरिऔध

कृष्ण आलंबन, दुःख का सहारा होना उद्दीपन, मुख देखकर जीना अनुभाव और स्मृति, विपाद आदि संचारी हैं।

अभी तो मुकुट बँधा था माथ हुए कलही हलदी के हाथ,
खुले भी न थे लाज के बोल खिले भी चुम्बनशून्य कपोल,
हाय रुक गया यहीं संसार बना सिन्दूर अँगार। पंत

पति-वियोग काव्यगत आलंबन है और विधवा रसिक-गत। पति की वस्तुओं का दर्शन काव्यगत और हलदी के हाथ होना, संसार का रुक जाना अर्थात् चूड़ी पहनना, सुहाग की बिंदी लगाना आदि का अभाव हो जाना काव्यगत उद्दीपन हैं। रुदन आदि अनुभाव और चिन्ता, विपाद आदि संचारी हैं।

अरि हुँ दंत तृण दबहिं ताहि नहिं मार सकत कोइ।
हम संतत तृण चरहिं वचन उच्चरहिं दीन होइ॥
अमृत पय नित स्रवहिं बच्छ महिथंभन जावहिं।
हिंदुन मधुर न देहिं कटुक तुरकहिं नहिं प्यावहिं॥
कह 'नरहरि' सुनु साहपद बिनवत गउ जोरे करन।
केहि अपराध मोहि मारियतु मुयउ चाम सेवत चरन॥

इसमें शाहपद अकबर आलंबन, दूध देने में हिंदू-मुसलमान का भेद न रखना, मरने पर भी पैर की जूती का काम देना उद्दीपन, दीन वचन कहना, प्रार्थना करना अनुभाव और दैन्य, विषाद आदि संचारी हैं। शोक स्थायी भाव है।

श्रम संचारी का पूर्वोक्त सवैया करुण रस का अपूर्व उदाहरण है।

सोलहवीं छाया

हास्य रस

हास्य रस एक अपूर्व भाव की सृष्टि करता है। इसका सम्बन्ध मानसिक क्रिया से है। साधारण हँसी, जो गुदगुदाने आदि से पैदा होती है, भौतिक कहलाती है। हास्य रस की हँसी प्रशस्त और सहृदयात्मक मनोभाव के रूप में होती है। इसमें भी शारीरिक क्रिया अनिवार्य है। फिर भी साधारण हास्य से साहित्यिक हास्य का अधिक महत्त्व है। क्योंकि इसमें बुद्धियोग भी रहता है।

भरत ने शृङ्गार से हास्य की उत्पत्ति मानी है [1]। हास्य चित्त का विकास है जो प्रीति का एक विशेष रूप है [2]। किन्तु हास्य की विस्तृत सीमाक्षेत्र को देखकर उसे केवल शृङ्गार में ही सीमित नहीं किया जा सकता। हास्य के विभावों के मूल में अनौचित्य ही एक कारण है और वह कारण प्रायः सभी रसों के विभाव आदि में हो सकता है। इससे अनौचित्यमूलक रसपरिपोषण से सर्वत्र हास्य रस उत्पन्न हो सकता है [3]। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हास्य का शृङ्गार से अधिक संबंध है। क्योंकि यह प्रिय-चित्तानुरंजक होता है [4]।

कलाकार मानवजीवन की असंगति या विषमता वा विपरीतता आदि से हास्य रस की सृष्टि करके जीवन को उदार आनन्द देने की चेष्टा करता है। यह असंगति इच्छा के साथ अवस्था की, उद्देश्य के साथ उपाय की, कहने के साथ करने की, इच्छा के साथ प्राप्ति की तथा ऐसे ही अन्यान्य विषयों की होती है। यदि अज्ञानी अपने ज्ञान का ढिंढोरा पीटे; डरपोक यदि शेरमार खाँ बनना चाहे, जाहिल अक्लमंदी जाहिर करे; कुटिल सरल बनने का ढोंग रचे तो भला किसको हँसी न आवेगी! बौने, कुबड़े, टेढ़े-मेढ़े व्यक्ति को देखकर हम इसीलिये हँसते हैं कि मनुष्य की आकृति से उसमें

---

१ शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः। भरत सूत्र

२ प्रीतेर्विशेषः चित्तस्य विकासो हास उच्यते। भावप्रकाश

३ अनौचित्य-प्रवृत्तिकृतमेव हि हास्य-विभावत्वम्। तच्चानौचित्यं सर्वरसानां विभावानुभावादौ संभाव्यते। अ० गुप्त

४ शृङ्गाररसभूयिष्ठः प्रियाचित्तानुरंजकः। रससुधाकर

विपरीतता पायी जाती है। दुबले पति की मोटी स्त्री और ठिंगने पुरुष की लंबी पत्नी को देखकर इसीसे हँसते हैं कि इन दोनों में विषमता है। इनका मेल नहीं खाता। बे-जोड़ हैं।

इसके अतिरिक्त हँसी के अन्य भी अनेक कारण हैं। जैसे कुरूप को सुरूप बनने की चेष्टा, ग्रामीणों की ग्रामीणता, बेवकूफ की बेवकूफी, हद से ज्यादा फैशनपरस्ती, बंदर-भालू का तमाशा, अहंमन्यों की अहम्मन्यता, नकल करना आदि। जब हास्य का अवसर आता है तो दूसरों को बनाना आवश्यक हो जाता है जिससे अपने आपको प्रसन्नता होती है।

प्राय: ऐसे लोगों का मजाक उड़ाया जाता है जिनके प्रति हम गुप्त रूप से घृणा रखते हैं। इस प्रकार उपहास करनेवाला अपने को दूसरे से अच्छा समझता है। हास्य का परपीड़न से अधिक सम्बन्ध है। उपहासास्पद जब झेंपता है तो हास के साथ उसकी दीनता से करुणा का भाव जग उठता है, सहानुभूति भी उमड़ पड़ती है। कुछ हास ऐसा भी होता है जो झेंपनेवाले को भी उसमें सम्मिलित कर देता है।

पर-पीड़ा-दायक ही हास हो सो बात नहीं। शिशु सदा हँसता रहता है। उसके हँसने के कारण का अन्त नहीं। भले ही उसे 'अनिमित्त' हास्य कहा जाय। धनलाभ, यशोलाभ, मित्रलाभ, विजयलाभ आदि में केवल आनन्द ही आनन्द नहीं, उनमें हँसी भी आती है। बिछुड़े हुए मित्र से हम हँसते हुए ही मिलते हैं। पर इस प्रकार की हँसी में आनन्द की वह उत्कटता नहीं जो दूसरों को दुःख पहुँचाने की दृष्टि से हँसी की जाती है। पर वेदनाशून्य हास्य में ही मनुष्य का बुद्धिकौशल देखा जाता है।

संक्षेप में हास्यरस विकृत आकार, वचन, वेश, चेष्टा आदि से उत्पन्न होता है[1]। यही कारण है कि अंग्रेजों के हिन्दी बोलने पर, बंदर के तमाशे पर, विदूषक के शरीर, वेश, भूषण, आचरण आदि पर हँसी आती है।

---

[1] विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत्। सा० द०

सत्रहवीं छाया

हास्य के रूप-गुण

हास एक सहज प्रवृत्ति है और है उपजनेवाली। यह एक प्रकार की क्रीड़ा प्रवृत्ति भी मानी जाती है। दो महीने के बच्चे में हँसी की झलक पायी जाती है। पाँच महीने के बाद तो उसका स्पष्ट रूप देख पड़ता है। यह स्थिर वृत्ति है। असंगति से इसकी पुष्टि होती रहती है। यह आनन्द, आवेग, मात्सर्य्य, चापल्य आदि भावनाओं से भरी रहती है। इसीसे यह शरीर-मानस-प्रक्रिया है। स्पेंसर का मत है कि शरीर-व्यापार में ज्ञानतन्तुओं की उत्साहशक्ति उच्छ्वसित हो उठती है वही हास्य[1] है। हँस पड़ने का कोई समय नहीं, कोई निश्चित विषय नहीं। उसके एक नहीं, अनेक कारण हो सकते हैं।

इसके कई प्रकार हैं। उनमें हास्य (Humour) वाक्चातुरी (Wit) व्यंग्य (Irony) और वक्रोक्ति (satire)।

हास्य समस्त अनुभूति को आन्दोलित करता है। इससे प्रशस्त आनन्द फूटा पड़ता है। इसमें व्यंग्य बाण का आघात नहीं रहता। करुणरस में इसका जब परिपाक होता है तब इसकी गंभीरता और बढ़ जाती है। हिन्दी में उच्च और गंभीर हास्य रस का प्रायः अभाव-सा है। 'चौबे का चिट्ठा' का नाम लिया जा सकता है। एक-दो और भी हैं जो बँगला के अनुवाद ही हैं।

विट की सृष्टि करने में वही लेखक समर्थ हो सकता है जो तीक्ष्ण बुद्धि का हो और कल्पना-पटु। शब्दकौशल पर उसका अधिकार होना आवश्यक है[2]। जैसे, 'प्रयाग में बाल-सुधार-समिति बनी है। उसके पदाधिकारी भी चुने गये। उसमें कोई नाई नहीं देख पड़ता। बाल-सुधार-समिति में इसका अभाव खटकता है'। ऐसे ही सुन्दर चुटकुले इसके उदाहरण हो सकते हैं। उनके सुनने से मुसकाये बिना नहीं रहा जा सकता।

---

1. Laughter is merely an overflow of surplus nervous energy.
2. "A person always seeks the ingenious and the remote when he wants to be wetty."

विट को हाजिरजवाबी कहते हैं। जैसे, 'मालिक ने नौकर से कहा कि तू भारी गधा है। नौकर ने छूटते ही कहा 'आप मा-बाप हैं।' मालिक लज्जित होते हुए भी मुस्कुराये।

व्यंग्यविद्रूपकारी लेखक किसी पक्ष का अवलंबन नहीं करता। वह एक परोक्ष भाव का इंगित कर देता है। जैसे, 'सुना जाता है कि सप्लाई विभाग के सभी घूसखोर अफसर हटाये जायँगे। दूसरे शब्दों में सप्लाई विभाग बंद कर दिया जायगा।' इसमें व्यंग्य यह है कि कोई भी ऐसा अफसर नहीं जो घूसखोर न हो। 'विजया' वा 'दत्ता' उपन्यास में 'रासविहारी' की भगवद्भक्ति में हीन स्वार्थ-लोलुपता की जो छींटाकशी है वह इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

वक्रोक्ति (Satire) के दो—(क) काकु (Hightened) (ख) श्लेष (Fun) भेद हैं। जैसे, काकु—'आप तो पुरुषार्थी हैं।' इसपर कोई यह कह बैठे कि 'यही क्यों, परम पुरुषार्थी कहिये' तो इसपर हँसी आये बिना न रहेगी। श्लेप—कोई कहे कि आजकल मैं 'बेकार हूँ'। इसपर दूसरा कहे कि 'एक कार खरीद लें' तो हँसी बरबस आ जायगी।

जैसे उछलना, कूदना, ताली पीटना आदि प्रसन्नता के सूचक चिह्न हैं वैसे ही हँसना भी इसका एक सूचक प्रकार है। हास्य मनुष्य को दुखी होने से बचाये रखता है। सेन का कथन है—हार्दिक हँसना ऐसा है जैसे मकान में सूर्योदय होना। A good laughter is a sun-rise in a house. हास्य से स्वास्थ्य पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है। हास्य से समाज-सुधार भी होता है। आज के हास्यप्रधान पत्र, कविता, चुटकुले आदि सुधार के अच्छे कार्य कर रहे हैं। थैकरे का कहना है—'हास्य-प्रिय लेखक आपके असत्य, दम्भ और कृत्रिमता के प्रति अश्रद्धा तथा दरिद्रों, दलितों और दुखियों के प्रति कल्याण-कामना, करुण, प्रेम और दयालुता के भावों को जाग्रत कर उनकी उचित दिशा का निर्देश करता है। हास्यप्रिय साहित्यिक उदार, सहसा सुख दुःख से प्रभावित तथा अपने पार्श्ववर्ती पुरुषों के स्वभाव की विविधताओं के ज्ञाता होने के कारण उनकी हँसी, प्रीति, विनोद और रुदन में समवेदना प्रगट करता है। उत्तमोत्तम

परिहास वही होता है जिसमें कोमलता और कृपालुता की मात्रा अधिक रहती है।'*

सुरुचि-परिचायक हास्य सर्वोत्तम होता है।

अठारहवीं छाया

हास्यरस-सामग्री

जहाँ विकृत वेषभूषा, रूप, वाणी, अंगभंगी आदि के देखने-सुनने से हास स्थायी भाव परिपुष्ट हो वहाँ हास्य रस होता है।

आलंबन विभाव—विकृत वा विचित्र वेषभूषा, व्यंगभरे वचन, उपहासास्पद व्यक्ति की मूर्खताभरी चेष्टा का दर्शन या श्रवण, व्यक्ति-विशेष के विचित्र बोलने-चालने का अनुकरण, हास्योत्पादक वस्तुयें, छिद्रान्वेषण, निर्लज्जता आदि।

उद्दीपन विभाव—हास्यवर्द्धक चेष्टायें।

अनुभाव—कपोल और ओठ का स्फुरित होना, आँखों का मिचना, मुख का विकसित होना, पेट का हिलना आदि हैं।

संचारी भाव—अश्रु, कंप, हर्ष, चपलता, श्रम, अवहित्था, रोमांच, स्वेद, असूया, निर्लज्जता आदि।

स्थायी भाव—हास।

'हास' स्थायी भाव और 'हास्य' रस में नाममात्र का ही अन्तर है। हास हास्य रस का पूर्णतः प्रदर्शन नहीं करता। हास विनोद भावना का एक रूप है। अतः इसके स्थान पर विनोद को स्थायी भाव माना जाय तो किसी प्रकार की नीरसता नहीं आ सकती।

---

* The humorous writer professes to awaken and direct your love, your pity, your kindness, your scorn for untruth, pretension, imposture for tenderness, for the weak, the poor, the oppressed, the unhappy. A literary man of the humorous turn is pretty sure to be of a philanthropic nature, to have a great sensibility to be easily moved to pain or pleasure, keenly to appreciate the varieties of temper of people round about him, and sympathise in their laughter, love, amusement and tears. The best humour is that which is flavoured throughout with tenderness and kindness.

हास्य दो प्रकार का होता है—आत्मस्थ और परस्थ। जब स्वयं हँसता है तो आत्मस्थ और दूसरे को हँसाता है तो वह परस्थ[1] है। इसमें दूसरा मत भी है। हास्य के विषय को देखने से जो हास्य होता है वह आत्मस्थ और दूसरे को हँसता देखकर जो हास्य होता है वह परस्थ[2] है।

प्रकारान्तर से इसके छः भेद होते हैं—(१) स्मित (२) हसित (३) विहसित (४) अवहसित (५) अपहसित और (६) अतिहसित। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

> बिन्ध्य के वासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारी दुखारे।
> गौतम तीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे॥
> ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
> कीन्हीं भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥

काव्यगत रस-सामग्री—इसमें रामचन्द्रजी आलंबन विभाव हैं और गौतम की नारी का उद्धार उद्दीपन विभाव। मुनियों की कथा सुनना आदि अनुभाव और हर्ष, उत्सुकता, चंचलता आदि संचारी भाव हैं। इनसे परिपुष्ट होकर हास स्थायी भाव हास्य रस में परिणत होता है।

रतिकगत रससामग्री—कवि आलंबन है और कवि का वर्णन उद्दीपन, मुखविकास आदि अनुभाव और हर्ष, कंप आदि संचारी हैं।

तुलसीदासजी का यह व्यंग्यात्मक उपहास उनके ही उपयुक्त है। अपने आराध्य देव के साथ ऐसा मार्मिक परिहास करने में वे ही समर्थ थे। पत्नीहीन मुनियों को चन्द्रमुखी-प्राप्ति के विचित्र स्रोत की उद्भावना से किसका मानसकमल खिल न उठेगा!

> नीच हौं निकाम हौं नराधम हौं नारकी हौं,
> जैसे तैसे तेरे हौं अनत अब कहाँ जाँव।
> ठाकुर हौ आप हम चाकर तिहारे सदा,
> आपुको विहाय कहौ मोको और कौन ठाँव।
> गज की गुहार सुनि धाये निज लोक छाँड़ि,
> 'चचा' की गुहार सुनि भयो कहाँ फील पाँव।

---

१ यदा स्वयं हसति तदात्मस्थः। यदा तु परं हासयति तदा परस्थः।

नाट्य शास्त्र

२ आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावेक्षणमात्रतः। हसन्तमपरं दृष्ट्वा विभावश्चोपजायते। योऽसौ हास्यरसः तज्ज्ञैः परस्थः परिकीर्तितः। **रसगंगाधर**

गनिका अजामिल के औगुन न गन्यो नाथ,
लाखन उबारि अब काँकत हमारे दाँव।

इसमें चचा के नाम आलम्बन, औगुन न गिनना आदि उद्दीपन, लाखों का उधारना अनुभाव और दीनता, विषाद आदि संचारी हैं।

गोपी गुपाल कौं बालिका कै वृषभानु के भौन सुभाइ गईं।
'उजियारे' बिलोकि बिलोकि तहाँ हरि राधिका पास लिवाइ गईं।
उठि हेली मिलो या सहेलि सो यों कहि कंठ से कंठ लगाइ गईं।
भरि भेंटत अंक निसंक उन्हें वे मयंकमुखी मुसुकाइ गईं॥

सखियाँ गुपाल को बालिका बनाकर लायीं और राधिका उन्हें बालिका समझ गले-गले मिलीं। इस पर सखियाँ सब हँस पड़ीं। इनको हँसती देख राधाकृष्ण भी अपनी हँसी रोक न सके। यही चमत्कार है और हास्यरस की व्यञ्जना भी। यहाँ का स्वशब्द-वाच्य मुस्कुराना सखी-परक है। राधाकृष्ण का हास्य तो व्यंग ही है। यहाँ पर-निष्ठ हास्य है।

परिहासरूप में भी कविता का अनुकरण (Parody) होने लगा है। जैसे,

घन घमंड नभ गरजत घोरा, टका हीन कलपत मन मोरा।
दामिनि दमकि रही घनमाँही, जिमि लीडर की मति थिर नाहीं॥

ईश्वरीप्रसाद शर्म्मा

हास्य रस मानसिक गम्भीरता को सरलता में परिणत कर उत्फुल्लता ला देता है।

उन्नीसवीं छाया

वीभत्स रस

नव रसों में वीभत्स रस की गणना बहुतों को अमान्य है। क्योंकि यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वीभत्स रस को लेकर या उसको प्रधानता देकर किसी काव्य की रचना नहीं की गयी। अन्य रसों की भाँति यह उतना सहृदयावर्जक नहीं समझा गया। किन्तु कितनों का कहना है कि अनेकों संचारियों की अपेक्षा इसके आस्वाद की उत्कटता बढ़ी-चढ़ी है और इसकी विचित्रता भी

ऐसी है जिससे मुँह मोड़ा नहीं जा सकता। यही कारण है कि रसों की पंक्ति में यह भी आ बैठा है।

वीभत्स के लिये यह आवश्यक नहीं कि मसान, शव, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि आदि का ही वर्णन हो। ऐसी वस्तुयें भी वीभत्सित हैं, जिनके देखने, स्मरण में लाने, कल्पना करने से हिचक हो, घृणा हो। ऐसी वस्तुयें जिन्हें छूना न चाहें, जैसे कि सड़ीगली चीजें; अस्पृश्य पदार्थ; गंदे देहाती सूअर आदि जीव; ऐसे खाद्य पदार्थ, जिनके खाने में संस्कारवश प्रवृत्ति न हो, जैसे मांस-मछली आदि; ऐसे रोगी जिनके संसर्ग से अपने में रोग के संक्रमण की संभावना हो, जैसे कि यक्ष्मा के रोगी; आदि वीभत्स रस के विभाव हो सकते हैं। जिस वस्तु से घृणा हो वही वीभत्स का विषय बन जाता है। एक शारीरिक वा वाह्य जुगुप्सा का उदाहरण देखें—

लोहे के जेहरि लोहे की तेहरि लोहे की पाँव पयेंजनी गाढ़ी।
नाक में कौड़ी औ कान में कौड़ी त्यौं कौड़िन की गजरा अति बाढ़ी,
रूप मैं वाको कहाँ लौं कहौं मनो नील के माठ में बोरि कै काढ़ी।
ईंट लिये बतराति भतार सों भामिनी भौन में भूत-सी ठाढ़ी॥

शारीरिक जुगुप्सा से ही मानसिक जुगुप्सा भी होती है। इनका अन्योन्याश्रय-सा है। पर मानसिक जुगुप्सा का महत्त्व अधिक है। मानसिक जुगुप्सा के कारण ही हम दुष्टों की दुष्टता पर उसकी भर्त्सना करते हैं और अन्यायी की अनीति पर उसका तिरस्कार करते हैं। दुर्गुणों से दूर रहने, अकार्य करने, दु:संग त्यागने, अस्थान में न बैठने-उठने आदि में घृणा की भावना ही तो काम करती है। कवि के इस कथन में

हा! बन्धुओं के ही करों से बन्धुगण मारे गये!
हा! तात से सुत, शिष्य से गुरु सहठ संहारे गये!
इच्छारहित भी वीर पाण्डव रत हुए रण में अहो!
कर्तव्य के वश विज्ञ जन क्या-क्या नहीं करते कहो? गुप्तजी

पाण्डवों के 'इच्छा-रहित' कहने का कारण क्या है? वही घृणा। क्योंकि वे अपने गुरुजनों के घात आदि को घृणित कार्य समझते थे। यहाँ मानसिक घृणा का ही साम्राज्य है। ऐसा न होता तो अर्जुन श्रीकृष्ण से यह कैसे कहते कि महानुभाव गुरुजनों को न मारकर इस संसार में भीख माँगकर खाने को अच्छा समझता हूँ। क्योंकि

गुरुजनों को मारकर भी इस लोक में रुधिर से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगों को ही तो भोगूँगा [1]।

यह सिनेमा में प्रत्यक्ष अब दिखलाया जाने लगा है कि कोई दुखियारी कैसे पहाड़ पर से कूद पड़ती है, उछलती-कूदती दरिया में जा डूबती है ? घटनाओं पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह जीवन से अब ऊब गयी है। उसको जीवन के प्रति ऐसी घृणा हो गयी है कि उससे मुक्ति पाना ही श्रेयस्कर समझती है। उसे शोक है, पर उसकी जीवन के प्रति जुगुप्सा कम नहीं है।

ऐसे स्थानों में वीभत्स रस ऐसा होता है जिससे कोई नाक-भौं नहीं सिकोड़ सकता। इसकी सरसता में कोई सन्देह नहीं। भले ही इसके आधार पर कोई काव्य न लिखा गया हो। जहाँ मसान, रक्त, मांस आदि का वर्णन होता है वहाँ उसका भी साहित्यिक रूप होने से उसमें आनन्ददायकता आ जाती है। क्योंकि वास्तविकता के अनुभव से यह विपरीत हो जाता है।

यहाँ यह ध्यान में रहे कि जुगुप्सा और अश्लीलता, दोनों एक नहीं। अश्लीलता शृङ्गार रस में संभव है। वहाँ वह घृणा उत्पन्न नहीं करती या वह स्वतः जुगुप्सा का रूप धारण नहीं करती। अश्लीलता मर्यादा का उल्लंघन है। किन्तु घृणा ऐसी नहीं, उसका कार्य ही घृणा उत्पन्न करना है। यह बात अश्लीलता के लिये आवश्यक नहीं।

जुगुप्सा की मूलभूतता मान्य नहीं है। यद्यपि छोटे-छोटे बच्चों में भी यह देखा जाता है कि वे घुट्टी नहीं पीते, कोई-कोई चीज नहीं खाते, किसी-किसी चीज से मुँह बिचका लेते हैं तथापि मूलभूतता के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं माना जाता। फिर भी यही मनोवृत्ति समय पाकर घृणा का रूप धारण कर लेती है।

वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा है। इसकी प्रवृत्ति सुरक्षा की भावना से होती है। भय में भी सुरक्षा की प्रवृत्ति है पर उसमें पलायन की प्रबलता है और वीभत्स में पलायन की नहीं, दूरीकरण की कामना होती है। ज्ञात होता है, जैसे घृणित वस्तु शरीर में पैठती हो या पैठ गयी हो तो कै करके बाहर कर दी जाय। हीन संसर्ग के

---

1 गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके। हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ गीता

त्याग जैसे विषयों में दोनों प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। भयानक में शक्ति केन्द्रीभूत हो जाती है, उसकी अधिकता भी प्रकट हो जाती है पर वीभत्स में शक्ति बिखर जाती है और उसका ह्रास हो जाता है। 'मालती-माधव' नाटक में जो श्मशान का वर्णन है उसमें वीभत्स रस के साथ भयानक रस की भी मात्रा विद्यमान है।

अधिकांश उदाहरणों पर दृष्टिपात करने से यह पता लगता है कि यह वीभत्स रस रस की नहीं, भाव की योग्यता रखता है। उक्त नाटक में वीभत्स रस माधव के वीर रस का, सत्य हरिश्चन्द्र नाटक का श्मशान-वर्णन करुण का, कादंबरी में चांडाल की बस्ती का वर्णन अद्भुत का, तुलसी आदि भक्तों का मानव देह का जुगुप्सात्मक वर्णन शान्त रस का पोषक है। 'वैराग्य-शतक' के अनेक श्लोक वीभत्स रस के उदाहरण हैं जो भर्तृहरि के वैराग्य को ही पुष्ट करते हैं। प्रसंगतः किसी-न-किसी प्रकार का वीभत्स मुख्य रस का सहायक होकर ही आया है। स्फुट पद्यों में भी वीभत्स रस भाव के रूप में आता है। जैसे,

आवत गलानि जो बखान करौं ज्यादा वह
मादा मलमूत और मजा की सलीती है।
कहै 'पदमाकर' जरा तो जाग भीजी तब
छीजी दिन-रैन जैसे रेनु ही की भीती है।
सीतापति राम में सनेह जदि पूरो कियो
तौ-तौ दिव्य देह जमजातना सो जीती है।
रीती रामनामतें रही जो बिना काम वह
खारिज खराब हाल खाल की खलीती है।

यहाँ शरीर की वीभत्सता वर्णित है पर वह रामविषयक रति का ही पोषक है। अतः यहाँ जुगुप्सा स्थायी न होकर संचारी है।

ऐसे स्थानों की जुगुप्सा 'विवेकजा' होती है। क्योंकि विवेकी—ज्ञानी सांसारिक पदार्थों को—शरीर, स्त्री, सम्पदा आदि को, घृणा की दृष्टि से जो देखते हैं वह वैराग्य को उद्दीपित करती है। दूसरी जुगुप्सा 'प्रायिकी' होती है जिसमें घृणित पदार्थों का वर्णन होता है। अधिकांश उदाहरण इसी भेद के दिये जाते हैं।

बीसवीं छाया

वीभत्स-रस-सामग्री

घृणित वस्तु के देखने या सुनने से जहाँ घृणा या जुगुप्सा का भाव परिपुष्ट हो वहाँ वीभत्स रस होता है।

आलंबन विभाव—श्मशान, शव, चर्बी, सड़ा मांस, रुधिर, मल-मूत्र, दुर्गंध द्रव्य, घृणोत्पादक वस्तु और विचार आदि।

उद्दीपन विभाव—गीधों का मांस नोचना, मांसभक्षी जीवों का मांसार्थ युद्ध, कीड़े-मकोड़ों का बिलबिलाना, आहत आत्मीय का छटपटाना, कुत्सित रंग-रूप आदि।

संचारी भाव—आवेग, मोह, व्याधि, जड़ता, चिन्ता, वैवर्ण्य, उन्माद, निर्वेद, ग्लानि, दैन्य आदि।

स्थायी भाव—जुगुप्सा।

> गोल कपोल पलट कर सहसा बने भिड़ों के छत्ते से।
> हिलने लगे उष्ण-श्वाँसों से ओठ लपालप लत्तों से॥
> कुन्द कली से दाँत हो गये बढ़ वराह की डाढ़ों से।
> विकृत भयानक और रौद्र रस प्रकटे पूरी बाढ़ों से॥
> जहाँ लाल साड़ी थी तन में बना चर्म का चीर वहाँ।
> हुए अस्थियों के आभूषण थे मणिमुक्ता हीर जहाँ॥
> कंधों पर के बड़े बाल वे बने अहो आँतों के जाल।
> फूलों की वह वरमाला भी हुई मुण्डमाला सुविशाल॥ गुप्तजी

काव्यगत रस-सामग्री—शूर्पणखा की कामलिप्सा आलंबन, भिड़ों के छत्तों से कपोलों का हो जाना आदि उद्दीपन, उसकी भयानक चेष्टायें अनुभाव और मोह, वैवर्ण्य, ग्लानि आदि संचारी भाव हैं। इनसे परिपुष्ट जुगुप्सा भाव वीभत्स रस में परिणत होता है।

रसिकगत रस-सामग्री—शूर्पणखा आलंबन, वर्णन उद्दीपन' नाक-भौं सिकोड़ना, थू थू करना अनुभाव और मोह आदि संचारी हैं।

> सिर पर बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत।
> खींचत जीभहिं स्यार अतिहिं आनँद उर धारत॥

गीध जाँघ को खोदि खोदि कै मांस उपारत।
स्वान आँगुरिन काटि-काटि कै खात बिदारत॥
बहु चील नोच लै जात नुच मोद भरयो सबको हियो।
मनु ब्रह्म भोज जजिमान कोउ आज भिखारिन कँह दियो॥ हरिचंद

मुर्दों की हड्डी, मांस, चमड़ा आदि (श्मशान का दृश्य) आलंबन, शव के अंगों का काक आदि के द्वारा नोचना, खोदना, फाड़ना, खाना आदि उद्दीपन, श्मशान का दृश्य देखकर राजा का इनके बारे में सोचना अनुभाव और मोह, स्मृति, ग्लानि आदि संचारी तथा राजा के मन में उठनेवाला घृणा का भाव स्थायी है। इनसे वीभत्सरस व्यङ्गय है।

औंड़े मुख लार बहे आँखिन में ढीढ़ राधि—
कान में सिनक रेंट भीतन पै डार देति।
खुर्र खर्र खरचि खुजावै मटुका सो पेट,
टूढ़ी लौ लटकते कुचन को उघार देति॥
लौटि लौटि चीन घाँघरे की बार बार फिरि
बीनि बीनि ढींगर नखन धरि मारि देति।
लूँगरा गँधात चढ़ी चीकट सी गात मुख,
धोवै ना अन्हात प्यारी फूहड़ बहार देति॥ शंकर

फूहड़ नारी आलंबन, लार बहना, कीचड़ निकलना उद्दीपन, नेटा सिड़ककर भीत पर डालना अनुभाव, वैवर्ण्य, दैन्य आदि संचारी हैं।

इक्कीसवीं छाया

शान्त रस

भरत ने 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' कहकर शान्त रस को पृथक् कर दिया। इसका कारण यह कि प्रथम-प्रथम जो काव्य-चर्चा प्रारम्भ हुई वह नाटक को लेकर ही। शान्त रस के अभिनय में निःक्रियता उत्पन्न हो जाती है। अभिनेता शान्त रस का जब अनुभव करने लगता है नट-चेष्टा बंद-सी हो जाती है। इस रस में मन का कोई विकार नहीं रह जाता—न क्षोभ न उद्वेग। चित्त में शान्ति आ जाती है। इसीसे किसी ने शान्त को रस ही न

माना[1]। शम को भी किसी-किसीने रस माना है पर नाटक में इसकी पुष्टि नहीं होती[2]। यह कहना ठीक नहीं। नाटक-सिनेमा में शान्त रस के अच्छे-से-अच्छे अभिनय दिखाये जाते हैं। चित्त की शान्ति में भी मानसिक क्रियायें बंद नहीं होतीं। ब्रह्मज्ञानी, योगी समाधि की अवस्था में निर्व्यापार हो जाते हैं पर निर्व्यापार की भी यथार्थता का प्रदर्शन योग्य होती है। क्या शंकर, शुक, ध्रुव, प्रह्लाद आदि की तपस्या का अभिनय यथार्थ नहीं होता? नट तो व्यक्ति-विशेष की अवस्था-विशेष का अभिनय करता है। उस अवस्था का वह उपभोक्ता नहीं बन जाता। रसोपभोक्ता तो सहृदय दर्शक ही होते हैं।

कोई यह कहे कि शान्त रस सर्वजन-सुलभ नहीं। इससे उसका निराकरण कर देना चाहिये। यह उचित नहीं[3]। यदि ईश्वर सर्वजन-सुलभ नहीं तो क्या उसकी सत्ता संशयास्पद मान ली जायगी? शुकदेवजी ने रंभा का तिरस्कार कर दिया तो शृङ्गार रस की उपेक्षा कर देनी चाहिये। कितनों का कहना है कि भरत ने जो शान्त को रस न माना उसका कारण यह है कि भाव में निर्वेद की गणना कर दी और उसे स्थायी भाव न माना। इसीसे उसे रसत्व प्राप्त नहीं हुआ।

मम्मट आदि अनेक आचार्यों ने 'निर्वेद' को ही शान्तरस का स्थायी भाव माना है। उन्होंने इसके दो रूप माने हैं। विषयों में तत्त्वज्ञान से जहाँ निर्वेद उत्पन्न होता है वहाँ स्थायी होता है और जहाँ इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-प्राप्ति से निर्वेद उत्पन्न होता है वहाँ संचारी होता है[4]। भरत ने जो विभाव दिये हैं उनसे भी यही विदित होता है कि रोग, शोक, दरिद्रता, अपमान जैसे क्षुद्र विभावों द्वारा उत्पन्न निर्वेद संचारी ही होता है।

शान्त रस के स्थायी एक नहीं, अनेक माने गये हैं। किसीने विस्मय-शम को माना है। दूसरे ने उत्साह को माना है। किसी ने

---

१ शान्तस्य निर्विकारत्वात् न शान्तं मेनिरे रसम्।

२ शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य। द० रू०

३ यदि नाम सर्वजनानुभव-गोचरता तस्य नास्ति नैतावतासौ···प्रतिक्षेप्तुं शक्यः। ध्वन्यालोक

४ स्थायी स्याद्विषयेष्वेव तत्वज्ञानोद्भवो यदि। इष्टानिष्ट वियोगाप्ति-कृतस्तु व्यभिचार्यसौ। संगीत रत्नाकर

जुगुप्सा को और किसी ने सभी को स्थायी माना है। किन्तु तत्त्वज्ञानोत्पन्न निर्वेद ही इसका स्थायी है[१]। भोज ने धृति को स्थायी भाव माना है।

विस्मय तो सभी रसों का संचारी है उसको एक स्थान पर संकुचित कर लेना ठीक नहीं। शम का नाम ही एक प्रकार से निर्वेद है। शम को एक भाव मान लेने से भरत के माने हुए भावों की ४९ संख्या में वृद्धि हो जायगी। इससे शम-स्थायी-भावात्मक शान्त नहीं है। धृति आदि में विषयोपभोग विद्यमान रहता है, इससे वह शान्त का स्थायी कैसे हो सकता है। जुगुप्सा में चित्त की ग्लानि ही ग्लानि है। जुगुप्सा-जनित त्याग त्याग नहीं। इससे इसे शान्त रस के स्थायी होने की योग्यता प्राप्त नहीं हो सकती। इससे निर्वेद ही को यह गौरव प्राप्त है।

आनन्दवर्द्धन शान्त रस को तो मानते हैं पर उसका स्थायी भाव 'तृष्णाक्षय' मानते हैं[२]। फिर भी यह कहा जा सकता है कि तृष्णाक्षय-रूप ही तो शम या निर्वेद है।

निर्वेद तत्त्वज्ञानमूलक है अतः वह तत्त्वज्ञान का विभाव है। अतः मोक्ष का कारण निर्वेद नहीं, तत्त्वज्ञान ही है। इससे तत्त्वज्ञान में शान्त रस के स्थायी होने की योग्यता है। अतः अभिनव गुप्त कहते हैं कि शान्त का स्थायी भाव तत्त्वज्ञान है और तत्त्वज्ञान का अभिप्राय आत्मज्ञान है। वही मोक्ष का साधन[३] है। किन्तु भरत से लेकर पण्डितराज तक प्रायः सबों ने निर्वेद को ही स्थायी माना है। कारण यह कि निर्वेद से भी शान्ति की प्राप्ति होती है और उससे शान्त रस पुष्ट होता है।

भरत ने शान्त रस का यह रूप खड़ा किया है—जहाँ न दुःख है, न सुख है, न द्वेष है, न मात्सर्य है और जहाँ पर सब प्राणियों में

---

१ तत्र शान्तस्य स्थायी विस्मय-शम इति कैश्चित्पठितः। उत्साह एवास्य स्थायी इत्यन्ये। जुगुप्सेति कश्चित्। सर्व इत्येके। तत्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायी।

नाट्य शास्त्र

२ शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव।

ध्वन्यालोक

३ इह तत्वज्ञानमेव तावन्मोक्षसाधनमिति तस्यैव मोक्षे स्थायिता युक्ता। तत्वज्ञानं नाम आत्मज्ञानमेव।

नाट्य शास्त्र

सम भाव है वहाँ शान्त रस होता[1] है। यदि शान्त का ऐसा रूप माना जाय तो मुक्ति-दशा में ही परमात्म-स्वरूप शान्त रस हो सकता है। उस समय विभाव आदि का ज्ञान होना संभव नहीं और इनके बिना शान्त रस की सिद्धि ही कैसे हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि युक्तदशा अर्थात् योगी के ध्यानमग्न होने की अवस्था, वियुक्त अर्थात् योगी को योगसिद्धियाँ प्राप्त हो जाने की अवस्था और युक्त-वियुक्त अर्थात् योगी के अतीन्द्रिय विषयों के ज्ञान की अवस्था में जो शम रहता है वही शान्त रस का स्थायी भाव[2] है। मोक्ष दशा का शम यहाँ अभीष्ट नहीं है। उक्त अभीष्ट शम में संचारी आदि का होना संभव है।

शान्तरस में सुख का जो अभाव कहा गया है वह विषय-सुख का अभाव है। उस समय किसी प्रकार सुख होता ही नहीं, सो बात नहीं है। तृष्णा-क्षय का जो सुख है वह सर्वोपरि है, जैसा कहा गया है। संसार में जो काम-सुख—विषयजन्य सुख है और जो स्वर्ग आदि का दिव्य महासुख है, ये सब सुख मिलकर भी तृष्णाक्षय—शान्ति से उत्पन्न सुख के सोलहवें हिस्से की भी बराबरी नहीं कर सकते[3]।

अन्यान्य रसों में लौकिक विषयों को लेकर अनुभूति होती है और वह नित्य-व्यवहार-मूलक होती है। पर शान्त रस की अनुभूति उनसे निराली होती है और वह नित्य-व्यवहार-मूलक नहीं होती। अन्य रस लौकिक होने से प्रवृत्ति-मूलक और शान्त रस पारलौकिक होने से निवृत्ति-मूलक है। प्रवृत्ति का विश्लेषण जितना सहज है उतना निवृत्ति का नहीं। यह बड़ा ही कठिन है। इसके दार्शनिक विचार बड़े ही सूक्ष्म और बोधगम्य हैं। इनका मतभेद तो इसे और जटिल बना देता है।

आधुनिक युग अशान्ति की ओर ले जाता है और चाहता है

---

१ न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः। समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः। —नाट्य शास्त्र

२ युक्त-वियुक्त-दशायामवस्थितो यः शमः सएव यतः। रसतामेति तदस्मिन्सं-चार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा। —साहित्यदर्पण

३ यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशी कलाम्। —ध्वन्यालोक

परलोक को भुला देना। देहात्मवाद परमात्मा की ओर प्रवृत्ति होने नहीं देता। आज धर्मप्राण भारत को कर्मयोग के साथ शान्त रस की भी आवश्यकता है।

बाइसवीं छाया

शान्त-रस-सामग्री

संसार से अत्यन्त निर्वेद होने पर या तत्त्व ज्ञान द्वारा वैराग्य का उत्कर्ष होने पर शान्त रस की प्रतीति होती है।

आलंबन—संसार की असारता का बोध या परमात्मतत्त्व का ज्ञान।

उद्दीपन—सज्जनों का सत्संग, तीर्थाटन, दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, पुराण का अध्ययन, सांसारिक झंझटें आदि।

अनुभाव—दुखी दुनिया को देखकर कातर होना, झंझटों से घबड़ाकर संसार-त्याग की तत्परता आदि।

स्थायी भाव—निर्वेद वा शम।

संचारी भाव—धृति, मति, हर्ष, उद्वेग, ग्लानि, दैन्य, असूया, निर्वेद, जड़ता आदि।

बोले मुनि यों चिता की ओर हाथ कर
देखो सब लोग अहा क्या ही आधिपत्य है।
त्याग दिया आप अजनन्दन ने एक साथ
पुत्र हेतु प्राण सत्य कारण अपत्य है।
पा लिया है सत्य शिव सुन्दर सा पूर्ण लक्ष्य
इष्ट सब हमको इसी का आनुगत्य है।
सत्य है स्वयं ही शिव राम सत्य सुन्दर है
सत्य काम सत्य और राम नाम सत्य है। गुप्तजी

काव्यगत रस-सामग्री—दशरथ का प्राण-त्याग आलंबन, चिता का निर्देश आदि उद्दीपन, सब लोगों का कातर होना अनुभाव, 'राम-नाम सत्य है' के निर्णय से मति, धृति आदि संचारी तथा निर्वेद स्थायी है। इनसे शान्तरस व्यञ्जित होता है।

रसिकगत रस-सामग्री—संसार की असारता आलंबन, उपदेश रूप में उक्ति उद्दीपन, मन में विमल बुद्धि का होना अनुभाव, धृति, मति, ग्लानि आदि संचारी तथा निर्वेद स्थायी हैं।

जानि पर्‌यो मोको जग असत अखिल यह
ध्रुव आदि काहू को न सर्वदा रहत है।
या ते परिवार व्यवहार जीतहारादिक
त्याग करि सब ही विकसि रह्यो मन है।
'ग्वाल' कवि कहै मोह काहू मैं रह्यो न मेरो
क्योंकि काहू के न संग गयो तन धन है।
कीन्ह्यो मैं विचार एक ईश्वर ही साथ नित्य
अलख अपरंपार चिदानंदघन है।

इसमें संसार की असारता आलंबन, किसी का न रहना, तन, धन का साथ न जाना उद्दीपन, परिवार आदि का छोड़ना, मोह न रहना अनुभाव और मति, धृति, आदि संचारी हैं।

बन बितान रबि ससि दिया फल भख सलिल प्रवाह।
अवनि सेज पंखा पवन अब न कछू परवाह। प्राचीन

यहाँ लौकिक सुख की क्षणभंगुरता आलंबन, प्राकृतिक सुख को बिना प्रयास ही प्राप्त कर लेना आदि उद्दीपन, वक्ता की निःस्पृहता-सूचक उक्ति तथा चिन्ताविहीन होना अनुभाव और धृति, मति, औत्सुक्य, हर्ष आदि संचारी हैं। इनसे परिपुष्ट निर्वेद से शान्त रस ध्वनित होता है।

जमुना पुलिन कुंज गहवर की कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पद पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै मधुरे-मधुरे गूँज सुनाऊँ॥
कूकुर ह्वै बनबीथिन डोलौं बचे सीथ संतन के पाऊँ।
'ललित किशोरी' आस यही मम ब्रजरज तजि छिन अनत न जाऊँ॥

इस प्रकार के वर्णन में देव-विषयक रति भाव की ही प्रधानता रहती है शान्त रस को नहीं।

तेइसवीं छाया

भक्तिरस

कुछ प्राचीन आचार्यों ने भक्ति की सरसता की ओर ध्यान नहीं दिया। जिन्होंने ध्यान दिया उन्होंने भावों में इसका अन्तर्भाव कर दिया। वे भाव हैं स्मृति, मति, धृति और उत्साह। सार यह कि शान्त रस में ही यह प्रविष्ट[1] है। रसगंगाधरकार का शंका-समाधान यह है—

भगवद्भक्त भागवत आदि के श्रवण से जो भक्ति रस का अनुभव करते हैं वह उपेक्षणीय नहीं है। उस रस का आलंबन भगवान् पुराणादि-श्रवण उद्दीपन, रोमांच आदि अनुभाव तथा हर्ष आदि संचारी हैं। स्थायी है भगवद्विषयक प्रेमरूप भक्ति। इसका शान्त में समावेश नहीं हो सकता। कारण यह कि प्रेम निर्वेद वा वैराग्य के विरुद्ध है और वैराग्य ही शान्तरस का स्थायी भाव है। इसका उत्तर वे देते हैं कि देवता-आदि-विषयक रति भाव है रस नहीं[2]। रति ही भक्ति है। फिर वे अपने इस प्रश्न का कि भगवद्विषयक भक्ति को ही क्यों न रस मान लिया जाय और नायिकाविषयक रति को भाव। क्योंकि इनमें तो ऐसी कोई युक्ति नहीं कि एक को रस माना जाय और दूसरे को भाव। इसके उत्तर में वे प्राचीन आचार्यों की परंपरा की दुहाई देते हैं जिससे स्पष्ट है कि उनसे उत्तर बन न पड़ा। हमारा समाधान यह है कि नायिकानायकविषयक रति उभयगत वा उभयप्रवर्तित होने से जैसी परिपुष्ट होती है वैसी भगवद्भक्ति नहीं, क्योंकि वह एकांगी होती है। अन्यान्य रसों में भी यह उभयात्मकता परोक्ष वा अपरोक्ष रूप से विद्यमान है। इसकी सिद्धि के लिये यहाँ शास्त्रार्थ की आवश्यकता नहीं। किन्तु यह कोई ऐसा कारण नहीं कि भक्तिरस रस न माना जाय।

कितनों का कहना है कि भक्ति, शान्ति आदि मूलभावना नहीं हैं। क्योंकि छोटे-छोटे बच्चों में ये भाव नहीं पाये जाते। इससे ये

---

१ अतएव ईश्वर-प्रणिधान-विषये भक्ति-श्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहानुप्रविष्टेभ्योऽन्यथैवाङ्गमिति न तयोः पृथग्रसत्वेन गणनम्। **नाट्य शास्त्र**

२ रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः.......। **रसगंगाधर**

रसश्रेणी में नहीं जा सकते। दूसरी बात यह कि इनकी व्यापकता नहीं है। गिनेगिनाये ही व्यक्ति हैं जिनमें भक्तिभावना हो। इससे भक्ति स्वतंत्र रस की योग्यता नहीं रखती। किन्तु ये तर्क निःसार हैं। भावनाओं की मूलभूतता के संबंध में मनोवैज्ञानिक एकमत नहीं हैं। 'मेग्डुगल' के मत से भय, जुगुप्सा, विस्मय, क्रोध, वात्सल्य, लज्जा और आत्मप्रौढ़ि, ये ही मुख्य भावनायें हैं। 'जेम्स' स्पर्द्धा को और 'रेनो' धर्म्मभावना को मूलभूत मानते हैं। अतः रसत्व की योग्यता का कारण मूलभूतता नहीं है। व्यापकता की दृष्टि से भी यह रति प्रीति से हीन नहीं कही जा सकती। कुछ विरागी संसारासक्ति से परे रहनेवाले हैं, इससे रति की मर्यादा न्यून नहीं होती और न कुछ विलासियों के भक्तिशून्य होने से भक्ति का महत्त्व नष्ट होता। इससे यह कहा जा सकता है कि भक्ति एक प्रबल भावना है। इसकी आस्वाद्यता और उत्कटता किसी प्रधान रस से कम नहीं।

ईश्वर में परम अनुरक्ति को भक्ति[1] कहते हैं, यह भक्ति का लक्षण है। ईश्वरपरायण महापुरुषों के अवतार तथा साधु-सन्तों की मधुर वाणियों ने भक्ति की वह गंगा बहा दी है कि उसमें गोता लगानेवाले सहृदय भक्ति की सरसता से कैसे विमुख हो सकते हैं। रामायण और भागवत की कथाओं ने भक्तिरस से भारत को प्लावित कर दिया है। श्री मधुसूदन सरस्वती और श्री रूप-गोस्वामी ने इसको साहित्यशास्त्र का रूप दिया। उन्होंने सब रसों को प्रीति वा भक्ति के ही रूप कहा और उनको उज्ज्वल रस के नाम से संबोधित किया। वैष्णवों ने शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर, (शृङ्गार) को मुख्य और शेष को गौण माना। यहीं तक नहीं। इन्हें भी यथोचित सामग्री से वैष्णव धर्म की भक्ति का ही रूप दे डाला।

भक्तिरस पुरुषार्थोपयोगी तो है ही, अधिक मनोरंजक भी है। व्यापकता और उत्कटता की दृष्टि से शान्तरस से भक्तिरस चढ़ा-बढ़ा है। यह भक्तिरस सामान्य चित्तवृत्ति से भिन्न होने के कारण स्वतंत्र रूप से व्यक्त होता है। भक्ति और शान्त दोनों भिन्न रस हैं और अपने आप में पूर्ण हैं। भक्तिरस का शान्तरस में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। भागवत की श्रीधरी टीका में भक्तिरस का स्वतंत्र उल्लेख पाया

---

१ सा परानुरक्तिः ईश्वरे। शाण्डिल्यसूत्र
सा तु अस्मिन् परमप्रेमरूपा। ना० भ० सूत्र

जाता है [1]। शान्तरस में शांति के उपासक एक प्रकार से मोक्षाकांक्षा रखते हैं पर भक्तिरस में भक्त कहता है कि 'न मोक्षस्याकांक्षा' आदि। बिना भक्ति के ईश्वर का ज्ञान सहज-संभव नहीं। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का मार्ग सुलभ है।

इसीसे तो तुलसीदास कहते हैं—

अस विचार हरि भगति सयाने, मुक्ति निरादरि भगति लुभाने।

रवीन्द्रनाथ भी कहते हैं—

जे किछु आनन्द आछे दृश्ये गन्धे गाने
तोमार आनन्दे र 'बे ता' र माँझ खाने।
मोह मोर मुक्ति रूपे उठिबे ज्वालिया
प्रेम मोर भक्ति रूपे रहिबे पलिया।

भक्तिरस में धार्मिक भावना ही काम करती है। इसमें भय और स्वार्थ मिश्रित रहते हैं। विश्वनिर्माता की अपरिमित शक्ति ही उसकी भक्ति की प्रेरणा करती है। भक्त 'घट घट व्यापे राम' ही नहीं कहते 'हममें तुममें खड्ग खंभ में' भी कहते हैं। सभी वस्तुओं में उसकी सत्ता मानकर भक्त पशु-पक्षी, पेड़-पौधे तक की पूजा करते हैं। इस पूज्य भावना का सादर भीति, आश्चर्य और श्रद्धा द्वारा निर्माण होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय साधुसन्तों ने भक्ति का जो रूप खड़ा किया है वह साङ्गोपाङ्ग है। शास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर भक्तिरस परिपूर्ण तथा खरा उतरता है और रस-श्रेणी में आने के उपयुक्त है। भक्तिरस के विरुद्ध जितने तर्क हैं वे निःसार हैं। भक्तिरस की आस्वाद्य-योग्यता निर्बाध है।

भक्ति नौ प्रकार की मानी जाती है।

चौबीसवीं छाया

भक्तिरस-सामग्री

जहाँ ईश्वर-विषयक प्रेम विभाव आदि से परिपुष्ट होता है वहाँ भक्तिरस जाना जाता है।

---

1 रौद्राद्भुतौ च शृङ्गारो हास्यं वीरोदयस्तथा।
भयानकश्च वीभत्सः शान्तः सप्रेमभक्तिकः।

आलंबन विभाव--परमेश्वर, राम, कृष्ण, अवतार आदि।

उद्दीपन विभाव—परमेश्वर के अद्भुत काय, अनुपम गुणावली, भक्तों का सत्संग आदि।

संचारी भाव—औत्सुक्य, हर्ष, गर्व, निर्वेद, मति आदि।

अनुभाव—नेत्र-विकास, रोमांच, गद्गद वचन आदि।

स्थायी भाव—ईश्वरानुराग।

तुम करतार जग रच्छा के करनहार
पूरन मनोरथ हो सब चित चाहे के।
यह जिय जानि 'सेनापति' हू सरन आयो
हूजिये दयाल ताप मेटो दुख दाहे के॥
जो यों कहौ, तेरे हैं रे करम अनैसे हम
गाहक हैं सुकृति भगति रस लाहे के।
आपने करम करि उतरौंगो पार तो पै,
हम करतार करतार तुम काहे के॥

काव्यगत रस-सामग्री—इसमें भगवान भक्त के आलंबन विभाव हैं और उद्दीपन हैं जगत् की रक्षा करने, मनोरथ पूरा करने के भगवान के गुण। शरण में जाना, प्रार्थना करना, गद्गद वचन आदि अनुभाव हैं और संचारी हैं हर्ष, मति, वितर्क, निर्वेद आदि। इनसे परिपुष्ट ईश्वरप्रेम द्वारा भक्ति रस की व्यञ्जना है।

रसिकगत रस-सामग्री—ईश्वरानुरक्त भक्त आलंबन, ईश्वर-स्मरण से भक्त पर होनेवाले भाव उद्दीपन हैं। रोमांच, अश्रुपात, विह्वलता आदि अनुभाव हैं। औत्सुक्य, हर्ष, आत्महीनता की भावना—ग्लानि आदि संचारी और ईश्वरानुराग स्थायी भाव हैं।

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥
साधुन सँग बैठि-बैठि लोक लाज खोई।
अब तो बात फैल गई जाने सब कोई॥
अँसुअन जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई।
'मीरा' को लगन लगी होनी हो सो होई॥

इसमें गिरिधर गुपाल आलंबन, साधुसंग उद्दीपन, प्रेम-बेलि बोना

अनुभाव और हर्ष, शंका आदि संचारी हैं। इससे मीरा की अनन्य-भक्ति व्यञ्जित है।

क्या पूजा क्या अर्चन रे।
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे!
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे!
पदरज को धोने उमड़े आते लोचन में जल-कण रे।
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे।
स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक मन रे।
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे।
धूप बने उड़ते रहते हैं प्रति पल मेरे स्पन्दन रे।
प्रिय प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे। महादेवी

यह भक्ति रहस्यवादियों की है। इसमें स्थूल वस्तुओं से स्थूल पूजा नहीं। पर पूजा की सारी सामग्री प्रस्तुत है। साकार की पूजा नहीं निराकार की है। प्रिय सम्बोधन परमात्मा का है। पूजा के बाह्य उपकरणों को शरीर में ही दिखलाना मीरा की-सी अनन्य भक्ति और सर्वस्व-समर्पण का भाव है। अन्तःकरण की पूजा के समक्ष बाह्य पूजा वा अर्चन तुच्छ है।

यहाँ प्रिय आलंबन, प्रिय की अनुपमता, अव्यक्तता आदि गुण उद्दीपन, प्रिय का अभिनन्दन करना अनुभाव तथा औत्सुक्य, हर्ष, उत्साह, गर्व, मति आदि संचारी हैं जिनसे भक्तिरस ध्वनित होता है।

राम नाम मणि दीप धरु जीभ देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरो जो चाहसि उजियार॥

राम नाम आलंबन, उज्ज्वलता की आकांक्षा उद्दीपन, रामनाम-स्मरण अनुभाव और मति, धृति, उत्कंठा आदि संचारी हैं।

ढारैं नैन नीर ना सँभारैं साँस संकित सो
जाहि जोहि कमला उतार्‌यो करैं आरते।
कहै 'रतनाकर' सुसकि गज साहस कै
भाष्यौ हरैं हेरि भाव आरत अपारते॥
तन रहिबे कौ सुख सब बहि जैहैं हाय,
एक बूँद आँसू मैं तिहारे जो विचारते।
एक की कहा है कोटि करुनानिधान प्रान
वारते सचैन पै न तुमको पुकारते॥

भगवान के प्रति गजराज की यह उक्ति है। भक्त अपने भगवान के रंचमात्र के कष्ट से अकुला उठता है। इसमें भगवान आलंबन, आँसू की बूँद, भगवान का कष्ट उठाना आदि उद्दीपन, गजराज का करोड़ों प्राण निछावर करना, न पुकारने की बात कहना अनुभाव, मति, विषाद आदि संचारी हैं।

यहाँ यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि दयावीर, धर्मवीर, भक्ति वा देवविषयक रति में कुछ-न-कुछ किसी-न-किसी प्रकार के अहंकार का लेश रहता है पर शान्त रस सब प्रकार के अहंकारों से शून्य होता है। यही इनमें अन्तर है।

पचीसवीं छाया

वत्सल रस

प्राचीन आचार्यों ने वत्सल रस को रस की श्रेणी में स्थान नहीं दिया है। कारण यह कि देवादि-विषयक रति की भावों में गणना की गयी है। सोमेश्वर की सम्मति है कि 'स्नेह, भक्ति, वात्सल्य, रति के ही विशेष रूप हैं। तुल्य लोगों की परस्पर रति का नाम स्नेह, उत्तम में अनुत्तम की रति का नाम भक्ति और अनुत्तम में उत्तम की रति का नाम वात्सल्य है। आस्वाद्य की दृष्टि से ये सब भाव ही कहलाते हैं'।[1] इसमें वात्सल्य का जो रूप है वह ठीक नहीं। छोटों में बड़ों की रति वात्सल्य होता है।

अनेक आचार्यों ने वत्सल रस को माना है और रसों में इसकी गणना की है। प्रथम प्रथम रुद्रट ने जो दसवें प्रेयस् रस का जो सूत्र-पात किया वह वत्सल रस का ही[2] रूप है। भोज ने जो रस-गणना की है उसमें वात्सल्य का नाम भी आया[3] है। हरिपालदेव ने वत्सल रस

---

१ स्नेहो भक्ति र्वात्सल्यमिति रतेरेव विशेषः। तेन तुल्ययोरन्योन्यं रतिः स्नेहः अनुत्तमस्योत्तमे रतिर्भक्तिः उत्तमस्यानुत्तमे रतिर्वात्सल्यम्। इत्येवमादौ भावस्यैवास्वाद्यत्वम्।

२ स्नेहप्रकृति प्रेयान्। काव्यालंकार

३ शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यवीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।

को माना[1] है। दर्पणकार ने तो इस रस की पूर्ण व्याख्या[2] की है।

केवल स्पष्टतः चमत्कारक होने से ही नहीं, वात्सल्य भावना की उत्कटता, स्ववंश-रक्षण की समर्थता तथा आस्वाद की योग्यता के कारण वात्सल्य भाव को रस न मानना दुराग्रह के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है। वात्सल्य माता-पिता में अधिक रहता है। माता में इसकी अत्यधिक मात्रा दीख पड़ती है। कारण यह कि शिशु के गर्भस्थ होने के साथ साथ माता के मन में वात्सल्य का आरम्भ हो जाता है और कुछ समय के बाद दुग्ध के रूप में शरीर में भी फूट पड़ता है। माता का वात्सल्य एक ऐसा स्थिर भाव है कि गर्भस्थ शिशु के साथ साथ उसकी भी वृद्धि होती है। वात्सल्य में सौंदर्य-भावना, कोमलता, आशा, शृंगार-भावना, आत्माभिमान आदि अनेक भाव रहते हैं जिन के संमिश्रण से वात्सल्य अत्यन्त प्रबल हो उठता है।

वत्सल रस का स्थायी भाव स्नेह है। रुद्रट ने इसे स्नेह-प्रकृति कहा है। जिस रस का स्थायी स्नेह हो उसको प्रेयस् कहते हैं। इसी का नाम वात्सल्य है। किसी ने करुणा[3] को और किसी ने ममता को इसका स्थायी माना[4] है। दर्पणकार ने वत्सलता-स्नेह को—वात्सल्यपूर्ण स्नेह को इसका स्थायी माना है जो बहुसम्मत है। करुणा और ममता दोनों इसमें पैठ जाती हैं। वात्सल्य में करुणा और ममता की अधिक मात्रा होना ही इनके स्थायी भाव मानने का कारण है। एक उदाहरण—

पूजे कई देवता हमने तब है इसको पाया।
प्राण समान पाल कर इसको इतना बड़ा बनाया॥
आत्मा ही यह आज हमारी हमसे बिछुड़ रही है।
समझाती हूँ जी को तो भी धरता धीर नहीं है। का० प्र० गुरु

इस वर्णित 'बेटी की बिदा' में वात्सल्य उमड़ा पड़ता है जिसे करुणा और ममता ने बहा दिया है। ये वात्सल्य को दबा न सकी हैं।

इसके आलंबन विभाव हैं बालक-बालिका। बालक परमात्मा का परमप्रिय होता है। ईसा ने भी खुद ऐसा ही कहा है। बालक जितना

---

१ शान्तो ब्राह्माभिधः पश्चात् वात्सल्याख्यस्ततःपरम्। सं० सु०

२ स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः! साहित्यदर्पण

३ अन्ये तु करुणा स्थायी वात्सल्यं दशमोऽपिच॥ मंदारमरंदचंपू।

४ अत्र ममकारः स्थायी। कवि कर्णपूर

ही भोलाभाला होता है उतना ही प्यारा। एक उत्फुल्ल बालक को देख कर मन प्रसन्न हो जाता है; उसकी तुतली बोली सुनकर हृदय गद्गद् हो जाता है और उसके कमल-कोमल मुखड़े पर की हँसी से तो अन्त:करण में आनन्द के फव्वारे छूटने लगते हैं। बालक वात्सल्य भाव के उपयुक्त ही आलंबन हैं।

वात्सल्य में कहीं प्रेम व्यक्त रहता है, कहीं कारुण्य, और कहीं अतृप्त आकांक्षा। कहीं वीर रस की, कहीं शृङ्गार रस की और कहीं हास्य रस की छटा दीख पड़ती है। एक उदाहरण लें—

आरसी देखि जसोमति जू सों कहै तुतरान्त यों बात कन्हैया।
बैठे ते बैठै उठे ते उठै और कूदे ते कूदै चले ते चलैया।
बोले ते बोलै हँसे ते हँसै मुख जैसे करो त्योंही आपु करैया।
दूसरो को तो दुलारो कियो यह को है जो मोहि खिझावत मैया॥

इस वात्सल्य में हास्य का भी पुट है जो उसे और पुष्ट करता है।

पुत्र-विषयक वात्सल्य प्रबल होता है या पुत्री-विषयक, इस प्रश्न का समाधान कठिन है। इसमें सन्देह नहीं कि पुत्र-वात्सल्य का साहित्य व्यापक और विस्तृत है तथापि पुत्री के वात्सल्य में न्यूनता हो, यह बात नहीं है। जब सुभद्राकुमारी चौहान 'उसका रोना' शीर्षक में कहती हैं—

तुमको सुनकर चिढ़ आती है मुझको होता है अभिमान,
जैसे भक्तों की पुकार सुन गर्वित होते हैं भगवान।

तो 'बिटिया' के प्रति माता का जो वात्सल्य प्रकट है, वह क्या किसी से न्यून है? यहाँ की उपमा तो उसे आकाश तक पहुँचा देती है।

इसमें सन्देह नहीं कि पुरुष की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक वत्सल होती हैं। अत: माता के वात्सल्य का अधिक वर्णन पाया जाता है। राम-कृष्ण जैसी किसी कन्या का भी अवतार होता तो पुत्री-विषयक वात्सल्य-साहित्य भी समृद्ध होता। गुप्त जी ने अबलाजीवन का जो करुण रूप खड़ा किया है उसमें वत्सलता का ही प्रथम स्थान है—

अबला-जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥

छब्बीसवीं छाया

वात्सल्य-रस-सामग्री

जहाँ पुत्र आदि के प्रति माता, पिता आदि का वात्सल्य-परिपूर्ण स्नेह की विभावादि द्वारा पुष्टि हो वहाँ वत्सल रस होता है।

आलंबन विभाव—पुत्र, पुत्री आदि।

उद्दीपन विभाव—बालक की चेष्टायें, उसका खेलना-कूदना, कौतुक करना, पढ़ना, लिखना, वीरता आदि।

संचारी भाव—अनिष्ट की आशंका, हर्ष, गर्व, आवेग आदि।

स्थायी भाव—वत्सलतापूर्ण स्नेह।

> कबहूँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं।
> कब हूँ करताल बजाइ के नाचत मातु सबै मनमोद भरैं॥
> कब हूँ रिसिआइ कहैं हठिके पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
> अवधेश के बालक चारि सदा 'तुलसी' मन-मंदिर में बिहरैं॥

काव्यगत रस-सामग्री—चारो बालक माता के आलंबन हैं। बाल-सुलभ क्रीड़ायें उद्दीपन हैं। माताओं का मन में मोद भरना अनुभाव तथा हर्ष, गर्व आदि संचारी हैं। इनसे परिपुष्ट वात्सल्य स्नेह से वत्सलरस व्यंजित होता है।

रसिकगत रससामग्री—अपने बालकों की क्रीड़ायें देखनेवाली मातायें रसिकों के आलंबन विभाव हैं। माताओं का अनंदित होना उद्दीपन विभाव है। नेत्राकुंचन, मुखविकास, स्मित हास्य आदि अनुभाव हैं और संचारी हैं कौतुक-मिश्रित आनन्द आदि।

यहाँ यह शंका न करनी चाहिये कि पद्य के तीन चरणों में वात्सल्य भाव तो है पर चौथे चरण में व्यक्त देवविषयक रतिभाव का ही पोषक है। अतः वत्सल रस नहीं। यह शंका निमूल है। क्योंकि तुलसीदास भी यहाँ विहार करने की ही बात कहते हैं जिससे वात्सल्य रस ही प्रकट होता है।

उत्तर रामचरित का एक पद्यानुवाद देखिये—

मो तन सो उत्पन्न किधौं यह बालसरूप में नेहको सार है।
कै यह चेतना धातुको रूप करै कढ़ि बाहिर मंजु विहार है॥
पूरी उमंग हिलोरत हीय के स्नाव को कैंधो लसै अवतार है।
जाहि सों भेंटि सुधारस ले जनु सींचत मो सब देह अपार है॥स०ना०

यहाँ रामचन्द्र के कुश आलंबन विभाव हैं। उद्दीपन हैं बाल स्वरूप, वीरता, 'आत्मा वै जायते पुत्रः' का निदर्शन। अनुभाव हैं आलिंगन करना, तज्जन्य आनन्द का अनुभव करना। संचारी हैं आवेग, हर्ष, औत्सुक्य आदि। वात्सल्य स्नेह स्थायी है।

बरदंत की पंगति कुंदकली अधराधरपल्लव (दोल) खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै छबि मोतिन माल अमोलन की॥
घुँघुरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावर प्रान करैं 'तुलसी' बलि जाउँ लला इन बोलन की॥

बाल रूप राम आलंबन, घुँघुरारी लटें, बोलना आदि उद्दीपन, छवि का अवलोकन अनुभाव और हर्ष आदि संचारी भाव हैं।

मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायो।
मों सो कहत मोल को लीनो तुहि जसुमति कब जायो॥
कहा कहों एहि रिस के मारे खेलत हौ नहिं जातु।
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तुम्हरे तातु॥
गोरे नंद जसोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर॥
तू मोही को मारन सीखी दाउहि कबहुँ न खीजै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि जसुमति सुनि सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही को धूत।
सूर स्याम मोहि गोधन की सौं हौं माता तू पूत॥

विभाव, अनुभाव आदि का अनुसंधान कर लो।

कवीन्द्र रवीन्द्र का एक पद्यांश है—

आमी सुधु बले छिलाम—कदम गाछेर डाले
पूर्णिमा चाँद अँटका पड़े जखन संध्या काले

तखन की केऊ तारे धरे आनते पारे
सुने दादा हँसे के ना बलले आमाय खोका
तोर मतो आर देखी नाई तो बोका।

मैंने केवल यही कहा था कि साँझ के समय पूर्णिमा का चाँद जब कदम की डालों में उलझ जाता है तब क्या कोई उसे पकड़ करके ला सकता है ? इसपर भैया ने हँसकर कहा कि रे बच्चा ! तेरे ऐसा तो कोई अबोध भोला-भाला नहीं दिखायी पड़ता।

एक अँगरेज कवि का पद्यांश है—

'I have no name ;
I am but two days old' ;
'What shall I call thee ?'
'I happy am,
Joy is my name'.

अभी मेरा नामकरण नहीं हुआ है। मैं अभी दो दिनों का बच्चा हूँ। फिर तुमको हम क्या कहकर पुकारें ? मैं मूर्तिमान उल्लास हूँ। मेरा नाम आनन्द है।

———

पाँचवाँ प्रकाश
रसाभास आदि

पहली छाया
रसाभास

जहाँ रस की अनुचित प्रवृत्ति से अपूर्ण परिपाक होता है, वहाँ रसाभास समझना चाहिये।

शृङ्गार-रसाभास—अनौचित्य रूप से रस की प्रवृत्ति निम्नलिखित परिस्थितियों में होती है—(१) परस्त्रीगत प्रेम, (२) स्त्री का परपुरुष में प्रेम, (३) स्त्री का बहुपति-विषयक प्रेम, (४) निरिन्द्रियों (नदी-नालों-लता-वृक्षों आदि) में दाम्पत्यविषयक प्रेम का आरोप, (५) नायक-नायिका में एक के प्रेम के बिना ही दूसरे का प्रेम-वर्णन! नीच पात्र में किसी उच्च कुल वाले का प्रेम तथा (७) पशु, पक्षी, आदि का प्रेम-वर्णन। आधुनिक कवि भी रसाभास के बड़े प्रेमी हैं।

पर स्त्री में पर पुरुष की रति से शृङ्गार-रसाभास

मैं सोयी थी नहीं, छिपा मत मुझ से कुछ भी, छोरी!
ली थी पकड़ कलाई उनने, देती थी जब पान,
तू ने मेरी ओर किया इंगित कि गयी मैं जान,
तब वे बोले दीख रही मैं जनम जनम की भोरी।
उसके बाद उढ़ाया उनने मुझे स्वयं आ शाल,
तू हँस पायी भी न तभी सट काटे तेरे गाल,
किया तनिक सीत्कार कहा उनने कि खूब तू गोरी! जा०व०शास्त्री

काव्यगत रससामग्री—(१) इस कविता का आश्रय है रेलयात्री नवविवाहित युवक। (२) उसका आलंबन है युवती 'विंदो' दासी। (३) रति स्थायी भाव है। (४) उद्दीपन हैं दासी की युवावस्था,

पान देने की प्रक्रिया। (५) संचारी भाव हैं आवेग, चपलता, शंका, त्रास आदि। (६) अनुभाव हैं सीत्कार, रोमांच आदि।

रसिकगत रससामग्री—(१) रति स्थायी भाव है। (२) आश्रय रसिक है। (३) आलंबन है विवाहित युवक। (४) उद्दीपन हैं विवाहिता स्त्री को शाल उढ़ाना, फँसी हुई दासी का छटपटाना आदि। (५) संचारी हैं लज्जा, हर्ष, आवेग आदि। (६) अनुभाव हैं हर्ष-सूचक शारीरिक चिह्न, चेष्टा आदि।

इससे परस्त्री-प्रेम व्यंजित है। यहाँ इस का अनौचित्यरूप से प्रतिपादन किया गया है। अतः यह परनारीगत परपुरुषविषयक शृङ्गार रसाभास है।

बहुनायकनिष्ठ रति से शृङ्गार-रसाभास

अंजन दै निकसै नित नैननि मंजन कै अति अंग सँवारै।
रूप गुमान भरी मग में पगही के अँगूठा अनोट सुधारै॥
जोबन के मद सों 'मतिराम' भई मतवारिनि लोग निहारै।
जात चली यहि भाँति गली बिथुरी अलकैं अँचरा न सँम्हारै॥

यहाँ नायिका की अनेक पुरुषों में रति व्यक्त होने से शृङ्गार-रसाभास है।

अनुभयनिष्ठ रति से शृङ्गार-रसाभास

केसब केसनि अस करी, अस अरिहू न कराहिं।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहिं॥ केशव

यहाँ वृद्ध-कवि केशव का परनायिका में अनुराग वर्णित है। इससे शृङ्गार रस की अनौचित्य-पूर्ण प्रतीति होती है। यहाँ अनुराग का जो परिदर्शन कराया गया है वह केशव की ओर से ही। अतः एकांगी होने से—अनुभय-निष्ठ रति से उपजे शृङ्गाररसाभास का यह दोहा विलक्षण उदाहरण है।

निरिन्द्रियों में रतिविषयक आरोप से शृङ्गार-रसाभास

'छाया' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ हैं—

कौन कौन तुम परिहतवसना म्लानमना भू-पतिता सी।
धूलि-धूसरित मुक्त-कुन्तला किसके चरणों की दासी॥
बिजन निशा में सहज गले तुम लगती हो फिर तरुवर के।
आनन्दित होती हो सखि! तुम उसकी पद-सेवा करके॥ पंत

यहाँ छाया के लिये 'परिहृतवसना' तथा निर्जन एकान्त स्थान में तरु के गले लगना आदि जो व्यापार संभोग-शृङ्गार-गत दिखलाये गये हैं उनके छाया और तरु जैसी निरिन्द्रिय वस्तु में होने के कारण अनौचित्य है। इससे रसाभास है।

पशु-पक्षी-गत रति के आरोप से शृङ्गार-रसाभास

कविवर 'पंत' की 'अनंग' शीर्षक रचना की निम्नलिखित पंक्तियाँ इसके उदाहरण हैं—

मृगियों ने चंचल आलोकन औ चकोर ने निशाभिसार।
सारस ने मृदु-ग्रीवालिंगन हँसी ने गति वारि-विहार॥

यहाँ पशु-पक्षी-गत जो मनुष्यवत् संभोग शृङ्गार का वर्णन किया है उससे शृङ्गार-रसाभास है।

शृङ्गार ही के समान प्रत्येक रस का रसाभास होता है।

हास्य का रसाभास

करहिं कूट नारदहिं सुनाई, नीक दीन्हँ हरि सुन्दरताई।—
रीझिहिं राजकुँअरि छबि देखी, इनहिं बरिहि हरि जानि विसेखी॥

नारद-मोह के प्रसंग में शंकर के दो गण नारदजी के स्वरूप को देखकर उनकी हँसी उड़ाते थे। उसी समय की ये पंक्तियाँ हैं। यहाँ हर-गणों के हास्य का आलम्बन नारद जैसे देवर्षि हैं। अतः यहाँ हास्य का अनुचित रूप में परिपाक हुआ है।

करुण का रसाभास

मेटती तृषा को कंठ लगि लगि सींचि सींचि
जीवन के संचिबे में रही पूरी सूमड़ी।
हाथ से न छूटी कबौं जब ते लगाई साथ
हाय हाय फूटी मेरी प्रानपिय तूमड़ी॥ हिन्दी प्रेमी

तूमड़ी आलंबन, उसका गुण-कथन उद्दीपन, हाथ पटकना, सिर धुनना अनुभाव और विषाद, चिन्ता आदि संचारी हैं। इनसे परिपुष्ट शोक स्थायी से करुण रस व्यञ्जित है पर अपदार्थ, तुच्छ तूमड़ी के लिये इतनी हाय-हाय करने से करुण का रसाभास है।

दूसरी छाया

भाव

प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेदादि संचारी, देवता-आदि-विषयक रति और विभावादि के अभाव से उद्‌बुद्ध-मात्र—रसावस्था को अप्राप्त—रति आदि स्थायी भावों को भाव कहते हैं।

भाव के ये मुख्य तीन भेद हुए—

(१) देवादिविषयक रति, (२) केवल उद्‌बुद्धमात्र स्थायी भाव और (३) प्रधानतया ध्वनित होनेवाले संचारी भाव [1]।

यद्यपि रसध्वनि और भाव-ध्वनि दोनों असंलक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्य ही हैं, तथापि इनमें भेद यह है कि रसध्वनि में रस का आस्वादन तब होता है जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से परिपुष्ट स्थायी भाव उद्रेकातिशय को पहुँच जाता है। और, जब अपने अनुभावों से व्यक्त होनेवाले संचारी के उद्रेक से आस्वाद उत्पन्न होता है तब भाव-ध्वनि होती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। पर भक्ति तथा वात्सल्य की बात निराली है, जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है।

१ देवता-विषयक रति-भाव

अबकी राखि लेहु भगवान।
हम अनाथ बैठे द्रुम डरिया पारिधि साधे बान॥
याके डर भागन चाहत हौं ऊपर दुक्यो सचान।
दुवो भाँति दुख भयो आनि यह कौन उबारे प्रान॥
सुमिरत ही अहि डस्यो पारिधि सर छूटे संधान।
'सूरदास' सर लग्यो सचानहिं जै जै कृपानिधान॥

यहाँ भगवान् आलम्बन हैं, व्याध का बाणसंधान और ऊपर बाज का उड़ना उद्दीपन हैं, स्मरण, अनुभाव तथा चिन्ता, विषाद, औत्सुक्य आदि संचारी हैं। यहाँ भगवद्विषयक जो अनुराग ध्वनित होता है वह

---

[1] सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उद्‌बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥ साहित्यदर्पण
रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तस्तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिताः॥ काव्य-प्रकाश

इसीलिये देव-विषयक रति-भाव या भक्ति कहा जाता है, रस नहीं कहा जाता कि अनुराग एकपक्षीय है। भक्त संकटापन्न होकर भगवान् को पुकारा करता है, पर भगवान् प्रत्यक्ष रूप में कुछ नहीं करते।

अब मातृ-भूमि-विषयक रति भी देव-विषयक रति में सम्मिलित मानी जाती है। एक उदाहरण—

बन्दना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो।
बन्दिनी माँ को न भूलो
राग में जब मत्त झूलो
अर्चना के रत्न-कण में एक कण मेरा मिला लो॥
जब हृदय का तार बोले
श्रृङ्खला के बन्द खोले
हो जहाँ बलि सीस अगनित, एक सिर मेरा मिला लो॥

—सोहनलाल द्विवेदी

भारत-माता की वन्दना में यह गीत लिखा गया है।

यहाँ आलम्बन भारत-माता हैं। उसका बन्धन उद्दीपन विभाव है। वक्ता का अनुनय और कथन अनुभाव हैं। हर्ष, औत्सुक्य आदि संचारी हैं। इनसे भारत-माता के प्रति कवि का रति-भाव परिपुष्ट होकर व्यंजित होता है।

गुरुविषयक रतिभाव

बन्दौं गुरु पद पदुम परागा, सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।

यहाँ पराग की वन्दना से गुरुविषयक रति-भाव अर्थात् श्रद्धा या पूज्य भाव की ध्वनि होती है।

राजविषयक रतिभाव

'बेद राखे विदित, पुरान राखे सार युत,
रामनाम राख्यो अति रसना सुघर में।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
कांधे में जनेऊ राख्यो, माला राखी गर में॥' भूषण

यहाँ कवि का शिवाजी-महाराज-विषयक श्रद्धा-भाव ध्वनित होने के कारण राजविषयक रति है।

२ उद्‌बुद्धमात्र स्थायी भाव

'कर कुठार मैं अकरुन कोही आगे अपराधी गुरु द्रोही।
उतर देत छाड़ौं बिनु मारे, केवल कौसिक सील तुम्हारे॥

न तु यहि काटि कुठार कठोरे, गुरुहिं उरिन होतेऊँ श्रम थोरे ॥ तुलसी

धनुष-भंग के बाद लक्ष्मण की व्यंग्यभरी बातों से क्रुद्ध परशुराम ने उपर्युक्त बातें कही हैं। आलम्बन, उद्दीपन और अनुभाव आदि के होते हुए भी क्रोध स्थायी भाव की पुष्टि नहीं हो पायी है। क्योंकि कौशिक के शील के आगे क्रोध स्थायी भाव उद्‌बुद्ध होकर ही रह जाता है, परिपुष्ट नहीं होता। ऐसे स्थलों में सर्वत्र भावध्वनि ही होती है।

रति आदि स्थायी भावों के उक्त उदाहरण उद्‌बुद्धमात्र स्थायी भावों ही के उदाहरण हैं।

३ प्रधानतया व्यञ्जित व्यभिचारी भाव

सटपटाति सी ससिमुखी, मुख घूँघटपट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखा झाँकि ॥ बिहारी

यहाँ नायिकागत शंका संचारी भाव ही प्रधानतया व्यंजित है। अतः यहाँ भावध्वनि है।

तीसरी छाया

भावाभास आदि

भाव की व्यञ्जना में, जब किसी अंश में अनौचित्य की झलक रहती है तब वे भाव भावाभास कहलाते हैं। जैसे,

दरपन में निज छाँह सँग लखि प्रीतम की छाँह।
खरी ललाई रोस की, ल्याई अँखियन माँह ॥ प्राचीन

यहाँ क्रोध का भाव वर्णित है। पर सामान्य कारण होने के कारण भावाभास है।

भावशान्ति

जहाँ एक भाव दूसरे विरुद्ध भाव के उदय होने से शान्त होता हुआ भी चमत्कार-कारक प्रतीत होता है, वहाँ भाव-शान्ति होती है। जैसे—

कितौं मनावत पीय तउ मानत नाहिं रिसात।
अरुनचूड़ धुनि सुनत ही तिय पिय हिय लपटात ॥ प्राचीन

यहाँ प्रियतम के प्रति नायिका का मान (गर्व) प्रकट है। कुक्कुट की ध्वनि सुनने से औत्सुक्य भाव के उदित होने पर पहला भाव

(गर्व) शान्त हो गया है। इस भावशान्ति में ही काव्य का पूर्ण चमत्कार है। अतः यह भाव-शान्ति है।

भावोदय

जहाँ एक भाव की शान्ति के बाद दूसरे भाव का उदय हो और उदय हुए भाव में ही चमत्कार का पर्यवसान हो वहाँ भावोदय होता है।

हाथ जोड़ बोला साश्रुनयन महीप यों—
मातृभूमि इस तुच्छ जन को क्षमा करो।
आज तक खेयी तरी मैंने पापसिन्धु में,
अब खेऊँगा उसे धार में कृपाण की॥ आर्यावर्त्त

जयचन्द की इस उक्ति में विषाद भाव की शान्ति है और उत्साह भाव का उदय है। विषाद के व्यंजक 'साश्रु नयन' और 'क्षमा करो पद हैं। उत्साह अन्तिम चरण से व्यक्त है।

भावसन्धि

जहाँ एक साथ तुल्यबल एवं सम चमत्कारकारक दो भावों की सन्धि हो वहाँ भावसन्धि होती है। जैसे—

उत रणभेरी बजत इत रंगमहल के रंग।
अभिमन्यू मन ठिठकिगो जस उतंग नभ चंग॥ प्राचीन

यहाँ भी अभिमन्यु की रण-यात्रा के समय एक ओर रंगमहल की रँग-रेलियों का स्मरण और दूसरी ओर रणभेरी बजने का उत्साह—ये दोनों भाव समान रूप से चमत्कारक हैं। अतः यह भाव-सन्धि का उदाहरण है।

भवाशबलता

जहाँ एक के बाद दूसरा और फिर तीसरा—इसी प्रकार कई समान चमत्कारक भावों का सम्मेलन हो, वहाँ भावश-बलता होती है। जैसे,

सीताहरण के बाद रामचन्द्र ने वियोग में जो प्रलाप किया है वह इसका उदाहरण है। जैसे—

'मम मन सीता आश्रम नाहीं।' शंका
'हा गुणखानि जानकी सीता।' विषाद
'सुनु जानकी तोहि बिनु आजू।'
हर्षे सकल पाइ जनु राजू॥' वितर्क या प्रलाप
'किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं। ईर्ष्या
प्रिया वेगि प्रकटत कस नाहीं।' उत्कण्ठा

आदि अनेक भाव सम-कोटिक हैं और साथ ही चमत्कारक भी हैं।

उपर्युक्त असंलक्ष्यक्रम के आठ भेदों के अनेक भेद हो सकते हैं, जिनके लक्षण और उदाहरण लिखना सर्वथा दुष्कर है। जैसे, शृङ्गार के एक भेद संभोग में ही परस्परावलोकन, करस्पर्श, आलिंगन आदि से मनसा, वचसा तथा कर्मणा अनेक भेद हो जायँगे, जिनकी संख्या अगम्य होगी। इसीलिये आचार्यों ने इसका एक ही भेद माना है।

छठा प्रकाश

ध्वनि

पहली छाया

ध्वनि-परिचय

[1]वाच्य से अधिक उत्कर्षक—चारुताप्रतिपादक—व्यंग्य को ध्वनि कहते हैं।

व्यंग्य ही ध्वनि का प्राण है। वाच्य से उसकी प्रधानता का अभिप्राय है वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारक होना। चमत्कार के तारतम्य पर ही वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का प्रधान होना निर्भर है।

कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ शब्द या अर्थ स्वयं साधन होकर साध्यविशेष—किसी चमत्कारक अर्थ, को अभिव्यक्त करे वह ध्वनि-काव्य है। वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से ध्वनि वैसे ही ध्वनित होती है जैसे चोट खाने पर घड़ियाल से निकली घनघनाहट की सूक्ष्म से सूक्ष्मतर या सूक्ष्मतम ध्वनि।

पाकर विशाल कचभार एड़ियाँ धसतीं।
तब नख-ज्योति-मिष मृदुल अँगुलियाँ हँसतीं।
पर पग उठने में भार उन्हीं पर पड़ता।
तब अरुण एड़ियों से सुहास सा झड़ता। गुप्तजी

दीर्घाकार विशाल कचभार से एड़ियाँ जब-जब दब जातीं तब तब अँगुलियाँ नख-ज्योति के बहाने मन्द-मन्द मुसुकातीं। पर पद-संचालन में अँगुलियों पर जब भार पड़ता तब उनके नखों में रक्ताधिक्य हो जाता और एड़ियों की अरुणिमा कम पड़ जाती। उस समय ऐसा ज्ञात होता कि जैसे वे भाराक्रान्त नखों को देखकर हँस रही हों।

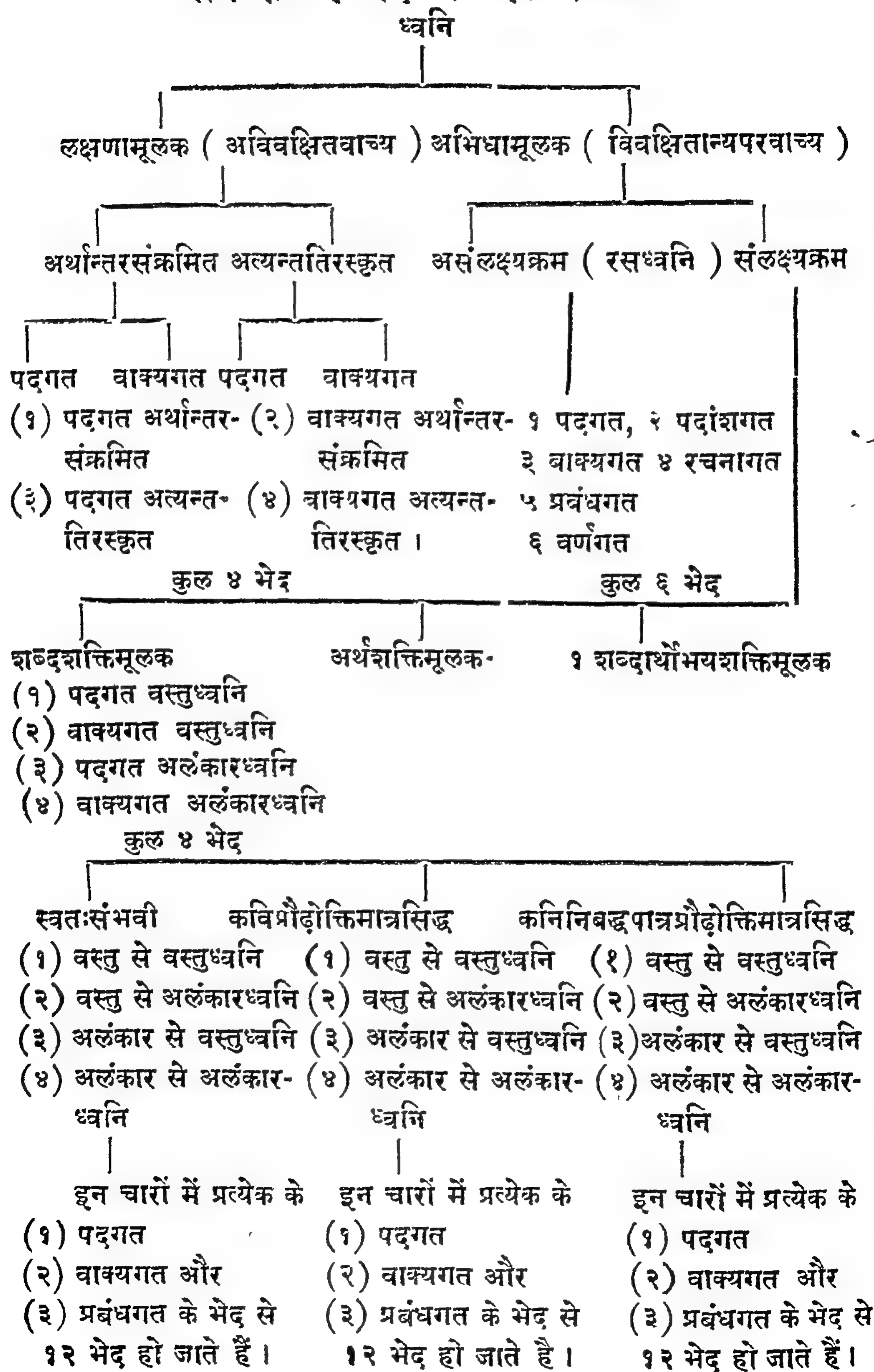
इसमें विशाल कचभार कहने से केशों की दीर्घता और सघनता ध्वनित होती है। एड़ियों के धँसने से शरीर की सुकुमारता और भारवहन की असमर्थता की भी ध्वनि निकलती है। भाराक्रान्त नखों और एड़ियों में रक्ताधिक्य के कारण जो अरुण आभा फूटी पड़ती है उससे शरीर की स्वस्थता की भी ध्वनि होती है।

---

१ (क) चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना ही वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा। ध्वन्यालोक
(ख) वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्॥ साहित्यदर्पण

दूसरी छाया

ध्वनि के ५१ भेदों का एक रेखाचित्र



तीसरी छाया

लक्षणामूलक (अविवक्षितवाच्य) ध्वनि

जिसके मूल में लक्षणा हो उसे लक्षणामूलक ध्वनि कहते हैं।

लक्षणा के जैसे मुख्य दो भेद—उपादानलक्षणा और लक्षण-लक्षणा—होते हैं वैसे ही इसके भी उक्त (१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि (२) अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि नामक दो भेद होते हैं। पहली के मूल में उपादानलक्षणा और दूसरी के मूल में लक्षणलक्षणा रहती है। ये पदगत और वाक्यगत के भेद से चार प्रकार की हो जाती हैं।

लक्षणामूल को अविवक्षितवाच्य ध्वनि कहा गया है। क्योंकि, उसमें वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती। इसीसे इसमें वाच्यार्थ से वक्ता के कहने का तात्पर्य नहीं जाना जाता। इससे वाच्यार्थ का बाधित होना या उसका अनुपयुक्त होना निश्चित है। जैसे, किसी ने कहा कि 'वह कुम्भकर्ण है'। यहाँ वाच्यार्थ से केवल यही समझा जायगा कि उसके कान घड़े के समान हैं या वह त्रेता के राजा रावण का भाई है। किन्तु, वह व्यक्ति न तो रावण का भाई ही है और न उसके कान घड़े के समान ही हैं। यहाँ वाच्यार्थ की बाधा है। वक्ता का अभिप्राय इससे नहीं जाना जा सकता। अतः यहाँ प्रयोजनवती गूढ़व्यंग्या लक्षणा द्वारा यह समझा जाता है कि वह महाविशालकाय, अतिभोजी और अधिक निद्रालु है। इससे आलस्यातिशय ध्वनित होता है। यहाँ वाच्यार्थ की अविवक्षा है और वह अर्थान्तर में संक्रमित है।

१ पदगत अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि

जहाँ मुख्यार्थ का बाध होनेपर वाचक शब्द का वाच्यार्थ लक्षणा द्वारा अपने दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाय—बदल जाय वहाँ अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि होती है। पद में होने से इसे पदगत कहते हैं। जैसे,

तो क्या अबलायें सदैव ही अबलायें हैं बेचारी! गुप्तजी

यहाँ द्वितीय बार प्रयुक्त 'अबला' शब्द अपने मुख्यार्थ 'स्त्री' में बाधित होकर अपने इस लाक्षणिक अर्थ को प्रकट करता है कि वे अबलायें हैं अर्थात् निर्बल हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि उनको सदा पराधीन, आत्मरक्षा में असमर्थ या दया का पात्र ही नहीं होना चाहिये। यहाँ जो लक्ष्यार्थ किया जाता है वह वाच्यार्थ का रूपान्तर-मात्र है। उससे सर्वथा भिन्न नहीं। प्रायः पुनरुक्त शब्द प्रथमोक्त शब्द के अर्थ में उत्कर्ष या अपकर्ष का द्योतन करता है।

२ वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि

जहाँ मुख्यार्थ के बाधित हो जाने के कारण वाच्यार्थ की विवक्षा न होने पर, वाक्य अपने दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाय, वहाँ यह ध्वनि होती है। जैसे,

सेना छिन, प्रयत्न भिन्न कर पा मुराद मनचाही।
कैसे पूजूँ गुमराही को मैं हूँ एक सिपाही॥ भा.आत्मा

इस पद्य में 'मैं हूँ एक सिपाही' वाक्य के मुख्यार्थ से कवि के कहने का तात्पर्य बिलकुल भिन्न है। इसका व्यंग्यार्थ होता है—मैं कष्ट-सहिष्णु, साहसी, राष्ट्र का उन्नायक, आज्ञापालक, स्वभावतः देशप्रेमी तथा वीर हूँ। इस दशा में गुमराही की पूजा कैसे करूँ? यहाँ वाक्य अपने मुख्यार्थ से बाधित होकर अर्थान्तर (व्यंग्यार्थ) में संक्रमण कर गया है। इसमें 'मैं' इतने ही से काम चल जा सकता था। 'हूँ एक सिपाही' शब्द व्यर्थ है। किन्तु नहीं। 'मैं हूँ एक सिपाही' वाक्य सिपाही का उक्त सगौरव आत्माभिमान व्यंजित करता है।

३ पदगत अत्यन्ततिरस्कृत (अविवक्षित वाच्य) ध्वनि

जहाँ बाधित वाच्यार्थ का अर्थान्तर में संक्रमण नहीं होता बल्कि मुख्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार ही हो जाता है, अर्थात् उसका एक भिन्न ही अर्थ हो जाता है वहाँ यह ध्वनि होती है। इसके ये उदाहरण हैं—

नीलोत्पल के बीच सजाये मोती से आँसू के बूँद।
हृदय-सुधानिधि से निकले हो तब न तुम्हें पहचान सके॥ प्रसाद

नीलोत्पल के बीच में मोती के सदृश आँसू सजे हैं। इस अर्थ में बाध स्पष्ट है। किन्तु आँसू के सहारे नीलोत्पलों में अध्यवसित उपमेय

नयनों का शीघ्र बोध हो जाता है। नीलोत्पल के अपना अर्थ छोड़कर आँख का अर्थ देने से लक्षणलक्षणा है। यहाँ अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य से यह ध्वनि निकलती है कि नयन बड़े सुन्दर हैं, दर्शनीय हैं। नीलोत्पल में होने से पदगत है।

४—वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृत (अविवक्षित वाच्य) ध्वनि

सकल रोंओं से हाथ पसार, लूटता इधर लोभ गृह द्वार। पंत

यहाँ वाच्यार्थ सर्वथा बाधित है। रोओं से लोभ का हाथ पसारना और घर द्वार लूटना, एकदम असंभव है। लक्ष्यार्थ है लोभी का समस्त कोमल और कठोर साधनों से परकीय द्रव्य को आत्मसात् करना। इससे प्रयोजनरूप व्यंग्य है लोभ या तृष्णा का आत्मतृप्ति के लिये दैन्य-प्रदर्शन या बलात्कार सब कुछ कर सकने की क्षमता। इससे पद्यार्ध का अर्थ अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है। यह वाक्यगत है।

चौथी छाया

अभिधामूलक (विवक्षितान्यपरवाच्य) ध्वनि

जिसके मूल में अभिधा अर्थात् वाच्यार्थ-सम्बन्ध हो उसे अभिधामूल ध्वनि कहते हैं।

अभिधामूल को विवक्षितान्यपरवाच्य कहा गया है। क्योंकि, इसमें वाच्यार्थ वांछनीय होकर अन्यपर अर्थात् व्यंग्यार्थ का बोधक होता है। इसमें वाच्यार्थ का न तो दूसरे अर्थ में संक्रमण होता है और न सर्वथा तिरस्कार, बल्कि वह विवक्षित रहता है।

इसके भी दो भेद हैं— (१) असंलक्ष्यक्रम ध्वनि और (२) संलक्ष्यक्रम ध्वनि। पहले में पौर्वापर्य का ज्ञान नहीं रहता मगर दूसरे में रहता है।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य (रसादि) ध्वनि

जिस व्यंग्यार्थ का क्रम लक्षित नहीं होता वह असंलक्ष्य-क्रम ध्वनि होती है।

अभिप्राय यह कि व्यंग्यार्थ-प्रतीति में पौर्वापर्य का—आगे-पीछे का ज्ञान नहीं रहता कि कब वाच्यार्थ का बोध हुआ और कब व्यंग्यार्थ का। दोनों का एक साथ ही बोध होता है। अर्थात् पहले

विभाव के साथ, फिर अनुभाव के साथ और फिर व्यभिचारी के साथ स्थायी की प्रतीति का क्रम रहता हुआ भी शीघ्रता के कारण जहाँ प्रतीत नहीं होता वहाँ असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है। इसे ही रसध्वनि भी कहते हैं। क्योंकि असंलक्ष्यक्रम में व्यंग्यरूप से रस, भाव, रसाभास आदि ही ध्वनित होते हैं।

इसी प्रकार रस-ध्वनि के जो रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि भेद होते हैं और उनके आस्वादन की अनुभूति के विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि जो कारण होते हैं, उनका पौर्वापर्य-ज्ञान प्रतीतिकाल में बिलकुल दुष्कर होता है।

निम्नलिखित उदाहरण से रसोत्पत्ति के प्रकार को तथा असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्य ध्वनि को स्पष्ट समझ लीजिये।

पलँग-पीठ तजि गोद हिंडोरा, सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा।
जिअन-मूरि जिमि जुगवत रहऊँ, दीप-बाति नहिं टारन कहऊँ।
सो सिय चलनि चहति बन साथा, आयसु काह होइ रघुनाथा।

तुलसीदास

राम के वन-गमन के समय नवपरिणीता वधू सीता ने अपनी सास कौसल्या से आग्रह किया कि मैं भी पति के साथ वन में जाऊँगी। प्राण के समान प्यारी नववधू की बातें सुनकर पुत्र वियोग से मर्माहत कौसल्या वधू-वियोग की आशंका से एक बार काँप जाती हैं। इस भयानक और अचानक वज्राघात से उनकी आकृति विवर्ण हो जाती है और वे अत्यन्त कारुणिक वचनों में राम के सम्मुख अपना अभिप्राय प्रकट करती हैं।

उक्त पद्य में नवपरिणीता 'सीता' आलम्बन रूप विभाव हैं। उनकी सुकुमारता, अल्पवयस्कता, कष्टसहिष्णुता, स्नेहप्रवणता आदि उद्दीपन रूप विभाव हैं। पुत्र-वियोग के साथ वधू-वियोग की आशंका से कौसल्या की विवर्णता, उच्छ्वास, दीन वचन, रोदन, दैव-निन्दा आदि अनुभाव हैं। इसी तरह चिन्ता, मोह, ग्लानि, दैन्य, स्मरण, जो बराबर उठते और मिटते हैं, संचारी भाव हैं। और, इन सबों के संमेलनात्मक रूप से श्रोता या वक्ता के अन्तर में जिस स्थायी भाव शोक की परिपुष्टि होती है, वही शोक करुण रस के रूप में परिणत हो जाता है।

यहाँ सब व्यापार—विभाव, अनुभाव, संचारी भाव की उत्पत्ति,

इनके द्वारा शोक स्थायी भाव की परिपुष्टि तथा करुण रस की प्रतीति—क्रम से ही होते हैं। परन्तु ये सब इतनी शीघ्रता में होते हैं कि स्वयं रसास्वादयिता को भी पता नहीं चलता कि इतने काम कब और कैसे हुए।

उपर्युक्त पद्य में अनुभव किया गया होगा कि कौसल्या की उक्ति से जो व्यंग्य रूप में करुण रस की प्रतीति होती है, उसके पहले होनेवाले व्यापारों के क्रम का ज्ञान कतई नहीं होता। वाच्यार्थ-बोध के साथ ही ध्वनिरूप में करुण रस की व्यंजना हो जाती है।

पाँचवीं छाया

असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेद

असंलक्ष्यक्रम ध्वनि की अभिव्यक्ति छ प्रकार से होती है। ये ही अभिधामूलक असंलक्ष्यक्रम के छ भेद भी कहलाते हैं। जैसे, पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, वर्णगत, रचनागत और प्रबन्धगत।

१ पदगत असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य

सखी सिखावत मान विधि, सैननि बरजति बाल।
'हरुए' कहु मो हिय बसत सदा बिहारी लाल॥ बिहारी

मान की सीख देनेवाली सखी के प्रति नायिका कहती है कि सखी, धीरे से बोल। मेरे हृदय में बिहारीलाल बसते हैं। वे कहीं सुन न लें। यहाँ 'हरुए' पद प्रधानता से बिहारीलाल में अनुराग सूचित करता है। इससे सम्भोगशृङ्गार ध्वनित होता है।

२ पदांशगत असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य

चिरदग्ध दुखी यह वसुधा, आलोक माँगती तब भी।
तुम तुहिन बरस दो कन कन, यह पगली सोये अब भी॥ प्रसाद

यहाँ 'तब भी' पद के 'भी' पदांश में असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य है। इतनी यातना झेलने पर भी पगली 'आलोक' माँगती है। क्योंकि 'उसी आलोक के कारण यह युग युग से दग्ध हुई है, और फिर वही चाहती है। इसलिये उसपर दया के तुहिन कण बरसा दो, जिससे पगली कुछ सो ले।' इस वाच्यार्थ में 'भी' पदांश द्वारा करुण-रस ध्वनित होता है। कवि उसपर दया चाहता है—उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करता है।

३ वाक्यगत असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य

'कंधों पर के बड़े बाल वे बने अहो ! आँतों के जाल।
फूलों की वह वरमाला भी हुई मुण्डमाला सुविशाल॥
गोल कपोल पलटकर सहसा, बने भिड़ों के छत्तों से।
हिलने लगे उष्ण साँसों से ओठ लपालप लत्तों से॥' गुप्तजी

शूर्पणखा जब अपने प्रेममय मायाजाल से निराश हो गयी, तब उसने जो उग्र रूप धारण किया उसका यह वर्णन है। यहाँ आँतों के जाल के बाल बने, भिड़ों के छत्तों से गाल बने आदि, प्रत्येक वाक्य से भयानकता की ध्वनि होती है। इसलिये यहाँ वाक्यगत रस-ध्वनि है।

४ रचनागत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि

रचना का अर्थ विशिष्ट पद-संघटन वा ग्रन्थन है।

जागत ओज मनोज के परसि पिया के गात।
पापर होत पुरैन के चन्दन पंकिल पात॥ **मतिराम**

प्रिय के गात्र का स्पर्श करके कामदेव की ज्वाला के कारण चन्दनलिप्त पद्म-पत्र भी पापड़ हो जाते हैं। इस वाच्यार्थ-बोध के साथ ही विप्रलंभ शृंगार ध्वनित होता है। यह ध्वनि किसी एक पद से या किसी एक वाक्य से ध्वनित न होकर रसानुकूल असमस्त पदोंवाली साधारण रचना द्वारा होती है। अतः यहाँ रचनागत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि है।

५ वर्णगत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि

कविता के अनेक वर्णों से भी रसध्वनि होती है। जैसे,

रस सिंगार मंजनु किये कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु नैन॥ बिहारी

कंजों के भी मानभंजन करनेवाले नयन बिना अंजन के भी खंजन से बढ़कर चंचल हैं। यहाँ माधुर्यव्यञ्जक वर्णों द्वारा रति भाव की जो ध्वनि है वह वर्णगत है।

६ प्रबन्धगत असंलक्ष्यक्रम व्यंग

प्रबन्ध का तात्पर्य है—परस्परान्वित वाक्यों का समूह अर्थात् महावाक्य। इसकी ध्वनि को प्रबंधध्वनि कहते हैं। जैसे,

दलित कुसुम

अहह अहह आँधी आ गयी तू कहाँ से ?
प्रलय घनघटा सी छा गयी तू कहाँ से ?
पर-दुख-सुख तू ने हा ! न देखा न भाला।
कुसुम अधखिला ही हाय ! यों तोड़ डाला ॥ १ ॥

तड़प तड़प माली अश्रुधारा बहाता।
मलिन मलिनिया का दुःख देखा न जाता।
निठुर ! फल मिला क्या व्यर्थ पीड़ा दिये से।
इस नव लतिका की गोद सूनी किये से ॥ २ ॥

यह कुसुम अभी तो डालियों में धरा था।
अगणित अभिलाषा और आशा भरा था।
दलित कर इसे तू काल, पा क्या गया रे !
कण भर तुझ में क्या हा ! नहीं है दया रे ॥ ३ ॥

सहृदय जन के जो कण्ठ का हार होता।
मुदित मधुकरी का जीवनाधार होता।
वह कुसुम रँगीला धूल में जा पड़ा है।
नियति ! नियम तेरा भी बड़ा ही कड़ा है ॥ ४ ॥

—रूपनारायण पाण्डेय

इसमें आलम्बन विभाव दलित कुसुम है। उद्दीपन हैं उसका धूल में पड़ना, लतिका की गोद सूनी होना। अनुभाव हैं माली का तड़पना, आँसू का बहाना, मालिन का दुःख। संचारी हैं दैन्य, मोह, चिन्ता, विषाद आदि। इनसे स्थायी भाव शोक परिपुष्ट होता है जिससे करुण रस ध्वनित होता है।

छठी छाया

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य—ध्वनि

जहाँ अभिधा द्वारा वाच्यार्थ का स्पष्ट बोध होने पर क्रम से व्यंग्यार्थ संलक्षित हो, वहाँ संलक्ष्यक्रम व्यंग्य—ध्वनि होता है।

यहाँ भी व्यंग्यार्थ-बोध के लिये वाच्यार्थ की विवक्षा रहती है, अत: यह विवक्षितान्यपर वाच्य का दूसरा भेद है।

जिस प्रकार घंटा ठोकने पर मूल शब्द के बाद एक प्रकार का अनुगामी जो गुंजन उठता है, प्रथम महान् शब्द के अनन्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम रूप से जो मधुर झंकार प्रतीत होती है, उसी प्रकार साधारण अर्थ के अनन्तर जो अलंकार और वस्तु रूप से व्यंग्य प्रतीत होता है उसे 'अनुरणनध्वनि' कहते हैं। अनुरणन का अर्थ है पीछे से होनेवाली गूँज। अलंकार और वस्तु की ध्वनि इसी प्रकार की होती है और इसमें पूर्वापर का क्रम लक्षित होता रहता है। इसीलिये इसे 'संलक्ष्यक्रम व्यंग्य' कहा गया है। जैसे—बाल काटने के समय नाई जो कैंची चलाता है और उससे जो केश कटते हैं उनका कार्य अत्यन्त सम्मिलित होने पर भी संचालन और केशच्छेदन का क्रमिक ज्ञान परिलक्षित होता रहता है।

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के तीन भेद होते हैं—शब्द-शक्त्युद्भव-अनुरणन-ध्वनि, अर्थशक्त्युद्भव-अनुरणन-ध्वनि और शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव-अनुरणन-ध्वनि।

१ शब्दशक्त्युद्भव अनुरणन-ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ-बोध होने के वाद व्यंग्यार्थ का बोध जिस शब्द द्वारा होता है उसके बोध कराने की शक्ति केवल उसी शब्द में हो, उसके पर्यायवाची शब्द में नहीं, वहीं यह ध्वनि होती है।

इसके चार भेद हैं—१—पदगत वस्तुध्वनि, २—वाक्यगत वस्तु-ध्वनि, ३—पदगत अलंकार-ध्वनि और वाक्यगत अलंकार ध्वनि।

इनके एक दो उदाहरण दिये जाते हैं—

१ पदगत शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम वस्तुध्वनि

> जो पहाड़ को तोड़-फोड़कर बाहर कढ़ता।
> निर्मल जीवन वही सदा जो आगे बढ़ता॥ राम

उक्त पंक्तियों का वाच्यार्थ है कि पहाड़ को तोड़-फोड़कर उसके अंतर से निकलनेवाला जीवन (पानी) प्रवाहित होता हुआ ही निर्मल हुआ करता है। इस वाच्यार्थ के बाद 'जीवन' शब्द के श्लेष द्वारा

यह व्यंग्यार्थ-बोध होता है कि मनुष्य का वही जीवन पवित्र तथा गतिशील होता है जो पहाड़-जैसी विपत्तियों को भी रौंदकर आगे बढ़ता ही जाता है। यहाँ व्यंग्यार्थ-बोध में 'जीवन' शब्द से मनुष्य के जीवन का जो बोध हुआ, वह वस्तु-रूप ही है। अतः यहाँ भी 'जीवन' पद में होने से उक्त ध्वनि पदगत ही है।

२ वाक्यगत शब्द-शक्ति-मूलक संलक्ष्यक्रम अलंकारध्वनि

चरन धरत चिंता करत भोर न भावे सोर।
सुबरन को ढूँढ़त फिरत कवि, व्यभिचारी, चोर ॥ प्राचीन

इस पद्य के चरन, चिंता, भोर, सोर और सुबरन श्लिष्ट हैं और कवि, व्यभिचारी और चोर, इन तीनों के क्रियायुक्त होकर विशेषण होते हैं। जैसे, सुबरन का अर्थ कवि के पक्ष में सुन्दर वर्ण, व्यभिचारी के पक्ष में सुन्दर रंग और चोर के पक्ष में सोना, तीनों ढूँढ़ते रहते हैं। इससे एक दूसरे के समान होने के कारण उपमा अलङ्कार की ध्वनि निकलती है।

सातवीं छाया

२ अर्थ-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि (स्वतःसंभवी)

जहाँ शब्द-परिवर्तन के बाद भी—अर्थात् उन शब्दों के पर्यायवाची शब्दों के द्वारा भी व्यंग्यार्थ का बोध होता रहे, वहाँ अर्थशक्ति-उद्भव ध्वनि होती है।

इसके मुख्य तीन भेद होते हैं—स्वतःसंभवी, कविप्रौढ़ोक्तिमात्र-सिद्ध और कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध। इन तीनों भेदों में कहीं वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ, दोनों ही वस्तुरूप में या अलंकाररूप में होते हैं और कहीं दोनों में एक वस्तुरूप में या अलंकाररूप में होता है। अतः प्रत्येक के (१) वस्तु से वस्तुध्वनि, (२) वस्तु से अलंकारध्वनि, (३) अलंकार से वस्तुध्वनि और (४) अलंकार से अलंकारध्वनि के भेद से चार-चार भेद होते हैं। पुनः ये चारो भी पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत के भेद से बारह-बारह हो जाते हैं।

१ वाक्यगत स्वतःसंभवी अर्थमूलक वस्तु से वस्तुध्वनि

कोटि मनोज लजावन हारे, सुमुखि ! कहहु को अहहिं तुम्हारे।
सुनि सनेहमय मंजुल बानी, सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी ॥ तुलसी

ग्राम-वधुओं के प्रश्न को सुनकर सीता का संकोच करना और अन्दर ही अन्दर मुसकाना, इस वाक्यगत वाच्यार्थ द्वारा 'रामचन्द्र' का पति होना व्यंजित है। पति-बोध का व्यंग्य किसी एक पद द्वारा नहीं होता, बल्कि 'सकुचि सीय मन महँ मुसकानी' इस वाक्य के अर्थ द्वारा। वाच्य और व्यंग्य दोनों निरलंकार हैं और वाच्य स्वतः-संभवी है। अतः यह उदाहरण वस्तु से वस्तुव्यंग्य का है।

२ वाक्यगत स्वतःसंभवी अर्थशक्तिमूलक वस्तु से अलङ्कारध्वनि

लिख पद पद पायो बड़ो, भयो भोग लवलीन।
जग जस बाढ्यो तो कहा, जो न देस-रति कीन॥ प्राचीन

इस दोहे में 'पद पाना' आदि वस्तुरूप वाच्यार्थ द्वारा इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है कि देश-भक्ति के बिना ये सब उन्नतियाँ व्यर्थ हैं। इसलिये यहाँ वाक्य द्वारा वस्तुरूप से 'विनोक्ति' अलंकार व्यंग्य है।

३ वाक्यगत स्वतःसंभवी अर्थशक्तिमूलक अलंकार से वस्तु व्यंग्य

ज्ञान-योग से हमें हमारा यही वियोग भला है।
जिसमें आकृति, प्रकृति, रूप, गुण, नाट्य, कवित्व, कला है॥ गुप्तजी

यहाँ इन पंक्तियों में अनेक गुणों के कारण वियोग को ज्ञान योग से कवि ने श्रेष्ठ बतलाया है। अतः यहाँ भी व्यतिरेकालंकार है। इस अलंकार से वियोग की मनोरमता और सरसता तथा योग की शुष्कता वस्तु व्यंजित होती है। अतः यहाँ अलंकार से वस्तु व्यंग्य है।

झर पड़ता जीवन-डाली से मैं पतझड़ का-सा जीर्ण पात।
केवल-केवल जग-आँगन में लाने फिर से मधु का प्रभात॥ पन्त

यहाँ उपमा और रूपक की संसृष्टि द्वारा 'मरण नवजीवन लाता है; क्योंकि पुनर्जन्म निश्चित है।' यह वस्तुरूप व्यंग्य वाक्य से निकलता है। अतः यहाँ भी वाक्यगत अलंकार से वस्तु ध्वनित है।

४ पदगत स्वतःसंभवी अर्थशक्तिमूलक अलंकार से अलंकारव्यंग्य

दमकत दरपन दरप दरि दीप-सिखा-दुति देह।
वह दृढ़ इक दिसि दिपत, यह मृदु दस दिसनि, सनेह॥ दु०ला०भार्गव

दर्पण का दर्प दूर करके दीप-शिखा-द्युतिवाली देह दमकती है अर्थात् दीप्ति फैला रही है। वह कठोर दर्पण एक दिशा में ही चमकता

है, पर यह कोमल शरीर दूसरी दिशाओं में भी चमकता है। यहाँ 'दीप-सिखादुति' में उपमालंकार है और यही उत्तरार्द्ध में आये हुए व्यतिरेकालंकार का द्योतक है। क्योंकि द्युति को दीप-शिखा के औपम्य से न बाँधा जाता तो दर्पण से इसमें विशेषता न आती और न व्यतिरेक को प्रश्रय मिलता।

आठवीं छाया

कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र-सिद्ध

१ पदगत कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि

जो वस्तु केवल कवियों की कल्पना-मात्र से ही सिद्ध होती हो, व्यावहारिक रूप से उसकी प्रत्यक्ष सिद्धि न हो, उसीको कवि प्रौढ़ोक्ति-मात्र-सिद्ध कहते हैं। जैसे, कामदेव के फूलों का बाण होना, यश का उज्ज्वल होना, कलंक को काला तथा राग को लाल मानना, विरह से जलना, मधु का सागर लहराना आदि।

जाता मिलिन्द देकर अन्तिम अधीर चुम्बन लोहितनयग कुसुम को।
क्रन्दनविनीत कातर आरक्त-पद्मलोचन सखि कौन शोक तुमको॥ **आरसी**

यहाँ लोहितनयन (लाल नेत्रवाला) यह विशेषण वस्तुरूप पद है और कवि-प्रौढ़ोक्तिमात्र-सिद्ध है। क्योंकि 'लोहितनयन' फूल नहीं हो सकता। अतः यहाँ कविकल्पित वस्तुरूप पद 'लोहितनयन' से विकसित फूल की वियोग दशा ध्वनित होती है। वियोग-काल में रोने के कारण नेत्रों का लाल होना स्वाभाविक है। अतः यहाँ कविप्रौढ़ोक्ति-मात्र-सिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि है।

२ वाक्यगत कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र-सिद्ध वस्तु से वस्तु ध्वनि

सिय-वियोग-दुख केहि बिधि कहउँ बखानि।
फूल बान ते मनसिज बेधत आनि॥
सरद-चाँदनी सँचरत चहुँ दिशि आनि।
बिधुहि जोरि कर बिनवत कुल गुरु जानि॥ तुलसी

यहाँ कामदेव का अपने फूल के बाणों से सीता को बेधना; शरद-चाँदनी का चारों दिशाओं में फैलकर जलाना और चन्द्रमा को कुल-गुरु मानकर सीता का प्रार्थना करना आदि कवि-प्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु है। मगर इन्हीं कवि-कल्पित वस्तुओं से सीता की वियोग-दशा

तथा प्रेमाधिक्य वस्तु ध्वनित होती है जो वाक्य से है। इसलिये यह वाक्यगत वस्तु से वस्तुध्वनि का उदाहरण हुआ।

३ पदगत कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य

बास चहत हर सयन हरि तापस चाहत स्नान।
जस लखि श्री रघुवीर को जग अभिलाषावान॥ प्राचीन

यश को स्वच्छ—उज्ज्वल बताना कविप्रौढ़ोक्ति है। यश को देखकर शिव उसे कैलास समझते हैं और वहाँ बसना चाहते हैं। विष्णु उसे क्षीरसागर समझ उसमें सोना चाहते हैं और तपस्वी गंगा जानकर उसमें स्नान करना चाहते हैं। श्रीरघुवीर के यश को देखकर संसार इसी प्रकार की अभिलाषायें करता है। इस वर्णनीय वस्तु से भ्रांति-अलंकार की ध्वनि होती है। यहाँ यश ही एक ऐसा पद है जो इस ध्वनि का व्यंजक है। अतः उक्त भेद का यह पदगत उदाहरण हुआ।

४ पदगत कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार से वस्तुध्वनि

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीपशिखा सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन,
दलित भारत की ही विधवा है। निराला

इस पद्य में अनेक उपमायें हैं। सभी एक-पदगत या अनेक-पदगत हैं। प्रत्येक पदगत उपमा से पृथक्-पृथक् भारतीय विधवा की पवित्रता, तेजस्विता, दयनीय दशा तथा असहायावस्था रूप वस्तु की ध्वनि होती है।

५ वाक्यगत कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य

प्रतिदिन भर्त्सना के संग
निर्दय अनादरों से भंग कर अन्तरंग,
क्रूर कटु बातों में मिलाके विष है दिया,
कन्या ने सदैव चुपचाप उसे है पी लिया।
राजकन्या कृष्णा ने पिया था विष एक बार,
मेरी जानकी ने पिया रातदिन लगातार। सि. रा. श. गुप्त

वाक्यगत वर्णन में व्यतिरेक अलङ्कार स्पष्ट है। इससे कन्या

जानकी की पितृभक्ति, सहिष्णुता आदि वस्तु व्यंजित हैं। बातों में विष मिलाना, बातों को पी जाना आदि कवि-प्रौढ़ोक्ति हैं।

६ प्रबन्धगत कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध अलङ्कार से वस्तु व्यंग्य

राजसूय यज्ञ

राजसूय यह यज्ञ विभीषण !

संसृति के विशाल मण्डप में यह भीषण विराट आयोजन
समिधि बने हैं, आज राष्ट्र ये हिंसा का जल रहा हुताशन !
वसुन्धरा की महावेदिका धधक उठी है हवनकुंड बन !
पहन प्रौढ़ दुर्भेद्य लौह के वसन रक्तरंजित दानवगण !
मानव के शोणित का घृत ले नरमुण्डों के ले अक्षतकण !
विध्वंसों पर अट्टहास भर-भर कर-कर स्वाहा उच्चारण !
होम कर रहे लक्ष करों में लिया स्रुवा शस्त्रों के भीषण !
करता है साम्राज्यवाद का विजयघोष अम्बर में गर्जन !
तुमुल नादकारी विस्फोटक करते साममन्त्र का गायन !
आग्नेयों का धूम पुञ्ज कर रहा निरन्तर गगन-विकम्पन !
अवभृथ इन्हें कराने आये क्यों न प्रलय ही सिन्धुलहर बन !
राजसूय यह यज्ञ विभीषण ! मिलिन्द

इस प्रबन्ध के साङ्गरूपक अलङ्कार से विश्वव्यापी महायुद्ध की भीषणता और योद्धाओं की तन्मयता वस्तु ध्वनित होती है।

नवीं छाया

कवि-निबद्ध-पात्र-प्रौढ़ोक्ति-मात्र-सिद्ध

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अर्थ-शक्ति-उद्भव का यह तीसरा भेद है। यह ध्वनि वहीं होती है जहाँ कवि-कल्पित-पात्र की प्रौढ़ (कल्पित) उक्ति द्वारा किसी वस्तु या अलंकार का व्यंग्य-बोध होता है। कवि-प्रौढ़ोक्तिमात्र-सिद्ध से इसका इतना ही भेद है कि वहाँ केवल कवि-कल्पित वस्तु या अलंकार से अलंकार या वस्तु की ध्वनि होती है; यहाँ कवि-कल्पित-पात्र की प्रौढ़ उक्ति से।

१ वाक्यगत कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य

धूम धुआँरे काजर कारे हम ही बिकरारे बादर।
मदनराज के वीर बहादुर पावस के उड़ते फणधर॥ पन्त

यहाँ बादल के 'मदनराज के वीर बहादुर' 'पावस के उड़ते फणधर' आदि वाक्य कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिसिद्ध हैं। इस कल्पित वस्तुरूप वाच्यार्थ से बादलों का अपने को 'कामोद्दीपक' 'वियोगियों के संतापकारक' कहना आदि वस्तु रूप व्यंग्य का बोध हो रहा है। उक्त व्यंग्यार्थ वाक्यों से निकलता है। इससे उक्त भेद का यह उदाहरण है।

मैं न बुझूँगी, अमर दीप की ज्वाला हूँ, बाला हूँ
पल-भर किसी कंठ से लगकर छिन्न हुई माला हूँ॥
जानकीवल्लभ शास्त्री

यहाँ कवि-निबद्ध-पात्र 'विधवा अपने को अमर दीप की ज्वाला हूँ, इसलिये कभी बुझ नहीं सकती' कह रही है। इस वस्तुरूप उक्ति से 'निरन्तर दुःख-संताप से जलनेवाली हूँ' इस वस्तुरूप व्यंग्य का बोध होता है। अतः यह उदाहरण वाक्यगत उपर्युक्त भेद का ही है।

२ पदगत कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य

दियो अरघ नीचे चलौ संकट भानै जाइ।
सुचती ह्वै औरै सबै ससिहिं बिलोकैं आइ॥ बिहारी

सखी नायिका से कहती है कि तुम अब नीचे चलो, जिससे निश्चिन्त हो अन्य सभी स्त्रियाँ चन्द्रमा को देखें। क्योंकि वे समझ नहीं पा रही हैं कि असल में चन्द्रमा कौन है—तुम्हारा मुख या उदित चन्द्रमा। यहाँ नायिका के मुख में चन्द्रमा के आरोप से रूपक अलङ्कार ध्वनित है। शशी में होने से पदगत है।

३ वाक्यगत कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तु व्यंग्य

मरबै को साहस कियौ, बढ़ी बिरह की पीर।
दौरति है समुहै ससी, सरसिज, सुरभि-समीर॥ बिहारी

यहाँ कवि-निबद्ध-पात्र दूती है और उसका यह कहना कि विरहाधिक्य से मरने के लिये वह सरसिज, शशी तथा सुरभि-समीर के सम्मुख दौड़ती है। यह प्रौढ़ोक्ति-मात्र से सिद्ध है। प्रौढ़ोक्ति समस्त वाक्य में है। मरने के लिये उक्त वस्तुओं की ओर दौड़ पड़ना प्रकृति-

विरुद्ध प्रयत्न है। इससे यहाँ विचित्र अलंकार है। उससे नायिका के विरह का सन्तापाधिक्य वस्तु ध्वनित है। अतः वाक्यगत अलंकार से यहाँ वस्तुध्वनि है।

४ वाक्यगत कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य

नित संसौ हंसौ बचत मनहुँ सु यहि अनुमान।
बिरह अगिनि लपटन सकत झपटि न मीचु सचान॥ बिहारी

निरन्तर सन्देह बना रहता है कि इस वियोगिनी का हंस अर्थात् जीव कैसे बचा हुआ है? सो यही अनुमान होता है कि मृत्यु रूपी बाज विरहाग्नि की लपटों के कारण हंस-जीव पर झपट नहीं सकता।

सखी की उक्ति। 'विरह अगिनि' 'मीचु सचान' पात्र-प्रौढ़ोक्ति है और दोनों में रूपक है। न मरने के समर्थन से काव्यलिङ्ग भी है। इन दोनों से विशेषोक्ति की ध्वनि है। क्योंकि कारण रहते भी कार्य नहीं होता।

दसवीं छाया

ध्वनियों का संकर और संसृष्टि

जहाँ एक ध्वनि में दूसरी ध्वनि दूध और पानी की तरह मिलकर रहती है, वहाँ ध्वनि-संकर तथा जहाँ एक में दूसरी ध्वनि मिलकर भी तिल और चावल के समान पृथक्-पृथक् परिलक्षित रहती है वहाँ ध्वनि-संसृष्टि होती है।

ध्वनि-संकर के मुख्य तीन भेद होते हैं—(१) संशयास्पद संकर (२) अनुग्राह्यानुग्राहक संकर और (३) एकव्यंजकानुप्रवेश संकर

जहाँ अनेक ध्वनियों में किसी एक के निश्चय का न कोई साधक हो न बाधक वहाँ संशयास्पद संकर होता है।

मोर मुकुट की चन्द्रिकन, यों राजत नँदनंद।
मनु ससिसेखर के अकस, किय सेखर सत चन्द॥ बिहारी

भक्त की उक्ति होने से देवविषयक रति भाव की, नायिका के प्रति दूती की उक्ति होने से शृङ्गार रस की और सखी की उक्ति सखी के

प्रति होने से कृष्ण-विषयक रति भाव की ध्वनि है। अतः एक प्रकार की यह भी वक्तृबोद्धव्य की विलक्षणता से संशयास्पद संकर ध्वनि है।

अनुग्राह्यानुग्रहक संकर

जहाँ अनेक ध्वनियों में एक ध्वनि दूसरी ध्वनि की समर्थक हो—अर्थात् एक दूसरी का अंग हो वहाँ उक्त संकर होता है।

पड़ा सूखा काठ
ठोकरें खाते-खिलाते पहर जाते आठ।
× × ×
ठेस देकर काठ कहता—सुनो लोगो और।
यही फल भोगो, चलो या जमीं पर कर गौर॥
काठ किसको काटता ?—मत चीखते जाओ।
घर अगर जाना तुम्हें कुछ सीखते जाओ॥
नया कर लो याद मत भूलो पुराना पाठ।
पड़ा सूखा काठ॥ जानकीवल्लभ शास्त्री

ठेस देकर काठ का उपदेश देना जो मुख्य पद का वाच्यार्थ है उसका बाध इसलिये है कि ठेस देने की प्रवृत्ति और उपदेश देने की क्षमता चेतनगत धर्म है, शुष्ककाष्ठगत नहीं। अतः वाच्यार्थ का बाध हो जाने से लक्ष्यार्थ होता है कि काठ-सा क्षुद्र भी सदुपदेश देने का अधिकारी है। इससे व्यंग्यार्थ का बोध होता है कि संसार का कोई व्यक्ति तिरस्कार्य नहीं; ठोकर खाकर यह समझ लो। यहाँ अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि है। आगे की पंक्ति से अपनी असावधानी से दुःख पाकर लोग व्यर्थ ही भाग्य को कोसा करते हैं, यह व्यंग्यार्थ विवक्षितान्य-पर-वाच्य ध्वनि का रूप खड़ा करता है। अतः यहाँ दो ध्वनियाँ हुई—एक लक्षणामूला और दूसरी अभिधामूला। और, उक्त पद्य में जो यह वाक्य है कि 'काठ किसको काटता' ? इसमें जो काठ शब्द है, वह अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य ध्वनि द्वारा अपने में असमर्थता, निर्जीवता, उपेक्षणीयता आदि का बोध कराता है और तब जो 'मत चीखते जाओ' कहता है उससे अपने ऐसे तुच्छ में भी अपमान होने पर प्रतीकार-समर्थता रूप व्यंग्य प्रकट करता है। इससे जो सारे व्यंग्यार्थ का बोध होता है वह यह कि 'समय पाकर एक तुच्छ पद-

दलित भी अपना बदला सधा सकता है। एक तिनके को भी कमजोर न समझो। एक तिनका भी तुम्हें कुछ सबक सिखा सकता है—आदि'। इस व्यंग्यार्थ के बोध कराने में काठ की अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि मुख्य है। पहलेवाली दो ध्वनियाँ अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य और विवक्षितान्य-पर-वाच्य ध्वनियाँ सहायक होती हैं और तब उपर्युक्त व्यंग्य प्रकट होता है। अतः यह अनुग्राह्य अनुग्राहक का उदाहरण है।

एकव्यंजकानुप्रवेश संकर

जहाँ एक से अधिक ध्वनियाँ एक ही पद या वाक्य में होती हैं वहीं यह भेद होता है।

मैं नीर-भरी दुख की बदली!
विस्तृत नभ का कोई कोना, मेरा न कभी अपना होना।
परिचय इतना इतिहास यही, उमड़ी कल थी मिट आज चली।
मैं नीर-भरी दुख की बदरी ॥ म० दे० वर्मा

हूँ तो मैं नीर-भरी दुख की बदली, पर बदली का-सा मेरा भाग्य कहाँ? बदली को विस्तृत नभ में छा जाने का अवसर भी मिलता है, पर मुझे तो इस घर के कोने में ही बैठकर अपने दुःख के दिन काटने पड़ते हैं। इस प्रकार उपमान से उपमेय की न्यूनता बताने से व्यतिरेक अलंकार स्पष्ट है। यहाँ बदली और विरहिणी की समानता न वाच्य है न लक्ष्य, अपितु साफ व्यंग्य है। बदली सही-सही आज उमड़ती और कल मिटती है; नीर-भरी तो है ही; पर विरहिणी ठीक वैसी नहीं। भले ही वह क्षणभर के लिये उल्लसित होकर फिर उदासीन हो जाती हो और आँसुओं से डबडबायी रहती हो। अतः समता की व्यंजना ही है जो संलक्ष्यक्रम है। इसी प्रकार समस्त गीत के वाच्यार्थ से करुण रस की भी व्यंजना होती है जो असंलक्ष्यक्रम है। अतः एक व्यंजकानुप्रवेश का यह उदाहरण है।

ध्वनियों की संसृष्टि—

ऊपर कहा गया है कि बिल्कुल आपस में मिलकर तादात्म्य जैसा स्थापित कर लेनेवाली ध्वनियों का संकर होता है और बिल्कुल भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाली एक से अधिक ध्वनियों की संसृष्टि होती है। इसलिये अब अवसर संगति से संसृष्टि का वर्णन किया जाता है। जैसे,

मचल-मचलकर उत्कण्ठा ने छोड़ा नीरवता का साथ।
विकट प्रतीक्षा ने धीरे से कहा, निठुर हो तुम तो नाथ॥
नाद ब्रह्म की चिर उपासिका मेरी इच्छा हुई हताश।
बहकर उस निस्तब्ध वायु में चला गया मेरा निःश्वास॥ नवीन

१. उत्कण्ठा का मचल-मचलकर नीरवता का साथ छोड़ना संभव नहीं। इससे लक्षणा द्वारा उत्कंठा की तीव्रता से उत्कंठित का चुस्त होकर बोल उठना अर्थ हुआ। प्रयोजन व्यंग्य हुआ। उत्कंठा का सीमा से पार हो जाना।

२. प्रतीक्षा का धीरे से कहना संभव नहीं। अतः लक्षणा द्वारा अर्थ हुआ—प्रतीक्षक का अधीर होकर उपालम्भ देना। व्यंग्य है प्रतीक्षा की असह्यता।

३. इच्छा के हताश होने का लक्षणा द्वारा अर्थ हुआ इच्छुक की आशाओं पर पानी फिर जाना। व्यंग्य है इच्छा और आशा की अरुन्तुद असफलता।

४. निःश्वास के स्तब्ध वायु में बह जाने का लक्षणा द्वारा अर्थ हुआ सर्द आहों का बेकार होना, कुछ असर न डालना। व्यंग्यार्थ है आश्वासन या समवेदना का नितान्त अभाव।

इन चारों ध्वनियों में से कोई किसी का अंग नहीं। ये पृथक्-पृथक् प्रतीत होती हैं।

ग्यारहवीं छाया

गुणीभूत व्यंग्य

वाच्य की अपेक्षा गौण व्यंग्य को गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं।

गौण का अर्थ है अप्रधान—मुख्य न होना और गुणीभूत का अर्थ है अप्रधान बन जाना अर्थात् वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारक न होना।

अभिप्राय यह कि जहाँ व्यंग्य अर्थ वाच्य अर्थ से उत्तम न हो अर्थात् वाच्य अर्थ के समान ही हो या उससे न्यून हो वहाँ, गुणीभूत व्यंग्य होता है।[1]

---

[1] अपरं तु गुणीभूतव्यंग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यंग्ये। साहित्यदर्पण

प्राचीन आचार्यों ने सामान्यत: गुणीभूत होने के आठ कारण निर्द्धारित किये हैं। इससे इसके आठ भेद होते हैं—१ अगूढ़ व्यंग्य २ अपरांग व्यंग्य ३ वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यंग्य ४ अस्फुट व्यंग्य ५ संदिग्ध-प्राधान्य व्यंग्य ६ तुल्य-प्राधान्य व्यंग्य ७ काकाक्षिप्त व्यंग्य और ८ असुन्दर व्यंग्य।

१ अगूढ़ व्यंग्य

जो व्यंग्य वाच्यार्थ के समान स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है वह अगूढ़ व्यंग्य कहलाता है।

पुत्रवती जुबती जग सोई।
रामभक्त सुत जाकर होई॥ तुलसी

जिसका पुत्र रामभक्त है वही युवती पुत्रवती है। यहाँ अर्थ-बाधा है। क्योंकि ऐसी युवतियाँ पुत्रवती भी हैं जिनके पुत्र रामभक्त नहीं हैं। अत: लक्ष्यार्थ होता है उन युवतियों का पुत्रवती होना न होने के बराबर है जिनके पुत्र रामभक्त नहीं हैं। व्यंग्यार्थ है रामभक्त-पुत्रवाली युवती जगत में प्रशंसनीय है। यह व्यंग्य वाच्यार्थ ही के ऐसा स्पष्ट है और वाच्य का अर्थान्तर में संक्रमण है।

धनिकों के घोड़ों पर झूलें पड़ती हैं
हम कड़ी ठंढ में वस्त्रहीन रह जाते।
वर्षा में उनके श्वान छाँह में सोते
हम गीले घर में जगकर रात बिताते। मिलिन्द

इस पद्य से यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि कोई शोषितों के सुख-दु:ख की चिन्ता नहीं करता। उनकी दशा जानवरों से भी गयी-बीती है। यह व्यंग्य अर्थ-शक्ति से ही निकलता है और वाच्यार्थ ही की तरह अगूढ़ है—स्पष्ट है।

२ अपराङ्ग व्यंग्य

जो व्यंग्य अर्थ किसी अपर (दूसरे) अर्थ का अङ्ग हो जाता है वह अपराङ्ग व्यंग्य कहलाता है।

'अपर' के पेटे में आठ रस, भाव आदि असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेद, दो संलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेद और वाच्य अर्थ, कुल ग्यारह आते हैं। यहाँ अंग हो जाने का अभिप्राय है गौण हो जाना अर्थात् अंगी का सहायक होकर रहना जिससे अंगी परिपुष्ट हो।

गुणीभूत रस १ रसवत् अलंकार २ गुणीभूत भाव प्रेयस् अलंकार ३ गुणीभूत रसाभास तथा ४ गुणीभूत भावाभास ऊर्जस्वी अलंकार और ५ गुणीभूत भावशान्ति समाहित अलंकार के नाम से अभिहित होते हैं। ६ भावोदय ७ भावसन्धि और ८ भावशबलता अपने-अपने नाम से ही अलंकार कहे जाते हैं। जैसे, भावोदय अलंकार, भावसन्धि अलंकार आदि।

(क) रस में रस की अपराङ्गता

एक रस जहाँ किसी दूसरे रस का अङ्ग हो जाता है वहाँ वह रस अपराङ्ग गुणीभूत व्यंग्य हो जाता है।

रस के अपराङ्ग होने का अभिप्राय उसके स्थायी भाव के अपरांग होने से है। क्योंकि परिपक्व रस किसी दूसरे का अंग नहीं हो सकता।

> सपनो है संसार यह रहत न जाने कोय।
> मिलि पिय मनमानी करौ काल कहाँ धौं होय। प्राचीन

यहाँ शान्त रस शृङ्गार रस की पुष्टि कर रहा है। अतः शृङ्गार रस का अंग हो जाने से शान्त अपराङ्ग हो गया है। यहाँ एक असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ही का दूसरा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य अंग है।

(ख) भाव में भाव की अपरांगता

जहाँ एक भाव दूसरे भाव का अङ्ग हो जाता है वहाँ भाव से भाव की अपराङ्गता होती है।

> डिगत पानि डिगुलात गिरि, लखि सब व्रज बेहाल।
> कंपि किशोरी दरसि कै, खरै लजाने लाल॥ बिहारी

यहाँ कृष्ण के सात्विक भाव कंप से व्यंजित रति भाव का लज्जा भाव अंग है। अतः एक भाव दूसरे भाव का अंग है।

(ग) भाव में भाव-संधि की अपरांगता

जहाँ समान चमत्कार-बोधक दो भावों की संधि किसी भाव का अंग होकर रहती है वहाँ भाव-संधि की अपरांगता होती है।

> छुटै न लाज न लालचौ प्यौ लखि नैहर गेह।
> सटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह॥ बिहारी

इसमें प्रिय-मिलन का लालच (औत्सुक्य और चपलता) तथा नैहर की लाज दोनों भावों की संधि है जो नायक-विषयक रति भाव का अंग है।

(घ) भाव में भाव-शबलता की अपरांगता

जहाँ भाव-शबलता किसी भाव का अंग हो जाती है, वहाँ उसकी अपरांगता होती है।

रीझि-रीझि, रहसि-रहसि, हँसि-हँसि उठै,
साँसैं भरि, आँसू भरि कहत दई-दई।
चौंकि-चौंकि, चकि-चकि, उचकि उचकि-'देव',
जकि-जकि, बकि-बकि परत बई-बई
दुहुन को रूप गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात रीति नेह की नई-नई।
मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधिका मैं
राधा मन मोहि-मोहि मोहन मई-मई।

यहाँ भी मोहन के विषय में राधा के और राधा के विषय में मोहन के रति भाव के हर्ष, मोह, विषाद, उत्सुकता आदि पद्योक्त संचारी भाव अंग होकर आये हैं। अतः यहाँ भाव-शबलता की अपरांगता है।

३ वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य

जहाँ अपेक्षित व्यंग्य से वाच्यसिद्धि होती है वहाँ वाच्य-सिद्ध्यंग व्यंग्य होता है।

वाच्य-सिद्ध्यंग और अपरांग में यही विभिन्नता है कि अपरांग में वाच्य की सिद्धि के लिये व्यंग्य की अपेक्षा नहीं रहती। व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की थोड़ी-बहुत सहायतामात्र कर देता है। पर, वाच्यसिद्ध्यंग में तो व्यंग्यार्थ के बिना वाच्यार्थ की सिद्धि ही नहीं हो सकती।

पँखड़ियों में ही छिपी रह, कर न बातें व्यर्थ।
ढूँढ़ कोषों में न प्रियतम—नाथ का तू अर्थ॥
हटा घूँघट पट न मुख से; मत उझककर झाँक।
बैठ पर्दे में दिवानिशि मोल अपनी आँक॥
कर अभी मत किसी सुन्दर का निवेदन ध्यान;
री सजनि वन की कली नादान॥ आरसी

वन की कली के प्रति यह कवि की उक्ति है। इसमें व्यर्थ बातें करना, कोषों में प्रियतम का अर्थ ढूँढ़ना, मुख से घूँघुट हटाना, उझककर झाँकना, पर्दे में बैठकर रात-दिन अपना मूल्य आँकना आदि ऐसा वर्णन

है जिससे एक मुग्धा नायिका का भान होता है। यदि यह व्यंग्य न मानें तो कली से जो बातें ऊपर कही गयी हैं उनकी सिद्धि ही नहीं होती। अतः यहाँ मुग्धा नायिका का व्यंग्य वाच्योपस्कारक होने से वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूत व्यंग्य है।

४ अस्फुट व्यंग्य

जहाँ व्यंग्य स्फुट रीति से नहीं समझा जाता हो, वहाँ अस्फुट व्यंग्य होता है।

अर्थात् जहाँ व्यंग्य अच्छी तरह सहृदयों को भी न प्रतीत होता हो। बहुत माथापच्ची करने—दिमाग लड़ाने पर ही जो समझ में आ सकता हो, वह अस्फुट व्यंग्य है। जैसे,

खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगंध के,
प्रथम वसंत में गुच्छ गुच्छ। निराला

यहाँ यौवन के पहले चरण में प्रेयसी की नयी-नयी अभिलाषाएँ उदित हुईं, ऐसा व्यंग्यार्थ-बोध कठिनता से होता है। यह व्यंग्य यहाँ अस्फुट है—बहुत गूढ़ है।

५ संदिग्ध-प्राधान्य व्यंग्य

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों में किसकी प्रधानता है इस बात का जहाँ संदेह रहता है वहाँ संदिग्ध-प्राधान्य व्यंग्य होता है।

थके नयन रघुपति छबि देखी। पलकनहूँ परिहरी निमेखी।
अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी। तु०

रामचन्द्र की छबि देखते-देखते जानकी अत्यन्त स्नेह से वैसे विभोर हो गयीं जैसे शरद के चन्द्रमा को देखकर चकोरी विभोर हो जाती है। यहाँ भी वाच्यार्थ (उपमागत) का चमत्कार अधिक है या 'देह भइ भोरी' से व्यज्यमान जड़ता संचारी भाव का। इसमें सन्देह रहने के कारण ही यह उदाहरण संदिग्ध-प्राधान्य का है।

६ तुल्यप्राधान्य व्यंग्य

जहाँ व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों की प्रधानता तुल्य हो, समान ही प्रतीत होती हो वहाँ तुल्यप्राधान्य व्यंग्य होता है।

आज बचपन का कोमल गात जरा का पीला पात!
चार दिन सुखद चाँदनी रात, और फिर अंधकार अज्ञात॥ पन्त

बचपन का कोमल कलेवर बुढ़ापे में पीले पात-का-सा असुन्दर और निष्प्रभ हो जाता है। चाँदनी रात भी कुछ ही दिनों के लिये होती है। फिर तो अंधकार ही अंधकार है। इससे यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि संसार में सबके सब दिन एक समान नहीं व्यतीत होते। यहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रधानता तुल्य है।

७ काकाक्षिप्त व्यंग्य

जहाँ काकु द्वारा आक्षिप्त होकर व्यंग्य अवगत होता है वहाँ गुणीभूत काकाक्षिप्त होता है।

काकाक्षिप्त के कुछ उदाहरण ये हैं—

पंचानन के गुहा द्वार पर रक्षा किसकी ?

किसी की रक्षा नहीं। यह काकु द्वारा आक्षिप्त व्यंग्य है।

नेक कियो न सनेह गुपाल सो देह धरे को कहा फल पायो।

जब गोपाल से कुछ भी नेह का नाता नहीं जोड़ा तो जन्म लेने का क्या फल पाया ? कुछ भी नहीं। यह काकाक्षिप्त व्यंग्य है।

हैं दससीस मनुज रघुनायक ?
जिनके हनूमान से पायक।

यहाँ काकु से व्यंग्य आक्षिप्त होता है कि राम मनुष्य नहीं, देवता हैं।

८ असुन्दर व्यंग्य

जहाँ वाच्यार्थ से प्रतीत होनेवाला व्यंग्यार्थ कुछ भी मनोहर न हो वहाँ असुन्दर व्यंग्य होता है। जैसे,

बैठी गुरुजन बीच में सुनि मुरली की तान।
मुरझति अति अकुलाय उर परे साँकरे प्रान॥ प्राचीन

मुरली की तान सुनकर गुरुजनों के बीच बैठी हुई बाला मसोस-कर मुरझा जाती है; प्राण संकट में पड़ जाते हैं। यह वाच्यार्थ है। व्यंग्यार्थ है मुरली की तान का संकेत पाकर भी गोपिका का कृष्ण से मिलने के लिये जाने में असमर्थ होना। इसमें व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ कहीं अधिक सुन्दर है।

सातवाँ प्रकाश

काव्य

पहली छाया

काव्य के भेद (प्राचीन)

स्वरूप वा रचना के विचार से काव्य के दो भेद होते हैं—१ श्रव्य काव्य और २ दृश्य काव्य।

१—जिन काव्यों के आनन्द का उपभोग सुनकर किया जाय वे श्रव्य काव्य हैं। श्रव्य काव्य नाम पड़ने का कारण यह है कि पहले मुद्रणकला का आविर्भाव नहीं हुआ था, इससे सुन-सुनाकर ही सब लोग काव्यों का रसास्वादन करते थे। अब काव्य पढ़कर भी काव्य के आनन्द का उपभोग किया जा सकता है।

२—जिन काव्यों के आनन्द का उपभोग अभिनय देखकर किया जाय वह दृश्य काव्य है। श्रव्य काव्य के समान दृश्य काव्य भी पढ़े और सुने जा सकते हैं। किन्तु अभिनय द्वारा इनका देखना ही प्रधानतः अभीष्ट होता है। नट अपने अंग, वचन, वस्त्राभूषण आदि से व्यक्ति-विशेष की विशेष अवस्था का अनुकरण कर रंगमंच पर खेल दिखाते हैं। नट के कार्य होने के कारण दृश्य काव्य को नाटक और व्यक्ति विशेष के रूप को नट में आरोप करने के कारण इसको रूपक भी कहते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से काव्य का यह भेद स्थूल कहा जा सकता है। कारण यह है कि श्रव्य काव्य में श्रवणेन्द्रिय की और दृश्य काव्य में नेत्रेन्द्रिय की प्रधानता होने पर भी अन्यान्य इन्द्रियों के सहयोग के बिना इनका प्रभाव नहीं पड़ सकता। मन पर जो सौन्दय स्फुटित होता है वह समस्त इन्द्रियों का सम्मिलित रूप ही होता है।

निबंध के भेद से श्रव्य काव्य के तीन भेद होते हैं—१. प्रबंध काव्य २. निबंध काव्य और ३. निर्बंध काव्य।

प्रबंध प्रकृष्टता—विस्तार का द्योतक है। प्रबंध काव्य के पद्य, प्रबंधगत कथावर्णन के अधीन तथा परस्परसम्बद्ध रहते हैं। वे सम्बद्ध रूप से अपने विषय का ज्ञान कराते, भाव में मग्न करते और रस में सराबोर करते हैं।

१—प्रबंध काव्य के तीन भेद होते हैं—(क) महाकाव्य, (ख) काव्य और (ग) खंड काव्य।

(क) किसी देवता, सद्वंशोद्भव नृपति, वा किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का वृत्तान्त लेकर अनेक सर्गों में जो काव्य लिखा जाता है वह महाकाव्य है। इन वृत्तान्तों के आधार पुराण, इतिहास आदि होते हैं। इनमें कोई एक रस प्रधान होता है और अन्य रस गौण। इनमें विविध प्रकार का प्राकृतिक वर्णन रहता है। अनेक छन्दों का उपयोग किया जाता है। ऐसी ही अनेक बातें लक्षण ग्रन्थों में महाकाव्य के सम्बन्ध में लिखी गयी हैं। उदाहरण में रामायण, रामचरित-चिन्तामणि, सिद्धार्थ, आर्यावर्त आदि महाकाव्य हैं।

रवीन्द्र बाबू का मत है कि वर्णानानुगुण से जो काव्य पाठकों को उत्तेजित कर सकता है; करुणाभिभूत, चकित, स्तम्भित, कौतूहली और अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कर सकता है, वह महाकाव्य है और उसका रचयिता महाकवि। उनका यह भी कहना है कि महाकाव्य में एक महच्चरित्र होना चाहिये और उसी महच्चरित्र का एक महत्कार्य और महदनुष्ठान होना चाहिये।

(ख) काव्य महाकाव्य की प्रणाली पर तो लिखा जाता है किन्तु उसमें महाकाव्य के लक्षण नहीं होते और न उसमें उसके ऐसा वस्तु-विस्तार ही देखा जाता है। एक कथा का निरूपक होने से यह एकार्थक काव्य भी कहा जाता है। यह भी सर्गवद्ध होता है। जैसे, प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी आदि।

(ग) खण्ड काव्य वह है जिसमें काव्य के एक अंश का अनुसरण किया गया हो। इसमें जीवन के एकांग का, वा किसी घटना का वा कथा का वर्णन रहता है जो स्वतः पूर्ण होता है। जैसे, मेघदूत, जयद्रथवध आदि।

२—निबंध साधारणता का द्योतक है। कथात्मक वा वर्णनात्मक जो कविता कई पद्यों में लिखी जाती है वह निबंध काव्य कहलाती है।

वह अपने कुछ पद्यों के भीतर ही संपूर्ण होती है। जैसे, पद्यप्रमोद, सूक्तिमुक्तावली आदि संग्रह काव्यों के काव्य-निबंध।

३—निर्बन्ध काव्य प्रबंध और निबंध के बंधनों से मुक्त रहता है। इसका प्रत्येक पद्य चाहे वह दो पंक्तियों का हो, चाहे कई पंक्तियों का, स्वतन्त्र होता है। इसके दो भेद होते हैं—(क) मुक्तक और (ख) गीत।

(क) मुक्तक अपने में परिपूर्ण तथा सर्वथा रसोद्रेक करने में स्वतन्त्र रूप से समर्थ होता है। बिहारी आदि कवियों की सतसइयों के दोहे, तुलसी, भूषण आदि कवियों के कवित्त सवैये इसके उदाहरण हैं।

२—गीत काव्य वह है जिसमें ताल-लय-विशुद्ध और सुस्वर-सम्बद्ध पंक्तियाँ हों। गेय होने के कारण इन्हें गीत कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं। (क) ग्राम्य और (ख) नागर।

ग्राम्य गीत वे हैं जिन्हें सामाजिक विधि-व्यवहारों के समय स्त्रियाँ गाती हैं। जैसे, सोहर आदि। इनमें हमारी भावना और संस्कृति का अक्षय भण्डार भरा है। पुरुषों के देहातों में प्रचलित गीत अल्हाऊदल, कुँअर बृजभान, लोरीकायन आदि हैं।

नागरिक गीत साहित्यिक हैं। इनके रचयिता अपने गीतों के कारण अजर-अमर है। 'गीत-गोविन्द' के रचयिता पीयूषवर्षी जयदेव, सहस्रों गीतों के रचयिता मैथिल-कोकिल विद्यापति, सूरसागर के रचयिता सूरदास, गीतावलियों के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास तथा अनेक प्रकार के गीतों के रचयिता अनेक भक्त कवि यश:शेष होने पर-भी हमारे बीच जीवित-जागृत हैं। आधुनिक गीति कविता भिन्न प्रकार की होती है, जिसका अन्यत्र वर्णन है।

शैली के भेद से काव्य तीन प्रकार का होता है—१ पद्य काव्य २ गद्य काव्य और ३ मिश्र काव्य या चम्पू काव्य। छन्दोबद्ध कविता को पद्य कहते हैं।

पद्य काव्यों में कवियों को कुछ स्वतन्त्रता रहती है और कुछ परतन्त्रता। स्वतन्त्रता इस बात की है कि वे छन्द में यथारुचि पद-स्थापन कर सकते हैं और परतन्त्रता इस बात की है कि वे छन्द के बंधन में बँधे रहते हैं। आज यह भी बंधन तोड़ दिया गया है और अमित्राक्षर या अतुकान्त की बात कौन चलावे स्वतन्त्र वा मनमाने छन्द की सृष्टि हो रही है। पर छन्दोबद्ध रचना का स्वारस्य इनमें नहीं रहता। इन्हें पद्य न कहकर पद्याभास वा वृत्त-गन्धि गद्य काव्य

कहना ही उचित प्रतीत होता है। अनेक गद्य-काव्यों के कवियों के गद्य-काव्यों में और स्वतन्त्र या मुक्त छन्दों में लिखे पद्य-काव्यों में कोई विशेष अंतर नहीं जान पड़ता।

गद्य-काव्य छन्द के बंधन से मुक्त है। तथापि उसमें कवियों के लिये कविता करना अत्यन्त कठिन है। कारण इसका यह है कि पद्य में एक पद भी चमत्कारक हुआ तो सारा पद्य चमक उठता है। यह बात गद्य में नहीं है। गद्य जब तक आद्यन्त रमणीय और चमत्कारक नहीं होता तब तक वह काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं होता।

गद्य-काव्य के एक-दो वाक्य वा वाक्य-खण्ड सरस वा सुन्दर होने से सारी की सारी गद्य-रचना कविता नहीं हो सकती। पद्य-कविता जैसी इसमें शब्दों को तोड़-मरोड़ करने की स्वतन्त्रता भी नहीं रहती, बल्कि प्रत्येक शब्द चुनकर रखने पड़ते हैं और वाक्य के संगठन का पूरा ध्यान रखना पड़ता हैं। अतः पद्य में कविता लिखने की अपेक्षा गद्य में काव्य-रचना करना कहीं कठिन कार्य है। कहा है 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'—गद्य को कवि की कसौटी कहते हैं। गद्य-काव्य लिखनेवालों में बाबू ब्रजनन्दन सहाय, रायकृष्ण दास श्री दिनेशनन्दिनी चोरड्या आदि का नाम लिया जा सकता है।

गद्य-पद्य-मिश्रित रचना को चंपू-काव्य कहते हैं। हिन्दी में चंपू-काव्य का बहुत अभाव है। प्रसादजी का 'उर्वशी' नामक और अक्षयवटजी का 'आत्मचरित चंपू' नामक चंपू चंपू-काव्य के लावण्य रखते हैं, किन्तु चंपू के गुण कम। आधुनिक दृष्टि से अज्ञेय का लिखा 'चिन्ता' नामक चंपू काव्य है। नाटक में गद्य-पद्य दोनों रहते हैं। किन्तु उनकी शैली संवाद-प्रधान होती है और इनकी वर्णन-प्रधान। यही इनमें अन्तर है।

दूसरी छाया

काव्य के भेद (नवीन)

यह सत्य है कि साहित्यिक रचना की शैलियों की कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती और न भेदोपभेदों के निर्देश से वह संकुचित ही हो जा सकती है तथापि उनके अन्तर्ज्ञान के लिये उनके भेदोपभेद आवश्यक हैं। प्राच्य आचार्यों ने उतने भेद नहीं किये हैं जितने कि

पाश्चात्यों ने। यह वर्गीकरण तब तक शिथिल नहीं हो सकता जब तक भाषा की सजीवता तथा नव-नव प्राण-संचार के प्रयत्न शिथिल नहीं हो सकते। हिन्दी-जैसी वर्द्धनशील तथा विकासशील भाषा के लिये यह असंभव है। कुछ भेदों का ही यहाँ निर्देश किया जाता है।

नवीन विचारों की दृष्टि से काव्य के निम्नलिखित भेद किये जाते हैं।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने लिखा है—"साधारणतः काव्य के दो विभाग किये जा सकते हैं। एक तो वह जिसमें केवल कवि की बात होती है और दूसरी वह जिसमें किसी बड़े सम्प्रदाय वा समाज की बात होती है।"

"कवि की बात का तात्पर्य उसकी सामर्थ्य से है जिसमें उसके सुख-दुख, उसकी कल्पना और उसके जीवन की अभिज्ञता के अन्दर से संसार के सारे मनुष्यों के चिरन्तन हृदयावेग और जीवन की मार्मिक बातें आप ही आप प्रतिध्वनित हो उठती हैं।"

"दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं जिनकी रचना के अन्तस्तल से एक सारा देश, एक सारा युग, अपने हृदय को, अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके उस रचना को सदा के लिये समादरणीय सामग्री बना देता है। इस दूसरी श्रेणी के कवि ही महाकवि कहे जाते हैं।"

मनोवृत्तियों और विषयों के आधार पर डाक्टर श्यामसुन्दर दास ने काव्य के निम्नलिखित ये तीन भेद किये हैं—"पहला भेद है, आत्माभिव्यञ्जन-सम्बन्धी साहित्य, अर्थात् अपनी बीती या अपनी अनुभूत बातों का वर्णन, आत्मचिन्तन या आत्मनिवेदन-विषयक हृदयोद्‌गार। ऐसे शास्त्र, ग्रन्थ या प्रबन्ध जो स्वानुभव के आधार पर लिखे जायँ, साहित्यालोचन और कला-विवेचक रचनायें, सब इसी विभाग के अन्तर्गत हैं। दूसरा, वे काव्य जिनमे कवि अपने अनुभव की बातें छोड़कर संसार की अन्यान्य बातें अर्थात् मानवजीवन से सम्बन्ध रखनेवाली साधारण बातें लिखता है। इस श्रेणी के अन्तर्गत साहित्य की शैली पर रचे हुए इतिहास, आख्यायिकायें, उपन्यास, नाटक आदि हैं। तीसरा, वर्णनात्मक काव्य। इस विभाग का कुछ अंश आत्मानुभव के अन्तर्गत भी आ जाता है।"

डंटन के मतानुसार काव्य दो प्रकार का होता है—१ एक शक्ति-काव्य (Poetry as energy) और २ दूसरा कलाकाव्य (Poetry as an art)। पहले में लोकप्रवृत्ति को परिचालन करनेवाला प्रभाव होता है और दूसरे में मनोरंजन करना वा लौकिक आनन्द देने का एकमात्र उद्देश्य रहता है।

पाश्चात्य-समीक्षक एक प्रकार से काव्य के और दो भेद करते हैं। १ एक वाह्यार्थ-निरूपक और दूसरा स्वानुभूति-निदर्शक। पहले को जगत् की वास्तविक व्यञ्जना होने के कारण प्रकृत वा यथार्थ काव्य कहते हैं और दूसरे को अन्तःकरण की प्रवल प्रेरणा और व्यंजना की तीव्रता के कारण संगीत रूप में प्रस्फुटित होने से गीतिकाव्य कहते हैं। पहले में प्रबन्ध-काव्य, कथा-काव्य और नाटक आते हैं और दूसरे में स्वच्छन्द मुक्तक रचनायें गिनी जाती हैं।

उपर्युक्त दोनों भेदों को विषय-प्रधान काव्य और विषयिप्रधान काव्य वा भावप्रधान काव्य भी कहते हैं। विषय-प्रधान काव्य का सम्बन्ध वाह्य जगत् के वर्णन के साथ है। इस कारण इसे वर्णन-प्रधान वा वर्णनात्मक वा वाह्यविषयात्मक काव्य कहते हैं। भावप्रधान काव्य में उत्कट मनोवेगों—भावों के प्रदर्शन की प्रधानता रहती है। इससे इसे भावात्मक, व्यक्तित्व-प्रधान वा आत्माभिव्यंजक काव्य कहते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य के नाटक-काव्य (Dramatic Poetry) प्रकृत (Realistic) आदर्शात्मक (Idealistic) उपदेशात्मक (Didactic) सौन्दर्य-चित्रणात्मक (Artistic) काव्य आदि अनेक भेद किये हैं जिनकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं। ये सामान्य भेद हैं।

डाक्टर सुधीरकुमार दास गुप्त ने मुख्यतः काव्य के दो भेद किये हैं—द्रुति काव्य और दीप्ति काव्य। द्रुतिमय काव्य का अवलंबन है हृदयगत भाव और वह चित्त में आस्वाद उत्पन्न करता है। दीप्तिमय काव्य का अवलंबन है बुद्धिगत रम्यार्थ और वह चित्त में रम्यबोध को उपजाता है।

द्रुति काव्य के तीन भेद हैं—रसोक्ति, भावोक्ति और स्वभावोक्ति, और दीप्ति काव्य के दो भेद हैं—गौरवोक्ति और वक्रोक्ति। स्वभावोक्ति में प्रकृति और प्राणि-सम्बन्धी कवितायें और वक्रोक्ति में अर्थ-वक्रोक्ति और अलंकार-वक्रोक्ति की कवितायें आती हैं।

भिन्न-भिन्न विचारकों द्वारा समय-समय पर जो काव्य के अनेक भेद-उपभेद किये गये हैं या किये जा रहे हैं वे इस बात के द्योतक नहीं हैं कि कौन-सा भेद उत्कृष्ट और कौन-सा भेद निकृष्ट है। कवित्व की दृष्टि से काव्य की सभी शैलियाँ तथा सभी भेद समान हैं। सूक्ष्म दृष्टि से इनके अंतरंग में पैठने पर नाममात्र का ही भेद लक्षित होगा, तत्वत: बहुत ही कम। आधुनिक युग में वर्गीकरण की यह मनोवृत्ति दिन पर दिन बढ़ती ही जा रही है। किन्तु हमें वर्गीकरण का उद्देश्य अध्ययन की सुविधा को ही लक्ष्य में रखना चाहिये। क्योंकि इस वर्गीकरण के बिना काव्य के कलात्मक रूपों की विभिन्नता का परिचय प्राप्त करने में कठिनता का बोध होगा।

तीसरी छाया

गीति-काव्य का स्वरूप

गीति-काव्य के लिये सबसे बड़ी बात है उसका संगीतात्मक होना। यह संगीत वाह्य न होकर आन्तरिक होता है। इसको अपने रूप की अपेक्षा नहीं रहती बल्कि यह शब्दयोजना पर निर्भर रहती है। पर अच्छे कवियों की भी गीति-कविता में इसका निर्वाह नहीं देख पड़ता और उसकी संगीतात्मकता में सन्देह उत्पन्न हो जाता है।

कवीन्द्र रवीन्द्र के इस सम्बन्ध का विचार ध्यान देने योग्य है। उन्होंने दिलीप बाबू के प्रश्न के उत्तर में जो कहा उसका भाव है कि पाश्चात्य देशों की गीति-कविता छापे के प्रचार से गेय न होकर श्रव्य हो गयी है। सभा-सोसाइटियों में मेरे अनेक गीत गाये गये हैं पर कोई भी मेरे सुर-सन्धान के अनुसार नहीं गाया जा सका। इसका अपवाद एक बालिका है जिसने मेरे मन के मुताबिक गीत गाया। उनका निश्चित मत है कि—

> के बा शुनाइल श्याम नाम?
> कानेर भीतर दिया मरमे पसिल गो
> आकुल करिल मोर प्राण

इसमें वे गीतिमत्ता मानते हैं पर इसी आशय की इस कविता में संगीत का अभाव ही नहीं, कविता को कविता भी कहना नहीं चाहते।

श्याम नाम रूप निज शब्देर ध्वनि ते
वाह्येन्द्रिय भेद करि अन्तर इन्द्रिये (भरि)
स्मृतिर वेदना ह'ये लागिल रणिते।

इस सम्मति के उद्धृत करने का अभिप्राय यह है कि गीतिकार के संगीतज्ञ होने पर भी उनके विरचित गीति-काव्य का संगीत में निर्वाह करना कठिन हो जाता है और दूसरी बात यह कि केवल संगीत आन्तरिक ही आवश्यक नहीं, उसका वाह्य रूप भी आवश्यक है। क्योंकि गेय होने के लिये गीति-काव्य का स्वरूप भी हेय नहीं है। यही कारण है कि गीति-कवितायें भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं।

गीति-कविता की भाषा में सरसता, सरलता, सुकुमारता और मधुरता होना आवश्यक है। प्रौढ़िप्रदर्शन, मनगढ़न्त शब्दों का मन-माने प्रयोग, कला के नाम पर अनुप्रास आदि का त्याग, पाण्डित्य-प्रकाशक कठिन वा दार्शनिक शब्दों की ठूस-ठास, अप्रसिद्ध शब्दों की भरमार, सापेक्ष और सार्थक शब्दों की न्यूनता, शब्द-ध्वनि का प्रयास और छोटे-छोटे छन्दों में गूढ़ भावों का समावेश अनावश्यक हैं।

सभी कवि अपनी भावना के अनुभूतिजन्य आवेग को, जीवन की मार्म्मिकता को गीति-कविता में अखण्ड रूप से प्रकाशन की क्षमता नहीं रखते जो इसके लिये आवश्यक है। एक ही अविच्छिन्न उन्मुक्त भावना इसका मेरुदण्ड है। ऐसी रचना मनोवेगात्मक होती है। कवि के अन्त:करण में कोई भावना उमड़-घुमड़कर बाहर निकल पड़ती है और गीति-रूप में उसके अन्तर को खोलकर रख देती है। सभी कवि गीतिकार नहीं हो सकते। सोच-विचारकर, जोड़-तोड़कर गीति-कविता नहीं लिखी जा सकती। सच्ची अनुभूति की गीति-कविता भावुक श्रोता और पाठक को अपने रस में सराबोर कर देती है।

एक प्रकार की गीति-कविता वह होती है जिसमें कवि की संवेदना-त्मक इच्छा-आकांक्षा, सुख-दु:ख, आशा-तृष्णा आदि की भावनायें रहती हैं। इसमें कवि की आत्मा ही बोलती है। दूसरे प्रकार की गीति कविता वह है जिसमें कवि का हृदय-संयोग उतना प्रतीत नहीं होता। वह उदासीन-सा प्रतीत होता है। किन्तु उसमें भी कवि के व्यक्तित्व की छाप अवश्य रहती है। एक को अन्तर्मुखी और दूसरी को बहिर्मुखी गीति-कविता कहते हैं।

गीति-कविता की शैली सरल, तरल, संक्षिप्त, सुस्पष्ट होनी चाहिये। भाषा, भाव और विषय में जितना सामञ्जस्य होगा उतना ही गीति-काव्य पूर्ण और प्रभावशाली होगा। यह सर्वाधिक अपेक्षित है। इसकी रूप-रेखा रंग-बिरंगी होनी चाहिये। इसमें भाव की स्वच्छता, भाषा का सौन्दर्य और वर्णन की विशेषता वाञ्छनीय है।

जिस गीति-कविता में शब्दों की सुन्दर ध्वनि, सुकुमार संदर्शन, सरल, सुन्दर तथा मधुर शब्द, कोमल कल्पना, संगीतात्मक छन्द, अनुभूति की विभूति, भावानुकूल भाषा और कलापूर्ण अभिव्यक्ति हो, वह गीति-कविता प्रशंसनीय है।

गीति-काव्य की रचना प्रेम, जीवन, देशभक्ति, दार्शनिक और धार्मिक भाव, करुणा, वेदना, दुख-दैन्य आदि विषयों को लेकर की जाती है।

गीति-काव्य विभिन्न प्रकार के होते हैं। उनमें व्यंग्यगीति, पत्र-गीति, शोकगीति, भावना-गीति, आध्यात्मिक गीति आदि मुख्य हैं।

हिन्दी-संसार प्रकृत गीति-काव्यकारों से सर्वथा शून्य नहीं है।

चौथी छाया

अर्थानुसार काव्य के भेद

कवि की कृतियाँ साधारण कोटि की नहीं होतीं। उनमें सरसता की, आनन्ददायकता की, व्यंजकता की मात्रा अधिक रहती है। अतएव सरसता आदि की तुला पर जिसका वजन हल्का या भारी होगा वह काव्य भी उसी अनुपात से अपकृष्ट या उत्कृष्ट होगा। इस दृष्टि से काव्य के चार भेद होते हैं—१ उत्तमोत्तम, २ उत्तम, ३ मध्यम और ४ अधम। इन्हें क्रमशः १ ध्वनि, २ गुणीभूत व्यंग्य, ३ वाच्यालंकार और ४ वाच्यचमत्कारयुक्त शब्दालंकार की संज्ञा दी गयी है।

ध्वनि-काव्य प्रथम श्रेणी का कहा जाता है। गुणीभूत व्यंग्य दूसरी कोटि का काव्य है। इसमें व्यंग्य वाच्य से उत्कृष्ट किन्तु ध्वनि से अपकृष्ट होने के कारण मध्यम से उच्चकोटि का होकर उत्तम हो जाता है। ध्वनि में व्यंग्य प्रधान रहता है और गुणीभूत में व्यंग्य गौण रूप से, अप्रधान रूप से। यह वाच्यार्थ के समान चमत्कारक वा उससे न्यून चमत्कारक होता है। वाच्य अलंकार में अर्थगत चमत्कार

अवश्य रहता है किन्तु उपमा, रूपक आदि के निबंधन की तत्परता उसे सामान्य बना देती है। शब्दालंकार से उत्कृष्ट और व्यंग्य से अपकृष्ट होने के कारण इसे मध्यम कहा जाता है। यह तीसरी श्रेणी का काव्य है। शब्दालंकार में जहाँ अर्थ-चमत्कार का थोड़ा भी निर्वाह है वहाँ मुख्यत: वर्णों या शब्दों पर ही कवि-दृष्टि केन्द्रित रहती है। अतएव यह चौथी श्रेणी का काव्य माना जाता है।

ध्वनिकाव्य और गुणीभूतव्यंग्य काव्य के लक्षण और उदाहरण दिये जा चुके हैं। यहाँ शेष दो के उदाहरण दिये जाते हैं।

वाच्य-अलंकार काव्य

जहाँ साक्षात् वाच्य-अर्थ पर चमत्कार रहे, व्यंग्य का आलोक नहीं हो अथवा हो भी तो वह आत्म-प्रतिष्ठा नहीं रक्खे, वहाँ वाच्य-अलंकार काव्य होता है। इसके उपमा, रूपक आदि अनेक भेद हैं।

वाच्य-अलंकार

इन्द्र जिमि जंभ पर, बाढ़व सुअंब पर, रावण सुदंभ पर रघुकुल राज हैं।
पौन वारिवाह पर, शंभु रतिनाह पर, ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं॥
दावा द्रुम दंड पर, चीता मृग झुंड पर, भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम अंश पर, कान्ह जिमि कंस पर, त्यों विपच्छवंश पर शेर शिवराज हैं।

यह शिवाजी की भूषण-कवि-कृत प्रशंसा है। इस पद्य में उपमाओं की माला-सी गूंथ दी गयी है। इसी बल पर इस काव्य की मधुरता है। यहाँ ध्वनि या गुणीभूत व्यंग्य की अपेक्षा नहीं रखकर उपमा के चमत्कार पर ही कवि का ध्यान केन्द्रित है। इसीलिये यह अर्थ-चित्र है। यहाँ उपमा से वस्तु ध्वनित होने की संभावना रहते हुए भी वह लक्ष्य नहीं है।

विप्र-कोप है और्व; जगत जलनिधि का जल है।
विप्र-कोप है गरल वृक्ष, क्षय उसका फल है॥
विप्र-कोप है अनल; जगत यह तृण-समूह है।
विप्र-कोप है सूर्य; जगत यह घूक-व्यूह है॥

रा० च० उपाध्याय

परशुराम के प्रति श्रीरामचन्द्र की यह उक्ति है। इस पद्य में रूपक की बहुलता—कवि की उसी विषय पर एकाग्रता—रसादि ध्वनि की भावना को बहुत पीछे छोड़ देती है। अर्थ-चमत्कार की विशेषता इसे शब्द-चित्र से ऊपर उठा देती है।

वाच्य-चमत्कार-युक्त शब्दालंकार काव्य

जहाँ ध्वनि आदि का लेश भी अपेक्षित न रहे और अर्थ में थोड़ा बहुत चमत्कार लिये शब्दों में अलंकार हो वहाँ काव्य का चतुर्थ भेद होता है।

तो पर बारों उरबसी, सुन राधिके सुजान।
तू मोहन के उरबसी, ह्वै उरबसी समान॥ बिहारी

प्रस्तुत पद्य में प्रथम उरबसी का एक भूषण-विशेष, द्वितीय का हृदय में बसना और तृतीय का अप्सरा अर्थ होता है। इन पदों के अर्थ में सर्वथा चमत्कार का अभाव नहीं है। इनमें उपमा के मधुर भाव का थोड़ा-बहुत अंश अवश्य है। इसीसे यहाँ काव्य का व्यवहार है।

लोक लीक नीक लाज ललित से नंदलाल
लोचन ललित लोल लीला के निकेत हैं।
सोहन को सोचना सँकोच लोक लोकन को
देत सुख ताको सखी, पूनो सुखदेत हैं।
'केशौदास' कान्हर के नेहरी के कोर कसे
अंग रंग राते रंग अंग अति सेत हैं।
देखि देखि हरि की हरनता हरननैनी
देख्यो नहीं देखत हीं हियो हरि लेत है॥

इस पद्य में कवि का मन मुख्यत: अनुप्रास के अनुसंधान में संलग्न है, फिर भी अथ का चमत्कार कुछ न कुछ है ही। 'देखत ही हियो हरि लेत है' का भाव हृदयग्राही है। अतएव इस श्रेणी के काव्य अत्यन्त साधारण श्रेणी के होते भी नगण्य नहीं हैं।

पाँचवीं छाया

चित्र-काव्य

आधुनिक कलाकार ने प्राचीन चित्रकाव्य के स्थान पर नये चित्र-काव्य का उद्भावन किया है और उसका नामकरण किया है 'चित्र-व्यंजना-शैली।' काव्य में चित्र-व्यंजना-शैली आधुनिक काव्यकला की एक विशेषता मानी गयी हैं। यह शैली वा चित्र-चित्रण परंपरा से प्रचलित है। संस्कृत-साहित्य में चित्रणकला के आदर्श-स्वरूप अनेकों चित्र वर्तमान हैं। प्राचीन कविता में बाण-भय से भीत पलायन-पर शकुन्तलानाटक के हरिण पर दृष्टि डालें तथा रीति-काल में भी चाहे नखशिख के रूप में हो चाहे घटना-विशेष के वर्णन के रूप में हो, चित्र-चित्रण विद्यमान था। किन्तु यह चित्र-चित्रण प्राचीन परंपरा के अनु-रूप था। इसपर आधुनिकता का रंग चढ़ जाने से इस युग का यह नया आविष्कार कहा जाने लगा है। निरालाजी के शब्दों में "प्राय: सभी कलाओं में मूर्ति आवश्यक है। अप्रहित मूर्ति-प्रेम ही कला का जन्मदाता है। जो भावनापूर्ण सर्वाङ्ग सुन्दर मूर्ति खींचने में जितना कृतविद्य है वह उतना ही बड़ा कलाकार है।" यह चित्र-व्यंजना-शैली पौरस्त्य और पाश्चात्य संस्कृतियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई है। इस चित्रणकला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें शुक्लजी के कथनानुसार सदा 'संश्लिष्ट योजना' रहती है। संक्षेप में चित्र-चित्रण-सम्बन्धी शुक्लजी का विचार यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"अधिकार द्वारा प्रकार का ग्रहण होता है—बिम्ब-ग्रहण और अर्थ-ग्रहण। किसी ने कहा—'कमल।' अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिये हुए सफेद पँखड़ियों और नाल आदि के सहित एक फूल का चित्र अन्त:करण में थोड़ी देर के लिये उपस्थित हो जाय और कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो, केवल पद का अर्थमात्र समझकर काम चलाया जाय।" का० प्रा० दृश्य

"सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमगे सृंगनि।
मनहुँ आदि अम्भोज विराजत सेवित सुरमुनि भृंगनि॥

सिखर परस घन घटहिं मिलति बग पाँति सो छवि कवि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दशन धरि धरनी॥

—तुलसी

केवल जलद न कहकर उसमें वर्ण और ध्वनि का भी विन्यास किया गया है। 'वर्ण' के उल्लेख से 'जलद' पद में बिम्ब-ग्रहण करने की जो शक्ति आयी थी वह रक्त-शृङ्ग के योग में और भी बढ़ गयी और बगलों की पंक्ति ने मिलकर तो चित्र को पूरा ही कर दिया। यदि ये वस्तुयें—मेघमाला, शृङ्ग, वक-पंक्ति अलग-अलग पड़ी होतीं, उनकी संश्लिष्ट योजना नहीं की गयी होती तो कोई चित्र ही कल्पना में उपस्थित नहीं होता। तीनों का अलग अर्थ-ग्रहणमात्र हो जाता, बिम्ब-ग्रहण न होता।" गो० तुलसीदास

फ्लिंट साहब के कथनानुसार यह चित्र-काव्य एक प्रकार का मूर्तविधान या रूप खड़ा करता है जिसमें वर्णित वस्तु इस रूप में हो जिससे उसकी मूर्तिभावना हो सके।

प्राचीनों के कुछ चित्र-चित्रण देखिये—

१ जेंवत श्याम नन्द की कनियाँ

कुछ खावत कुछ धरनि गिरावत छवि निरखत नँदरनियाँ।
डारत खात लेत आपन कर रुचि मानत दधिदनियाँ।
आपुन खात नंद मुख नावत सो सुख कहत न बनियाँ। सूर

२ ठुमुकि चलत रामचन्द्र बाजत पैजनियाँ

किलकिलात उठत धाय, गिरत भूमि लटपटाय।
बिहँसि धाय गोद लेत दशरथ की रनियाँ। तुलसी

रीतकालीन चित्रचित्रण का प्रयास देखिये—

छवि सों फबि सीस किरीट बन्यो रुचि साल हिये बनमाल लसै।
कर कंजहि मंजु रली मुरली कछनी कटि चारु प्रभा बरसै॥
कवि 'कृष्ण' कहै लखि सुन्दर मूरति यों अभिलाष जिये सरसै।
वह नन्दकिशोर विहारी सदा बनि बानिक मो हिय माँझ बसै॥

उपर्युक्त चित्र-चित्रण काव्य का एक अंग ही है और काव्य-वस्तु का वर्णन मात्र है। भले ही इनसे एक चित्र सामने आ जाता हो। यह यथार्थतः वस्तुपारिगणना-प्रणाली के अनुसार एक चित्रण कहा जा सकता है। इसमें आधुनिक चित्रण-कला का लवलेश भी नहीं है

तथापि यह कहा जा सकता है कि अपने समय के अनुसार चित्र-चित्रण के ये अच्छे आदर्श हैं।

प्राचीन कवि अपने वर्णन वा चित्र-चित्रण के लिये निश्चत रूप-वाले राम, कृष्ण, गंगा, यमुना आदि उपादानों का और कुछ अनिश्चित रूपवाले प्रात:, बादल, बिजली आदि उपादानों का ग्रहण करते थे। वे निश्चित वस्तुओं के चित्र-चित्रण का प्रयास करते थे और अनिश्चित वस्तुओं का वर्णन-मात्र। इसके विपरीत आधुनिक कवि निश्चित वस्तुओं का त्याग और अनिश्चित वस्तुओं के चित्र चित्रण का प्रयास करते हैं। इन वस्तुओं—काव्योपादानों में कुछ तो ऐसे हैं जो असाधारण प्राकृतिक पदार्थ हैं। जैसे निर्झर, ऊषा, रश्मि आदि। उनकी दृष्टि साधारणत: तरु, लता, पुष्प, पशु, पक्षी आदि प्राकृतिक पदार्थों की ओर नहीं जाती। वे ऐसे विषय भी चित्र-चित्रण के लिये लेते हैं जिनका कोई रूप ही नहीं होता। जैसे, सौंदर्य, स्मृति, शोक, मोह, लज्जा, स्वप्न, वेदना आदि। कल्पना-कुशल कवि इन भाव-वाचक संज्ञाओं को ऐसे रूप प्रदान करते हैं जिनसे आँखों के सामने एक दृश्य उपस्थित हो जाता है—एक चित्र झलक जाता है। दृश्यों के चित्र-चित्रण में कला की वह महत्ता नहीं जो भावों के चित्र-व्यंजना द्वारा चित्रण में—प्रदर्शन में है।

एक साधारण दृश्य का असाधारण चित्र देखिये—

शिलाखण्ड पर बैठी वह नीलाञ्चल मृदु लहराता था
मुक्तबंध संध्या समीर सुन्दरी संग
कुछ चुपचाप बातें करता जाता और मुस्कुराता था।
विकसित असित सुवासित उड़ते उसके कुंचित कच
गोरे कपोल छू छू कर लिपट उरोजों से भी जाते थे। निराला

चित्र-व्यंजना-शैली में भावों का यह कैसा सुन्दर और हृदयग्राही दृश्य का प्रदर्शन है। कवि रजनी-बाला से प्रश्न करता है—

इस संसार बीच जग कर सज कर रजनी बाले!
कहाँ बेंचने ले जाती हो ये गजरे तारोंवाले?
मोल करेगा कौन सो रही हैं उत्सुक आँखें सारी
मत कुम्हलाने दो सूनेपन में अपनी निधियाँ प्यारी॥

पुनः कवि तारावलियों का प्रतिबिम्ब निर्झर जल में देखता है। तो उसका चित्र यों खड़ा करता है।

> निर्झर के निर्मल जल में ये गजरे हिला हिला कर धोना।
> लहर लहर कर यदि चूमें तो किंचित विचलित मत होना।
> होने दो प्रतिविम्ब-विचुम्बित लहरों ही में लहराना।
> लो मेरे तारों के गजरे निर्झर स्वर में यह गाना॥

जब प्रातःकाल में ताराओं की ज्योति मंद पड़ने लगी, तब कवि गजरों की सार्थकता का यह चित्र खड़ा करता है—

> यदि प्रभात तक कोई आकर तुमसे हाय! न मोल करे।
> तो फूलों पर ओस रूप में विखरा देना सब गजरे॥

रामकुमार वर्मा

कवि चित्र-व्यंजना-शैली में अपनी प्रेयसी के सौंदर्य की महिमा का कैसा भावात्मक सुन्दर चित्र 'प्रतीक्षा' नामक कविता में चित्रित करता है—

> कब से विलोकती तुमको ऊषा आ वातायन से?
> सन्ध्या उदास फिर जाती सूने गृह के आँगन से!
> लहरें अधीर सरसी में तुमको तकतीं उठ उठ कर,
> सौरभ समीर रह जाता प्रेयसि ठंढी साँसें भर।
> है-मुकुल मुंदे डालों पर कोकिल नीरव मधुवन में;
> कितने प्राणों के गाने ठहरे हैं तुमको मन में! पन्त

जान पड़ता है जैसे प्रकृति अनेक रूपों में मूर्तिमती होकर उसके अनिंद्य सौंदर्य की झलक पाने को उत्कंठित और लालायित हो उठी है। ऊषा के देखने का कारण अपने सौंदर्य के साथ उसकी तुलना करना है। सन्ध्या का म्लान सौंदर्य क्या उसके सामने ठहर सकता है! फिर सन्ध्या का उदास होना स्वभाविक है। लहरें तुम्हारी चंचलता ही तो देखना चाहती हैं। वे अधीर इसलिये हैं कि कहीं मात न खा जायँ। कहीं भी हो समीर को तुम्हारे सौरभ का आभास मिल जाता है। क्योंकि वह सर्वव्यापी है। फिर क्यों नहीं अपने सौरभ को न्यून समझकर ठंढी साँसे भरे! स्फुट सुन्दर सुमन जब उसकी समता नहीं कर सकते तो बेचारे मुकुल कुसुमित होकर क्यों अपनी हँसी करावें। साधारण कोकिल की कौन बात! मधुवन का

कोकिल तुम्हारे कलकंठ के सामने कलरव न कर नीरव रहना ही अच्छा समझता है। फिर अन्य सुरीले कंठों के आकुल गान तुम्हें देखते फूटें तो कैसे फूटें ! कहना नहीं होगा कि कवि की प्रेयसी में ऊषा का राग, संध्या की मलिनता नहीं लहरों की चचंलता, समीर का सौरभ, कुसुम की कोमलता, मधुरता तथा सुन्दरता, कोकिल की कलकंठता आदि के होने की व्यंजना है।

चित्र-व्यंजना द्वारा भावों का यह कैसा अपूर्व प्रदर्शन है !

> अन्धकार में मेरा रोदन
> सिक्त धरा के अंचल को करता है छन छन
> कुसुम कपोलों पर वे लोल शिशिर कन !
> तुम किरणों से अश्रु पोंछ लेते हो
> नव प्रभात जीवन में भर देते हो। **निराला**

दुख:-निशा के अंधकार में कवि रोता है। उसका रोना अपना रोना नहीं। वह संसार के लिये रोता है। इसीसे वह पृथ्वी के अंचल को छन-छन सिक्त करता है, जिससे सारी प्रकृति ही सिक्त हो उठती है। उसके अश्रु-कण ही तो शिशिर-कणों के रूप में कुसुम-कपोलों पर झलक उठते हैं। उन अश्रु-कणों को तुम अपनी किरणों से पोंछ लेते हो और जीवन में नव प्रभात भर देते हो। प्रात:काल में किरणों से शिशिर-कणों का सूखना और जगत में नवजीवन का जाग्रत होना स्वाभाविक है। भावार्थ यह कि कवि अपने दु:ख में रोकर संसार को संवेदनशील बनाता है और उससे समानुभूति पाता है। इस प्रकार उसका रोना व्यर्थ नहीं जाता। परमात्मा की करुण पुकार के प्रतिफल का कैसा चमत्कारक चित्र है !

चित्र-व्यंजना शैली में भाववाचक संज्ञा का अमूर्त भावनाओं का चित्रण अत्यंत कठिन है। यह आधुनिक काव्य-कला-कौशल का एक अपूर्व और महत्त्वपूर्ण अंग है। अरूप का रूप-चित्र सहज-साध्य नहीं। आधुनिक प्रतिभाशाली कवियों ने ऐसे विषयों को अपनी कल्पना का नूतन और विस्तृत क्षेत्र बनाकर चित्र-व्यंजना-शैली में अपनी प्रतिभा की पराकाष्ठा का प्रदर्शन किया है। सौंदर्य का एक सुन्दर चित्र देखिये—

> तुम कनक-किरन के अन्तराल में लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?
> नत-मस्तक गर्व बहन करते यौवन के घन रस कन ढरते—
> हे लाज भरे सौंदर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?

अधरों के मधुर कगारों में कल-कल ध्वनि के गुंजारों में
मधु सरिता-सी यह हँसी तरल अपनी पीते रहते हो क्यों ? **प्रसाद**

एक तो किरणें ही सुनहली फिर वे कनक की ! सौन्दर्य की खान ! उन विश्वव्यापी सुनहली किरणों के अन्तराल में सौन्दर्य का लुक-छिपकर चलना कोमल भावना का कितना सुनहरा चित्र है। यौवन का सौन्दर्य कुछ निराला ही होता है। उसको गर्व होना सहज है। पर सौन्दर्य में औद्धत्य नहीं। नत-मस्तक होने से उसमें सुकुमारता है। सौन्दर्य का 'लाज भरे' विशेषण से तो सौन्दर्य की महिमानत मृदुल मंजु मूर्ति आँखों में घर कर लेती है। मधुर अधरों की सरल-तरल हँसी तो मुख पर खुल खिलने की ही तो वस्तु है।

एक स्वप्न का सुन्दर चित्र देखिये—

किन कर्मों की जीवित छाया उस निद्रित विस्मृति के संग,
आँख-मिचौनी खेल रही वह किन भावों का गूढ़ उमंग ?
मुँदे नयन पलकों के भीतर किस रहस्य का सुखमय चित्र,
गुप्त वंचना के मादक कर खींच रहे सखि स्वप्न विचित्र। **पंत**

प्रसाद, पंत जैसे कुछ आधुनिक कवियों ने अपनी अनल्प कल्पना के बल मानवीकरण करके अमूर्त भावों को सुन्दर रूप प्रदान किये हैं।

छठी छाया

गद्य-रचना के भेद

गद्य कवियों की ही कसौटी नहीं होता बल्कि गद्य लेखकों की भी कसौटी होता है। पद्य के समान गद्य में रागात्मिका वृत्तियों को ही नहीं, बोधात्मक वृत्तियों को भी प्रश्रय मिलता है। गद्य हृद्गत बातों को विस्तृत रूप से प्रकट करने का जैसा क्षेत्र है वैसा पद्य नहीं। इससे जो लेखक अपनी गद्यात्मक भाषा में स्वच्छन्द प्रवाह नहीं ला सकता, भावों को स्वच्छन्दतापूर्वक व्यक्त नहीं कर सकता वह सुलेखक नहीं हो सकता, वह प्रतिभाशाली लेखक नहीं कहा जा सकता। इससे पद्य की अपेक्षा गद्य का महत्त्व कम नहीं।

गद्य-रचना के क्षेत्र अनेक हैं जिनमें मुख्य हैं—उपन्यास, कहानी, नाटक और निबन्ध। इनके अतिरिक्त जीवन-चरित्र और यात्रा वा

भ्रमण है। अन्यान्य प्रकार की भी गद्य-रचनायें हो सकती हैं। किन्तु इनका ही साहित्यिक रचना से विशेष सम्बन्ध है। इनसे विलक्षण गद्य-काव्य की रचना होती है। गद्य-काव्य कहने ही से यह ज्ञात हो जाता है कि काव्य के रस, कल्पना, चमत्कार आदि गुण उसमें रहते हैं। क्रमशः इनका वर्णन किया जाता है।

उपन्यास को मनोरंजक साहित्य (light literature) कहते हैं। इससे इसकी रचना का रोचक होना आवश्यक है। उपन्यास ही कल्पनाकौतुक और कला-कौशल के प्रदर्शन करने का विस्तृत क्षेत्र है। जिस उपन्यास से मनोरंजन के साथ मानस में नूतन शक्ति और उत्साह का संचार हो उसका महत्त्व बढ़ जाता है। सच्चा औपन्यासिक वह है जो चरित्र-चित्रण के बल से जीवन की गुत्थियों को सुलझाता और प्रकृति के रहस्यों को खोलता है। अच्छे उपन्यास देश, समाज और राष्ट्र के उपकारक होते हैं।

उपन्यास के मुख्य चार विषय हैं। जिनमें पहला है कथावस्तु या उपन्यास-तत्व (Plot of the novel)। इसके भीतर वे मानवीय घटनायें या व्यापार आते हैं जिनके आधार पर उपन्यास खड़ा होता है। अभिप्राय यह कि उपन्यास के लिये वही उपादान आवश्यक है जो मनुष्य-मात्र के जीवन-संग्राम में—उसकी सफलता वा विफलता में व्यापक रूप से वर्तमान रहता है और हृदय पर प्रभाव डालता है। इसके लिये इन बातों पर ध्यान देना चाहिये।

१ कथावस्तु चित्ताकर्षक हो २ कथा बेमेल न हो ३ आवश्यक बातें छूटने न पावें ४ कथा का क्रमभङ्ग न हो ५ पात्र-कथन का असम्बद्ध विस्तार न हो ६ घटनायें शृंखलित हों और मूलाधार से पृथक् न हों ७ कथावस्तु के विस्तार में मनोरंजन और आकर्षण का बराबर खयाल रहे ८ साधारण बातों को भी आकर्षक रूप में असाधारण बनाना ९ घटनाओं के चित्रण में स्वाभाविकता और मौलिकता का लाना १० साहित्यिक सत्य का होना ११ कथा-विस्तार और घटना-विकास ऐसे होने चाहिये जिनमें पाठको की उत्सुकता की कमी न आवे। १२ घटनायें संगत हों और अप्रकृत जान पड़ें तथा साधारण-सी प्रतीत न हों। १३ देश, काल तथा पात्रों के विपरीत वर्णन न हो।

उपन्यास के काल्पनिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक,

धार्मिक आदि कई भेद होते हैं। इनके ऐसे तथा अन्यान्य प्रकार के भेद का कारण विषयों की मुख्यता ही है जिसे उपन्यास-वस्तु कहते हैं। औपन्यासिक इन विषयों को उपन्यास का आधार मानते हैं और अपनी कुशल कल्पना से मनोरंजक बनाते हुए उपन्यास का रूप दे देते हैं।

उपन्यास लिखने के ढंग अनेक हैं जिनमें प्रधान है स्वतन्त्रता-पूर्वक घटनाओं को क्रम-विकास करते हुए लक्ष्य पर पहुँचना। इसका दूसरा ढंग है पात्रों द्वारा ही औपन्यासिक वस्तु का क्रम-विकास करके अपना उद्देश्य सिद्ध करना। तीसरा है लेखक तटस्थ रहकर वार्तालाप द्वारा ही उपन्यास को गढ़े। पहले ढंग पर ही अधिकांश उपन्यास लिखे जाते हैं। दूसरे ढंग पर 'चंद हसीनों के खतूत', 'कमला के पत्र' आदि कुछ उपन्यास लिखे गये हैं। तीसरे ढंग के उपन्यास का अभाव है। अंत के दोनों ढंगों पर अधिक उपन्यास न लिखने के कारण ये हैं कि लेखक स्वतन्त्रतापूर्वक वर्णन कर नहीं सकता और न पात्रों के चरित्र-चित्रण में अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र होकर काम ले सकता है। ऐसी ही और भी अनेक कठिनाइयाँ हैं जो पहले ढंग में सामने नहीं आतीं। लेखक सारी घटनाओं और पात्रों को स्वेच्छानुसार अपने पीछे लगा सकता है।

दूसरा आवश्यक विषय है पात्र (character) जिनसे उपन्यास की घटनायें वा व्यापार सम्बन्ध रखती हैं।

पात्रों का चित्रण स्वाभाविक, वास्तव और सजीव होना उचित है जिससे पाठकों को मानव-जीवन की सच्ची झलक दिखाई पड़े और वे यह समझें कि हमारे जैसे ये भी सुख-दुःख, ईर्ष्याद्वेष, रागविराग आदि का अनुभव करते हैं। पात्र-चित्रण में अलौकिकता और कृत्रिमता की गंध न आनी चाहिये। ऐसा होने से ही लेखक अपनी कृति में सफल हो सकता है और अपने पाठकों पर प्रभाव डाल सकता है। पात्रों के सजीव चित्रण से ही उसके साथ पाठकों का मानसिक सम्बन्ध स्थापित हो सकता है।

यह चित्रण दो प्रकार का होता है—एक तो विश्लेषणात्मक और दूसरा अभिनयात्मक। पहले में लेखक स्वतन्त्रतापूर्वक स्वयं ही चारित्रिक व्याख्या करता है और उसपर मतामत भी प्रकट करता है। दूसरे में लेखक निरपेक्ष होकर पात्रों के मुख से

ही चरित्र-चित्रण कराता है। इन दोनों शैलियों के उपयोग पर ही औपन्यासिक की सफलता निर्भर है। ऐसे चरित्र-चित्रण के लिये उपन्यासकार को गहरा सांसारिक अनुभव और यथार्थ प्राकृतिक ज्ञान होना चाहिये।

उपन्यास का तीसरा विषय है कथोपकथन (Dialogue) अर्थात् पात्रों का पारस्परिक वार्त्तालाप। कथोपकथन का उद्देश्य है कथावस्तु को विकसित करना और पात्रों की प्रवृत्तियों की विशेषताओं को प्रकट करना। कथोपकथन का स्वाभाविक, सुसंगत, प्रसंग तथा परिस्थिति के अनुकूल, सुसम्बद्ध, सरस, सजीव, भाव-व्यञ्जक और प्रभावपूर्ण होना उचित है। कथोपकथन का सबसे बड़ा गुण है उसमें प्रत्युत्पन्नमतित्व (Ready wit) का होना। सरलता कथोपकथन का प्राण है।

जो उपन्यास सरस होता है रसोद्रेक करने में समर्थ होता है, वह पाठकों पर अच्छा प्रभाव डालता है। क्योंकि मानव-प्रकृति सदा से रस-पिपासु होती है। जो उपन्यास अपनी सरसता से जितना ही पाठकों का हृदयद्रावक होता है उतना ही वह सफल समझा जाता है। कथावस्तु, घटनाओं, पात्रों और परिस्थितियों के अनुकूल ही रस-विधान करना चाहिये। इसके लिये रस-विषयक शास्त्रीय ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है

चौथा उपन्यास-तत्व परिस्थिति (Circumstances) है। अर्थात् जिस देश, काल और प्रसंग में जो घटनायें घटित होती हैं उनके समुदाय को ही परिस्थिति कहते हैं। जो लेखक सामाजिक, लौकिक और पारिवारिक आचार-विचार से अनभिज्ञ होगा, वह पात्रों और घटनाओं में सामञ्जस्य स्थापित करने में कभी समर्थ नहीं हो सकता। अध्ययनशील औपन्यासिक ही देश-काल के विपरीत कोई बात नहीं लिख सकता। उपन्यास में प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण भी ऐसा ही होना चाहिये जिसका कथावस्तु, घटना या पात्रों से कुछ न कुछ सम्बन्ध हो।

आधुनिक उपन्यासों का उद्देश्य पहले का-सा जीवन-सुधार, शिक्षा-दान आदि नहीं रह गया। अब उनसे किसी उच्च आदर्श वा नैतिक सिद्धान्त की प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है। अब तो पात्रों के

चरित्र-चित्रण, मानव-जीवन की व्याख्या, काल्पनिक नहीं, सच्ची, वस्तुओं का यथायथ उपस्थापन, कला-प्रदर्शन, वास्तव और कला के समीचीन समीकरण पर ही अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। आधुनिक कलाकारों की प्रवृत्ति धार्मिक तथा नैतिक पतन की ओर ही अग्रसर हो रही है जो वांछनीय नहीं। फ्रायडवादी उपन्यासों की संख्या बढ़ती जा रही है जिससे सदाचार का पैर लड़खड़ा रहा है।

कोई ऐसा विषय नहीं जिसकी भित्ति पर उपन्यास के महल खड़े न किये जा सकते हों। उपन्यासों में भी विज्ञान अपना घर बनाने लगा है जिससे उसकी मनोरंजकता दूर होती जा रही है।

सातवीं छाया

आख्यायिका

आख्यायिका को ही कथा, कहानी और गल्प भी कहते हैं।

जब बढ़ते हुए सांसारिक जंजालों ने मानव-जीवन को अपने जाल में जकड़ लिया तब मनुष्य को अपने मन की भूख बुझाने के लिए अवकाश का अभाव-सा हो गया। वह बड़े-बड़े उपन्यास पढ़ नहीं सकता था, रात-रात भर नाटक देख नहीं सकता था। पर उसका मनोरंजन आवश्यक था, मस्तिष्क को विश्राम देना चाहिये ही। नहीं तो उसमें सांसारिक झंझटों के साथ जूझने को ताजगी आवेगी कहाँ से ? यही कारण है कि छोटी-छोटी कहानियों का अवतार हुआ। ये साहित्यिक और कलात्मक कहानियाँ ग्राम्य कहानियों का ही संशोधित और विकसित रूप हैं। इनका आधार कोई भी विषय वा घटना हो सकती है। मानव-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली कोई भी बात कहानी का मूलाधार हो सकती है।

कहानी का प्रधान उद्देश्य है मनोरंजन। यदि उससे कुछ और लाभ हो जाय तो वह गौण है। मनोरंजन के साथ यदि कोई कहानी मानव-चरित्र को लेकर कोई आदर्श उपस्थित कर दे, तो उसका सौभाग्य है। यदि कहानी में जीवन हो, यथार्थता हो, मनोविज्ञान का पुट हो, जागृति उत्पन्न करने की शक्ति हो, शैली में आकर्षण हो, सरसता और सरलता हो, सजीव पात्र हों, कथोपकथन सजीव और स्वाभाविक हो,

अच्छा चरित्र-चित्रण हो, कला का विकास हो, तो वह पाठकों पर मनोरंजकता के साथ अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहेगी। ऐसी ही कहानी लिखकर कहानीकार पाठकों के हृदय में घर कर सकता है।

कहानी में ऐसी स्थापना (Setting) होनी चाहिये जिसमें कथा की मुख्य घटना से संबंध रखनेवाली सारी बातें आ जायँ। इने-गिने पात्रों ही से अभिलषित बातों का सजीव, स्पष्ट और सच्चा चित्रण हो जाय। भाषा में धारावाहिकता और लोच-लचक होना चाहिये। उसमें मस्तिष्क को उलझानेवाले गूढ़ और जटिल विचारों का अभाव आवश्यक है।

कहानी के मुख्य तीन अंग हैं— १ उद्देश्य, २ साधन और ३ परिणाम। कहानी का एक ही उद्देश्य हो और आदि से अन्त तक उसका एक-सा निर्वाह होना चाहिये। उद्देश्य के अनुरूप ही घटनाओं का यथायथ चित्रण होना आवश्यक है। जिस उद्देश्य को लेकर कहानी का आरंभ हो, उसका यथोचित विकास करना ही साधन है और सफल पूर्ति उसका परिणाम है। इन्हीं तीनों के सामञ्जस्य से कहानी सार्थक तथा सफल हो सकती है।

कहानियाँ बड़ी-बड़ी लिखी जा रही हैं पर वे होनी चाहिये छोटी-छोटी। तभी वे अपने उद्देश्य में सफल हो सकती हैं। अब तो एक-एक पारा की भी कहानियाँ लिखी जाने लगी हैं। वे अपने उद्देश्य की सिद्धि में समर्थ होने से सफल समझी जाती हैं।

आठवीं छाया

प्रबन्ध वा निबन्ध

किसी विषय-विशेष पर सविस्तर विवेचनात्मक लिखे गये लेख का नाम प्रबन्ध वा निबन्ध है।

प्रबन्ध में विवेचन सयुक्तिक, सुव्यवस्थित और प्रभावपूर्ण हो। विषय का प्रतिपादन समीचीन, सबल और ज्ञानानुभव का भाण्डार हो, जिससे लेखक के उद्देश्य की सिद्धि सहज हो जाय। भाषा विषयोपयुक्त हो—प्रभावोत्पादक, भावोद्‌बोधक, स्पष्ट और सुन्दर।

निबन्ध ही एक ऐसा साहित्य है जो यशःशेष विवेकी विद्वानों के विचारों से हम परिचित होते आ रहे हैं। निबन्ध-साहित्य का यह

असाधारण उद्देश्य है। विशेष के लिये मेरे 'रचना-विचार', 'हिन्दी-रचना-कौमुदी' को देखना चाहिये।

विचारों और भावों का जिनसे सम्बन्ध हो, वे सभी बातें निबन्ध के विषय हो सकते हैं जिनसे देश, समाज, सभ्यता, संस्कृति और साहित्य की श्रीवृद्धि हो तथा मानव, मानवता और मानवी ज्ञान का अभ्युदय हो। जो लेखक बहुज्ञ, बहुश्रुत और बहुदर्शी होता है वही ऐसे निबन्ध लिख सकता है जिससे शारीरिक, मानसिक, नैतिक, चारित्रिक, धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय उत्थान होना निश्चित है।

मुख्यतः निबन्ध के तीन भेद किये गये हैं—१ कथात्मक (Narrative), २ वर्णनात्मक (Descriptive) और ३ भावात्मक या विचारात्मक (Reflective)। रागात्मकता से ये काव्य की श्रेणी में आते हैं। अब तो इसके अनेक प्रकार हो गये हैं।

कथात्मक में किसी विषय का वर्णन कथा-रूप में प्रतिपादन किया जाता है। इसमें मुख्यता कथा-विन्यास और परिस्थिति की होती है। घटनाओं को रोचक बनाने की चेष्टा रहती है और यत्र-तत्र विचार का भी पुट रहता है। यदि केवल सीधी-सी कोई कथा लिख दी जाय तो उसे निबन्ध कहना संगत न होगा। कथात्मक की भाषा सरल और स्पष्ट होनी चाहिये।

किसी वस्तु, दृश्य, वा विषय को लेकर जो वर्णन किया जाता है वह वर्णनात्मक निबन्ध है। ऐसे प्रबन्धों से पाठकों को तद्विषयक पूर्ण ज्ञान होता है। इसके लिये आवश्यक है कि लेखक कल्पना-शक्ति से काम ले, उसकी दृष्टि तीक्ष्ण हो तथा उसकी स्मरणशक्ति, अनुभव, और अभ्यास प्रबल हों।

वर्णनात्मक निबन्ध रुचि-भिन्नता के कारण अनेक प्रकार के हो सकते हैं। ऐसे निबन्धों की भाषा परिमार्जित, रोचक और चित्रात्मक होनी चाहिये। शैली का सरल होना उत्तम है।

विचारात्मक निबंध वे हैं जिनमें गंभीर विवेचना और बोधवृत्ति की प्रधानता हो। इसके लिये आवश्यक है स्वाध्याय, वाक्-चातुर्य, विवेचना-कौशल, तार्किक बुद्धि, प्रकाशन-योग्यता, विषय-ज्ञान तथा मननशीलता। सारांश यह कि जिस विषय का विचारात्मक लेख हो उसकी पूरी सयौक्तिक व्याख्या होनी चाहिये। ऐसे निबन्धों की भाषा का गम्भीर होना स्वाभाविक है।

प्रवन्ध के सम्बन्ध में कहा गया है—जिसका अर्थ-सम्बन्ध बना रहे ऐसा प्रवन्ध ढूँढ़ने ही से मिल जाय तो मिल जाय—

अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः ।

नवीं छाया

जीवनी या जीवन-चरित्र और यात्रा

जीवनी या जीवन-चरित्र

जीवनी और जीवन-चरित्र में जो यह भेद किया जाता है कि जीवन के मार्मिक वृत्तान्तवाली रचना जीवनी है और जिस जीवनी में जीवन तथा चरित्र दोनों का सर्वांगपूर्ण वर्णन हो वह जीवन-चरित्र है, अस्वाभाविक है।

जीवन-चरित्र के चार रूप देखे जाते हैं—१ एक तो सर्वाङ्गपूर्ण जीवन-चरित्र है, जैसा कि 'तुलसीदास' आदि। २ दूसरा, आत्म-कथात्मक है, जैसा कि 'सत्य के प्रयोग' वा 'आत्मकथा' आदि। ३ तीसरा चरित्र-चित्रणात्मक है, जैसा कि द्विजजी की 'चित्ररेखा' आदि। इसे आजकल लाइफस्केच (Lifesketch) कहा जाता है। चौथा व्यंग्य रूप में व्यक्ति-विशेष का प्रदर्शन है, जैसा कि नलिनी-जयन्त के लेखरूप में प्रकाशित व्यंग्यात्मक व्यक्ति-वैचित्र्य-चित्रण।

दो-तीन प्रकार की जीवनियाँ और होती हैं जो यथार्थ जीवन-चरित्र नहीं कही जा सकतीं। एक तो आरोपात्मक होती हैं जिनमें लेखक अपना ही जीवन दूसरे व्यक्ति के रूप में वर्णन करता है। इसे पाश्चात्य विचार की देन कह सकते हैं। दूसरी जीवनी वह है जिसमें लेखक अपने विचार से ही उस महापुरुष के चरित्र का चित्रण तथा विवेचन स्वतन्त्रतापूर्वक करता है, जिसकी जीवनी लिखी जाती है। लोकमान्य तिलक आदि की कुछ जीवनियाँ ऐसी ही हैं। तीसरी जीवनी वह है जो कल्पित व्यक्तिवाली होती है और उसके लिखने में ऐसी चेष्टा की जाती है जिसमें वह सच्ची-सी प्रतीत हो।

जीवन-चरित में जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त की सारी बातें आ जानी चाहिये। इसमें कोई बात बनावट की या असत्य न हो। उसके सांगोपाङ्ग वृत्तान्त में कोई आवश्यक बात छूटनी न चाहिये। चरित्र-

नायक के गुण-दोष, आचार-विचार शिक्षा-स्वभाव आदि का विवेचन भी आवश्यक है। सारांश यह कि जीवन का कोई भी अंश जीवनी में छूटने न पाये।

जीवनी लिखने का उद्देश्य यही है कि पाठक चरित-नायक के जीवन के रहस्य, सिद्धान्त, कार्य, चरित्र आदि से अपने को सुधारे और उनके गुणों का ग्रहण करे। यदि जीवनी से इस उद्देश्य की सिद्धि नहीं हुई, तो जीवनी-लेखक का परिश्रम सफल नहीं कहा जा सकता।

यात्रा वा भ्रमण

भ्रमण-वृत्तान्तवाली साहित्यिक रचना को यात्रा कहते हैं।

यात्रा अनेक प्रकार की होती है। जैसे—स्थान-विशेष की यात्रा, देश-यात्रा, विदेश-यात्रा, साइकिल-सफर, रेल-यात्रा वा स्थल-यात्रा, जल-यात्रा आदि। इन यात्राओं से उतना लाभ नहीं हो सकता जितना कि पैदल यात्रा से। पैदल यात्री अपने मार्ग के स्थानों, प्रान्तों और देशों का स्थिरता से चाक्षुष प्रत्यक्ष कर सकता है। वहाँ के लोगों की रहन-सहन, रूप-रंग, आचार-विचार, सभ्यता-संस्कृति आदि से सर्वतो-भावेन सुपरिचित हो सकता है। पैदल यात्रा में वहाँ की भौगोलिक स्थिति का जो ज्ञान हो सकता है वह अन्यान्य यात्राओं के द्वारा संभव नहीं है। यात्रा-वृत्तान्त में अपने ज्ञान और अनुभव की, प्राकृतिक दृश्यों तथा घटित घटनाओं की सारी बातें आ जानी चाहिये। उसकी भाषा सरल, सरस तथा वर्णनात्मक हो। यात्रा में जलवायु के परिवर्तन से जो प्राकृतिक ज्ञान होता है वह अवर्णनीय है। मनोरंजन यात्रा का सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य है। पाठकों को वैसा ही मनोरंजन और भौगोलिक ज्ञान हो तो यात्रा-वृत्तान्त लिखने का श्रम सफल समझा जा सकता है।

दसवीं छाया

गद्य काव्य

साहित्यिक उपन्यास और आख्यायिका के अनंतर निबन्ध का स्वरूप सामने आता है। क्योंकि मनोरंजन का स्थान प्रथम और विचार का स्थान द्वितीय है। गद्य काव्य गद्य का सर्वाधिक विकसित रूप है। काव्य होने का कारण यह है कि उसमें भी चमत्कार, रस,

कल्पना, कला-कौशल आदि काव्य के उपकरण वर्तमान रहते हैं। गद्य काव्य के रूप में उपन्यास भी हैं जैसे कि 'सौन्दर्योपासक' 'उद्भ्रान्त प्रेम', 'नवजीवन' आदि। कहानियाँ भी कवित्वमय होती हैं जिनका अभाव हिन्दी में नहीं है। नाटक भी कवित्वमय होते हैं जैसे कि प्रसाद के नाटक। प्रबन्ध भी काव्यात्मक हो सकते हैं और होते हैं। किन्तु आधुनिक गद्य-काव्य जिस विकसित रूप को लेकर हमारे सामने आता है, वह नूतन है। इन्हें मुक्तक भी कहा जाता है।

कवित्वमय निबन्ध के दो रूप दीख पड़ते हैं—एक गद्य-काव्य और दूसरा गद्य-गीत। यह गद्य-गीत गीति-कविता के समान ही होता है। अन्तर यह है कि गद्य-काव्य में कल्पना की प्रधानता होती है। उसमें अनेक भावों और रसों की अवतारणा की जा सकती है, पर गद्य-गीत में एक ही भाव की थोड़े-से संगीतात्मक शब्दों में अभिव्यक्ति होती है और तद्विषयक साधन से ही वह सम्पन्न रहता है। गद्य-गीत के आवश्यक साधन हैं—भावावेश, अनुभूति की विभूति और अभिव्यञ्जन-कुशलता। गद्य की गेयता अनिवार्य नहीं। संभव है, सुन्दर शब्दावलियों अपूर्व वाक्य-विन्यास से कोई भिन्न लय उत्पन्न किया जा सके। गीति-कविता के समान अधिकतर गद्य-गीत अन्तर्वृत्ति-निरूपक ही होते हैं जिनसे आत्माभिव्यञ्जन की मात्रा अधिक रहती है।

वाह्यवृत्तिनिरूपक गद्य-गीतों में कवि केवल वस्तु के वाह्य रूप का ही निरीक्षक रह जाता है। कभी-कभी कवि के अन्तर्वृत्ति में वाह्यवृत्ति विलीन भी हो जाती है।

रवीन्द्र बाबू की 'गीताञ्जलि' के गद्यानुवाद से हिन्दी में गद्य-गीत की नींव पड़ी और 'साधना' आदि कई भावात्मक गद्य-ग्रन्थों का हिन्दी में अवतार हुआ। आजकल तो 'वंशीरव' आदि पुस्तकों में 'गद्य-गीत' का रूप और निखर आया है। गद्य-गीतकारों को यह ध्यान रखना चाहिये कि गूढ़-भावात्मक गद्य-गीत यदि रागात्मक नहीं हुए तो काव्य की श्रेणी में नहीं आ सकते। क्योंकि विचार-गाम्भीर्य गद्य को काव्य का रूप नहीं दे सकता। वह एक प्रकार का आध्यात्मिक ग्रन्थ हो जायगा।

जो गद्य-गीत अलंकृत शैली वा ललित शैली में लिखा जाता है वह बहुत ही मनोहारी होता है। आजकल के गद्य-गीत प्रायः 'उद्भ्रान्त

प्रेम' की रीति पर प्रलापक शैली में भी लिखे जाते हैं। ऐसे गीतों की भाषा प्रवाह-पूर्ण, सरस, मधुर और प्रसादगुण-सम्पन्न होनी चाहिये।

आजकल की अधिकांश मुक्त छन्द या स्वतन्त्र छन्द की कवितायें गद्य-गीत का आकार धारण कर लेती हैं जिन्हें पद्याभास वा वृत्तगन्धि गद्य कहा जा सकता है। जैसे,

उन काले अछोर खेतों में
हलवाहों के बालकगण कुछ खेल रहे हैं;
पहली झड़ियों से निर्मित कर्दम की गेंदें झेल रहे हैं!
वे बालक हैं, वे भी कर्दम मिट्टी के ही राज-दुलारे;
बादल पहले पहले बरसे बचे-खुचे छितरे दिशिहारे।

नये कलाकारों को इसे कविता कहना और छन्दोबद्ध बताना शोभा नहीं देता।

गद्य यदि अलौकिक आनन्द देनेवाला हुआ तो पद्य के समान वह भी गद्यकाव्य या गद्यगीत कहलाने का अधिकारी है।

ग्यारहवीं छाया

शैली

रीति वा वृत्ति का आधुनिक नाम शैली (style) है। किसी वर्णनीय विषय के स्वरूप को खड़ा करने के लिये उपयुक्त शब्दों का चुनाव और उनकी योजना को शैली कहते हैं।

पद्यात्मक साहित्य तीन-चार ही शैलियों में सीमित है; पर गद्यात्मक शैलियों का अन्त नहीं। क्योंकि इसका संबंध सोचने-विचारने और व्यक्त करने की विशेषता से है। इससे कहा जाता है कि मनुष्य शैली है और शैली मनुष्य। (Style is the man and man is the style)।

शैली के चार गुण हैं—ओजस्विता, सजीवता, प्रौढ़ता और प्रभावशालिता।

सुन्दर शैली का प्रथम उपादान है—शब्दों का सुसंचय और सुप्रयोग। इसके लिये आवश्यक है शब्दों के अभिधेयार्थ की यथार्थता का, शब्दों की भावपोषकता का, शब्दों की अनेकार्थता का, शब्द-

मैत्री का और अर्थ-विशेष में शब्दों के प्रयोग का ज्ञान। सारांश यह कि शैली के लिये शब्द शुद्ध हों, यथार्थता के द्योतक हों, प्रचलित तथा उपयुक्त हों और असंदिग्ध हों।

दूसरा उपादान है वाक्य-विन्यास। शैली का आधार वाक्य-रचना ही है। क्योंकि वही हमारे विचारों और भावों को व्यक्त करती है। इससे वाक्य-विन्यास का शुद्ध, रोचक, संयत, चमत्कारक और प्रभावोत्पादक होना आवश्यक है।

तीसरा उपादान है भाव-प्रकाशन का ढंग। रचना में वाक्यविन्यास का ऐसा ढंग होना चाहिये जिसमें हमारा मनोगत भाव सरलता, स्पष्टता और सजीवता के साथ व्यक्त हो। इसके लिये अनावश्यक, जटिल, संदिग्ध और मिश्र वाक्य वर्जनीय हैं। रचना के लिये कोई सर्वमान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। यह सब तो कुशल कलाकार की कुशलता पर निर्भर है।

वाक्य-रचना में स्पष्टता, एकता अर्थात् मुख्य वाक्यों और अवान्तर वाक्यों का सामञ्जस्य, ओजस्विता अर्थात् सजीवता लानेवाली शक्ति, धारावाहिकता अर्थात् भाषा का अविच्छिन्न प्रवाह (flow), लालित्य अर्थात् रोचकता, सुन्दरता और व्यञ्जकता अर्थात् मर्मबोधक शक्ति हो तो वह रचना उत्तम कोटि की समझी जाती है।

रुचिभिन्नता, व्यक्ति-वैशिष्ट्य और प्रकाशन-भङ्गि की विविधता से शैलियाँ भी विविध प्रकार की होती हैं। यद्यपि इनको सीमित करना संभव नहीं तथापि इनकी विशेषताओं को समक्ष में रखकर कुछ भेदों की कल्पना की गयी है, जो ये हैं—

१ व्यावहारिक वा स्वाभाविक शैली। इसमें सरल, सुबोध और मुहावरेदार भाषा का प्रयोग होता है। २ ललित शैली। इसकी भाषा सुन्दर-मधुर शब्दोंवाली तथा अलंकृत और चमत्कारक होती है। ३ प्रौढ़ वा उत्कृष्ट शैली। इसकी भाषा प्रौढ़ और उच्च विचारों के प्रकाशन-योग्य होती है। ४ गद्य-काव्य-शैली। सरस, सुन्दर और काव्यगुणवाली रचना इसके अन्तर्गत आती है। इसका एक रूप प्रलापक-शैली के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें लेखक भावावेश में आकर किसी विषय को मर्मस्पर्शी भाषा में अपने आन्तरिक उद्गारों और अनुभूतियों को व्यक्त करता है।

मुख्य बात यह है कि सजीव शैली ही साहित्य का सर्वस्व है।

बारहवीं छाया

काव्य का सत्य

महाकवि टेनीसन ने लिखा है—'काव्य यथार्थ से अधिक सत्य है।[1] कई लोग ऐसा भी सोच सकते हैं कि कल्पना-प्रसूत काव्य का सत्य से क्या संबंध ? जो कुछ हम देखते हैं, जो प्रत्यक्ष है, वही सत्य है। इस प्रकार काव्य या कला में सत्य का समन्वय तो तभी हो सकता है, जब वह प्रकृति की अनुकृति हो। किन्तु प्रकृति की अनुकृति नहीं होते हुए भी काव्य सत्य-स्वरूप है। काव्य वस्तु या विषय को उसी रूप में कभी नहीं उपस्थित करता है। प्रकृति में जो कुछ प्रत्यक्ष है, काव्य में वही परोक्ष बन जाता है। काव्य की उत्पत्ति प्रकृति और मानव-मन के सहयोग से होती है। यदि अनुकृति ही कला होती तो काव्य का तात्पर्य अविकल चित्र उपस्थित करना होता। किन्तु नहीं, प्रकृति और मन के बीच में एक तीसरी वस्तु है कल्पना।

बहुत लोग कल्पना को निराधार मानते हैं ; परन्तु कल्पना निराधार नहीं होती। वास्तव में संसार में इतना ही सत्य नहीं, जितना कि हम देखते हैं। कल्पना वह शक्ति है, जो प्रत्यक्ष के अतिरिक्त जो स्वाभाविक सत्य है, उसकी सीमा में पहुँच सकती है। उदाहरण के लिये वैज्ञानिकों के आविष्कार की बात ली जाय। उन्होंने पंछी को मुक्त आकाश में उड़ते देखा, उनके जी में आया, शायद हम भी उड़ सके और हवाई जहाज पर मनुष्य आकाश की सैर करने लगा। फलतः, कल्पना की इस उड़ान को निराधार नहीं कहा जा सकता। कल्पना का आधार अवश्य होता है, तब कहीं-कहीं वह इतना सूक्ष्म होता है कि हमें उसके अस्तित्व का पता भी नहीं लगता। कल्पना प्रकृत सत्य की विरोधिनी नहीं, वह प्रकृत सत्य पर थोड़ा भार जरूर लादती है ; किन्तु यह उसे सत्य की प्रतिष्ठा के लिये ही करना पड़ता है। कवि कीट्स कहता है—'कल्पना द्वारा जिसे सुन्दर समझता हूँ, वह सत्य होने के लिये बाध्य है—चाहे उसका पहले अस्तित्व हो वा नहीं[2]।'

---

1 Poetry is truer than fact.

2 What the imagination signs as beauty must be truth whether it existed before or not.

काव्य की सीमा में वस्तु और विषय गौण हैं। मुख्य है भाव। भाव का कोई आकार नहीं होता कि वह आँखों से देखा जाय या अँगुली से स्पर्श किया जाय। वह तो अनुभव करने ही की वस्तु है। भाव की उत्पत्ति प्रकृति और मन के संयोग से होती है। न तो मन प्रकृति का दर्पण और न काव्य ही प्रकृति का दर्पण है। मन का काम है प्राकृतिक वस्तुओं को मन का या अपना बना लेना और काव्य का काम है उन्हीं मानसिक वस्तुओं को काव्य की बना देना। इसी में कल्पना की सहायता लेनी पड़ती है। इसीलिये सच्ची कविता वही है, जो आदर्श को यथार्थ कर देती हो और यथार्थ को आदर्श से समन्वित कर देती हो।

हमारे जीवन के अनेक ऐसे अंश हैं, जो आँखों से नहीं देखे जाते, जो अप्रत्यक्ष हैं। वाह्य इंद्रियों से ही मानव की पूर्णता नहीं। प्रत्यक्ष आँख, नाक, कान के अतिरिक्त भी मन, मस्तिष्क आदि ऐसे अंग हैं, जिनके बिना जीवन जीवित औरक्रियाशील नहीं हो सकता। इसलिये वाहरी भाग को ही जीवन की पूर्णता या सार सत्य मान लेना उचित नहीं। जीवन का जो नग्न बाहरी रूप है, वह मनुष्य का सत्य-स्वरूप नहीं है, मनुष्य मनुष्य है, अपनी अमित भावनाओं और वासनाओं में। इस तरह जीवन का पूर्ण चित्र लाने के लिये मानव के सीमित बाहरी रूप और असीमित भावनाओं, कल्पनाओं के अंतर्जीवन का भी परिचय देना होता है। काव्य इसी सत्य का प्रतिष्ठाता है। उसका विषय मानव-चरित्र और मानव-हृदय है। संसार की अन्य कोई प्रक्रिया, अन्य कोई निपुणता सत्य के ऐसे पूर्ण स्वरूप को उपस्थित नहीं कर सकती, यह काव्य का ही काम है। हमारे सामने जीवन के दो रूप आते हैं— एक अपनी पार्थिव आवश्यकताओं से पीड़ित, दूसरा आत्मिक प्रकाश के आवेग से आकुल। काव्य हमारे स्थूल और सूक्ष्म अंतर्जीवन के समन्वय से पूर्ण सत्य का प्रतिष्ठाता है।

वाह्यजगत् और अंतर्जगत् के प्रकाश में अंतर है। जो प्रत्यक्ष है, उसे हम स्पष्ट प्रकृति में देखते हैं। किन्तु प्राकृत होने पर भी काव्य की वात प्रत्यक्ष नहीं हुआ करती। काव्य को इसी प्रत्यक्षता के लिये नाना उपायों का सहारा लेना पड़ता है। सच तो यह है कि प्रत्यक्ष

को साक्षी की आवश्यकता नहीं होती। लाल को लाल सभी जानते या मानते हैं। किन्तु जब यह बताने की जरूरत पड़ती है कि यह अच्छा या बुरा है, तो हमें इस बात को इस रूप में कहना पड़ता है कि लोग उसपर अविश्वास न करें। अपना सुख-दुख दूसरों को अनुभव कराना सचमुच कठिन है। यहाँ काव्य को बनावट से काम लेना पड़ता है। किन्तु यह सत्य की प्रतिष्ठा के लिये ही कृत्रिमता होती है। जिस प्रकार प्रकृति की प्रत्यक्ष वस्तुएँ सत्य हैं, उसी प्रकार हमारा सुख-दुख, प्रिय-अप्रिय लगना, अच्छा-बुरा लगना भी सत्य है। किन्तु इस सत्य को हम भाव में लाते हैं; क्योंकि यह प्रत्यक्ष नहीं है। ज्ञान और भाव की बात में फर्क है कि ज्ञान को प्रमाणित करना पड़ता है, भाव को संचारित। इसलिये काव्य इस प्रत्यक्षता के अभाव की पूर्ति के लिये चित्र, संगीत, छंद, भाषा आदि का सहारा लेता है। चित्र भाव को रूप देता है, संगीत गति। काव्य में चित्रों की कमी नहीं। इन चित्रों द्वारा अप्रत्यक्ष भाव रूप पा जाते हैं। इस प्रकार काव्य हमारे अदृश्य मन का, जो सत्य है, बाहरी प्रकाश है। वह अपनी वस्तु को समग्र विश्व की बना देता है और उसकी नश्वरता को चिरकाल के लिये अमर कर देता है। रवीन्द्रनाथ ने कहा है—"जानते अनजानते मैंने ऐसा बहुत कुछ किया होगा, जो असत्य है। परन्तु मैंने अपनी कविताओं में कभी भूठा प्रलाप नहीं किया, उनमें मेरे अंतर का गंभीर सत्य ही सन्निवेशित हुआ है।"

प्राकृत सत्य से काव्य का सत्य कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। कालिदास का उदाहरण लिया जाय। उन्होंने रति-विलाप का बहुत ही मार्मिक वर्णन किया है। शिव का तीसरा नेत्र खुल जाने से मदन भस्म हो जाता है और रति विलाप करती है। किसी को यह ज्ञात नहीं कि रति ने सचमुच ही कैसे विलाप किया था। दुःख की चरम अवस्था में शोक के दो रूप हो सकते हैं। जार-बेजार रोना और मौन, शुष्क नेत्रों से देखते रहना। रति ने सचमुच कैसे शोक किया था, भगवान जाने, उसका कोई साक्षी नहीं। रति के विलाप से बढ़कर अज का विलाप है। क्या कभी भी उसकी प्रामाणिकता को सिद्ध करने का कुछ उपाय है? नहीं। किन्तु काव्य में कालिदास ने जो चित्र खींचा है, वह प्रेम की महिमा और वियोग-दुःख का एकान्त सत्य रूप है। यही बात मेघदूत में बादलों को दूत बनाकर भेजने की

है। किन्तु वियोगी की पीड़ा, जो सत्य होते हुए भी अदृश्य-अव्यक्त है, मूर्त हो उठी है। कालिदास और उनके करुण विलाप की बात दूर की है। 'प्रिय प्रवास' का 'प्रिय पति वह मेरा, प्राण प्यारा कहाँ है, दुख जलनिधि डुबी का सहारा कहाँ है।' यह विलाप कालिदास की कवि-निबद्ध-पात्र-प्रौढ़ोक्ति द्वारा व्यक्त विलाप से कुछ कम है? सहस्रों सहृदय इसको पढ़कर आत्मविभोर हो जाते हैं किन्तु, किसी ने इसे स्वप्न में भी असत्य कहने का साहस किया है? क्या 'साकेत' की ऊर्मिला की बातें कभी असत्य कही जा सकती हैं? अतः ऐसे स्थल में सत्य कुण्ठित नहीं होता। उसे हम अधिकतर सत्य कह सकते हैं, अर्थात् काव्य का सत्य प्रकृत सत्य की तरह क्षणस्थायी और छिन्न नहीं होता। काव्य हमें जो बताता है, वह पूर्ण रूप से बताता है। वह सत्य के उन अंशों को, जिनकी कमी है, पूरी करके, जिसकी अधिकता है, बाद दे करके, उसकी शून्यता को मिटाकर और छिन्नता को दूर कर हमें बताता है।

सच्ची कविता सत्य के जीवन से आत्मा को संगीतमय कर देती है। पाठक आत्मा की आँखों से सत्य को देखता और प्राणों के कानों से उसे सुनता है। कविता चिर सत्य का प्रकाश है। संसार के प्रत्येक क्षण और कण में उस अनंत आभा की दीप्ति विकसित होती है। कविता उसी सत्य की छवि को रूप देता है। इसीलिये रवीन्द्रनाथ ने एक गीत में कहा है—"मेरे गीतों के लोग मनमाना अर्थ लगाते हैं, किन्तु उनका अंतिम अर्थ तुम्हीं पर जाता है।"

तेरहवीं छाया

काव्य के कलापक्ष और भावपक्ष

शरीर और प्राण की तरह काव्य के भी दो पक्ष हैं—१ कलापक्ष और २ भावपक्ष।

रथचक्र की नाभि में आरा (दंडों) के समान जिसमें कलाएँ स्थित हैं, उस जानने योग्य पुरुष को जानो, जिससे मृत्यु तुम लोगों को न सतावे।[1]

---

१ अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिता:
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा। प्रश्नोपनिषद्

कला वह है जो अनन्त के साथ हमारा सम्बन्ध जोड़ने में समर्थ हो।[1]

प्राच्य और पाश्चात्य समीक्षकों का कला-सम्बन्धी जो सिद्धान्त हैं, वे अतीव महान् और उच्च हैं।

अब लोग काव्य को भी कला में गिनने लगे हैं। किन्तु काव्य स्वयं कला नहीं है। कविता का क्षेत्र कला से अधिक व्यापक और विस्तृत है। काव्य में भावों के उत्कर्ष के लिये, उसमें सरसता का संचार करने के लिये कला का सहारा लेना पड़ता है। इससे सिद्ध है कि कविता का कलापक्ष उसकी प्रेषणीयता या प्रभावोत्पादकता है। प्रेषणीयता काव्य का साधन है, साध्य नहीं। कला का काम कविकृति के भावों का उद्दीपन करना और उसमें सौन्दर्य लाना। शब्द, छन्द, अलंकार, गुण आदि कला के बाह्य उपादान हैं। कला के विषय में इनका अनुशीलन आवश्यक है। शब्दों तथा वाक्यों का निरन्तर संस्कार करते रहने एवं उपयुक्त रीति से उनका प्रयोग करने से ही भावों का सुन्दर अभिव्यंजन होता है—उसमें अधिक से अधिक प्रभावोत्पादकता आती है। छंद, अलंकार और गुण आदि भी काव्य के कलापक्ष की पुष्टि करते हैं। अतः कला अभ्यासलब्ध वस्तु है, यह कहना कुछ संगत प्रतीत होता है।

काव्य के इस कलापक्ष के लिये रवीन्द्रनाथ ने बहुत ही सुन्दर कहा है—"पुरुष के दफ्तर जाने के कपड़े सीधे-सादे होते हैं। वे जितने ही कम हों, उतने ही कार्य में उपयोगी होते हैं। स्त्रियों की वेश-भूषा, लज्जा-शर्म, भाव-भंगी समस्त ही सभ्य समाजों में प्रचलित है... स्त्रियों का कार्य हृदय का कार्य है। उनको हृदय देना और हृदय को खींचना पड़ता है। इसीलिये बिल्कुल सरल, सीधा-सादा और नपा-नपाया होने से उनका कार्य नहीं चलता। पुरुषों को यथायोग्य होना आवश्यक है; किन्तु स्त्रियों को सुन्दर होना चाहिए। मोटे तौर से पुरुषों के व्यवहार का सुस्पष्ट होना अच्छा है; किन्तु स्त्रियों के व्यवहार में अनेक आवरण और आभास-इंगित होने चाहिये। साहित्य भी अपनी चेष्टा को सफल करने के लिये अलंकारों का, रूपकों का, छन्दों का और आभास-इंगितों का सहारा लेता है। दर्शन और विज्ञान की तरह निरलंकृत होने से उसका निर्वाह नहीं हो सकता।"

1 Art is that which carries us to Infinity.—*Emerson.*

"सुकुमार कला सत्य, शिव और सुन्दर की झाँकी का प्रत्यक्ष दर्शन और इस साक्षात्कार से प्राप्त हुई आनन्दमय स्थिति का सुन्दर प्रतिभा द्वारा सहज एवं सुचारु उद्गार हैं।"

अन्तःकरण का सम्बन्ध मस्तिष्क और हृदय से है। विचार का स्थान मस्तिष्क और भाव का स्थान हृदय है। विचारों में उथल-पुथल हुआ करता है। वह परिवर्तनशील है। पर भाव में परिवतन नहीं होता। व्यक्ति-विशेष के विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ जाता है; पर भावुक से भावुक के भाव में अन्तर नहीं पड़ता। सभी अपने बच्चे को प्यार करते हैं। देश-विशेष के कारण इसमें अन्तर नहीं पड़ता। प्रियवियोग का दुःख सभी को एक-सा होता है। इसीसे भाव को नित्य और विचार को अनित्य कहा जा सकता है। भाव सदा एकरस है। कहना चाहिये कि भाव ही मनुष्य को मनुष्यत्व प्रदान करता है और वही भाव काव्य का विषय है।

यदि भाव को सत्य, विश्वव्यापी और एकरूप मानें तो कविता में भी एकरूपता होनी चाहिये, पर ऐसी नहीं देखी जाती। इसका कारण मानव-स्वभाव की विचित्रता तथा अनेकरूपता ही है। जब हमारी प्रवृत्ति ही सदा एक-सी नहीं रहती तो औरों की एक कैसे कही जा सकती है? इससे कविता में जो विशेषतायें देखी जाती हैं वे मानव-स्वभाव-सुलभ ही हैं।

कला अभ्यासलब्ध नैपुण्य है; पर भावों के विषय में यह बात नहीं है। भाव स्वतः स्फूर्त होते हैं। जिस प्रकार काव्य की आत्मा रस-रूप भाव है उसी प्रकार कला का अन्तःकरण कल्पना है और कल्पना काव्य का प्रमुख आधार है। स्वस्थ आत्मा के लिये स्वस्थ शरीर की स्वस्थता का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। अभिव्यक्ति की मार्मिकता के लिये बाहरी उपादानों की जरूरत पड़ती है। साहित्य के इन दोनों पक्षों में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके समुचित संयोग और सामञ्जस्य से ही साहित्य का सच्चा स्वरूप व्यक्त होता है।

शरीर से आत्मा सभी प्रकार श्रेष्ठ है। इसी प्रकार काव्य में कलापक्ष से भावपक्ष का महत्त्व अधिक है। भाव मनुष्य के मन का रसायन है। किन्तु कल्पना का विना सहारा लिये भावों की अभिव्यक्ति की संभावना होते हुए भी कलापक्ष कम महत्त्वपूर्ण नहीं। प्राण का

आधार शरीर है। देह से प्राण का ऐसा सम्बन्ध नहीं कि हम उसे दूसरे आधार में डाल दें। इसलिये देह और प्राण सदा एकात्म ही रहते हैं। इसी तरह काव्य में भाव और कला एकात्म हैं। काव्य कहने से भाव और उसे व्यक्त करने की निपुणता दोनों का समान रूप से बोध होता है। बल्कि काव्य का कलापक्ष ही लेखक का कृतित्व है। भाव तो चिरन्तन हैं और वे न तो मौलिक होते है और न किसी के अपने। उन्हें व्यक्त करने की निपुणता ही कवि की अपनी वस्तु है। इसीसे काव्य के कलापक्ष के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

यहाँ कला केवल काव्य-गुणों के लिये ही प्रयुक्त हुआ है, कला के व्यापक रूप में नहीं।

चौदहवीं छाया

दृश्य काव्य (नाटक)

दृश्य काव्य को रूपक कहते हैं। साधारणतः इसके लिये नाटक शब्द का व्यवहार होता है। यह अंग्रेजी ड्रामा (Drama) का पर्यायवाचक मान लिया गया है।

अभिनेता अर्थात् अभिनय करनेवाले (Actors) नाटक के पात्रों के रूप धारण करके उनके समान ही सब व्यापार करते हैं, जिससे वे दर्शकों को तत्तुल्य ही स्वाभाविक ज्ञात होते हैं। इसीसे अभिनय को अवस्था का अनुकरण वा नाट्य करना कहते हैं—अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।

यह अनुकरण चार प्रकार का होता है। १ आंगिक अर्थात् अंगों के संचालन आदि के द्वारा २ वाचिक अर्थात् वचनों की भङ्गी से ३ आहार्य अर्थात् भूषण, वसन आदि से संवेश-रचना द्वारा और ४ सात्विक अर्थात् स्तम्भ आदि दश सात्विक अनुभावों द्वारा अनुकरण क्रिया सम्पन्न होती[1] है।

---

१ भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः।
आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्विकस्तथा ॥ सा० द०

आचार्यों ने नाटक के मुख्यत: तीन ही तत्त्व माने हैं—वस्तु वा कथावस्तु, नायक और रस। शेष कथोपकथन, देश, काल, पात्र को नायक के शैली को रस के तथा उद्देश्य को वस्तु के अन्तर्गत मान लेते हैं।

नाटक की कथा का नाम वस्तु है। नाटकीय वस्तु का उतना ही विस्तार होना चाहिये जिसमें चार-पाँच घंटों में वह दिखाया जा सके। कथावस्तु प्रख्यात हो अर्थात् ऐतिहासिक वा पौराणिक हो; अथवा उत्पाद्य हो अर्थात् कल्पित हो या मिश्र हो अर्थात् इन दोनों का जिसमें मिश्रण हो।

इस कथावस्तु के दो भेद होते हैं—१ आधिकारिक और २ प्रासंगिक। आधिकारिक वस्तु वह है जो अधिकारी से अर्थात् नाटक के फल भोगनेवाले व्यक्ति से संबंध रखनेवाली है। प्रासंगिक वस्तु वह है जो प्रसंगत: आई हुई आधिकारिक वस्तु की सहायता करनेवाली है। अभिप्राय यह कि प्रासंगिक कथावस्तु आधिकारिक कथावस्तु के उद्देश्य को पुष्ट करती रहे; एक दूसरे का विकास वा उत्कर्ष का साधन हो।

कथावस्तु के दो और भेद होते हैं—दृश्य और सूच्य। दृश्य वे हैं जिनका अभिनय रंगमंच पर प्रत्यक्षत: दिखलाया जाता है और सूच्य वे हैं जिनका अभिनय नहीं दिखलाया जाता, केवल सूचना दे दी जाती है। इनके विभाग का उद्देश्य यह है कि जो घटनाये मधुर, उदात्त, सरस, आवश्यक और रोचक हैं वे तो समक्ष में आवें और जो नीरस, अनुचित, अनावश्यक और अरोचक हों उनकी सूचनामात्र दे दी जाय। अर्थात् उनसे दर्शकों को प्रकारान्तर से परिचय करा दिया जाय।

सूच्य कथाओं या घटनाओं का निदर्शन पाँच प्रकार से होता है। उनके नाम हैं—१ विष्कंभक २ प्रवेशक ३ चूलिका ४ अंकमुख और ५ अंकावतार। पहले में मध्यम पात्रों द्वारा और दूसरे में नीच पात्रों द्वारा आगे की घटना वा कथा का निर्देश किया जाता है। तीसरे में नेपथ्य से कथा की सूचना दे दी जाती है। चौथे में वे अभिनेता जिनका अभिनय अंक के अन्त में होता है, आगे की घटना का निदर्शन कर देते हैं। पाँचवाँ किसी अंक के अंत में रहता है और आगामी अंक का मूल होता है। नाटक या सिनेमा में अब ऐसा नहीं होता।

कथावस्तु के पाँच अंग हैं—१ आरंभ २ यत्न ३ प्रत्याशा ४ नियताप्ति और ५ फलागम। फलप्राप्ति वा उद्देश्य-सिद्धि के लिये जहाँ से कार्य चलता है वह आरंभ है। फलप्राप्ति के लिये सचेष्ट नायक जो उचित उपाय करता है वह यत्न है। जब फलप्राप्ति की आशा होने लगती है उस क्षण को प्रत्याशा कहते हैं। फलप्राप्ति की निश्चित अवस्था का नाम नियताप्ति है। अंत में जो मनोवांछित परिणाम दिखाया जाता है उसका नाम फलप्राप्ति है।

काव्य के समान नाटक में भी वृत्तियाँ हैं—१ कौशिकी का शृङ्गार में, २ शात्वती का वीर में, ३ आरभटी का रौद्र तथा वीभत्स में और ४ भारती का सब रसों में प्रयोग होता है।

नाटक में पात्र ही प्रधान हैं और उनके चरित्र-चित्रण को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। चरित्र-चित्रण के बिना रुचिर कथावस्तु भी अरोचक लगती है। इसके लिये कथोपकथन को इस प्रकार विकसित करना चाहिये जिससे चरित्र की सारी विशेषतायें दर्शकों की आँखों के सामने आ जायँ। यह चित्रण अभिनयात्मक शैली वा परोक्ष शैली से ही किया जाता है।

नाटक का प्रधानपात्र नायक वा नेता कहलाता है। वंशानुसार इसके तीन भेद होते हैं—१ दिव्य (देवता) २ अदिव्य (मानव) और ३ दिव्यादिव्य (अवतार)। स्वभावानुसार इसके चार भेद होते हैं—१ धीरोदात्त। यह सुशील, सच्चरित्र और सर्वगुण-संपन्न होता है। २ धीरललित। यह विनोदी, विलासी और जनप्रिय होता है। ३ धीरशांत। यह सरल स्वभाव का होता है। ४ धीरोद्धत। यह उद्धत, घमंडी और आत्मश्लाघी होता है। व्यवहार के अनुसार शृङ्गार में दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ के भेद से चार प्रकार के नायक होते हैं।

नाटक में कथोपकथन की ही विशेषता है। यह कृत्रिम, निरर्थक, अशोभन, अरोचक और अस्पष्ट न हो। आचार्यों ने इसके तीन भाग किये हैं—१ नियतश्राव्य २ सर्वश्राव्य और ३ अश्राव्य वा स्वगत। नियतश्राव्य वह है जिसे रंगमंच के कुछ चुने हुए पात्र ही सुनें, सब नहीं। सर्वश्राव्य वह है जो सब पात्रों के सुनने योग्य होता है। अश्राव्य वह है जिसे कोई पात्र आप ही आप इस ढंग से कहता है

कि कोई दूसरा न सुने। स्वगत या अश्राव्य कथन में ही पात्रों के मुख से नाटककार उनके मनोगत भाव व्यक्त कराता है। यह कुछ आजकल रंगमंच पर अस्वाभाविक-सा लगता है।

रस का वर्णन यथास्थान किया गया है।

पन्द्रहवीं छाया

नाटक के भेद

(क) स्वरूप के अनुसार (प्राचीन)

रूपक के दो भेद होते हैं—एक रूपक वा नाटक और दूसरा उपरूपक। नाटक के दस भेद होते हैं—१ नाटक २ प्रकरण ३ भाण ४ व्यायोग ५ समवकार ६ डिम ७ ईहामृग ८ अङ्क ९ वीथी और १० प्रहसन।

१ नाटक अभिनय-प्रधान वह दृश्य काव्य है जिसमें रूपक के पूर्ण लक्षण हों। इसमें ५ से १० अंक तक हो सकते हैं। भारतीय नाटक प्राय: सुखान्त ही होते हैं।

२ नाटक के समान ही प्रकरण होता है। जैसा कि 'मृच्छकटिक'। इसका अनुवाद हिन्दी में सुलभ है। ३ भाण का मुख्य उद्देश्य परिहास-पूर्ण धूर्तता का प्रदर्शन है। इसमें एक ही व्यक्ति प्रश्नरूप में कुछ कहता है और स्वयं ही उत्तर देता है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' भाण ही है। ४ व्यायोग वीररस-प्रधान रूपक है। हिंदी में भी 'निर्भयभीम-व्यायोग' है। ५ समवकार तीन अंक का वीररस-प्रधान रूपक होता है। ६ डिम भयानक-रस-प्रधान चार अंक का होता है। ७ ईहामृग नायक-प्रतिनायकवाला रूपक है। ८ अंक करुणरस-प्रधान रूपक है। ९ वीथी भाण का-सा ही नाटक होता है। इसमें शृङ्गार रस के साथ करुण रस भी होता है। १० प्रहसन हास्यरस-प्रधान रूपक है। हिन्दी में प्रहसन की अधिकता है।

उपरूपक के १८ भेद होते हैं जिनकी नामावली और परिचय से कोई लाभ नहीं। क्योंकि ये प्राचीन परिपाटी के रूपक हैं और हिन्दी में अधिकांश का अवतार न हुआ है और न होने की संभावना ही है। इनमें नाटिका का 'रत्नावली' त्रोटक का 'विक्रमोर्वशी' और

सट्टक का 'कर्पूर मंजरी' उदाहरण हैं जो संस्कृत और प्राकृत से हिन्दी में अनूदित होकर आये हैं।

भाण, व्यायोग, अंक, वीथी और प्रहसन, ये पाँचो रूपक पुराने ढंग के एकांकी नाटक हैं। प्रहसन में एक अंक से अधिक भी अंक हो सकते हैं। उपरूपक के गोष्ठी, नाट्यरासक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेषण, रासक, श्रीगदित तथा विलासिका ये भी अपनी विशेषता रखते हुए एकांकी नाटक ही हैं।

(ख) विषयानुसार (नवीन)

हिन्दी के नाट्य-साहित्य का निर्माण प्रायः अनुवाद से हुआ है। इसमें संस्कृत के नाटकों का अनुवाद, शेक्सपियर तथा मौलियर के नाटकों का अनुवाद और बँगला नाटकों का अनुवाद सम्मिलित हैं। इस समय तक मौलिक नाटकों का कोई महत्त्व नहीं था, जो दो-चार लिखे गये थे। प्रसाद के नाटक ही मौलिक रूप से साहित्यिक महत्त्व को लेकर हिन्दी में अवतीर्ण हुए। वर्तमान हिन्दी नाट्य-साहित्य पौरस्त्य और पाश्चात्य प्रभावों से प्रभावित होकर प्रस्तुत हो रहा है। निम्न-लिखित रूप में इनका वर्गीकरण हो सकता है।

१ सांस्कृतिक चेतना के नाटक—चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, पुण्य पर्व आदि हैं।

२ नैतिक चेतना के नाटक—रक्षाबंधन, प्रतिशोध, राजमुकुट आदि हैं। इनमें राजकीय नैतिकता है। कृष्णार्जुनयुद्ध, सागर-विजय आदि में पौराणिक नैतिकता है। इस प्रकार इनमें नैतिक चेतना है।

३ समस्या-नाटक के दो प्रकार हैं—व्यक्ति की समस्या और सामाजिक तथा राजनीतिक समस्या। पहले में सिन्दूर की होली, दुविधा, कमला, छाया आदि हैं और दूसरी में सेवापथ, स्पर्द्धा, स्वर्ग की झलक आदि हैं।

४ रूपक के रूप में जो नाटक होता है उसे नाट्य-रूपक कहते हैं। इसमें 'प्रबोध चन्द्रोदय' संस्कृत और हिन्दी दोनों में प्रसिद्ध है। मौलिक रूप में प्रसादजी की 'कामना' ने अपना नाम खूब कमाया। ज्योत्स्ना आदि अन्य भी एक दो नाट्य-रूपक हैं।

५ गीति-नाट्य में अनघ, तारा, राधा आदि की गणना होती है।

पर इनमें भाव की भी प्रधानता है। इन्हें गीति-नाट्य कहने का आधार इनकी पद्यबद्धता ही है।

६ भाव-नाट्य में भाव की प्रधानता रहती है। इसमें अन्तःपुर का छिद्र, अम्बा आदि की गणना होती है।

इन उपर्युक्त उद्देश्यमूलक विभागों के अतिरिक्त सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, राजनैतिक, समस्यामूलक, भावात्मक आदि नामों से भी आधुनिक नाटकों का विभाग किया जाता है।

स्टेज पर मूक अभिनय का विभाग प्रदर्शन होने लगा है।

सोलहवीं छाया

एकांकी

उपन्यासों की प्रतिक्रिया जैसे कहानियाँ हैं वैसे ही नाटकों की प्रतिक्रिया एकांकी नाटक हैं। पुरानी प्रचलित परिपाटी को तोड़फोड़कर ही इनका निर्माण हुआ है। आजकल हिन्दी-साहित्य में एकांकी रूपकों की बाढ़-सी जो आ गयी है उसका कारण केवल यही है कि समय की प्रगति और कला की दृष्टि से पुराने ढंग के बड़े-बड़े नाटक नागरिकों के मनोरंजन के उपयुक्त नहीं रहे। एकांकी अभिनयोपयोगी न भी हुआ तो कहानी-सा पढ़कर उससे आनन्द उठाया जा सकता है।

एकांकी अपने आप में संपूर्ण होता है। उसकी अपनी सत्ता और महत्ता है। उसका अपना प्राण है जिसकी अभिव्यञ्जना का उसका अपना निराला ढंग है। वह किसी के आश्रित नहीं। कुशल कलाकार कोई भी कहानी, घटना, प्रसंग, जीवन की समस्या आदि को लेकर उसे ऐसा सजीव बना देता है जो सीधे हृदय पर जाकर चोट करता है। सारांश यह कि एकांकी का सभी कुछ विषय हो सकता है और कलाकार उसे प्रभावपूर्ण बना सकता है।

एकांकी नाटक की कथावस्तु एक ही निश्चित लक्ष्य को लेकर चलती है। उसमें अवान्तर प्रसङ्ग न आने चाहिये। परिस्थिति, घटना, चरित्र आदि के विकास में, संयम की आवश्यकता है। किसी प्रकार की शिथिलता अवांछनीय है। अभिव्यक्ति में भावुकता की, अर्थ की,

वास्तविकता की और मानसिक स्थिति की, विशेषता होनी चाहिये। यों ही पात्रों का वार्तालाप लिख देने से एकांकी नाटक नहीं हो सकता। एकांकी की सबसे बड़ी बात है चिन्ता-राशि की समृद्धता। एकांकी एक दृश्य में भी समाप्त हो सकता है और उसमें अनेक दृश्य भी हो सकते हैं। आधुनिक एकांकी नाटकों में अभिनय-संकेतों (Stage-Direction) की प्रधानता देखने में आती है।

हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से गीति-नाट्य नहीं लिखे गये हैं। 'तारा' बंगला से अनूदित अतुकान्त गीतिनाट्य है। छन्दोबिद्ध वार्तालाप लिख देने से ही कोई रचना गीतिनाट्य की श्रेणी में नहीं आ सकती। उनके कथन में लय भी होना चाहिये और स्वर का आरोहावरोह भी। उनका जोरदार होना तो अत्यावश्यक है। बँगला स्टेज पर इनका अच्छा प्रदर्शन होता है। अपना स्टेज न होने पर भी हिन्दी में 'कृष्णार्जुन युद्ध' जैसे गीतिनाट्य लिखे जायँ तो उसका सौभाग्य है। उसमें अहीन्द्र चौधरी का जिन्होंने अभिनय देखा है, वे गीतिनाट्य की उपयोगिता और महत्ता को समझ सकते हैं।

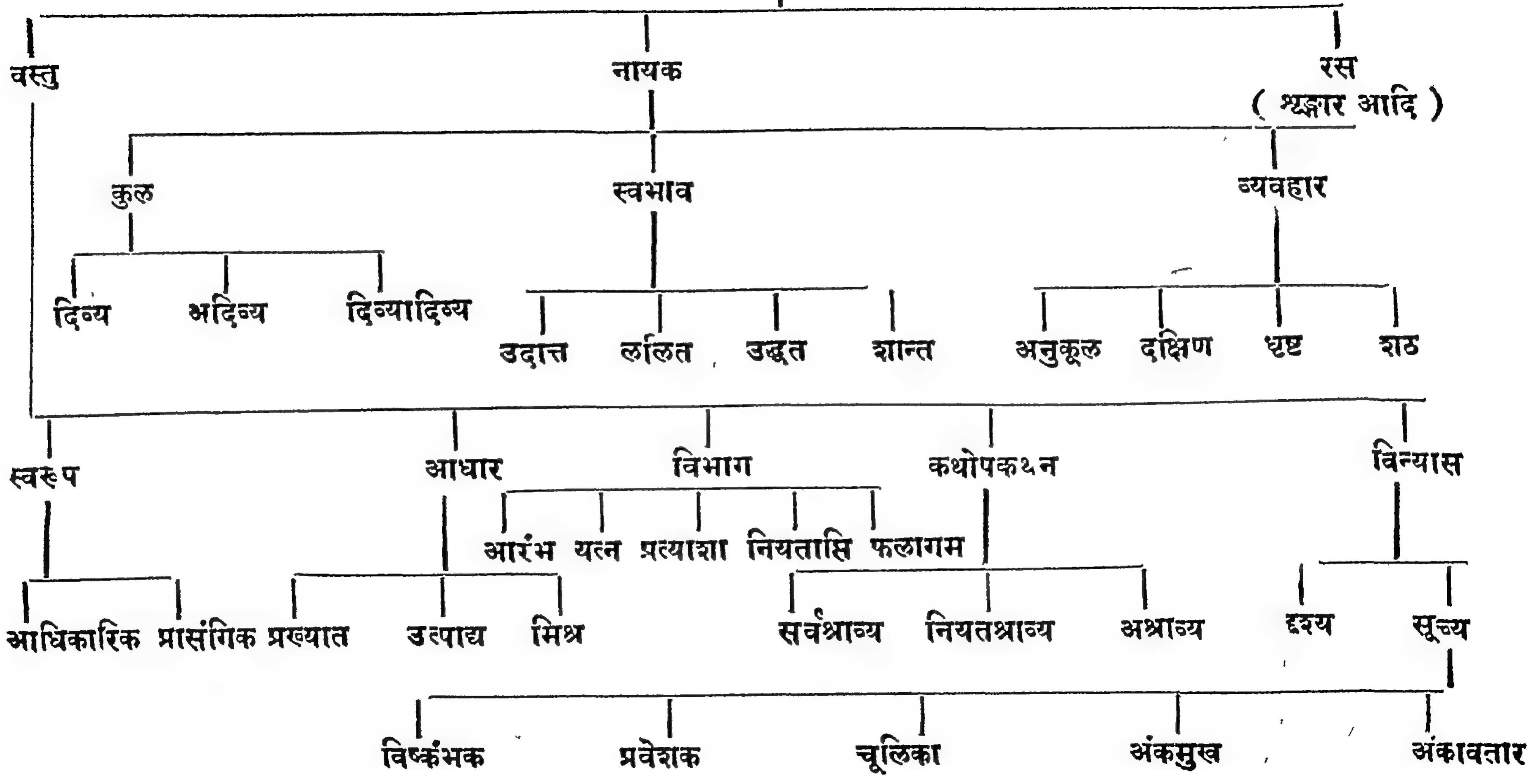
हिन्दी में भावनाट्य के भी दर्शन होने लगे हैं। उदयशंकर भट्ट इसके सुप्रसिद्ध कलाकार हैं। उन्होंने 'मत्स्यगन्धा' 'विश्वामित्र' और 'राधा' नामक तीन भावनाट्य लिखे हैं। छन्दोबद्ध होने से कुछ लोग इन्हें गीतिनाट्य ही कहते हैं पर हैं वे भावनाट्य ही। लेखक का ऐसा ही विचार है। उनके मत से भावनाट्य का लक्षण है—"संकेतमय एवं स्पष्ट भावविलास, परिस्थिति से उत्पन्न एकान्त मानस उद्रेक, पल-पल में कल्पना के सहारे अनुभूति की प्रौढ़ता"। यह जिसमें हो वह भावनाट्य है।

"भावनाट्य एक प्रकार की मानसिक उथल-पुथल मचानेवाली भावधारा को लेकर चलता है और अपनी शृङ्खला में लम्बे-लम्बे छोरों से जोड़कर समिन्विति को ग्रहण करता है। प्रकृति और गीति उसके आलंबन हैं और विचार उद्दीपन, इसीलिए परिणति रस है। कायिक व्यापार उसमें नहीं होते, यदि होते हैं तो बहुत थोड़े। केवल उसमें मानसिक चिन्तन का सतत प्रदशन होता है।" यह भी भावनाट्य के सम्बन्ध में उनका मत है।

जिस नाटक में एक ही पात्र बोलता है उसे अंग्रेजी में 'मोनो-ड्रामा' कहते हैं। संस्कृत में 'आकाशभाषित' नाम से नाटक का एक प्रकार है। उसमें एक ही पात्र बोलता है। हिन्दी में भारतेन्दु का लिखा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' ऐसा ही एकपात्री आकाश-भाषित है जिसका उल्लेख हो चुका है।

सेठ गोविन्ददास के 'चतुष्पथ' में भिन्न-भिन्न प्रकार के चार 'मोनो-ड्रामा' संगृहीत हैं। 'प्रलय और सृष्टि' में एक ही पात्र है और कई लघु यवनिकायें हैं। 'अलबेला' एक एकांकी नाटक है जिसमें पात्र एक आदमी और उसका घोड़ा है। 'शाप और वर' दो भागों में एक नाटक है जिसमें एक दम्पति पात्र हैं। 'सच्चा जीवन' एक 'आकाश-भाषित' एकांकी नाटक है।

सिनेमा भी नाटक का ही एक रूप है। इसमें संवाद ही की प्रधानता रहती है, वर्णन की नहीं। क्योंकि अध्ययन के लिये सिनेमा-संवाद प्रस्तुत नहीं होता। सिनेमा का ऐसा संवाद जहाँ उपदेश और वर्णन के भाव से विस्तार पाता है वहाँ उद्वेजक हो जाता है। उसमें अनावश्यक गीतों की अवतारणा भी अरुन्तुद होती है। हिन्दी में ऐसे संवाद लिखनेवालों के नाम चित्रपट में दिखायी पड़ते हैं। हिन्दी के कलाकार भी सिनेमा में पहुँचे हैं पर असाहित्यिक निर्देशक के निर्देश के कारण इनकी स्वतन्त्रता रहने नहीं पाती। उन्हें चाहिये कि हिन्दी-साहित्य की समुन्नति और उसकी मर्यादा का ध्यान रखकर ही जो लिखना हो, लिखें।


नाटक के तत्त्व
वस्तु
नायक
रस
(शृङ्गार आदि)
कुल
स्वभाव
व्यवहार
दिव्य
अदिव्य
दिव्यादिव्य
उदात्त
ललित
उद्धत
शान्त
अनुकूल
दक्षिण
धृष्ट
शठ
स्वरूप
आधार
विभाग
कथोपकथन
विन्यास
आरंभ
यत्न
प्रत्याशा
नियताप्ति
फलागम
आधिकारिक
प्रासंगिक
प्रख्यात
उत्पाद्य
मिश्र
सर्वश्राव्य
नियतश्राव्य
अश्राव्य
दृश्य
सूच्य
विष्कंभक
प्रवेशक
चूलिका
अंकमुख
अंकावतार

सत्रहवीं छाया

कवि और भावक

कवि और भावक में कोई भेद है वा दोनों ही एक स्वभाव के हैं, अथवा कवि का भावक होना या भावक का कवि होना संभव है या असंभव, इन बातों को लेकर पक्ष और विपक्ष में आलोचना-प्रत्यालोचना का अन्त नहीं। आज का पाश्चात्य साहित्य, इस विवाद का बड़ा अखाड़ा है। यही क्यों, प्राच्य साहित्य भी इस विषय में पिछड़ा हुआ नहीं है। उसमें भी इसका मार्मिक विवेचन है।

प्रतिभा दो प्रकार की होती है—एक कारयित्री अर्थात् कवि का उपकार करनेवाली और दूसरी भावयित्री अर्थात् भावक का—सहृदय का उपकार करनेवाली। पहली काव्य-रचना में सहायक होती और दूसरी कवि के श्रम और भाव को हृदयंगम करने में सहायक होती है। इसी बात को लेकर एक कवि का कथन है कि कोई अर्थात् कारयित्री-प्रतिभा-विशिष्ट कवि वचन-रचना में चतुर होता है और कोई—दूसरा भावयित्री-प्रतिभाविशिष्ट भावक सुनने में अर्थात् सुनकर भावना करने में समर्थ होता है। जैसे एक पत्थर सोना उपजाता है और दूसरा पत्थर—निकषपाषाण (कसौटी) उसकी परीक्षा में क्षम होता[1] है।

कवित्व से भावकत्व के और भावकत्व से कवित्व के पृथक् होने का कारण यह है कि दोनों के विषय भिन्न-भिन्न हैं। एक का विषय शब्द और अर्थ है और दूसरे का विषय रसास्वादन है। यह विषय-भिन्नता है। इनकी रूप-भिन्नता भी है। कवि काव्य करनेवाला होता है और उसमें तन्मय होनेवाला भावक होता है।

कहते हैं कि कवि भी भावना करता है और भावक भी कविता करता है। उद्धृत श्लोक के तीसरे चरण का आशय है कि 'कल्याणी, तेरी बुद्धि तो दोनों प्रकार की—कारयित्री और भावयित्री—है जिससे हमें विस्मय होता है'। इससे एक का दोनों होना—कवि और भावक

---

१ कश्चिद्वाचं रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्तां
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति।
नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणाना-
मेकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः॥ काव्यमीमांसा

होना—निश्चित है। ऐसे कुछ भावक हो सकते हैं जो कवि भी हों। यहाँ यह कहा जा सकता है कि भावक भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है। इनमें एकता नहीं पायी जाती।

कोई भावक वचन का अर्थात् शब्दगुम्फन के सौष्ठव का भावक—विवेचक होता है; कोई हृदय का अर्थात् काव्य के मर्म का जानकार होता है; और कोई भावक सात्विक तथा आङ्गिक अनुभावों का प्रदर्शन-पूर्वक विचारक होता है। कोई तो गुण ही गुण का गाहक है; कोई दोष ही दोष ढूँढ़ता है और कोई गुण-ग्रहण-पूर्वक दोष-त्यागी भावक होता[1] है।

महकवि भवभूति के नाटकों का, शताब्दियाँ बीत जाने पर भी जो आज समादर है वह या उसका कुछ अंश उन्हें उस समय प्राप्त नहीं था जब कि उनकी रचना हुई थी। इसीसे वे दुःखित होकर कहते हैं काल का—समय का अन्त नहीं और पृथ्वी भी बड़ी है। किसी न किसी समय और कहीं न कहीं मुझ-जैसा कोई उत्पन्न होगा जो मेरी कृति को समझेगा और उसका गुण गावेगा; मुझ जैसा ही आनन्द उठावेगा[2]।

मूल में समानधर्मा जो विशेषण है वह ध्यान देने योग्य है। इस से यह व्यक्त होता है कि कवि और भावक का एक ही धर्म है। कवि अपनी कविता के मर्मज्ञ होने के कारण ही मर्मज्ञ भावक की आशा करता है। इस दशा में यह कहा जा सकता है कि कवि भावक है और भावक कवि। कवि केवल कविता करने के कारण ही कवि कहलाने का अधिकारी नहीं है, किन्तु कविता के तत्त्व को अधिगत करने के कारण भी। इससे इनमें भेद नहीं है।

टेनिसन भी यही कहता है कि कवि को दुःख मत दो, तंग न

---

१ वाग्भावको भवेत्कश्चित् कश्चित् हृदयभावकः।
सात्विकैराङ्गिकैः कैश्चित् अनुभावैश्च भावकः॥
गुणादानपरः कश्चित् दोषादानपरोऽपरः।
गुणदोषाहृतित्यागपरः कश्चन भावकः॥ काव्यमीमांसा

२ उत्पत्स्यते सपदि कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी। मा० माधव

करो। क्योंकि तुम इस योग्य नहीं कि उसकी कविता को समझ सको, उसके मन की थाह पा सको[1]।

एक कवि की सूक्ति का आशय है कि हे ब्रह्मा, अन्य पापों की बातें जितनी चाहो लिखो, पर अरसिक को कविता सुनाने की बात नहीं लिखो, नहीं लिखो, नहीं लिखो[2]। इस से भी कवि के भावक होने की बात व्यक्त होती है। वह अपनी कविता की सरसता को समझता है तभी अरसिकों को कविता सुनाने से दूर रहने की माँग करता है।

यह एक पक्ष की बात है। दूसरा पक्ष कहता है कि कवि यदि भावक होता तो राजशेखर यह बात कैसे कहते कि भावक कवि का मित्र, स्वामी, मन्त्री, शिष्य, आचार्य और ऐसे ही क्या-क्या न[3] है!

जब भावक जनसमाज में कवि का गुण गाता है, उसका यशोविस्तार करता है तब वह उसका मित्र है। दोषापवाद से बचाने के कारण भावक कवि का स्वामी कहा जाता है। जब भावक कवि को अपनी भावना द्वारा मन्त्रणा देता है तब उसका मन्त्री होता है। जब भावक जिज्ञासु-भाव से कवि-रचना में पैठता है तब वह शिष्य और जब देख-सुनकर उपदेश देता है तब उसका आचार्य बन जाता है। इस प्रकार कवि भावक से एक बारगी ही अलग हो जाता है।

एक कवि का कथन है कि विना साहित्यज्ञों के—रस अलंकार आदि के पारखियों के कवियों के सुयश का विकास कभी संभव नहीं[4] है। इस प्रकार भावक कवि का उन्नायक है।

---

1 Vex not thou the poet's mind
With thy shallow wit,
Vex not thou the poet's mind
For thou canst not fathom it.

२ इतरपापशतानि यथेच्छया वितर तानि स हे चतुरानन।
अरसिकेषु कवित्व-निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख।

३ स्वामी मित्रं च मन्त्री च शिष्यश्चाचार्य एव च।
कविर्भवति ही चित्रं किं हि तद्यन्न भावकः। काव्यमीमांसा

४ विना न साहित्यविदा परत्र गुणाः कथंचित् प्रथते कवीनाम्॥

तुलसीदासजी कहते हैं—

मणिमाणिक मुक्ता छवि जैसी, अहिं गिरि गज सिर सोह न तैसी।
नृप किरीट तरुणी तन पाई, लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसहि सुकवि कवित बुध कहहीं, उपजत अनत अनत छवि लहहीं।

इनसे कवि और भावक की भिन्नता का सिद्धान्त प्ररिपुष्ट होता है। कवि अकबर की यह सूक्ति भी कवि और भावक को भिन्न वताती है—

हुआ चमन में हुजूमें बुलबुल किया जो गुल ने जमाल पैदा।
कमी नहीं कद्रदाँ की अकबर करे तो कोई कमाल पैदा।

जिस दिन फूल ने अपना सौन्दर्य-सौरभ फैलाया उस दिन वाटिका में बुलबुलों की भरमार हो गयी। कद्रदानों की—गुण-गौरव गानेवालों की—गुणगाहकों की कमी नहीं। कोई कमाल की चीज पैदा करे तो! अपूर्व वस्तु का आविर्भाव तो करे! एक कवि की यह सूक्ति भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करती है—

गुण ना हेरानो गुणगाहक हेरानो है।

इस प्रकार इनके पक्ष-विपक्ष में साधक-बाधक प्रमाणों का अन्त नहीं है। पर व्यवहारतः इनकी एकता और भिन्नता का भी थोड़ा बहुत विवेचन हो जाना चाहिये।

यह प्रायः देखा जाता है कि व्यक्ति-विशेष में विशिष्ट प्रतिभा होती है। कोई लेखक होता है तो कोई वक्ता, कोई नाटककार होता है तो कोई कहानीकार, कोई कवि होता है तो कोई विवेचक। तुलसीदास से लेकर उपाध्यायजी तक के कवि कवि के रूप में ही रहे। प्रेमचन्द और सुदर्शन कथाकार ही रहे। गिरीशचन्द्र नाटककार ही हुए और शरच्चन्द्र कथाकार ही। कोई-कोई इसके अपवाद भी हैं, किन्तु उनकी प्रतिभा का स्फुरण जैसे एक विषय में देखा जाता है वैसे अन्य विषयों में नहीं।

महादेवी कवि से चित्रकार न कहलायीं, यद्यपि उनकी कवित्वकला से चित्रकला न्यून नहीं है। किसी प्रसिद्ध चित्रकार के चित्र से उनका चित्र चित्र-कला की दृष्टि से समकक्षता कर सकता है। फिर भी उनका वैशिष्ट्य कवित्वकला में ही माना जाता है। रवीन्द्र सब कुछ होते हुए भी कवीन्द्र ही कहलाये। भारतेन्दुजी ने भिन्न-भिन्न विषयों पर पुस्तकें लिखीं पर प्रकृत रूप में वे कवि थे। प्रसादजी ने कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, कविता आदि सब कुछ लिखा पर वे कवि थे और कवि ही रहेंगे। उनकी सारी कृतियों में कविता की ही झलक पायी जाती है।

द्विवेदीजी और शुक्लजी, दोनों ने कविता की है पर उन दोनों को समालोचक की ही प्रशस्ति प्राप्त है।

पाश्चात्य पण्डितों में भी जो विचारक या चिन्तक रहे, उनका वही रूप बना रहा। कवि भी कवि से समालोचक की श्रेणी में नहीं आये। कुछ कोविद ऐसे हैं जिनके दोनों रूप देखे जाते हैं, जैसे कि कालरिज, मैथ्यू आर्नल्ड, बर्नार्ड शा, अबरक्रांबी आदि। किन्तु इनकी प्रसिद्धि दोनों में समान भाव से नहीं है।

बूचर ने स्पष्ट लिखा है—काव्यानन्द के सम्बन्ध में आरिस्टाटिल का मत है कि वह स्रष्टा वा कवि का नहीं बल्कि द्रष्टा का है जो रचना के मर्म को समझता है[1]।

जो साहित्यिक और समालोचक भी हैं उनकी समालोचना में एक विशेषता देखी जाती है। उनकी जैसी साहित्य-सृष्टि होती है वैसी ही उनकी समालोचना भी। तुलनात्मक दृष्टि से इनकी कृति की समालोचना करने पर यह बात अविदित नहीं रहेगी। कारण यह है कि कवि-प्रतिभा से विचार-बुद्धि नियन्त्रित हो जाती है जो अपने वैभव को प्रकाश नहीं कर पाती। कवि में कल्पना की प्रधानता रहती है और विचारक में बुद्धि की। जो कवि अपनी प्रतिभा से, संस्कार से, विवश हो जाता है वह निरपेक्ष नहीं रह सकता। समालोचक को सब प्रकार से निरपेक्ष और स्ववश होना चाहिये। कल्पनाप्रिय कवि के लिये यह असंभव है। यह विषय तर्क-वितर्क से शून्य नहीं कहा जा सकता। रवीन्द्रनाथ की ऐसी अधिकांश समालोचनायें हैं जो उनकी साहित्य-सृष्टि के अनुरूप ही हैं। उनमें उसीका स्वरूप प्रकाशित होता है। उनकी साहित्य-सृष्टि और समालोचना में एक प्रकार का अन्योन्याश्रय-सा है। यह उनके साहित्य के अध्ययन में बड़ी सहायक है।

यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि कवि भावक नहीं हो सकता। 'काव्यालोक' के उदाहरणों में कुछ पद्यों की ऐसी व्याख्या की गयी है कि उनके कवियों ने स्वयं लेखक से कहा है कि हमने तो कभी सोच भी न था कि इनकी ऐसी व्याख्या की जा सकती है; इनकी इतनी बारीकियाँ निकाली जा सकती हैं; इनका ऐसा तथ्योद्‌घाटन किया जा

---

1 Aristotle's theory has regard to the pleasure not of the maker, but of the spectator who contemplates the finished products.

सकता है। जो यह कहते हैं कि रचनाकाल में कलाकार, विशेषत: कवि अपनी रचना का आनन्द लेता रहता है, उर्दू के शायरों में अधिकतर यह बात देखी जाती है, वह बात दूसरी है। भावक का काम केवल आनन्द ही लेना नहीं है। वह कलात्मक ज्ञान के साथ विश्लेषण बुद्धि भी रखता है। वह मित्र, मन्त्री आदि होने का भी दावा रखता है।

कवि का चित्त यदि अपनी सृष्टि में सर्वतोभावेन स्वयं ही लीन हो जाय तो उसकी सृष्टि-शक्ति दुर्बल हो जाती है। वह शक्तिशाली होने पर भी सामर्थ्योचित साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता। भावक जैसे भाव आदि का विश्लेषण करके काव्य समझने की चेष्टा करता है वैसा कवि नहीं करता। वह इन विषयों में सचेत रहता है पर समीक्षक नहीं बन जाता। कवि का काम है रस को भोग्य बनाना न कि उसका स्वयं चर्वण करने लग जाना। वह पहले स्रष्टा है, पीछे भले ही भोक्ता हो। स्रष्टा समालोचक नहीं होता।

निष्कर्ष यह कि सर्जन—सृष्टि करना और आलोचन—विचार करना दोनों दो शक्तियों के काम हैं, विभिन्न मानसिक क्रियायें हैं। यह सत्य है, भ्रामक नहीं। श्रेष्ठ साहित्य के स्रष्टा की विचार-शक्ति न्यून होती है और जो श्रेष्ठ समालोचक हैं वे प्राय: श्रेष्ठ स्रष्टा नहीं होते।

इस समस्या का समाधान इस प्रकार हो सकता है कि यदि कलाकार में रसिकता--भावकता भी हो तो वह कलाकार और भावक, दोनों हो सकता है। 'कविर्हि सामाजिकतुल्य एव'। पर ये दो प्रकार की प्रतिभायें हैं—गुण हैं, इसमें सन्देह नहीं। टी० एस० इलियट का कहना है कि कलाकार जितना ही परिपूर्ण—कुशल होगा उतना ही उसके भीतर के भोक्ता मानव और सर्जक मस्तिष्क की पृथकता परिस्फुट होगी[1]। यही बात क्रोचे भी कहते हैं—'जब दूसरों को और अपने को एक ही विशुद्ध काव्यानन्द की उपलब्धि हो'[2] तभी सामाजिकगत तथा रसिकगत रस की बात कही जा सकती है।

---

1 The more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates.

2 ... bestowing pure poetic joy either upon others or upon himself.

आठवाँ प्रकाश

दोष

पहली छाया

शब्द-दोष

काव्य का निर्दोष होना बहुत ही आवश्यक है। क्योंकि दोष काव्य-कलेवर को कलुषित कर देता है। पर दोष है क्या? इसके सम्बन्ध में अग्निपुराण कहता है कि 'काव्यास्वाद में जो उद्वेग पैदा करता है वह दोष[1] है'। दर्पणकार कहते हैं कि 'शब्दार्थ द्वारा जो रस के अपकर्षक—हीनकारक हैं वे ही दोष[2] हैं। काव्य-प्रकाशकार मम्मट कहते हैं कि—

'जिससे मुख्य अर्थ का अपकर्ष हो वह दोष है।'

कवि का अभिप्रेत अर्थ ही मुख्य अर्थ है। कवि जहाँ वाच्य अर्थ में उत्कर्ष दिखलाना चाहता है वहाँ वाच्य अर्थ मुख्य अर्थ होता है। कवि जहाँ रस भाव आदि में सर्वोत्कृष्ट चमत्कार चाहता है वहाँ रस भाव आदि ही मुख्यार्थ समझे जाते हैं। परम्परा सम्बन्ध से शब्द भी मुख्यार्थ माना गया[3] है'। वामन ने गुणों के विरोध में आनेवालों को दोष कहा है।[4] अतः अविलंब मुख्यार्थ की प्रतीति में—चमत्कार के तत्काल ज्ञान होने में बाधा पहुँचानेवाले दोष हैं जो त्याज्य माने जाते[5] हैं।

---

१ उद्वेगजनको दोषः।

२ दोषास्तस्यापकर्षकाः।

३ मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्याः तेन तेष्वपि सः।

४ गुणविपर्ययात्मानो दोषाः।

५ नीरसे त्वविलंबितचमत्कारिवाक्यार्थप्रतीतिविघातका एव हेयाः। काव्यप्रदीप

आनल्ड का कहना है कि अपनी अपेक्षा अपनी कला का समादर अधिक आवश्यक है[1]। यह दोषत्याग को ही लक्ष्य में रखकर उक्त है।

इस काव्य-दोष के १ शब्द-दोष २ अर्थ-दोष और ३ रस-दोष तीन भेद होते हैं। अपकर्ष भी तीन प्रकार का होता है—१ काव्यास्वाद-रोधक २ काव्योत्कर्ष-विनाशक और काव्यास्वाद-विलम्बक। अभिप्राय यह कि कवि के अभिप्रेतार्थ की प्रतीति में अनेक प्रकार के जो प्रतिबन्ध हैं वे दोष हैं। दोषों की इयत्ता नहीं हो सकती। पदगत, पदांशगत और वाक्यगत जो दोष हैं वे शब्दाश्रित ही हैं। इससे इनकी गणना शब्द-दोषों में ही की जाती है।

शब्द-दोष

वाक्यार्थ के बोध होने में जो प्रथम-प्रथम दोष प्रतीत होते हैं वे शब्द-दोष है। शब्द के दोष १ पदगत २ पदांशगत और ३ वाक्यगत होते हैं।

१ श्रुतिकटु—सुन्दर और मधुर से मधुर शब्दों का प्रयोग कवि के अधीन है। फिर भी कवि वैसा प्रयोग न करके जहाँ कानों को खटकने-वाले शब्दों का प्रयोग करता है वहाँ श्रुतिकटु दोष होता है। जैसे,

कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता,
पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता[2]।

सारँग में उट्ठी स्वर-लहरी देने लगे ताल भी ताल।

कसती कटि थीं कनिष्ठ मां असि देतीं मझली घनिष्ठ मां
कह क्यों न किया हमें प्रजा पहनाती वह ज्येष्ठ मां स्रजा।

इन पद्यों के काले वर्ण कानों को खटकते हैं और पाठकों के चित्त में उद्वेग उत्पन्न कर देते हैं। यहाँ परुष वर्णों का प्रयोग पद्यगत-रसास्वादन का विघातक है।

टिप्पणी—जहाँ रौद्र रस आदि व्यंग्य हो वहाँ यह दोष दोष नहीं रह जाता। क्योंकि वहाँ श्रोता के मन में उद्वेग होने का प्रश्न ही नहीं रहता।

---

1 Let us at least have so much respect for our art as to prefer it to ourselves.

२ इस प्रकाश में उद्धृत कविताओं के कवियों के नाम नहीं दिये गये हैं।

२. च्युतसंस्कार—भाषा-संस्कारक व्याकरण के विरुद्ध पद का प्रयोग होना च्युत-संस्कार दोष है।

(१) लिंगदोष—पंतजी तो डंके की चोट लिंग-विपर्यय करते हैं और दूसरे भी इससे बाज नहीं आते।

(क) कब आयेगा मिलन प्रात उमड़ेगी सुख हिल्लोल।

(ख) छिपी स्तर में एक पावक रक्त कणकण चूम।

(२) वचनदोष—कह न सके कुछ बात प्राण था जैसे छुटता।

(३) कारकदोष—(क) शोभित अशोक सिंहासन में

(ख) मेरे में कुछ नये गर्व कण आकर उभरे।

(४) सन्धिदोष—क्यों प्राणोद्वेलित हैं चंचल।

यहाँ प्राण और उद्वेलित का अलग-अलग रहना ही आवश्यक है। संस्कृत-हिन्दी शब्दों का सन्धि, समास, प्रत्यय द्वारा मिलाना, जैसे 'सराहनीय' 'है पुण्य पर्व करताभिषेक' आदि प्रयोग दुष्ट ही हैं।

(५) प्रत्यय-दोष—प्रेम शक्ति से चिर निरस्त्र हो जावेगी पाशवता।

कहना नहीं होगा कि 'मेरे में' के स्थान पर 'मुझ में' और 'पाशवता' के स्थान पर 'पशुता' या 'पाशव' ही प्रयोग शुद्ध हैं। यहाँ एक ही अर्थ में दो भाववाचक प्रत्यय हैं।

३. अप्रयुक्त—व्याकरण आदि से सिद्ध पद का भी अप्रचलित प्रयोग अप्रयुक्त दोप कहलाता है।

अकाल में मण्डप माँगते माँड़ नहीं मिलता मँडधोवन भी।

यहाँ 'मण्डप' 'मँडपीवों' के अर्थ में आया है। यद्यपि पद शुद्ध है तथापि 'मण्डप' मँड़वे के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, मँडपीवों के अथ में नहीं। काव्य में ऐसे प्रयोग दूषित हैं। क्योंकि इससे पाठकों को शीघ्र पदार्थों का अर्थावगम नहीं होता।

राजकुल भिक्षाचरण से लगा भरने पेट।

यहाँ भिक्षाटन के स्थान पर भिक्षाचरण अप्रयुक्त है।

४. असमर्थ—जिस अर्थ को प्रकट करने के लिये जो पद रखा जाय उससे अभीष्ट अर्थ की प्रतीति न होना असमर्थ दोष है।

मणि कंकण भूषण अलंकार, उत्सर्ग कर दिये क्यों अपार?

यहाँ उत्सर्ग छोड़ने के अर्थ में आया है पर दान देने का अर्थ-बोध करता है जो यहाँ नहीं है।

भारत के नभ का प्रभापूर्य, शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिङ्मण्डल।

इसमें 'प्रभापूर्य' का प्रकाश करनेवाला और 'तमस्तूर्य' का अंधकार की तुरही बजा रही हो, अर्थ किया गया है पर इनके 'प्रभा से भरने योग्य' और 'अंधकार रूपी तुरही' ये ही अर्थ हो सकते हैं, अन्य नहीं। पृष्ठपोषक भले ही बाल की खाल निकालें। पर यहाँ असमर्थ दोष है।

टिप्पणी—एकार्थवाची शब्दों में अप्रयुक्त दोष होता है और असमर्थ दोष अनेकार्थवाची शब्दों में। पहले में अर्थ किसी प्रकार दबता नहीं और दूसरे में अभिप्रेतार्थ दब जाता है।

(क) अयथार्थ दोष—यथार्थ के अभाव में यह दोष होता है।

लिये स्वर्ण आरती भक्तजन करते शंखध्वनि झनकार।

दूसरे चरण में अयथार्थ दोष है। क्योंकि तारों के शब्दों में ही झनकार का व्यवहार होता है।

५. निहितार्थ—जहाँ दो अर्थोंवाले पद का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग किया जाता है वहाँ यह दोष होता है।

अथवा प्रथम ऋतुकाल का प्रदोष आज
कानन कुमारियाँ चलीं द्रुत बहलाने को।
खोलतीं पटल प्रतिपटल अधीरता से
अटल उरोज अनुराग दिखलाने को।

इसमें जो 'उरोज' शब्द है उसके दो अर्थ हैं—'स्तन' और 'हृदयगत'। पर दोनों अर्थों में अप्रसिद्ध दूसरे अर्थ में इसका प्रयोग किया गया है। वह निहितार्थ है। यह अनेकार्थ शब्दों में होता है।

टिप्पणी—अप्रयुक्त दोष प्रयोगाभाव से और निहितार्थ विरलप्रयोग के कारण दूषित होता है। असमर्थ में अर्थ की प्रतीति नहीं होती और निहितार्थ में देर से प्रतीति होती है। श्लेष और यमक आदि अलंकारों में ये दोनों दोष नहीं माने जाते।

६. अनुचितार्थ—जहाँ प्रयुक्त पद से प्रतिपाद्य अर्थ का तिरस्कार हो वहाँ यह दोष होता है।

पलँग से पलना पर धाल के
जननि आनन-इन्दु बिलोकती।

अर्थ है—माता बच्चे को पलँग से उठाकर और पलने पर रखकर

उसका मुख-चन्द्र देखती है। यहाँ 'घाल के' का अर्थ भले ही कहीं पर रखना होता हो; पर उसका अर्थ 'मार कर' प्रसिद्ध है। जैसे 'रे कुल-घालक'। इससे माता के स्नेह में हीनता का द्योतन होता है।

भारत के नवयुवकगण रख उद्देश्य महान।
होते हैं जन-युद्ध में बलि-पशु से बलिदान॥ राम

भारत के उत्साही वीर युवकों को बलि-पशु की उपमा देना उनको कातर—हीन बनाना है। क्योंकि वे उत्साह से स्वेच्छा-पूर्वक स्वातंत्र्य-युद्ध में प्राण-त्याग करते हैं और यज्ञ के पशु परवश होकर मरते हैं। यहाँ अभीष्ट अर्थ के तिरस्कार से अनुचितार्थ दोष है।

७. निरर्थक—पाद-पूर्ति के लिये या छन्दः-सिद्धि के लिये अनावश्यक पदों के प्रयोग में यह दोष होता है।

(क) किये चला जा रहा निदारुण यह जय नर्तन।
(ख) दास बनने का बहाना किस लिये! क्या मुझे दासी कहाना इसलिये
देव होकर तुम सदा मेरे रहो और देवी ही मुझे रक्खो अहो!

'निदारुण' में 'नि' केवल पदपूर्ति और 'अहो' केवल छन्द की अनुप्राससिद्धि के लिये ही आये हैं।

८. अवाचक—जिस शब्द का प्रयोग जिस अर्थ के लिये किया जाय उस शब्द से वांछित अर्थ न निकले तो यह दोष होता है।

कनक से दिन मोती सी रात सुनहली साँझ गुलाबी प्रात।
मिटाता रँगता बारंबार कौन जग का यह चित्राधार।

चित्राधार का अर्थ है चित्र रखने की वस्तु—अलबम। पर यहाँ चित्रकार का अर्थ अभीष्ट है। चित्राधार से यह अर्थ—जगत् का कौन चित्रकार है जो दिन-रात और प्रातः-सन्ध्या को सुनहले, रूपहले, पीले और गुलाबी रंगों से बारंबार रँगता और उन्हें मिटाता है, लिया गया है।

९. अश्लील—जहाँ लज्जा-जनक, घृणास्पद और अमंगल-वाचक पद प्रयुक्त हों वहाँ यह दोष होता है।

(क) धिक् मैथुन-आहार-यन्त्र। (ख) रहते चूते में मजदूर।
(ग) चोरत है पर उक्ति को जे कवि ह्वै स्वच्छन्द।
वे उत्सर्ग रु बमन को उपभोगत मतिमंद।
(घ) मधुरता में मरी सी अजान।

'क' 'ख' के मैथुन-यन्त्र और चूते शब्द लज्जाजनक हैं। यद्यपि यहाँ चूते का अर्थ चूते हुए छप्पर के नीचे है। 'ग' में उत्सर्ग और

बमन घृणाव्यञ्जक शब्द हैं। उत्सर्ग का अर्थ मल भी होता है। 'घ' में 'मरी सी' शब्द अमंगल-सूचक है।

टिप्पणी—कामशास्त्र-चर्चा में व्रीड़ा-व्यंजक, वैराग्य-चर्चा में वीभत्सता-व्यंजक और भावी चर्चा में अमंगल-व्यंजक पद अश्लील दोष से दूषित नहीं माने जाते।

१०. ग्राम्य—गँवारों की बोलचाल में आनेवाले शब्दों का साहित्यिक रचना में जहाँ प्रयोग हो वहाँ दोष होता है।

(क) कैसे कहते हो इस 'दुआर' पर अब से कभी न आऊँ।

(ख) भोजन बनावे 'नीको' न लागे
पाव भर दाल में सवा पाव 'नुनवाँ।' कबीर

(ग) टूटि खाट घर टपकत 'टटिओ' टूटि।
पिय कै बाह 'उससवा' सुख कै लूटि।
लै के सुघर 'खुरपिया' पिय के साथ।
छइबे एक छतरिया बरसत पाथ। रहीम

इनमें दुआर, नीको और नुनवाँ, टटियो, खुरपिया आदि ग्राम्य प्रयोग के नमूने हैं।

ग्राम्य-दोष वहाँ गुण हो जाता है जहाँ कोई गवई-गाँव का निवासी अपनी भणिति-भंगि से अपनी मनोवृत्ति प्रकट करता है।

११. नेयार्थ—लक्षणा वृत्ति का असंगत होना ही यह दोष है।

बड़े मधुर हैं प्रेम-सद्म से निकले वाक्य तुम्हारे।

यहाँ 'प्रेम-सद्म' का अर्थ-बाध होने से लक्षणा द्वारा मुख अर्थ होता है। ऐसा होने से ही तुम्हारे मुख से निकले वाक्य बड़े मधुर हैं, यह अर्थ हो सकता है। पर लक्षणा रूढ़ि वा प्रयोजन से ही होती है। यहाँ न तो रूढ़ि है और न प्रयोजन ही।

१२. क्लिष्ट—जहाँ प्रयुक्त शब्द का अर्थ-ज्ञान बड़ी कठिनता से हो वहाँ यह दोष होता है।

'तरु-रिपु-रिपु-धर' देख के विरहिन तिय अकुलात।

वृक्ष का शत्रु अग्नि है और उसका शत्रु जल। उसको धारण करनेवाले अर्थात् मेघ को देख कर के, यह अर्थ कष्ट-कल्पना से ज्ञात होता है। शब्दार्थ-बोध में विलम्ब होना क्लिष्ट दोष का विषय है।

१३. संदिग्ध—जहाँ ऐसे शब्द का प्रयोग हो जिससे वांछित और अवांछित दोनों प्रकार के अर्थों का बोध हो।

एक मधुर वर्षा मधु गति से बरस गयी मेरे अंबर में।

यहाँ 'अंबर' शब्द से 'आकाश' और 'वस्त्र' दोनों अर्थ निकलने से यह संदेहास्पद है कि कहाँ वर्षा हुइ।

टिप्पणी—व्याजस्तुति अलंकार आदि में वाच्यार्थ के महत्त्व से संदिग्ध दोष नहीं रह जाता।

१४. अप्रतीत—जहाँ ऐसे शब्द का प्रयोग हो जो किसी शास्त्र में प्रसिद्ध होने पर भी लोक-व्यवहार में अप्रसिद्ध हो।

कैसे ऐसे जीव ग्रहण या ज्ञानहिं करिहैं।
अष्टमार्ग द्वादश निदान कैसे चित धरिहैं।

इसमें प्रयुक्त 'मार्ग' और 'निदान' बौद्ध आगम के पारिभाषिक अर्थों के बोधक हैं पर लोक-व्यवहार में आनेवाले 'माग' 'निदान' शब्दों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं। अतः यहाँ अप्रतीत दोष है। यह बौद्ध शास्त्र से अनभिज्ञ व्यक्ति को अर्थोपस्थिति में बाधक होगा।

टिप्पणी—अप्रयुक्त और अप्रतीत दोषों में अन्तर यह है कि पहले में ज्ञाता, अज्ञाता, दोनों को अर्थ-प्रतीति नहीं होती पर दूसरे में ज्ञाता को अर्थ की प्रतीति हो जाती है।

यदि वक्ता और श्रोता दोनों शास्त्रज्ञ हुए तो वहाँ यह दोष नहीं माना जाता।

१५. अविमृष्ट-विधेयांश—पद्य में जिस पदार्थ का प्रधानतया वर्णन होना चाहिये उसको समास अथवा अन्य किसी प्रकार से अप्रधान बना देना ही अविमृष्ट-विधेयांश दोष कहलाता है।

आज मेरे हाथों अन्त आया जान अपना
देश से ही आज रामानुज मैं यहाँ
करता प्रचारित हूँ युद्ध हेतु तुमको।

यहाँ लक्ष्मणजी ने अपना नाम न लेकर अपने को रामानुज कहा है। भाव यह है कि मैं जगद्विजयी, शत्रुकुल-नाशक, महापराक्रमी, राम का भाई हूँ। मेरी शक्ति के समक्ष तुम तुच्छ हो। पर यह सब भाव-पुञ्ज तभी निकलता जब 'राम का अनुज' यह पद रहता। किन्तु यहाँ षष्ठी-तत्पुरुष समास कर देने से राम-शब्द-गत शौर्यादि लोकोत्तर गुणों का स्मरण ही नहीं होता। राम की प्रधानता दब गयी है जो इस पद्य का मुख्य भाव था।

१६. प्रतिकूलवर्ण—जहाँ विवक्षित रस के प्रतिकूल वर्णों की योजना होती है वहाँ यह दोष होता है।

(क) मुकुट की चटक लटक बिबि कुण्डल की
भौंह की मटक नेकि आँखिन दिखाउ रे।

(ख) झटकि चढ़ति उतरति अटा नैक न थाकति देह।
भई रहति नट को बटा अटकी नागर नेह।

शृंगार रस में कोमल पदों की योजना से भाव उद्दीप्त होता है। परन्तु यहाँ विरोधी-टवर्ग-प्रचुर पद-योजना से प्रमाता को—रस-भोक्ता को रस-बोध होने के बदले नीरसता प्रतीत होगी।

टिप्पणी—यदि इस प्रकार टवर्ग-प्रधान पदावली रौद्रादि रसों में आवे तो वहाँ वह गुण होगी।

१७. हतवृत्त—जहाँ नियमानुसार छन्दोभंग हो वहाँ यह दोष होता है। स्वच्छन्द छन्द के समय में यह दोष दोष ही नहीं रह गया है। यह दोष कई प्रकार का होता है। एक दो उदाहरण दिये जाते हैं।

सरबिस जैहें छूट परै रोटी के लाले
तब सब बिदा होयँगे बिस्कुट चाय के प्याले।

दूसरे चरण में यति-भंग है।

ले प्रलय सी एक आकांक्षा विपुल बरबाद यौवन—
मिट रहा अतृप्त वंचित लख न पायी तुम अचेतन।

इसमें 'आकांक्षा' के दो अक्षर इधर के चरण में और एक अक्षर उधर के चरण में खिंच जाते हैं। अतृप्त के अ का उच्चारण दीर्घ होता है पर है नहीं। यति—विश्राम के लिये छन्दो-दोष है।

१८. न्यूनपद—जहाँ अभीप्सित अर्थ के पूरक शब्द का अभाव हो वहाँ यह दोष होता है।

शत शत संकल्प-विकल्पों के अल्पों में कल्प बनाती सी।

अनुप्रास के परवश कवि ने 'अल्पों' का प्रयोग किया है। यहाँ क्षणों आदि जैसे शब्द की कमी है। अल्प में ही विभक्ति लगा दी है।

सहसा मैं उठ खड़ा हुआ बोला जाता हूँ
क्या मैं तुमसे कहूँ, नहीं कुछ भी पाता हूँ।

इसमें 'भी' के आगे 'कह' का अभाव है या कहने का कुछ विषय होना चाहिये। पाता हूँ अभीष्ट अर्थ का शीघ्र ज्ञान नहीं होने देता।

टिप्पणी—जहाँ अध्याहार से शीघ्र अर्थ की प्रतीति हो जाती है वहाँ यह दोष नहीं रह जाता।

१९. अधिकपद—जहाँ अनावश्यक शब्द का प्रयोग हो वहाँ यह दोष होता है।

(१) तुम अदृश्य अस्पृश्य अप्सरी निज सुख में तल्लीन।

(२) लपटी पहुप पराग पट सनी स्वेद मकरंद,
आवत नारि नवोढ़ लौं सुखद वायुगति मंद।

(३) स्थित निज स्वरूप में चिर नवीन।

इन तीनों में 'तत्' 'पुहुप' और 'निज' अधिक पद हैं। क्योंकि लीन, पराग (फूल की धूल ही पराग होती है) और स्वरूप से ही उनकी आवश्यकता मिट जाती है।

टिप्पणी—अधिक पद कहीं-कहीं अर्थ-विचार से गुण भी हो जाता है।

(ख) व्यर्थपदता—व्यर्थ के पद ठूस देने से यह दोष होता है।

एक एक कर तिल तिल करके दिये रत्न कण सारे खोल।

एक बार तो कुण्डल, रत्नाभूषण खोल ही चुके हैं। दूसरी बार भी ऐसा कर रहे हैं। यहाँ 'एक एक करके' पद ही पर्याप्त है। 'तिल तिल करके' व्यर्थ पद तो है ही, यहाँ इस प्रकार का प्रयोग भी अनुचित है।

टिप्पणी—अधिकपदता से इसमें विशेषता यह है कि वे सम्बद्ध होने से खटकते नहीं जितना कि असम्बद्ध होकर ये खटकते हैं।

व्यथित रानी उड़ गई सब स्नेह सौरभ स्फूर्ति।

इसमें 'स्फूर्ति' व्यर्थ है।

२०. कथितपद—एक पद्य में किसी एकार्थक शब्द का दुबारा प्रयोग ही इस दोष का मूल है।

(१) इन म्लान मलिन अधरों पर
स्थिर रही न स्मिति की रेखा।

(२) देखेगा वह वदन चन्द्र फिर क्या बेचारा
चूमेगा प्रणयोष्ण दीर्घ चुम्बन के द्वारा।

इनमें 'मलिन' और 'चूमेगा' के रहते म्लान और 'चुम्बन' के पुनः प्रयोग से कथितपद दोष है। ऐसे ही 'यह मिथ्या है बात असत्य' 'था

सभी शोभन मनोरम' आदि उदाहरण हैं। इसे पुनरुक्तदोष भी कहते हैं।

टिप्पणी—लाटानुप्रास, कारणमाला और पुनरुक्तवदाभास अलंकारों में तथा अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि में कथित पद दोष न रहकर गुण हो जाता है।

२१. पतत्प्रकर्ष—पद्य में किसी प्रकार के भी प्रकर्ष को उठाकर उसे न सम्हालना पतत्प्रकर्ष दोष है।

शिव-शिर-मालति-माल भगीरथ-नृपति-पुन्य-फल,
ऐरावत - गज - गिरि - पवि -हिम-नग-कण्ठ-हार कल,
सगर-सुअन-सठ-सहस परस जलमात्र उधारन,
अगनित धारा-रूप धारि सागर संचारन।

आरम्भ के तीन चरणों में समास का जो प्रकर्ष दिखलाया गया वह अन्त तक नहीं रहा। दूसरी बात यह कि गंगा के माहात्म्य का जो प्रकर्ष आरंभ में दिखलाया, उसे भी अन्तिम चरण तक आते-आते गिरा दिया।

टिप्पणी—एक ही पद्य में विषयान्तर होने से प्रतत्प्रकर्ष दोष नहीं रह जाता।

कहँ मिश्री कहँ ऊख रस नहिं पीयूष समान।
कलाकंद कतरा अधिक, तो अधरा रस पान॥

अधर-रस को मिश्री से उत्कृष्ट बताने के बाद ऊख-रस कहना और पीयूष से उत्कृष्ट बताने के बाद कलाकंद के कतरे के समान कहना उत्कर्ष का पतन वा ह्रास है। यह वर्णन-दोष भी है।

२२. समाप्तपुनरात्त—वक्तव्य विषय के वाक्य के समाप्त होने पर भी पुनः तत्सम्बन्धी वाक्य का प्रयोग करना पुनरात्त दोष है।

होते हम हृदय किसी के विरहाकुल जो,
होते हम आँसू किसी प्रेमी के नयन के।
दुख दलितों में हम आशा की किरन होते,
होते पछतावा अविवेकियों के मन में।
मानते विधाता का बड़ा ही उपकार हम,
होते गाँठ के धन कहीं जो दीन जन में।

तीसरे चरण के पूर्वार्द्ध में वाक्य के समाप्त होने पर भी उत्तरार्द्ध में उसीका पुनः वर्णन कर दिया गया है।

२३. अर्द्धान्तरैकवाचक—पद्य के पूर्वार्द्ध के वाक्य का कुछ अंश यदि उतरार्द्ध में चला जाय तो वहाँ यह दोष होता है।

सुनकर धर्म का आरोप धीरे से हँसा विज्ञान—
बोला, छोड़ कर यह कोप दो तुम तनिक तो अवधान।

यहाँ 'बोला' उत्तरार्द्ध में चला गया है, यह दोष है। पर अब यह दोष नहीं रह गया है। क्योंकि अतुकान्त या स्वच्छन्द छन्द में अधिकतर ऐसे ही वाक्य प्रयुक्त होते हैं।

२४. अभवन्मतसम्बन्ध—जिस पद्य में वर्णित पदार्थों का सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता वहाँ यह दोष होता है।

फाड़ डाले प्रेमपत्रों में छिपी जो विकलता थी
बेकसी सारी हमारी मूर्त पायी कुनमुनाती।

यहाँ 'फाड़ डाले' का सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। यदि 'फाड़ डाले' को प्रेम-पत्रों का विशेषण मानें तो इसमें कोई पूर्णार्थक क्रिया नहीं रह जाती। क्योंकि 'जो' का प्रयोग है। 'प्रेमपत्रों' में कहने से कर्म का रूप नहीं रह जाता। विकलता के लिये 'फाड़ डाले' क्रिया नहीं हो सकती। अविमृष्टविधेयांश में सम्बन्ध बैठ जाता है।

२५. अनभिहितवाच्य—उल्लेखनीय पद का उल्लेख न करना ही यह दोष है।

चतुर पाठक इस कथा से लीजिये उपदेश
धनी और दरिद्र में है नहीं अन्तर लेश।

यहाँ के 'लेश' के साथ 'मात्र' या 'भी' का होना आवश्यक है। ऐसा होने से ही यह भाव निकल सकता है कि 'धनी और दरिद्र में लेश मात्र भी (थोड़ा सा भी) अन्तर नहीं है।' आवश्यक पद के न रहने से यह भी अर्थ निकल सकता है कि लेश मात्र नहीं ज्यादा अन्तर है। न्यून पद में वाचक पद की और इसमें द्योतक पद की आवश्यकता होती है।

२६. अस्थानपदता—पद्य में प्रत्येक पद का अपने उचित स्थान पर रहना ही उत्तम है पर जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ यह दोष होता है।

मेरे जीवन की एक प्यास, होकर सिकता में एक बंद

कवि का भाव एक सिकता से है पर अस्थान में एक के होने से यह भी अर्थ हो सकता है कि एक बार बंद होकर। इससे बन्द के पूर्व नहीं, सिकता के पूर्व ही 'एक' होना चाहिये था।

२७. संकीर्ण—जहाँ एक वाक्य का पद दूसरे वाक्य में चला जाय वहाँ यह दोष माना जाता है।

धरो प्रेम से राम को पूजो प्रति दिन ध्यान।

इसमें 'धरो' एक वाक्य में और 'ध्यान' दूसरे वाक्य में है।

२८. गर्भित—एक वाक्य में यदि दूसरे वाक्य का प्रवेश हो तो वहाँ गर्भित दोष होता है।

काटूँ कैसे अब दिवस ये 'हे प्रिये सोच तू' मैं
छायी सारी दिशि घनघटा देख वर्षा ऋतू में।

वर्षा ऋतु में सारी दिशाओं में घनघटा को छायी हुई देखकर अब मैं कैसे ये दिन काटूँ, इस वाक्य के भीतर 'हे प्रिये सोच तू' यह दूसरा वाक्य आ बैठा जिससे प्रतीति-विच्छेद हो जाता है। यही दोष है।

२९. प्रसिद्धित्याग—साहित्य-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध प्रयोगों के विरुद्ध प्रयोग करना यह दोप है।

(क) घंटोंकी अविरत गर्जन से किस वीणा की सुमधुर ध्वनि पर।

(ख) मधुर थी बजती कटि किंकनी चरण नूपुर के रव में रमे।

(ग) शोन नदो दूसरी ओर थी नित्य बहा लाती सोना।

घण्टों का या तो घोष होता है या घनघनाहट होती है। मेघ का गर्जन होता है। ऐसे ही नूपुर का शिंजन होता है रव नहीं। सोन और महानद की पुँलिंग में ही प्रसिद्धि है।

टिप्पणी—अप्रयुक्त दोप सर्वथा अप्रचलित शब्दों के प्रयोग में होता है और जहाँ प्रसिद्धि-त्याग से चमत्कार का अभाव हो जाता है वहाँ यह दोष होता है।

३०. भग्नप्रक्रम—जहाँ आरम्भ किये गये प्रक्रम (प्रस्ताव) का अन्त तक निर्वाह नहीं किया जाय, अर्थात् पहले का ढंग टूट जाय वहाँ यह दोष होता है।

सचिव वैद्य गुरु तीन जो प्रिय बोलहि भय आस।
राज, धर्म, तनु तीन कर होहि बेग ही नास।

यहाँ मंत्री, वैद्य और गुरु के क्रम से राज, तनु, धर्म कहना चाहिये पर ऐसा नहीं है। प्रियवादी वैद्य से धर्म का नाश कैसे होगा, यह संदेह दोषावह हो जाता है।

टिप्पणी—यह दोष सर्वनाम, प्रत्यय, पर्याय, वचन, कारक, क्रिया, कर्म आदि में भी होता है।

३१. **अक्रम**—जहाँ क्रम विद्यमान न हो अर्थात् जिस पद के बाद जो पद रखना उचित हो उसका न रखना अक्रम दोष है।

जो कुछ हो मैं न सम्हालूँगा इस मधुर भार को जीवन के।

यहाँ जीवन के मधुर भार को न लिखने से क्रम-भंग स्पष्ट है। यद्यपि अन्वय-काल में यह दोष मिट जाता है पर मुख्यार्थ-हति तो है ही।

३२. **विरुद्धमतिकृत्**—जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जिनके द्वारा किसी प्रकृत अर्थ के प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति हो वहाँ यह दोष होता है।

कटि के नीचे चिकुर-जाल में उलझ रहा था बायाँ हाथ।

कटि के नीचे इस पद के संनिधान से 'चिकुर-जाल' का अर्थ 'गुह्यांग का केश-समूह' किया जा सकता है जो प्रकृत—वर्णनीय के विरुद्ध मति कर देनेवाला है।

(ग) **अन्वय-दोष**—अन्वय की अड़चन अन्वय-दोष है।

थे दृग से झरते अग्नि खंड लोहित थे ज्यों हिंसा प्रचंड।

इसमें 'लोहित' दृग का विशेषण है या अग्निखंड का, निश्चय नहीं। दोनों ही लाल हैं। यों तो यह व्यर्थ ही है।

अभवन्मत सम्बन्ध में संबंध ठीक नहीं बैठता और इसमें अन्वय की गड़बड़ी रहती है।

(घ) **क्रियादोष**—अनुचित क्रिया का होना क्रियादोष है।

(क) खिलने लगा नवल किसलय वह। (ख) बरसाती अमृत भरी वृष्टि। (ग) जरा भी कर न पायी ध्यान। (घ) प्रक्षालन कर लो हृदय रोग। (ङ) पलक भाँजते धमक गया।

इनका आप ही स्पष्टीकरण है।

(ङ) **मुहावरादोष**—मुहावरा का गलत प्रयोग जहाँ हो वहाँ यह दोष होता है। ऊपर के प्रयोग भी मुहावरा के दोष में आते हैं।

रणरक्त सिंधु में भर उमड़ा प्रक्षालन कर आपाद अंग।

यहाँ आपादमस्तक मुहावरा है पर अनुप्रास के लिये बिगाड़ दिया गया है।

दूसरी छाया

अर्थ-दोष

१. **अपुष्ट**—जहाँ प्रतिपाद्य वस्तु के महत्त्व का वर्द्धक अर्थ न हो और उसके बिना भी कोई अर्थ-क्षति न हो वहाँ यह दोष होता है।

(क) तिमिर पारावार में आलोक प्रतिमा है अकम्पित,
आज ज्वाला से बरसता क्यों मधुर घनसार सुरभित।

(ख) सारे उपवन के विशाल वायुमण्डल में
प्रेमी प्रीति-सम्भव के मंगल मनाते हैं।

'क' में सुरभित और 'ख' में विशाल विशेषण व्यर्थ हैं। क्योंकि घनसार सुरभित और वायुमण्डल विशाल होता ही है।

टिप्पणी—अन्वय के समय अधिक-पद दोष की और अर्थ करते समय अपुष्ट दोष की व्यर्थता ज्ञात होती है।

२. **कष्टार्थ**—जहाँ अर्थ की प्रतीति कठिनता से हो वहाँ यह दोष होता है।

तारागण तापै तापै छौन कल हंसन के
मुरवा सु तापै तापै कदली की छवि है।
केहरि सुता पै तापै कुन्दन को कुण्ड तापै
लसति त्रिवेनी मनौ छबि ही कौ छबि है।
नोने कवि कहे नेही नागर छबीले श्याम
दरस तिहारे देत चारो फल सवि है।
कनकलता पै तापै श्रीफल सुतापै कँबु
कंज युग तापै चंद तापै लसो रवि है।

यहाँ कवि ने ऐसे प्रतीकों द्वारा श्री राधाजी के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन किया है जो सर्व-जन-सुगम नहीं है। यही क्यों, प्रतिभा-शालियों को भी इसका अर्थ कठिनता से ज्ञात होगा।

टिप्पणी—क्लिष्ट नामक दोष शब्द-परिवर्तन से मिट जाता है पर इसमें पर्यायवाची शब्द रखने पर भी यह दोष दूर नहीं होता।

३. **व्याहत**—जिसका महत्त्व दिखलाया जाय उसीका तिरस्कार करना दोषावह है। यह दोष वहाँ भी होता है जहाँ तिरस्कृत का महत्त्व दिखलाया जाय।

दानी दुनिया में बड़े देत न धन जन हेत।

यहाँ दानियों का बड़प्पन दिखलाकर फिर उसका धन न देने की बात कहकर तिरस्कार किया गया है।

४. पुनरुक्त—भिन्न-भिन्न शब्द-भंगिमा से एक ही अर्थ का दुहराना पुनरुक्त दोष है।

धन्य है कलंक हीन जीना एक क्षण का
युग युग जीना सकलंक धिक्कार है।

इसमें दोनों चरणों का भाव एक ही है जो पुनरुक्त है।

मुक्तद्वार रहते थे गृह गृह नहीं अर्गला का था काम।

इसमें भी दोनों चरणों का एक ही अर्थ है।

टिप्पणी—जहाँ उत्कर्ष सूचित हो वहाँ पुनरुक्त दोष नहीं लगता।

५. दुःक्रम—जहाँ लोक वा शास्त्र के विरुद्ध वर्णन हो वहाँ यह दोष होता है।

किसने रे क्या क्या चुने फूल
जग के छवि उपवन से अकूल
इसमें कलि किसलय कुसुम शूल।

इसमें किसलय, कली, कुसुम रहता तो क्रम ठीक था।

एक तो मदन विसिख लगे, मुरछि परी सुधि नाहि।
दूजे बद बदरा अरी घिरि घिरि विष बरसाहिं।

इसके दूसरे चरण में पुनरुक्ति है। क्योंकि मूर्च्छित होना और सुधि न होना एक ही बात है।

६. ग्राम्य—ग्राम्य-जनोचित भाषा-भाव का प्रयोग करना इस दोष का मूल है।

राजा भोजन दें मुझे रोटी गुड़ भर पेट।

इसकी व्याख्या स्वयं उदाहरण ही है।

७. संदिग्ध—जहाँ वक्ता के निश्चित भाव का पता न लग सके वहाँ यह दोष होता है।

गिरिजागृह में पूजन जावो, बैठ वहाँ पर ध्यान लगावो।

यहाँ यह सन्देह होता है कि पार्वती के मन्दिर में जावो या इसाइयों के गिरिजा घर में जावो।

८. निर्हेतु—किसी बात के कारण को न व्यक्त करना निर्हेतु है।

घर घर घूमत स्वान सम लेत नहीं कुछ देत।

देने पर भी कुछ न लेने और फिर भी घर-घर घूमने का कारण नहीं कहा गया है।

टिप्पणी—लोक-प्रसिद्ध अर्थ में निर्हेतुक दोष नहीं होता।

९. प्रसिद्धिविरुद्ध—जिस वस्तु के विषय में जैसी प्रसिद्धि हो उसके विपरीत वर्णन करना दोष है।

(क) हरि दौड़े रण में लिये कर में धन्वा बाण।

श्रीकृष्ण का धनुर्बाण धारण करना नहीं, चक्र धारण करना प्रसिद्ध है।

(ख) हाँ जब कुसुम कठोर कठिन है तब मुक्ता तो है पाषाण
जो वतुलता वश अपनी ही खनि का नाश कराती आप।

इस पद्य के पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मोतियों की भी हीरों (पाषाणों) की-सी कहीं खानि (खनि) होती है जो लोक-प्रसिद्धि का ऐकान्तिक अपलाप है। समुद्र से मोती उत्पन्न होने की प्रसिद्धि ही नहीं, यथार्थता भी है।

(ग) हम क्यों न पियें छल छल करते जीवन का पारावार सखे।

पारावार का पानी खारा होता है पर कविजी पीने को प्रस्तुत हैं; वह भी छलछलाते हुए, लहराते हुए पारावार का। यदि यहाँ यह अर्थ करें कि जीवन दुखमय ही है जो खारा पानीवाले पारावार से कम नहीं तो हमारा कहना यह है कि जीवन एकान्त दुखमय ही नहीं जैसा कि पारावार एकान्त क्षारमय है।

१०. विद्याविरुद्ध—शास्त्र-विरुद्ध बातों के वर्णन में विद्याविरुद्ध दोष होता है।

वह एक अबोध अचेतन बेसुध चैतन्य हमारा।

यहाँ चैतन्य को बोधहीन, चेतनारहित और बेसुध बताया गया है जो वेदान्त के विरुद्ध है। यदि चैतन्य ब्रह्म है तो वह शुद्ध-बुद्ध, मुक्त और दिक्कालाद्यनवच्छिन्न है।

११. अनवीकृत—भिन्न-भिन्न अर्थों को भिन्न-भिन्न प्रकार से कहने में एक विच्छित्ति-विशेष होता है। जहाँ इसके विपरीत अनेक अर्थों को एक ही प्रकार से कहा जाय वहाँ यह दोष होता है।

लौट आया पौरुष हताश आर्य जाति का
लौट आयी लाली आर्य वीरों के नयनों में

लौट आया पानी फिर आर्य तलवार में
लौट आयी उष्णता शिथिल नस नस में
लौट आया ओज फिर ठंढे पड़े रक्त में
लौट आयी फिर अरिमर्दन की वीरता।

यहाँ 'लौट आया' की छ बार आवृत्ति इस दोष का कारण बन गयी है। विलक्षणता होने पर यह दोप दोष नहीं रह जाता।

१२. साकांक्ष—जहाँ अर्थ की संगति के लिये आवश्यक शब्द का अभाव हो वहाँ साकांक्ष दोष होता है।

इधर रह गंधर्वों के देश पिता की हूँ प्यारी संतान।

प्रथम चरण में 'में' की तथा द्वितीय चरण के आदि में 'अपने' शब्द की आवश्यकता प्रतीत होती है।

शूल प्रतिपग तिमिर ऊपर तिमिर दायें तिमिर बायें।

यहाँ 'दाँये' 'बाँयें' 'तिमिर' का उल्लेख है। पाठक की इच्छा 'तिमिर ऊपर' पढ़कर तुरत तिमिर नीचे की खोज करती है। परन्तु उसे आकांक्षा ही हाथ लगती है।

१३. अपदयुक्त—जहाँ अनुचित वा अनावश्यक ऐसे पद वा वाक्य का प्रयोग हो जिससे कही हुई बात के मण्डन के बदले खण्डन हो जाय, वहाँ अपदयुक्त दोष होता है।

सद्वंशज लंकाधिपति शैव सुरजयी और।
पर रावण, रहते कहाँ सब गुण मिलि इक ठौर॥ राम

रावण में रावणता अर्थात् सबको रुलानेवाली क्रूरता को दिखलाना ही पद्य का प्रयोजन है पर अन्त के अर्थान्तरन्यास से रावण के उस दोष में लघुता आ गयी है। एक साधारण बात हो गयी है। इसे न कहना उचित था।

१४. सहचर-भिन्न—उत्कृष्ट के साथ निकृष्ट का या निकृष्ट के साथ उत्कृष्ट का वर्णन 'सहचर भिन्न' दोष का मूल है। क्योंकि सुन्दर और असुन्दर का सम्मिलित वर्णन विजातीय होता है, फबता नहीं है।

बैद को बैद, गुनी को गुनी, ठग को ठग दूमक को मन भावे।
काग को काग, मराल मराल को, काँधे गधा को गधा खुजलावे।
कवि 'कृष्ण' कहे बुध को बुध त्यौं, अरु रागी को रागी मिले सुर गावे।
ज्ञानी सो ज्ञानी करैं चरचा, लबरा के ढिगो लबरा सुख पावे।

यहाँ वैद्य, गुणी, मराल, बुध, रागी जैसे उत्कृष्ट जनों के साथ साथ ठग, कौआ, गधा, लबरा का वर्णन शोभाधायक नहीं। इससे बढ़कर सचहर-भिन्नता दुर्लभ है।

१५. **प्रकाशितविरुद्ध**—जिस भाव को कवि प्रकाशित करना चाहे उसके विरुद्ध होने से यह दोष होता है।

> मनु निरखने लगे ज्यों ज्यों यामिनी का रूप
> वह अनन्त प्रगाढ़ छाया फैलती अपरूप।

यहाँ अपरूप से अभिप्राय है शोभन-रूप, पर वस्तुत: अपरूप का अर्थ है अपगत-रूप अर्थात् विकृत-रूप जो प्रकाशित भाव के विरुद्ध है। बँगला में इसका सुन्दर अर्थ माना जाता है।

> अब अपने निष्कंचन भाई को उसमें बह जाने दो।

यहाँ अकिंचन, अर्थात् सर्वस्वहीन के अर्थ में निष्कंचन का प्रयोग है पर इसका अर्थ होता है कंचन को छोड़कर सब कुछ (रुपया पैसा अदि) पास है, प्रकाशित अर्थ के विरुद्ध है।

१६. **निर्मुक्तपुनरक्त दोष**—जहाँ किसी अर्थ का उपसंहार करके पुन: उसका ग्रहण किया जाय वहाँ यह दोप होता है।

> मेरे ऊपर वह निर्भर है खाने-पीने-सोने में
> जीवन की प्रत्येक क्रिया में हँसने में ज्यों रोने में।

यहाँ तीसरे चरण में उपसंहार हो जाता है पर पुन: हँसने, रोने का उल्लेख करके उसी अर्थ का ग्रहण किया गया है।

१७. **अश्लील**—किसी लज्जाजनक अर्थ का बोध होना यह दोष है।

> उन्नत है पर छिद्र को क्यों न जाइ मुरझाइ।

दूसरे का छिद्र देखने पर ही जो उतारू है, ऐसा खल क्यों न मुरझा जायगा—हीन बन जायगा। पर इसके अतिरिक्त पुरुषेन्द्रिय का भी अर्थ निकलता है जो अश्लील—लज्जा-जनक है।

तीसरी छाया

रस-दोष

रस, स्थायी भाव अथवा व्यभिचारी भाव जहाँ व्यंग हो वहीं काव्य के लोकोत्तर चमत्कार का अनुभव होता है। जहाँ इनको शब्दत: उल्लेख करके रस, भावादि को उद्बुद्ध करने की चेष्टा की

जाती है वहाँ स्वशब्दवाच्य दोष होता[1] है। यहाँ रस स्थायी भाव का सूचक है।

१. स्वशब्दवाच्य दोष—

(क) आः कितना सकरुण मुख था।
आर्द्र-सरोज-अरुण मुख था।

(ख) कौशल्या क्या करती थीं।
कुछ कुछ धीरज धरती थीं।

इन दोनों उद्धरणों में क्रमशः रस (करुण) और संचारीभाव (धीरज) स्वशब्द से उक्त हैं।

(ग) मुख सूखहि लोचन स्रवहिं शोक न हृदय समाय।
मनहुँ करुण रस कटक लै उतरा अवध बजाय।

यहाँ शोक स्थायी और करुण रस का शब्दतः उल्लेख है।

(घ) जानि गौरि अनुकूल सिय हिय हर्ष न जात कहि।

यहाँ हर्ष संचारी का शब्द द्वारा कथन है।

२. विभाव और अनुभाव की कष्ट-कल्पना—जहाँ विभाव वा अनुभाव का ठीक ठीक निश्चय न हो अर्थात् किस रस का यह विभाव है या अनुभाव, वहाँ यह दोष होता है।

यह अवसर निज कामना किन पूरन करि लेहु।
ये दिन फिर ऐहैं नहीं यह छन भंगुर देहु॥

यहाँ यह कठिनता से बोध होता है कि इसका आलंबन विभाव कोई कामुक है या विरागी। क्योंकि वर्णन से विभाव स्पष्ट नहीं होता।

बैठी गुरुजन बीच सुनि बालम वंशी चारु।
सकल छाड़ि बन जाउ यह तिय हिय करत विचारु॥

यहाँ 'सकल छाड़ि बन जाहुँ' जो अनुभाव है वह शृंगार रस का है या शान्त रस का, इसकी प्रतीति कठिनता से होती है।

३. परिपन्थिरसाङ्गपरिग्रह—जहाँ वर्णनीय रस के विरोधी रस की सामग्री का वर्णन हो वहाँ यह दोष होता है।

इस पार प्रिये मधु है तुम हो
उस पार न जाने क्या होगा।

---

१ "रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायि संचारिणोरपि।...
"दोषा, रसगता मताः" सा० दर्पण

पहले चरण में श्रृङ्गार रस का सुन्दर निदर्शन है। किन्तु दूसरे चरण में एक अज्ञात लोक की कल्पना द्वारा वेदना का करुण संकेत किया गया है। रसीली प्रेमिका से उस पार (परलोक) की बातें करना किसी प्रकार मेल नहीं खाता। कहाँ श्रृङ्गार और कहाँ वेदना-प्रधान करुण!

निम्नलिखित रस-विषयक सात दोष प्रबन्ध-रचना में ही होते हैं।

४. **रस की पुनः पुनः दीप्ति**—काव्य में किसी भी रस का उपपादन उतना ही होना चाहिये जिससे उसका परिपाक हो जाय। पुनः-पुनः उसको उद्दीपित करना दोष है।

५. **अकाण्डप्रथन**—जहाँ प्रस्तुत को छोड़कर अप्रस्तुत रस का विस्तार किया जाय वहाँ यह दोष होता है।

६. **अकाण्डछेदन**—किसी रस की परिपाकावस्था में अचानक उसके विरुद्ध रस की अवतारणा कर देने से अर्थात् असमय में रस को भंग कर देने से यह दोष होता है।

७. **अंगभूत रस की अतिवृद्धि**—काव्य-नाटक में एक मुख्य रस रहता है जिसे अङ्गी कहते हैं और उनके काव्य रस अंग कहलाते हैं। जिस रचना में प्रधान रस को छोड़कर अन्य रस का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाय वहाँ यह दोष होता है।

८. **अंगी की विस्मृति या अननुसन्धान**—आलम्बन और आश्रय—नायक और नायिका का आवश्यक प्रसंग पर अनुसंधान न करने या उन्हें छोड़ देने से रस-भंग हो जाता है। क्योंकि रस-प्रवाह के मूलाधार वे ही हैं। अभिप्राय यह कि समग्र रचना में प्रतिपाद्य रस की विस्मृति न हो, उसके पोषण का बराबर ध्यान बना रहे।

९. **प्रकृति-विपर्यय**—काव्य-नाटक के नायक दिव्य (देवता) अदिव्य (मनुष्य) और दिव्यादिव्य (देवावतार) के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इनकी प्रकृति के विपरीत जहाँ वर्णन हो वहाँ यह दोष होता है। जैसे मनुष्य में देवता के कार्य आदि।

१०. **अनङ्ग वर्णन**—ऐसे रस का वर्णन करना, जिससे प्रबन्ध के प्रधानभूत रस को कुछ लाभ न हो, इस दोष का मूल है।

इसी प्रकार देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, आचरण, स्थिति आदि लोक-शास्त्र के विरुद्ध वर्णन में भी रस-दोष होता है।

जैसे रसों का पारस्परिक अविरोध रहता है वैसे पारस्परिक विरोध भी। किन्तु उत्कर्षापकर्ष आदि के विचार से यथास्थान रस-विरोध का परिहार भी हो जाता है। एक उदाहरण लें—

कूरम नरिंद देव कोप करि वैरिन तें
सहदल की सेना समसेरन ते भानी है।
भनत 'कविंद' भाँति भाँति दे असीसन को
ईसन के सीस पै जमात दरसानी है।
वहाँ एक योगिनी सुभट खोपरी को लिये
सोनित पिवत ताकी उपमा बखानी है।
प्याली लै चीनी की छकी जोबन तरंग मानो
रंग हेत पीवत मजीठ मुगलानी है।

यहाँ राज-विषयक रति-भाव की प्रधानता है। अन्त के तीन चरणों में वीभत्स रस और चौथे चरण में वीभत्स का अंगभूत शृंगार रस व्यंजित है। ये राज-विषयक रति के अंग हैं। यद्यपि ये रस परस्पर विरोधी हैं तथापि इनके द्वारा राजा के प्रताप का उत्कर्ष ही सूचित होता है। अतः विरोधी रसों के होने पर भी यहाँ दोष नहीं है।

चौथी छाया

वर्णन-दोष

यह कई प्रकार का होता है जिनमें निम्नलिखित दोष मुख्य हैं।

(१) पूर्वापर-विरोध—

होती ही रहती क्षण क्षण में शस्त्रों की भीषण झनकार।
नभमंडल में फूटा करते बाणों के उल्का अंगार॥

फिर छ ही पद्य के बाद यह वर्णन है—

शस्त्रों का था हुआ विसर्जन न्याय दया को कर आधार।
भू पर नहीं, किन्तु मन में भी बढ़ने लगा राज्य विस्तार॥

जहाँ क्षण-क्षण में शस्त्रों की झनकार थी वहीं न्याय और दया पर निर्भर होकर शस्त्रों का विसर्जन था। फिर भी भू पर (ही) नहीं, मन में भी राज्य-विस्तार होने लगा। मन में तो मनमाना राज्य बढ़ सकता था पर भू पर राज्यविस्तार शस्त्र-विसर्जन कर कैसे होने लगा? अचंभे की बात है।

(२) प्रकृति-विरोध—

विंदुसार के परम पुण्य से उपजा श्यामल विटप अशोक।
स्निग्ध सघन पल्लव के नीचे छाया चिर शीतल आलोक॥

पल्लवों के नीचे आलोक नहीं छाता, अंधकार छाता है। यह प्रत्यक्षसिद्ध है। पल्लवों के हिलने-डुलने से छाया और आलोक की आँख-मिचौनी हो सकती है पर अंधकार को आलोक बना देना उचित नहीं। आप लक्षणा से यह अर्थ करें कि अशोक की छत्रच्छाया में सभी सुखी थे। किन्तु लक्षणा के शास्त्रार्थ में भी पल्लवों के नीचे आलोक ठहर नहीं सकता। श्यामल तो व्यर्थ है ही।

(३) अर्थ-विरोध—

लगी कामना के पक्षी दल करने मधुमय कलरव।
लगी वासना की कलिकायें बिखराने मधुवैभव॥

कलिका का अर्थ है पुष्प की अविकसित अवस्था। यह कलिका अधखिली भी नहीं है। यह प्रत्यक्ष है कि विकसित होने पर ही फूल अपनी सुगंध फैलाता है, कलिका नहीं। यहाँ कलिका सुरभि ही नहीं, मधुवैभव फैलाती है। कलिका फूली रहती तो न जाने क्या होता ! पूर्वार्द्ध में 'लगी' और 'बिखराने' क्रिया चिन्त्य ही हैं।

(४) स्वभाव-विरोध—

फाड़ फाड़ कर कुम्भस्थल मदमस्त गजों को मर्दन कर।
दौड़ा, सिमटा, जमा, उड़ा पहुँचा दुश्मन की गर्दन पर॥

तीसरे चरण में घोड़े की गति का जो वर्णन है वह स्वाभाविक नहीं। इसकी क्रियाओं पर ध्यान देने से ही स्पष्ट हो जाता है। मालूम होता है चेतक बारात में जैसे जमैती करता हो।

(५) भाव-विरोध—

आँखों में था घन अंधकार पदतल बिखरे थे अग्निखंड।
वह चलती थी अंगारों पर लेकर के जलते प्राणपिंड॥

जब आँखों में घना अंधकार था तब चलना कैसा ? टटोलकर पग धरना ही हो सकता था। अंगार बिछने की दशा में पैर तो झपट-कर ही पड़ सकते थे, यदि अग्निखंड को पार करना पड़ता। क्या अंगारों पर चलने ही के लिये अग्निखंड बिखरे थे ? क्या अर्थ, क्या भाव है ? अग्नि क्या कोई सीमित वस्तु है जिसके खंड हो गये थे ? यदि अंगार ही थे तो क्या उन्हें अग्नि की संज्ञा नहीं दी जा सकती

थी ? ऐसी जगह अंगारों पर चलना मुहावरा भी ठीक नहीं। तिष्य-रक्षिता का जो मानसिक भाव था उससे इसका सामञ्जस्य नहीं। कुणाल से तिरष्कृत होने पर उसके मन में बदला लेने की भावना काम कर रही थी।

ऐसे ही अनेक प्रकार के वर्णन-दोष हो सकते हैं।

यद्यपि वर्णन के दोषों का पद, पदांश, वाक्य, अर्थ, रस आदि के दोषों में अन्तर्भाव हो जाता है तथापि वर्णन के कुछ दोषों का पृथक् निर्देश, इनकी विशेषता के कारण, कर दिया गया है।

पाँचवीं छाया

अभिधा के साथ बलात्कार

आज हिन्दी का सर्जक-समुदाय—केवल कवि ही नहीं लेखक भी—अपने को सब विषयों में सर्वथा स्वतन्त्र ही समझता है।

यह स्वतन्त्रता सर्वत्र देखी जाती है—विशेषतः शब्दों के अंग-भंग करने में और शब्दों के निर्माण में। शब्दों के यथेच्छ अर्थ करने में तो यह सीमा पार कर गयी है। कुछ उदाहरण ये हैं।

अजान और अनजान अज्ञात वा अज्ञानी ही के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं किन्तु इनका इन्नोसेंट (innocent) के अर्थ में—निर्मल, निश्छल, निर्दोष, सरल, भोला-भाला आदि अर्थ में प्रयोग करना इन्हें मनमाना अर्थ पहनाना है। जैसे,

(क) सरलपन ही था उसका मन निरालापन था आभूषण।
कान से मिले अजान नयन सहज था सजा सजीला तन।

(ख) नवल कलियों में वह मुसकान खिलेगी फिर अनजान।

अजान, अनजान शब्द भले ही कोमल हों पर यहाँ अभीष्ट अर्थ कदापि नहीं देते।

अभ्यर्थना का सीधा-सा अर्थ है, याचना करना, कुछ माँगना बँगला में यह समादर देने, स्वागत-सत्कार करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। उसीके अनुकरण पर हिन्दी में भी यह स्वागत के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। जैसे, उनकी अभ्यर्थना के लिये स्टेशन चलिये। हिन्दी में ऐसी अन्धाधुन्ध ठीक नहीं।

ऐसा ही बाधित शब्द है। बाधित का अर्थ है—पीड़ित, प्रतिबन्ध-

ग्रस्त, तंग किया गया, सताया गया आदि। अब बँगला की देखा-देखी अनुगृहीत, उपकृत, कृतज्ञ आदि के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। जैसे, पत्रोत्तर देकर मुझे बाधित कीजियेगा। अभिधेय अर्थ के विषय में यह भेड़ियाधसान हिन्दी को शोभा न बढ़ायेगी।

संभ्रम शब्द एक प्रकार के आवेग से मिश्रित सम्मान का बोधक है। इससे बना संभ्रान्त विशेषण सहम गये हुए या चकपकाये हुए व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होना चाहिये। पर बँगला की देखा-देखी सम्मानित वा प्रतिष्ठित व्यक्ति के अर्थ में हिन्दी में भी प्रयुक्त होने लगा है जो ठीक नहीं। जैसे वे बड़े सम्भ्रान्त हैं। किसी आदरणीय व्यक्ति की उपस्थिति दूसरे को संभ्रम में डालती है। अतः वह संभ्रान्त होता है न कि सम्मानित व्यक्ति।

कुछ मुहाविरों के ऐसे प्रयोग भी देखे जाते हैं जिनके अभिधेयार्थ दूषित हैं। एक उदाहरण लें—

उड़ाती है तू धर में कीच नीच ही होते हैं बस नीच।

हल्की चीजें ही उड़ती हैं—कागज, पर, रूई, कपड़ा, धूल आदि। कीच उड़ाने की चीज नहीं। मुहाविरा है कीचड़ उछालना, कीचड़ डालना या फेंकना। कीचड़ की जगह कीच भले ही ले ले पर उड़ाना उछालने की जगह नहीं ले सकता। यहाँ उड़ाने की सार्थकता नहीं।

अंग्रेजी के कुछ मुहावरे उनका आशय लेकर नहीं ज्यों के त्यों आ जाते हैं जो हिन्दी में पचते नहीं। एक उदाहरण लें—

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन वह सुवर्ण का काल।

सुवर्ण का काल गोल्डन एज (Golden Age) का अनुवाद है। इस अथ के ठीक-ठीक द्योतक मुहावरे हैं—सुयोग, सुसमय, सतयुग आदि। सुवर्ण का काल कहने से कवि का वह अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। ऐसी जगहों में अभिधा की खींच-तान होती है।

नवाँ प्रकाश

गुण

पहली छाया

गुण के गुण

रस को उत्कृष्ट बनानेवाले गुण, रीति और अलंकार[1] हैं।

जो रस के धर्म हैं और जिनकी स्थिति रस के साथ अचल है वे गुण हैं।

जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में चेतन आत्मा को उस (आत्मा) में रहनेवाले वीरता आदि गुण उत्कृष्ट करते हैं उसी प्रकार काव्यरूपी शरीर में प्राणभूत रस को उस (रस) में रहनेवाले माधुर्य आदि गुण उत्कृष्ट करते हैं। इससे स्पष्ट है कि गुण रस के धर्म हैं—उसके अंतरंग पदार्थ हैं।

वस्तुत: शूरता, साहसिकता आदि गुण मनुष्य के शरीर में न रहकर आत्मा में ही रहते हैं। यदि शरीर में रहते तो शव से भी ये कार्य अवश्य होते। क्योंकि मृत शरीर ज्यों का त्यों रहता है। ऐसी स्थिति में गुणों का आश्रय आत्मा ही को मानना समुचित है। इसी प्रकार रस के साथ गुण की स्थिति अचल मानी जाती[2] है। तात्पर्य यह कि रस के विना ये रहते नहीं और रहते हैं तो उसका अवश्य उपकार करते हैं।

पण्डितराज का मत इससे भिन्न है। वे कहते हैं कि 'इस ढंग का माधुर्य शब्द और अर्थ में भी रहता है, केवल रस में ही नहीं। अत: शब्द और अर्थ के माधुर्य आदि को कल्पित नहीं कहना चाहिये[3]।

---

१ उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालंकाररीतयः। सा० द०

२ ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः॥
उत्कर्षहेतव. ते स्युः अचलस्थितयो गुणाः। का० प्र०

३ शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य
सत्वादुपचारो नैव कल्प्य इति मादृशाः। रसगंगाधर

इसमें सन्देह नहीं कि सुकुमारता आदि गुण शरीर के भी धर्म हैं। हम कहते भी हैं कि रचना मधुर है; प्रबन्ध ओज-गुण-सम्पन्न है आदि।

जो लोग रस-विहीन काव्य-रचना में भी सुकुमार तथा मधुर शब्दों की लड़ी देखकर उसे जो मधुर काव्य और सरस-काव्य में भी कटु-कठिन पदावली को देखकर उसे जो अमधुर काव्य कहते हैं वह औपचारिक है। जैसे लोग शौर्यहीन मोटे आदमी को देखकर पहलवान और शक्तिशाली, दुर्बल-देह आदमी को देखकर परिहास में 'सीकिया पहलवान' कह बैठते हैं, वैसे ही यह कहना-समझना है। जो लोग रस पर्यन्त पहुँचने की क्षमता रखते हैं वे आपात-रमणीयता में ही रम नहीं सकते। इसको सभी सहृदय जानते हैं। यथार्थता यह है कि माधुर्य आदि गुण रस के धर्म हैं, केवल वर्ण-रचना आदि के आश्रित नहीं। बल्कि इनके द्वारा वे गुण व्यक्त होते हैं।

भोजराज का कहना है कि अलंकृत काव्य भी गुणहीन होने से श्रवणीय नहीं। अतः काव्य को अलंकृत होने की अपेक्षा गुणयुक्त होना आवश्यक[1] है। इसका समर्थन व्यास जी यों करते हैं कि अलंकार-युक्त काव्य भी गुणरहित होने से आनन्दप्रद नहीं होता[2]।

भरत ने 'अतएव विपर्यस्ताः' कहकर दोषों के विपरीत जो कुछ है वही गुण है, यह मत प्रकाशित किया है, सो ठीक नहीं। क्योंकि गुण काव्य का एक विशिष्ट धर्म है, जिसका पद अलंकार से भी ऊँचा है। इससे उन्हें दोष के अभावरूप में स्वीकार करना उचित प्रतीत नहीं होता।

गुण और अलंकार यद्यपि काव्योत्कर्ष-विधायक हैं तथापि इनके धर्म भिन्न हैं। दण्डी के कथनानुसार गुण काव्य के प्राण हैं। वामन के मत से गुण काव्य में काव्यत्व लानेवाला धर्म है और अलंकार काव्य को उत्कृष्ट बनानेवाला धर्म। गुणों से काव्य में काव्यत्व आता है और अलंकार से काव्य की श्रीवृद्धि होती[3] है।

---

१ अलङ्कृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः॥ स० कंठाभरण

२ अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्। अग्निपुराण

३ काव्यशोभायाः कर्तारो गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। काव्यालंकारसूत्र

गुणों की संख्या के विषय में आचार्यों का मतभेद है। भरत ने दस, व्यास ने उन्नीस और भामह ने तीन गुण माने हैं। इन्हीं तीनों में—प्रसाद, माधुर्य और ओज में—अन्य गुणों का अन्तर्भाव कर दिया गया है। पुनः दण्डी ने दस, वामन ने बीस और भोज ने चौबीस गुण माने हैं। पर काव्य-प्रकाश ने अपना प्रकाश डालकर उक्त तीनों गुणों का ही समर्थन किया और शेष भेदों की निःसारता प्रकट कर दी। दर्पणकार आदि ने भी इन्हें ही माना। अब काव्य में इन्हीं तीनों गुणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दूसरी छाया

गुणों से रस का सम्बन्ध

माधुर्य, ओज और प्रसाद ये गुण हैं जो रसों में प्रतीत होते हैं। कारण यह कि इन्हें रस का विशेष धर्म कहा जाता है। भिन्न-भिन्न रसों के आस्वाद-काल में चित्त के भाव भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। माधुर्य भाव शृङ्गार-रस का विशेष गुण है। क्योंकि शृङ्गार की भावना सर्वाधिक मधुर प्रतीत होती है। केवल मधुरता के विचार से यदि मधुरता निर्धारित हो तो शृङ्गार-रस का स्थान सर्वप्रमुख होगा। है भी ऐसा ही। इस रस का सम्बन्ध सृष्टि के समस्त जीवमात्र से है। अतएव 'रस' शब्द से मुख्यतः इसीकी प्रतीति होती है।

शृङ्गार के बाद माधुर्य भाव के—हृदय पिघलाने के दो और स्थान हैं। इन स्थानों में इसका स्वरूप खूब निखरा हुआ दीख पड़ता है। वे स्थान हैं वियोग और करुण। इष्ट वस्तु यदि प्राप्त न हो सके तो उसके लिये हृदय में एक विचित्र कसक होने लगती है। वह वस्तु प्राप्त रहने की स्थिति में जितनी मधुर लगती है, अप्राप्तिकाल में और भी उग्र-मधुर होकर भावना में जगी रहती है। अतः संयोग मधुर है तो वियोग मधुरतम। इसलिये विप्रलंभ शृङ्गार में संभोग की अपेक्षा अधिक मिठास है।

इच्छित वस्तु का अभाव उसके माधुर्य को और तीव्रातितीव्र रूप में भासित करता है। अप्राप्ति की भावना से आकुल हृदय अतीत की घटनाओं का मधुर-संस्मरण कर अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठता है। फलतः माधुर्य का अस्तित्व वियोग में सर्वोत्कृष्ट होता है। शकुन्तला

के संयोग से सीता का निर्वासन अधिक हृदय-ग्राही प्रतीत होता है। इसका यह ज्वलन्त प्रमाण है। 'विरह प्रेम की जाग्रत गति है और सुषुप्ति मिलन है।'

इससे भी मनोमुग्धकर करुण है, जिसके लिये कुमार-संभव का रति-विलाप, रघुवंश का अज-विलाप या जयद्रथ-बध का उत्तरा-विलाप आदि का महत्त्व आगे रखा जा सकता है। यही मत ध्वनिकार का है। रही शान्त रस की बात। ध्वनिकार ने इस रस में माधुर्य भाव की चर्चा नहीं की है। लेकिन विषय-निवृत्ति-रूप स्थायी निर्वेद में आत्मसंतोष की मधुरता संभव है। अतएव इसे अमान्य नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार माधुर्य गुण के तीन स्थान हुए—शृंगार, करुण और शान्त।

गुण यद्यपि रस-रूप आत्मा में रहनेवाले धर्म हैं, फिर भी शब्द और अर्थ रस के शरीर हैं, अतएव व्यंग्य-व्यंजक भाव (रस व्यंग्य और शब्दार्थ व्यंजक) से गुणों का शब्दार्थ पर रहने का व्यवहार औपचारिक है। कुछ ऐसे वर्ण हैं जो पदों में गुँथे जाकर मधुर भाव की सृष्टि करते हैं। ये ही वर्ण-समूह इन तीनों रसों के शरीर को आकर्षक बनाते हैं। ये वर्ण यद्यपि काव्य के शरीर पर टिके हुए होते हैं, फिर भी इनसे आत्मा का उपकार होता है। मधुर शब्दों से रस मधुर प्रतीत होता है।

'आकारोऽस्य शूरः'—'इसका आकार शूर है' आदि प्रयोग इस व्यवहार के पोषक हैं कि आत्मा के भावों का शरीर पर उपचार होता है। माधुर्य गुण में मधुर अक्षरों का पर्याप्त समावेश रहता है। अक्षरों की मधुरता श्रवण-सुखद होने पर निर्भर है। अपने वर्ग के पाँचवें अक्षर—ङ, ञ, न, ण, और म—जब अपने ही वर्ग के भिन्न-भिन्न अक्षरों से जुड़े हुए हों तो उनमें सहज ही मिठास आ जाती है। माधुर्य में समास का अभाव या वह नाममात्र का रहता है। इन्हीं कारणों से शृंगार आदि रसों में यह अद्वितीय उपयोगी प्रतीत होता है।

कुछ रस ऐसे हैं, जिनमें हृदय विस्तृत-सा हो उठता है। शृंगार-भावना उगने से जिस प्रकार मिठास का अनुभव होता है, उसी प्रकार आवेग से उद्दीपन का। मन की यह अवस्था तब हो जाती है, जब उसमें एक आवेश का सहसा उदय हो जाता है। इसकी स्थिति उस

इन्धन से संतुलित की जा सकती है जो आग के योग से बल उठता है। चित्त की यही स्थिति दीप्ति कही जाती है। चूँकि उग्र भावना कलेजे में फैलाव-सा ला देती है, अतएव उसे हृदय-विस्तार-स्वरूप ओज कहा जाता है।

वीर, वीभत्स और रौद्र रस में यही ओज गुण रहता है। वीर में उत्साह, रौद्र में क्रोध स्थायी भाव होने के कारण हृदय में विस्तार और दीप्ति का होना तो प्रकृति-सिद्ध है ही, साथ ही वीभत्स में भी उद्विग्नता प्रतीत होने से दीप्ति का होना असंभव नहीं। घृणित वस्तु की भावना उसके आलम्बन-विभाव के प्रति एक असहनीय विरोधी प्रवृत्ति की सृष्टि करती है। ओज-गुण के पदों में प्राय: समास की अधिकता होती है और कर्ण-कटु अक्षरों की जमघट रहती है। अर्थ में ओज हो तो समास का अभाव और साधारण वर्ण भी इस गुण के अन्तर्गत हो सकते हैं।

ओज-गुण वीर-रस में संयत भाव से रहता है। क्योंकि वीर उत्साही होते हैं, क्रोधी नहीं। वीभत्स में ओज का रूप कुछ तीव्रता लिये रहता है। क्योंकि, उसमे मन उकता जाता है, आलम्बन की स्थिति अत्यन्त विरस—प्रतिकूल लगती है। रौद्र में जाकर यही अत्यन्त प्रखर हो जाता है। खीझे हुए व्यक्ति का हृदय जल-सा उठता है। उसकी रुद्र प्रकृति ओज की अन्तिम सीमा है। इसके व्यंजक-वर्णों में वर्ग के प्रथम क, च, ट, त, और प का वर्ग के द्वितीय ख, छ, ठ, थ और फ के साथ तथा वर्ग के तृतीय ग, ज, ड, द और ब का वर्ग के चतुर्थ घ, झ, ढ, ध और भ के साथ योग अपेक्षित रहता है। ऊपर (जैसे अर्क) नीचे (जैसे भद्र) और दोनों स्थानों में (जैसे आर्द्र) 'र' का मिलन भी इसका पोषक है। ट, ठ, ड और ढ की बहुतायत होना इसमें खास बात है।

हृदय की एक साधारण, पर सुन्दर, अवस्था भी होती है जिसमें न तो माधुर्य रहता है न ओज ही। फिर भी, उसमें सब कुछ रहता है। इस अवस्था को 'प्रसाद' के नाम से पुकारते हैं। भिन्न-भिन्न रसों के भिन्न-भिन्न गुण होते हुए भी प्रसाद सबके लिये उपयुक्त है। प्रसाद का अर्थ होता है, प्रशस्तता। अतएव जहाँ शब्द सुनने मात्र से अर्थ-बोध संभव हो, वहीं इसकी सत्ता मानी जाती है। फलत: शेष तीन रस अद्भुत, हास्य, भक्ति, वात्सल्य और भयानक तो इसके क्षेत्र हैं ही, साथ

ही पूर्व-कथित अन्य रस भी इसके आधार हो सकते हैं। कितनों ने अद्भुत आदि में यथा-संभव उन्हीं दो गुणों को मान लिया है। किन्तु प्रसाद गुण अपनी सरलता के कारण सब रसों के लिये समान उपादेय है। कालिदास की रचनायें प्राय: इसी गुण पर अवलंबित हैं। धुले-उजले कपड़े में रंग जैसा यह गुण मन को बरबस खींच लेता है—अत्यन्त प्रभावित करता है। इसमें समास का अभाव होता है और साधारणत: सुकुमार वर्ण प्रयुक्त किये जाते हैं।

यद्यपि गुणों को रस-धर्म बताकर शब्द-अर्थ से साक्षात् सम्बन्ध का निराकरण सिद्ध किया गया है, किन्तु वर्णों की कोमलता तथा कर्कशता उसके कारण होते हैं। अतएव यह निश्चित है कि रसोचित वर्णविन्यास गुण के मूल हैं।

जैसे मनुष्य-जीवन में गुण समय के फेर से अक्सर दोष हो जाते हैं वैसे काव्य में भी इनकी स्थिरता नियत नहीं रहती है। मैदान में उतरे हुए योद्धा के व्यवहार में निष्ठुरता गुण है, किन्तु वही पत्नी के आमोद-प्रमोद में दोष हो जा सकता है। कर्ण-कटु अक्षरों का निवेश वीर आदि रस में उपयुक्त होने के कारण गुण है और शृंगार में दोष। लेकिन, यह अनिश्चय की स्थिति भी दोष मात्र के लिये नहीं, विशेष-विशेष दोष पर अवलंबित है। कुछ दोष सदा, सब अवस्थाओं में, दोष ही रहेंगे। उनमें विपर्यय वांछनीय नहीं। व्याकरण की अशुद्धि किसी भी हालत में क्षम्य नहीं हो सकती। 'श्रुतिकटु' दोष शृंगार रस की ध्वनि में सर्वथा हेय होते हुए भी अन्य रस में, विशेष परिस्थिति में दोष नहीं भी माना जा सकता है, गुण भी बन जा सकता है। जहाँ माधुर्य और ओज बँटे हुए क्षेत्रों में ही गुण हो सकते हैं, हेर-फेर होने पर वे दोष में परिणत हो जायँगे, वहाँ प्रसाद सर्वत्र समान आदर पायगा। दोष ऐसी वस्तु है जो आत्मा और शरीर दोनों में रह सकता है। किसी व्यक्ति में मूर्खता और कुबड़ापन दोनों ही हो सकते हैं। किन्तु गुण प्रत्येक स्थिति में आत्मा में ही होंगे। पंडिताई या उदारता किसी प्रकार हाथ-पाँव में सम्भव नहीं। अलंकार और गुण में भी इसी विषय को लेकर भेद है। अलंकार शरीर पर—शब्द और अर्थ पर—रहने की वस्तु है और गुण ऐसे नहीं। वे आत्मा से—रस से—सम्बन्ध रखते हैं। ध्वनित रस, भाव आदि में गुणों का औचित्य और अनौचित्य का समझना नितान्त आवश्यक है। अन्यथा

अलौकिक आनन्द का आस्वाद संभव नहीं हो सकता। अलंकार के स्थान में रस नहीं भी रह सकता है, किन्तु गुण बिना रस के रहेगा ही कहाँ ? अलंकार की अपेक्षा गुण का अधिक महत्त्व है।

तीसरी छाया

माधुर्य

माधुर्य वह गुण है जिससे अन्तःकरण आनन्द से द्रवीभूत हो जाय—आर्द्र हो जाय।

जब चित्तवृत्ति स्वाभाविक अवस्था में होती है तब रति आदि के रूप से उत्पन्न आनन्द के कारण माधुर्य-गुण-युक्त रस के आस्वादन से स्वभावत: चित्त द्रवीभूत हो जाता है—पिघल जाता है। क्रमशः माधुर्य गुण संभोग से करुण में, करुण से विप्रलंभ में और विप्रलंभ से शांत में अधिकाधिक अनुभूत होता है।

ट ठ ड ढ को छोड़कर 'क' से 'म' तक के वर्ण ङ, ञ, ण, न, म, से युक्त वर्ण ह्रस्व र और ण, समास का अभाव या अल्प समास के पद और कोमल, मधुर रचना माधुर्य गुण के मूल हैं।

(क) बिन्दु में थीं तुम सिंधु अनन्त, एक सुर में समस्त संगीत।
एक कलिका में अखिल वसंत धरा पर थीं तुम स्वर्ग पुनीत। पंत

(ख) निरख सखी ये खंजन आये।
फेरे उन मेरे रंजन ने इधर नयन मन-भाये। गुप्त जी

(ग) रात शेष हो गयी उमंग भरे मन में
आयी ऊषा नाचती लुटाती कोष सोना का।
चाँदी रम्य चन्द्रमा लुटाता चला हँसता
और निशा रानी मोदपूरिता मनोहरा
सीपज लुटाती चलीं अंजली में भर के। वियोगी

(घ) कुंदन को रँग फीको लगै झलकै अति अंगनि चारु गुराई।
आँखिन में अलसानि चितौनि में मंजु विलासन की सरसाई।
को बिनु मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लहे मुसुकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निखरै सी निकाई।

उपर्युक्त पद्यों में नियमानुसार ट, ठ, ड, ढ रहित स्पर्श वर्ण हैं, सानुस्वार पद हैं और समासाभाव है। अतः माधुर्य की व्यंजना है।

यह कोई आवश्यक नहीं कि सानुस्वार रचना में ही माधुर्य हो। कोमल-कान्त-पदावली में भी माधुर्य गुण होता है। जैसे,

तेरी आभा का कण नभ को देता अगणित दीपक दान।
दिन को कनकराशि पहनाता विधु को चाँदी का परिधान। महा०

यह प्रसाद गुण का उदाहरण नहीं हो सकता; क्योंकि इनकी मधुर रचना का आनन्द सहज ही उपलब्ध नहीं। फिर भी मतभेद संभव है।

चौथी छाया

ओज

ओज वह गुण है जिससे चित्त में स्फूर्ति आ जाय, मन में तेज उत्पन्न हो जाय।

ओजोगुण से युक्त रस के आस्वादन से चित्त दीप्त हो उठता है; उसमें आवेग उत्पन्न हो जाता है। ओजोगुण का क्रमशः वीर से वीभत्स में और वीभत्स से रौद्र में आधिक्य रहता है।

जहाँ द्वित्व वर्णों, संयुक्त वर्णों र के संयोग और ट ठ ड ढ की अधिकता हो, समासाधिक्य हो और कठोर वर्णों की रचना हो वहाँ ओजोगुण होता है।

(क) बजा लोहे के दन्त कठोर नचाती हिंसा जिह्वा लोल;
भृकुटि के कुण्डल वक्र मरोर फुंहुंकता अन्ध रोष फन खोल!
बहा नर-शोणित मूसलधार रुण्ड-मुण्डों को कर बौछार
प्रलय घन सा घिर भीमाकार गरजता है दिगंत-संहार
छेड़ स्वर शस्त्रों की झनकार महाभारत गाता संसार। पंत

(ख) मुंड कटत कहुँ रुंड नटत कहुँ सुंड पटत घन,
गिद्ध हँसत कहुँ सिद्ध लसत सुख वृद्धि रसत मन,
भूत फिरत करि बूत गिरत सुरदूत घिरत तँह,
चंडि नचत गन मंडि रचत धुनि डंड मचत जँह,
इमि ठानि घोर घमसान अति 'भूषण' तेज कियो अटल
सिवराज साहि सुख खड्ग बल अति अडोल बहलोल दल।

(ग) मरकट युद्ध विरुद्ध क्रुद्ध अरि ठट्ट दपट्टहिं।
अब्द शब्द करि गर्जि तर्जि झुकि झपि झपट्टहि।

नियमानुसार इनमें संयुक्त वर्णों की तथा टवर्ग की अधिकता है।

यह आवश्यक नहीं कि उपर्युक्त नियमानुसार जो रचना होगी उसमें ही ओज-गुण होगा।

(क) धर कर चरण विजित शृंगों पर झंडा वहीं उड़ाते हैं।
अपनी ही उँगली पर जो खंजर की जग छुड़ाते हैं।
पड़ी समय से होड़ छोड़ मत तलवों से काँटे रुक कर
फूँक फूँक चलती न जवानी चोटों से बच कर झुक कर
नींद कहाँ उनकी आँखों में जो धुन के मतवाले हैं,
गति की तृषा और बढ़ती पड़ते पद में जब छाले हैं,
जागरूक की जय निश्चित है हार चुके सोने वाले,
लेना अनल किरीट भाल पर ओ आशिक होने वाले। दिन०

(ख) बरसे आग जलद जल जायें, भस्मसात भूधर हो जायें।
पाप पुण्य सदसद्भावों की धूल उड़ उठे दायें बायें।
नभ का वक्षस्थल फट जाये तारे टूक टूक हो जायें।
कवि कुछ ऐसी तान सुनावो जिससे उथल पुथल मच जाये।
नवीन

(ग) चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठे बार बार
दिल्ली दहसति चितै चाहक रखति हैं,
बिलखि बदन बिलखत बिजैपुरपति
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है।
थर थर काँपति कुतुबसाह गोलकुण्डा
हहरि हबस भूप-भीर भरकति है,
राजा शिवराज के नगारन की धाक सुनि
केते बादशाहन की छाती धरकति है। भूषण

इन पद्यों को पढ़ने सुनने से भी चित्त दीप्त हो उठता है और उसमें आवेग उमड़ आता है।

पाँचवीं छाया

प्रसाद गुण

सूखे इंधन में आग जैसे दप से जल उठती है वैसे ही जो गुण चित्त में शीघ्र व्याप्त हो जाता है अर्थात् रचना का बोध करा देता है वह प्रसाद गुण है।

यह सभी रसों और रचनाओं में व्याप्त रह सकता है। श्रवण मात्र से अर्थ-प्रतीति करानेवाले सरल और सुबोध शब्द प्रसाद-गुण के व्यंजक हैं।

(क) विकसते मुरझाने को फूल उदय होता छिपने को चंद,
शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मंद
यहाँ किसका अनन्त यौवन, अरे अस्थिर यौवन। महादेवी

(ख) वह आता
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को,
मुँहफटी पुरानी झोली को फैलाता,
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता। निराला

(ग) सिखा दो ना हे मधुप-कुमारि मुझे भी अपना मीठा गान।
कुसुम के चुने कटोरों से करा दो ना कुछ कुछ मधुपान। पंत

(घ) छहरि छहरि झीनी बूँदन परति मानों
घहरि घहरि घटा छाई है गगन मैं।
आइ कह्यो श्याम मोसो चलौ आज झूलिबे कौ
फूली ना समाई ऐसी भई हौं मगन मैं।
चाहति उठ्योई उठि गई सो निगोड़ी नींद
सोइ गये भाग मेरे जागि वा जगन मैं।
आँखि खोल देखौं तो न घन है न घनश्याम
वेई छाई बूँदें मेरे आँसू ह्वै दृगन मैं। देव

इसकी सरल सुबोध रचना प्रसाद-गुण-व्यंजक है।

पंडितराज ने शब्द के १ श्लेष २ प्रसाद ३ समता (एक सी समग्र रचना होना) ४ माधुर्य ५ सुकुमारता ६ अर्थव्यक्ति ७ उदारता (कठिन अक्षरों की रचना) ८ ओज ९ कांति (अलौकिक शोभावाली उज्ज्वलता) और १० समाधि (गाढ़ और सरल रचना) नामक दस गुण और अर्थ के भी ये ही दस गुण माने हैं। यत्र-तत्र इनके लक्षणों में नाम मात्र का अन्तर है।

यद्यपि आचार्यों ने प्रधानतया तीन ही गुण माने हैं पर आधुनिक रचना पर दृष्टिपात करने से कुछ अन्यान्य गुणों का मानना आवश्यक प्रतीत होता है। आजकल ऐसी अधिकांश रचनायें दीख पड़ती हैं जिनमें न तो प्रसादगुण है और न ओजोगुण, बल्कि इनके विपरीत उनके अनेक स्वरूप देख पड़ते हैं। जैसे,

> कँप कँप हिलोर रह जाती रे मिलता नहीं किनारा।
> बुद बुद विलीन हो चुपके पा जाता आशय सारा। पंत

जीवन का रहस्य जीवन में लीन हो जाने से ही प्राप्त होता है, यह जो पद्य का अभिप्राय है, वह श्रुति-मात्र से सरल-सुबोध शब्दों के रहने पर भी सहज ही ज्ञात नहीं होता। इसमें ओजोगुण के भी साधन नहीं हैं। उपर्युक्त दस गुणों में इनका अन्तर्भाव हो जा सकता है।

दसवाँ प्रकाश

रीति

पहली छाया

रीति की रूप-रेखा

'रीति' शब्द 'रीङ्' धातु से 'क्ति' प्रत्यय करने से बना है जिसका अर्थ है—गति, पद्धति, प्रणाली, मार्ग[1] आदि।

रीति की परम्परा बहुत पुरानी है। भामह से भी पहले की। दंडी रीति के समर्थक थे पर अलंकार के प्रभाव से मुक्त न थे। वामन ही प्रधानतः रीति के समर्थक वा उन्नायक थे। उन्होंने विशिष्ट पद-रचना को—विशेष प्रकार से काव्य में पद-स्थापन को 'रीति' संज्ञा[2] दी। रचना की विशेषता क्या है, इसका उत्तर उन्होंने दिया कि गुण ही उसकी विशेषता[3] है। दण्डी ने कहा भी है कि उक्त दस गुण वैदर्भी रीति के प्राण[4] हैं।

विश्वनाथ का कहना है कि पदों के मेल या संगठन को रीति कहते हैं। वह अंगसंस्थान की भाँति है। अर्थात् शरीर में जैसे अंगों का सुगठन होता है वैसे काव्य-शरीर में शब्दों और अर्थों का भी संगठन होता है। यह काव्यात्मभूत रस, भाव आदि की उपकारक होती[5] है। कहने का अभिप्राय यह कि जैसे नर-नारी की शरीर-रचना से सुकुमारता, मधुरता, कठिनता, रुक्षता आदि गुणों का ज्ञान होता है और उससे नर-नारी की विशेषता का बोध होता है वैसे ही काव्य-रचना

---

१ अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्। काव्यादर्श

२ विशिष्ट-पद-रचना रीतिः। काव्यालंकार सूत्र

३ विशेषो गुणात्मा। काव्यालंकार सूत्र

४ एते वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः॥ काव्यादर्श

५ पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्था-विशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्। सा० दर्पण

की विशेषता माधुर्य आदि के द्वारा लक्षित होती है। रीति का काव्य शरीर से ही नहीं, बल्कि काव्य से निकट सम्बन्ध समझना चाहिये।

शब्दार्थ-शरीर काव्य के आत्मभूत रसादि का उपकार करने—प्रभाव बढ़ाने वाली पदों की जो विशिष्ट रचना है उसे रीति कहते हैं।

कालरिज ने इसीको 'उत्तम शब्दों की उत्तम रचना' कहा[1] है। यह पद-संघटना है। पर यह पदसंघटना वैशिष्ट्य-मूलक है। वह विशिष्टता शब्दों की है। कैसे शब्द कहाँ रक्खे जायँ, यही रीति है और इसका विचार ही रीति की रूप-रेखा है। कैसे शब्द का अभिप्राय शब्द की योग्यता से है। देखना होगा कि जिस शब्द का प्रयोग किया जा रहा है वह विषय, भाव, संस्कार के अनुकूल है या नहीं। भाषा के सौंदर्य और माधुर्य, विषय और वर्णन के योग्य है या नहीं। अनन्तर उसके स्थान का विचार करना होगा। कहाँ रखने से वह अपना वैभव प्रकाशित कर सकता है। ऐसा होने से ही रीति की मर्यादा अक्षुण्ण रह सकती है।

विषयानुरूप रचना मे कहीं मधुर वर्णों की और कहीं ओजः प्रकाशक वर्णों की आवश्यकता होती है; कहीं सरल शब्द, कहीं सालंकार शब्द और कहीं सुन्दर शब्द योग्य प्रतीत होते हैं तथा कहीं कर्णकटु कठोर शब्दों का रखना ही अच्छा जान पड़ता है। कहने का अभिप्राय यह कि वर्णनीय विषयों की विभिन्नता के कारण रीतियों की विभिन्नता अनिवार्य है। यह रचनाकार की योग्यता, विद्वत्ता और सहृदयता पर निर्भर करता है कि कौन शब्द कहाँ कैसे रक्खे कि रचना सुन्दर तथा सुबोध हो।

उत्तम रीति वह है जिसमें अपना भाव व्यक्त करने के लिये चुने हुए शब्द हों। सुन्दर और चुस्त एक वाक्य के लिये चार वाक्य न बनाये जायँ। थोड़े में प्रकाशित होनेवाले अभिप्राय को व्यर्थ का तूल न दिया जाय। क्योंकि यही रचना के शैथिल्य का कारण होता है। पेटर का कहना है कि जो तुम कहना चाहते हो सरल, सीधे और ठीक तरह से फिजूल बातों को छोड़कर कहो[2]।

---

[1] The best words in the best order.

[2] Say what you have to say, what you have a will to say, in the simplest, the most direct and the exact manner possible, with no surplusage.

रीतियाँ अनेक हैं। कारण यह कि एक की प्रकृति दूसरे से नहीं मिलती। 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'। एक ही विषय को भिन्न-भिन्न कवि भिन्न-भिन्न ढंग से वर्णन करता है। राधाकृष्ण के शृंगार-वर्णन को छोड़िये। पंचवटी-प्रसंग एक ही है पर तुलसीदास, गुप्तजी और निरालाजी के वर्णन की रीतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। इसीसे दण्डी का कहना है कि प्रत्येक कवि में व्यक्तित्वानुरूप रहने के कारण रीति के भेद कहे नहीं जा सकते [1]।

मम्मट ने इस रीति को वृत्ति संज्ञा दी है। रीति या वृत्ति का आधुनिक नाम शैली है। **किसी वर्णनीय विषय के स्वरूप को खड़ा करने के लिये उपयुक्त शब्दों का चुनाव और उनकी योजना को शैली** कहते हैं जिसका वर्णन हो चुका है। देशविशेष के प्रमुख कवियों की प्रचलित प्रणाली के नाम पर ही रीतियों का **वैदर्भी, पांचाली, गौड़ी** आदि नामकरण हुआ है। पृथक्-पृथक् नादाभिव्यंजक वर्णों से संघटित शब्दों के चुनाव से जो वस्तु का प्रस्तुतानुगुण झंकार की विशेषता आती थी उसीसे उन वृत्तियों के **उपनागरिका, कोमला और परुषा** ये नाम पड़े। वृत्ति के सम्बन्ध में ध्वन्यालोककार का कहना है कि शब्द और अर्थ का रसादि के अनुकूल जो काव्य में उचित व्यवहार—समावेश—योजना है वही वृत्तियाँ हैं जिनके दो भेद हैं—शब्दाश्रित और अर्थाश्रित। उपनागरिका आदि शब्द-संबधिनी वृत्तियाँ[2] हैं।

वामन ने जो विशिष्ट पद-रचना को रीति और पद-रचना में विशेषता लानेवाले धर्म को गुण कहा उससे स्पष्ट है कि काव्य में रस और गुण का संयोग अनिवार्य है।

काव्य के प्रधानतः पाँच उपकरण हैं—रीति, गुण, अलंकार, रस और ध्वनि। प्रारंभ के तीन शब्द के और अन्त के दो अर्थ के उपकरण हैं। एक समय के कवियों ने अर्थ की उपेक्षा करके शब्द के उपकरणों पर ही ध्यान दिया जिसमें रीति की प्रधानता थी। इससे उस काल के कवि रीति-कवि और काव्य रीति-काव्य कहे जाने लगे।

---

१ इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकवि स्थिताः।

२ रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान्यस्ता एताः वृत्तयो द्विविधा स्मृताः। ध्वन्यालोक

दूसरी छाया

रीति के भेद

वैदर्भी

माधुर्य-व्यंजक वर्णों की जो ललित रचना है उसे वैदर्भी रीति वा उपनागरिका वृत्ति कहते हैं।

१ ......जाओ, मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल आलिंगन करो तुम गगन का,
चन्द्रिके चूमो तरंगों के अधर,
उडुगनो! जावो पवन वीणा बजा।
पर हृदय सब भाँति तू कंगाल है। पंत

२ आयी मोदपूरिता सोहागवती रजनी,
चाँदनी का आँचल सम्हालती सकुचती,
गोद में खेलाती चन्द्र चन्द्र-मुख चूमती,
झिल्ली रव गूँजा चली मानों वनदेवियाँ
लेने को बलैया निशा रानी के सलोने की। वियोगी

ऐसी रचनायें माधुर्य-गुण-व्यंजक होती हैं।

गौड़ी

ओज:प्रकाशक वर्णों से आडम्बर-पूर्ण बन्ध को—रचना को गौड़ी रीति वा परुषा वृत्ति कहते हैं।

१ गूंजे जयध्वनि से आसमान—सब मानव मानव हैं समान।
निज कौशल मति इच्छानुकूल, सब कर्म निरत हों भेद भूल,
बन्धुत्व-भाव ही विश्व मूल सब एक राष्ट्र के उपादान। पंत

२ अंधकार गज भागा गहन विपिन में
दिनपति प्रकटा सरोष मृगराज सा
केसर सी किरणें विकीर्ण हुई नभ में।
भाग के मृगांक छिपा अस्ताचल ओट में
भय था कि मृग-चिन्ह देख कहीं केसरी
टूटे मत, भाग गयी रजनी किराती सी
आँचल में भर के नखत गुंजा भय से। वियोगी

इनकी रचना ओज:-पूर्ण है।

पांचाली

दोनों रीतियों के अतिरिक्त वर्णों से युक्त पंचम वर्णवाली रचना को पांचाली रीति वा कोमला वृत्ति कहते हैं।

१ इस अभिमानी अचंल में फिर अंकित कर दो विधि अकलंक,
मेरा छीना बालापन फिर करुण लगा दो मेरे अंक। पंत

२ देकर निज गुंजार गन्ध मृदु मंद पवन को
चढ़ शिविका पर गई माण्डवी राज-भवन को। गुप्तजी

इनकी रचना कोमल है।

वैदर्भी और पांचाली की रीति के बीच की रचना को लाटी कहते हैं। आचार्यों का यह मत है कि वक्ता आदि के औचित्य से इनके विपरीत भी रचना हो सकती है।

गुण तथा रीति का विचार हिन्दी की आधुनिक रचनाओं के विचार से होना चाहिये। संस्कृत की ये रूढ़ियाँ नियमतः नहीं, सामान्यतः लागू हो सकती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इनके आधार पर श्रेणी-विभाग हो तो इनकी वैज्ञानिकता नष्ट नहीं होने पावेगी। व्यक्ति विशेष की शैली श्रेणी-विभाग का एक विशिष्ट उपादान होगी। तथापि गुण-रीति का ज्ञान काव्य-कला के अंतरंग में पैठने का द्वार है। इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

ग्यारहवाँ प्रकाश

अलंकार



पहली छाया

अलंकार के लक्षण

'अलम्' का अर्थ है—भूषण। जो अलंकृत—भूषित करे वह है अलंकार। जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय इस करण व्युत्पत्ति से उपमा आदि का ग्रहण हो जाता[1] है। आधुनिक भाषा में अलंकार-शास्त्र को सौन्दर्य-विज्ञान (Aesthetic of poetry) कह सकते हैं।

काव्य में अलंकार का महत्त्व होते हुए भी रस का पहला, गुण का दूसरा और अलंकार का तीसरा स्थान है। क्योंकि निरलंकार रचना भी काव्य होती है। इसीसे मम्मट ने कहा है कि कहीं-कहीं विना अलङ्कार के भी काव्य होता[2] है। दर्पणकार भी कहते हैं कि अलंकार अस्थिर धर्म[3] है। इससे गुण के समान इनकी आवश्यकता नहीं। एक-दो उदाहरण देखें—

अलि हौं तो गई यमुना जल को सो कहा कहौं बीर विपत्ति परी।
घहराय के कारी घटा उनई इतने में गागर सीस धरी॥
रपट्यो पग घाट चढ्यो न गयो कवि 'मंडन' ह्वै के बिहाल गिरी।
चिरजीवहु नंद को वारो अरी गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी॥

नायिका की इस सरल उक्ति में—वैचित्र्यशून्य कथन में जो कवित्व है, क्या कोई भी सहृदय उसे अस्वीकार कर सकता है?

---

१ अलंकृतिः अलंकारः। करणव्युत्पत्या पुनः
अलंकारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते। वामनवृत्ति

२ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। का० प्रकाश

३ अस्थिरा इति नैषां गुणवदावश्यकी स्थितिः। सा० दर्पण

वह आता, दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक, चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को भूख मिटाने को मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता।

भिक्षुक शीर्षक की ये पंक्तियाँ निरलंकार होकर भी दिल पर जो गहरी चोट करती हैं उससे कोई भी कलेजा थाम ले सकता है।

आचार्यों ने कई प्रकार के अलंकारों के लक्षण किये हैं जो तर्क-वितर्क से शून्य नहीं कहे जा सकते।

ध्वनिकार ने लिखा है कि वाग्विकल्प—कहने के निराले ढंग अनंत हैं और उनके प्रकार ही अलंकार[1] हैं। रुद्रट ने भी यही कहा है—'अभिधान के—कथन के प्रकार-विशेष अर्थात् कवि-प्रतिभा से प्रादुर्भूत कथन-विशेष ही अलंकार[2] हैं। इनसे कुन्तक का यह कथन ही पुष्ट होता है कि विदग्धों के कहने के ढंग ही वक्रोक्ति है और वही अलंकार[3] है। आचार्य वामन कहते हैं कि अलंकार के कारण ही काव्य ग्राह्य—उपादेय है और वह अलंकार सौन्दर्य[4] है।

आचार्य दण्डी ने काव्य के शोभाकारक धर्मों को अलंकार कहा[5] है। शोभाधायक धर्म गुण भी हैं। इनको अलंकार मानना उचित नहीं। क्योंकि गुण और अलंकार, यद्यपि काव्योत्कर्ष-विधायक हैं, तथापि इनके धर्म भिन्न हैं। दण्डी के कथनानुसार 'गुण काव्य के प्राण हैं।' वामन के मत से गुण काव्य में काव्यत्व लानेवाला धर्म है और अलंकार काव्य को उत्कृष्ट बनानेवाला धर्म[6]। विश्वनाथ ने भी यही कहा है कि 'शब्द और अर्थ के जो शोभातिशायी अर्थात्

---

१ अनन्ता हि वाग्विकल्पाः। तत्प्रकारा एव चालंकाराः। **ध्वन्यालोक**

२ अभिधानप्रकारविशेषा एव चालंकाराः। **अलंकारसर्वस्व**

३ उभावेतावलंकार्यो तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते। **वक्रोक्तिजीवित**

४ काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः। **काव्यालंकारसूत्र**

५ काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। **काव्यादर्श**

६ काव्यशोभायाः कर्त्तारो गुणाः। तदतिशयहेतवश्चालंकाराः।
—**का० लं० सूत्र**

सौन्दर्य की विभूति के बढ़ानेवाले धर्म हैं वे ही अलंकार[1] हैं।' गुणों से काव्य में काव्यत्व आता है, और अलंकार से काव्य की श्रीवृद्धि होती है।

वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को एक प्रकार से पर्याय मान लिया गया[2] है। अलंकार मात्र मे अनेक आचार्य वक्रोक्ति वा अतिशयोक्ति की सत्ता मानते[3] हैं। लोचनकार को भी यह मान्य[4] है। क्योंकि काव्य में कुछ अनूठापन लाना सकल-सहृदय-सम्मत है।

अतिशयोक्ति का अर्थ है उक्ति का सामान्यातिरिक्त होना और इसमें एक प्रकार से वक्रोक्ति आ ही जाती है। इससे दोनों का एक होना संगत है। वक्रोक्ति का यह आशय व्यापक रूप से माना गया है, न कि वक्रोक्ति एक अलंकार है, जैसा कि आजकल प्रचलित है। अतिशयोक्तिपूर्ण और वक्रोक्तिपूर्ण वर्णन का काव्य में अधिक महत्त्व है। एक उदाहरण देखे—

> अंगारे पश्चिमी गगन के छवाँ छवाँ कर लाल हुए,
> निर्झर खो सोने का पानी पुनः रजत की धार हुए।
> रश्मिजाल से खेल-खेलकर आँखमिचौनी तरु-छाया,
> सोने चली गयी दिग्पति सँग विलग नहीं रहना भाया। भक्त

सूर्यास्त का यह वर्णन वक्रोक्ति-पूर्ण है। किरणों को अंगार, निर्झर के पानी को सोने का पानी, रजत की धार, किरणो के साथ छाया की आँखमिचौनी खेलने को अतिशयोक्ति भी कह सकते हैं।

हिन्दी के आचार्यों ने प्रायः अलंकार का वही लक्षण किया है जो संस्कृत के आचार्यों का है। बहुतों ने लक्षण किया ही नहीं। पद्माकर का लक्षण निराले ढंग का है।

> शब्द हुँ तें कहुँ अर्थ तें कहुँ दुहुँ तें उर आनि।
> अभिप्राय जिहि भाँति जहँ अलंकार सो मानि।

---

१ शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा. शोभातिशायिनः। साहित्यदर्पण

२ एवं चातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम्।

—काव्य प्रकाश-टीका

३ सर्वत्र एवंविधविषये ऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनाऽवतिष्ठते।
तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात्। काव्यप्रकाश

४ अनयातिशयोक्त्या विचित्रतया भाव्यते। ध्वन्यालोक-लोचन

आचार्य शुक्लजी का लक्षण है—"वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिये कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है ; कभी उसके रूप-रंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप-रंग मिलाकर तीव्र करने के लिये समान रूप और धर्मवाली और और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिराकर भी कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं।"

दूसरी छाया

काव्य में अलंकारों की स्थिति

अलंकारों की स्थिति के सम्बन्ध में ध्वनिकार ने लिखा है कि अङ्गाश्रित अर्थात् अङ्गरूप से वर्तमान अलंकारों को कटक आदि मानवीय अलंकारों की भाँति समझना चाहिये[1]। इसी बात को कविराज विश्वनाथ भी दुहराते हैं—कटक, कुण्डल की भाँति अलंकार रस के उत्कर्ष-विधायक माने जाते[2] हैं। कवि जयदेव इसीको सुन्दर ढंग से कहते हैं कि 'शब्द और अर्थ की प्रसिद्धि से अथवा कवि-प्रौढ़ि से अलंकार का संनिवेश हार आदि के समान मनोहारी होता[3] है।

आचार्यों का उपर्युक्त अभिमत विचारणीय है। काव्य में अलंकार सर्वथा उसी भाँति नहीं होते जैसे कि कटक, कुण्डल आदि। ये आभूषण ऐसे हैं जो शरीर से पृथक् किये जा सकते हैं। ऐसे अलंकार उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि कहे जा सकते हैं। किन्तु काव्य के अधिकांश अलंकार पृथक् नहीं किये जा सकते। कटक आदि शरीर के अंगभूत नहीं हैं पर अनेकों अलंकार शरीर के अंगभूत हैं। इससे यहाँ कटक, कुण्डल की उपमा केवल इतना ही व्यक्त करती है कि अलंकार

---

१ अंगश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्। ध्वन्यालोक

२ रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्। साहित्यदर्पण

३ शब्दार्थयोः प्रसिद्ध्या वा कवेः प्रौढ़िवशेन वा।
हारादिव अलंकार-संनिवेशो मनोहरः। चन्द्रालोक

से काव्य की श्रीवृद्धि होती है। सर्वथा ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि काव्य में सभी अलंकार अँगूठी में नगीने की भाँति जड़ दिये जाते हैं या अलंकार सर्वांशत: कोई ऊपरी वस्तु हैं।

हमारे इस मतभेद का कारण है विश्वनाथ का उपर्युक्त कथन कि अलंकार रसादि के उपकार करनेवाले माने जाते हैं। रस शब्दार्थगत है। रस के उपकरण शब्दार्थ के उपकारक होते है। इस दशा में जहाँ रस के उपकारक अलंकार हैं उन्हे यह कैसे कहा जा सकता है कि अलंकार वाहर से लाये हुए सौन्दर्य के उपादान हैं। जहाँ अलंकार काव्य-सौन्दर्य के साधक हैं वहाँ वे शब्द और अर्थ के ही रूप मात्र हैं। जहाँ शब्दार्थ के अलंकार से ही काव्य का रूप खड़ा होता है वहाँ अलंकार के अलंकारत्व के नष्ट कर डालने से काव्य भी रूप-रस हीन हो जायगा। इसीसे आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि रसों की अभिव्यक्ति में अलंकार काव्य के वहिरंग नहीं माने जाते[1]। अभिप्राय यह कि रूप जहाँ अलंकाराश्रित है वहाँ रसोपलब्धि भी अपृथग्भाव से होती है। दोनों का ऐसा सम्बन्ध नहीं होता कि उनको बिलग-बिलग किया जा सके।

क्रोचे ने दोनों रूपों की इस प्रकार विवेचना की है—स्वयं इस बात की जिज्ञासा की जा सकती है कि अलंकार को अभिव्यक्ति के साथ कैसे जोड़ा जा सकता है। क्या वहिरंग भाव से? इस दशा में वह सर्वथा पृथक् भाव से रह सकता है। क्या अन्तरंग भाव से? इस दशा में या तो अभिव्यक्ति की सहायता नहीं करता और उसे नष्ट कर डालता है अथवा उसका अङ्ग ही हो जाता है और अलंकार रूप से नहीं रह पाता। यह सम्पूर्ण से अविशेष अभिव्यक्ति का एक मौलिक साधन बन जाता है[2]।

जैसा देखा जाता है, हमारे मत से अलङ्कार तीन श्रेणियों में

१ न तेषा वहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ। अ० भारती

2 One can ask oneself how an ornament can be joined to expression. Externally? In this case it must always remain separate. Internally? In this case either it does not assist expression and mars it or it does form part of it and is not ornaments, but a constituent element of expression indistinguishable from the whole. *Aesthetic*, Ch. IX,

बाँटे जा सकते हैं। १ अप्रस्तुत वस्तु योजना के रूप में आनेवाले—जैसे, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि। २ वाक्यवक्रता के रूप में आनेवाले—जैसे, व्याजस्तुति, समासोक्ति आदि। और ३ वर्णविन्यास के रूप में आनेवाले—जैसे, अनुप्रास आदि। सभी अवस्थाओं में अलङ्कारों का उद्देश्य भावों को तीव्रता प्रदान करना ही होता है।

तीसरी छाया

वाच्यार्थ और अलंकार

'किसी प्रकार की विशेषता से युक्त शब्द और अर्थ ही काव्य[1] हैं'। यह विशेषता तीन प्रकार की है। १ धर्ममूलक विशेषता २ व्यापार-मूलक विशेषता और ३ व्यंग्यमूलक विशेषता। पहली के नित्य और अनित्य के नाम से दो भेद होते हैं। पहले में रीति-गुण और दूसरे में अलंकार आते हैं। रीति-गुण शब्दार्थ से सम्बद्ध रहते हैं और अलंकारों की काव्य में ऐसी स्थिति नहीं मानी जाती।

किन्तु 'अलंकार अभिधा के प्रकार-विशेष[2] ही हैं।' इससे यह स्पष्ट है कि अलंकार वाच्यार्थ का विषय है, व्यंग्य का नहीं। जहाँ व्यंग्य से वाच्यार्थ की विशेषता या समानता रहती है, वहाँ व्यंग्य दब जाता है, गुणीभूत हो जाता है। यह चमत्कार की महिमा है। अलंकार ही चमत्कार पैदा करता है। इसीसे ध्वनिकार का कहना है 'चारुता के कारण ही अर्थात् चमत्कार की अधिकता से ही वाच्य और व्यंग्य की प्रधानता माननी चाहिये[3]। इनके मत से अलंकार्य और अलंकार में अंतर है और यही मान्य है।

प्रारंभ से ही वाच्यार्थ में प्रभावोत्पादक अलंकार इस रूप में नहीं रह पाये जैसे कि कटक, कुण्डल; बल्कि वे ऐसे हो गये जैसे कि शारीरिक सौन्दर्य। अलंकार मात्र में आलंकारिक वक्रोक्ति[4] या अतिशयोक्ति[5]

---

१ विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। अलंकारसूत्र

२ अभिधाप्रकारविशेषा एव अलंकाराः। प्रतापरुद्रीय

३ चारुत्वनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा। ध्वन्यालोक

४ वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः। काव्यालंकार

५ अलंकारान्तराणामप्येकमाहुर्मनीषिणाम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्। काव्यादर्श

का अस्तित्व मानते हैं। इस दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि अलंकार भावप्रकाशन का एक चामत्कारिक अंग है और उसकी पृथक् रूप में स्थिति मान्य है। जब हम उक्तिवैचित्र्य और अतिशयोक्ति की शरण लेते हैं तब उसमें हमें घुल-मिल जाना ही होगा। यदि यहाँ अलंकार्य और अलंकार के अन्तर न रहने की बात कही जाय तो ठीक नहीं। उदाहरण लें—

बीच वास करि जमुनहिं आये। निरखि नीर लोचन जल छाये॥

भरतजी ने जब यमुना का जल देखा तो आँखों में आँसू भर आये। यदि उक्ति ही—कलामय कथन ही काव्य है तो यह काव्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इसमें कलामय कोई उक्ति नहीं है। यहाँ अलंकार्य राम का श्याम रंग है। अलंकार स्मरण है। यदि इस अलंकार की शरण न ले तो भरत की आँखों में आँसू का आना असंभव है। यमुना-जल न तो आँसू-गैस है और न धुँआ। इससे क्रोसे का मत यहाँ काम नहीं देता।

हमारे मत से इसमें काव्यत्व भी है और अलंकार्य और अलंकार का भिन्नत्व भी। श्याम, राम और यमुनाजल में जो साम्य है वही यहाँ व्यंग्य है। यदि इसमें आँसू उमड़ने की बात न होती तो यहाँ स्मरण अलंकार को प्रश्रय नहीं मिलता और न श्यामता की व्यञ्जना ही होती। यहाँ चन्द्रमा के ऐसा सौन्दर्य का आधिक्य प्रकट करने के लिये स्मरण को बाहर से पकड़ करके नहीं लाया गया है। तथापि यहाँ स्मरण ने जो चमत्कार पैदा किया है वह भरत के आँसू में झलक रहा है।

यह जो कहा जाता है कि ऐसे स्थानों में भावगत ही सब कुछ रहता है। क्योंकि अतिरिक्त सौन्दर्य की उत्पादक कोई वस्तु नहीं रहती, सो ठीक नहीं। हमारा कहना यह है कि भावों की सृष्टि भी तो ऐसे अलंकारों से ही होती है। यहाँ स्मरण अलंकार आँसू छलछलाने से व्यक्त भरत के भ्रातृभाव को अपरिमेय और अवर्णनीय बता कर ही नहीं छोड़ देता अपितु रस की भी व्यञ्जना करता है। क्या यह अतिरिक्त सौन्दर्य नहीं? जो लोग 'वन में हरिणी के साथ हरिण को उछलते-कूदते देखकर विरही राम को सीता की याद आयी' में अतिरिक्त सौन्दर्य नहीं देख पाते, भाव ही भाव देखते हैं, उनको 'सीता साथ रहतीं तो मैं भी ऐसा ही विहार करता' ही तक न पहुँच कर करुण रस की स्मरणमूलक व्यञ्जना तक पहुँचना चाहिये।

विरह है अथवा वरदान
कल्पना में है कसकती वेदना अश्रु में जीता-सिसकता गान है।
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं......? पंत

यह नयी सृष्टि के नये ढंग का उदाहरण है। इसका 'अथवा' संदेह पैदा करता है, जिससे संदेह अलंकार है। इसमें इस अलंकार के लिये कुछ बाहर से लाकर जोड़ा नहीं गया है। यहाँ कटक, कुण्डल का नहीं, शारीरिक सौन्दर्य का ही उदाहरण काम दे सकता है।

यहाँ का भावुक वक्ता यह निश्चय नहीं कर पाता है कि जो मुझे प्राप्त है वह वरदान है या विरह। वह संदिग्ध है। वह उसे क्या कहे और क्या नहीं। वह वेदना का भी अनुमान करता है और गान का भी आनन्द लेता है। यहाँ के सन्देह अलंकार का रूप—

की तुम तीन देव मँह कोऊ, नर नारायण की तुम दोऊ।

जैसा पृथक्-पृथक् रूप से निर्दिष्ट सन्देहालंकार-सा स्पष्ट नहीं, कुछ विलक्षण-सा है, तथापि आलंकारिकों की दृष्टि में संदेह अलंकार ही है।

यहाँ वस्तु या भाव की सम्पत्ति मानने से ही काव्य की सम्पत्ति लूटी नहीं जा सकती जब तक कि संदेह को सुअवसर नहीं मिलता। यहाँ वाच्यार्थ के चमत्कार का क्या कहना! इसमें जो अलंकार की वास्तविकता है वह भुलाने लायक नहीं।

यदि वाच्यार्थ के चमत्कार के लिये, सौन्दर्यातिरेक के लिये बाहर से सामग्री लाने में ही अलंकार का अस्तित्व माना जाय तो उन पचासों अलंकारों का नामोनिशान मिट जाय जो वाच्यार्थ के साथ मिले हुए हैं। अतः वाच्यार्थ के चमत्कारक प्रकार को ही अलंकार मानना आपाततः उचित प्रतीत होता है।

चौथी छाया

अलंकारों की सार्थकता

अलंकारों का उपयोग सौन्दर्य बढ़ाने के लिये होता है। यह सौन्दर्य भावों का हो या उनकी अभिव्यक्ति का। भावों को सजाना, उन्हें रमणीयता प्रदान करना अलंकारों का एक काम है और उनका दूसरा काम भावों की अभिव्यक्ति को प्राञ्जल करना वा उसे प्रभावशैली

बनाना। अतः रस-भाव आदि के तात्पर्य का आश्रय ग्रहण करके ही, अलंकारों का संनिवेश करना आवश्यक है। ऐसी दशा में ही वे अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकते हैं[1]। ग्राम-गीत की दो पंक्तियाँ हैं—

लोहवा जरै जैसे लोहरा दुकनिया रे ना।
मोरी वहिनी जरै ससुररिया रे ना॥

जब लाडिली बहन से भेंट करने बहन का सर्वस्व भैया उसके ससुराल गया और बहन ने इन पंक्तियों में—

कपड़ा त देख भैया मोर पहिरनवा रे ना।
भैया जैसे सावन के बदरिया रे ना॥

अपने दुखड़े रोये तो भाई ने घर आकर जो दुखद संवाद सुनाया वही ऊपर की दो पंक्तियों में फूट पड़ा है। ससुरार में बहन दुख भोगती नहीं, कष्ट झेलती नहीं, जलती है। उसका जलन साधारण जलन नहीं। वह जलन भाथी की फूँक पर फूँक पड़ने से भभकती-धधकती आग की जलन है। सास की सासत, ननद के व्यंग्य बाण, पति की क्रूरता और रात-दिन के कड़ाचूर कामों में अपने को तिल-तिल कर मर मिटानेवाली बहन का यह जलना नहीं तो क्या है। उसमें भी बेचारी लाड़-प्यार से पली बहन तो लोहे का स्थान ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ है।

यहाँ भाई के साधारण कथन—ससुरार में बहन जल रही है—में जलना की लाक्षणिकता कुछ तीव्रता ला देती है तथापि लोहे के जलने की उपमा ने उस दुःखानुभूति को इतना बढ़ा दिया है कि वह सीमा पार कर गयी है। यहाँ अलंकार वक्तव्य विषय को अत्यन्त प्राञ्जल, प्रभावपूर्ण और मर्मस्पर्शी बना दिया है कि हृदय पर सीधे चोट करता है। मैं तो जब इन पंक्तियों को पढ़ता हूँ, आँखों में आँसू भर आते हैं। अलंकार का यही काम है। नीचे की दो पंक्तियों में भी वही अलंकार है पर उतना प्रभावशाली नहीं है।

रस-सिद्ध कवियों को अलंकारों के लिये प्रयास नहीं करना पड़ता। निरूप्यमाण की कठिनाइयाँ झेलने पर भी प्रतिभाशाली कवियों के समक्ष अलंकार प्रथम स्थान ग्रहण करने को आपा-आपी से 'हम

---

1 रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्॥ ध्वन्यालोक

पहले, हम पहले' कहते हुए से टूटे पड़ते हैं[1]। इस कथन का अभिप्राय यही है कि स्वभावतः जो अलंकार प्रतिभात हों, स्वतः स्फूर्त हों, उन्हीं का निवेश करना चाहिये। कवि जब रससिद्ध होगा तो रस-भाव का तात्पर्य ग्रहण करेगा ही। जब कवि के भाव उच्छ्वसित हो उठते हैं तब नाना भाँति से कवि की रचना में अलंकार फूट पड़ते हैं। अलंकारों के भेद इसी भावाभिव्यक्ति पर निर्भर करते हैं।

इस दशा में कहीं-कहीं कवि रस-भाव से हटता-सा प्रतीत होता है और पाठकों के मन में उद्वेग-सा प्रकट कर देता है। जब 'छाया' की अप्रस्तुत-योजनायें पढ़ने लगते हैं तब मन की कुछ ऐसी ही दशा हो जाती है। आठ पद्यों में 'कुणाल' की तिष्यरक्षिता के वर्णन की ये कुछ पंक्तियाँ हैं—

रागारुण-रंजित ऊषा-सी मृदु मधुर मिलन की संध्या सी,
माधवी, मालती शेफाली बेला सी रजनीगंधा सी,
कुंदन सी कंचन चंपक सी विद्युत् की नूतन रेखा सी,
श्रावण घन के नीलांचल के तट के विशुभ्र अवलेखा सी

इसकी आलोचना अनावश्यक है। इसमें भावों का उच्छ्वास उतना नहीं है जितना कि दूसरों की सी रचना करने की लगन।

एक प्राचीन उदाहरण लें—

जेठ भानु कर से, कपिल कोप लर से हैं,
माल दावानल से, ज्यों गजब गहर से,
काल विकराले से कुमार दामिनी से देव
दारुन कला से, प्रलै सिंधु की लहर से॥
'लछिराम' जालिम जँजीरे जमजाल से ये,
कालदण्ड व्याल से कमालिया कहर से।
कालिका कृपान, मुण्डमाली के त्रिसूल से हैं
रामचन्द्रबान फनमाली के जहर से।

इस मालोपमा से क्या लाभ? न तो इससे भाव को कोई बल मिलता है और न किसी प्रकार की कोई अनुभूति ही होती है। रामबाण-वर्णन में ये खोगीर की भरती से मालूम होते हैं।

अलंकार भाव-भाषा के भूषण हैं। यदि ये घुल-मिलकर भाषा को

---

1 अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेः अंहपूर्विकया परापतन्ति। ध्वन्यालोक

मधुर और झंकृत न बना सके, तथा यदि भावों में सजीवता और प्रभविष्णुता नहीं ला सके तो ऐसे अलंकार प्रयास-साध्य ही समझे जा सकते हैं, उनसे रचना को कोई लाभ नहीं हो सकता। साथ ही यह भी जानना चाहिये कि जहाँ अलंकरणीय रस-भाव का ही अभाव हो वहाँ अलंकार क्या कर सकता[1] है। निष्प्राण शरीर को—मुर्दे को अलंकार पहना दिये जाँय—केवल बाह्य अलंकारों का ही कथन है, काव्य के अलंकार ऐसे नहीं होते—तो अचेतन शवशरीर की क्या शोभा हो सकती है? अलंकार के लिये अलंकार्य शरीर की सप्राणता आवश्यक है। रस-भावहीन रचना अचेतन शवस्वरूप है। उसके लिये अलंकार विडंबना है। एक उदाहरण से समझें—

उन्नत कुच कुंभों को लेकर फिर भी युग-युग की प्यासी सी,
आमरण चरण लुंठित होने वाली प्रेयसि सी, दासी सी,

बनी-ठनी 'तिष्यरक्षिता' 'खिल उठी आज रूपसी मनोरम।' यहाँ उपमा की लड़ी सूखे फूलों की माला सी है। पहली पंक्ति में विरोध से कुछ जान सी आती जान पड़ती है पर कुच कुंभ सरस नहीं, उन्नत ही भर हैं। यदि तिष्यरक्षिता कुच-कुंभों को लेकर युग-युग की प्यासी सी है तो यहाँ उपमान का अभाव हो जाता है और यदि ऐसी कोइ दूसरी है तो ऐसी अप्रस्तुत-योजना तिष्यरक्षिता के भाव की सहायिका नहीं। क्योंकि अशोक के रहते ऐसा नहीं कहा जा सकता। दूसरे चरण की अप्रस्तुत-योजना भी नहीं फबती। क्योंकि तिष्यरक्षिता के भाव कुणाल के प्रति कलंक-स्वरूप है। प्रेयसी और दासी का एक साथ होना, गंगामदार का जोड़ा है। हाँ, भ्रष्टचरित्रा दासी सी वह हो सकती है। किन्तु अन्य दृष्टियों से दासी की उसमें पूर्णता नहीं। पाठक अब स्वयं समझ लें कि यह मुर्दे का सिंगार नहीं तो और क्या है।

यह न समझना चाहिये कि सुन्दर उपमान होने से ही रचना सुन्दर हो जा सकती है। अलंकार की स्वस्थ पृष्ठ भूमि—रस-भाव के बिना उपमान कुछ कर नहीं सकते। रस-भाव अर्थात् अलंकार्य सजीव हो तो भद्दी अप्रस्तुत-योजना भी उसकी शोभावृद्धि कर सकती है। जैसे,

---

१ तथाहि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्।
ध्वन्यालोकलोचन

बेला फूले बन बीच-बीच मानो दही जमायो सींच-सींच।
बहि चलत भयो है मन्द पौन मनु गदहा का छान्यो पैर।
गेंदा फूले जैसे पकौरि। हरिश्चन्द्र

यहाँ के उपमान भद्दे और ग्रामीण कहे जा सकते हैं पर इनके सादृश्य की ओर से आँखें बन्द नहीं की जा सकती हैं। इन अप्रस्तुत-योजनाओं से हास्य रस की पुष्टि होती है।

सारांश यह कि अलंकार के जो कार्य हैं वे यदि उनसे हो सके तभी उनकी सार्थकता है।

पाँचवीं छाया

अलंकार के रूप

अधिकतर अलंकार सादृश्य-मूलक होते हैं। यह सादृश्य दो प्रकार का होता है। एक तो सदृश शब्दों वा सदृश वाक्यों को लेकर अलंकार-योजना की जाती है जो हमारे हृदय को छूती नहीं। यह केवल चमत्कार पैदा करके पाठकों और श्रोताओं को चमत्कृत कर देती है। इससे हमें जो आनन्द होता है वह क्षणिक है। काव्य में इसका उतना महत्त्व नहीं है। जैसे,

गया गया गया।

शब्द एक ही हैं पर तीनों के अर्थ अलग-अलग हैं। वे अर्थ हैं—गया नामक व्यक्ति गया नामक शहर को गया।

जिसकी समानता किसी ने कभी पाई नहीं,
पाई के नहीं हैं अब वे हो लाल माई के।

इसमें 'पाई' का अनुप्रास है जिससे एक का अर्थ पाना और दूसरे का अर्थ पैसा है। इसमें शब्द का अनुप्रास है।

राम हृदय जाके बसैं विपति सुमंगल ताहि।
राम हृदय जाके नहीं विपति सुमंगल ताहि।

इसमें वाक्यों का अनुप्रास है। अन्वय से अर्थ भिन्न हो जाता है।

काव्य में उसी सादृश्य का महत्त्व है जो भावों को उत्तेजना देता है और उसमें तीव्रता लाता है।

स्वरूप-बोध के लिये भी अलंकार-योजना होती है। इस शुष्क

स्वरूप-बोध में भावों की यदि प्राणप्रतिष्ठा हो जाय तो उसकी भी महत्ता कम नहीं होती।

जन्म, मृत्यु और जन्मान्तर से जकड़ा हुआ और अनेक परिवर्तनों का महापात्र आत्मा भी निःसंग आकाश के समान ही निर्विकार है। इस स्वरूप-बोध के लिये यह कैसा सरस वर्णन है।

> वक्ष पर जिसके जल उडुगन बुझा देते असंख्य जीवन,
> कनक और नीलम यानों पर दौड़ते जिस पर निशि-बासर।
> पिघल गिरि से विशाल बादल न कर सकते जिसको चंचल,
> तड़ित की ज्वाला घन गर्जन जगा पाते न एक कंपन,
> उसी नभ सा क्या वह अविकार और परिवर्तन का आधार। महादेवी

साम्य तीन प्रकार का माना गया है। (१) शब्द की समानता, जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है। (२) रूप या आकार की समानता और (३) साधर्म्य अर्थात् गुण या क्रिया की समानता। इन दोनों के अंतरंग में एक प्रभाव-साम्य भी छिपा रहता है। प्रभाव-साम्य पर ध्यान देकर की गयी कविता की महत्ता बढ़ जाती है। वह पाठकों को अत्यन्त प्रभावित करती है। जैसे,

> करतल परस्पर शोक से उनके स्वयं घर्षित हुए,
> तब विस्फुरित होते हुए भुजदण्ड यों दर्शित हुए।
> दो पद्म शुण्डों में लिए दो शुण्ड वाला गज कहीं,
> मर्दन करे उनको परस्पर तो मिले उपमा कहीं। गुप्तजी

इसमें जो सादृश्य है वह आकार का है। इसके भीतर यह प्रभाव भी दर्शित होता है कि शुण्ड समान ही भुजदण्ड भी प्रचण्ड हैं और करतल अरुण और कोमल हैं।

> जिस पर पाले का एक पर्त सा छाया,
> हत जिसकी पंकज पंक्ति अचल सी काया,
> उस सरसी सी आभरण-रहित सितवसना,
> सिहरे प्रभु माँ को देख हुई जड़ रसना। गुप्तजी

इसमें कौशल्या के विधवावेश का चित्रण है। इसमें सादृश्य की योजना बड़ी बारीकी से की गयी है जो हृदय पर असर करती है।

> नवप्रभा-परमोज्ज्वल लीक सी गतिमती कुटिला फणिनी समा।
> दमकती दुरती घन अंक में विपुल केलिकलाखनि दामिनी। हरिऔध

फणिनी—सर्पिणी और दामिनी दोनों का धर्म कुटिल गति है और इन दोनों का आतंक एक-सा प्रभावपूर्ण है।

विमाता बन गयी आँधी भयावह, हुआ चंचल न फिर भी श्यामघन वह।
पिता को देख तापित भूमितल सा, बरसने लग गया वह वाक्य जलसा। सा०

यहाँ के अलंकार की योजना साधर्म्य के बल पर ही की गयी है। महाराज दशरथ के लिये इसका प्रभाव भी असाधारण है।

जिस उपमेय के लिये उपमान या प्रकृत के लिये अप्रकृत अथवा अप्रस्तुत के लिये प्रस्तुत की योजना की जाय उसमें सादृश्य का होना आवश्यक है। सादृश्य ही नहीं, यह भी देखना आवश्यक है कि जिस वस्तु, व्यापार और गुण के सदृश जो वस्तु, व्यापार और गुण लाया जाता है वह उस भाव के अनुकूल है कि नहीं। उससे कवि जैसा रसात्मक अनुभव करे वैसा ही श्रोता भी भावों की रसात्मक अनुभूति करे। अप्रस्तुत भी उसी प्रकार भावों का उत्तेजक हो जैसा कि प्रस्तुत।

सखि! भिखारिणी सी तुम पथ पर फैलाकर अपना अंचल
सूखे पत्तों ही को पा क्या प्रमुदित रहती हो प्रतिपल? पंत

भिखारिणी जैसे रूखा-सूखा पाकर ही सदा प्रसन्न रहती है वैसे ही सूखे पत्ते पाकर ही छाया भी क्या प्रमुदित रहती है। यहाँ का सादृश्य एक-सा भावोत्तेजक है।

कभी-कभी कवि सादृश्य लाने में—अप्रस्तुत की योजना में समानता की उपेक्षा कर देते हैं जिससे रसानुभूति में व्याघात पहुँचता है। जैसे—

अचानक यह स्याही का बूँद लेखनी से गिर कर सुकुमार।
गोल तारा सा नभ से कूद सजनि आया है मेरे पास। पंत

गोलाई का सादृश्य रहने पर भी तारा और बूँद की समता कैसी? नभ से कूद कर आया है तो उसका प्रायः वही आकार-प्रकार होना चाहिये। यह बात ध्यान रखने की है कि किसी बात की न्यूनता या अधिकता दिखाने में ही कवि-कर्म की इतिश्री नहीं समझनी चाहिये।

कहीं-कहीं प्राचीन कवियों ने भी सादृश्य और साधर्म्य की बड़ी उपेक्षा की है। जैसे—

हरि कर राजत माखन रोटी।
मनौ वराह भूधर सह पृथिवी धरी दशनन की कोटी। सूर

उत्प्रेक्षा की पराकाष्ठा है पर सादृश्य की मिट्टी-पलीद है।

> कुन्द कहा, पयवृन्द कहा, अरु चन्द कहा सरजा जस आगे।
> 'भूषन' भानु कृसानु कहाऽब खुमान प्रताप महीतल पागे।
> राम कहा, द्विज राम कहा, बलराम कहा रन में अनुरागे।
> बाज कहा, मृगराज कहा, अति साहस में सिवराज के आगे।

इसमें 'सिवराज' को एक साथ ही मृगराज और बाज कह डालना केवल खटकता ही नहीं, उपहासास्पद भी प्रतीत होता है। माना कि शिवाजी बाज जैसे झपट्टा मारते होंगे पर एक ही व्यक्ति मृगराज होते हुए बाज भी बने तो उसकी हीनता ही द्योतित होगी। ऐसे ही

> सेवहिं लखन वीर रघुवीरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं। तुलसी

यहाँ लक्ष्मण को अविवेकी के साथ की तुलना से सेवा की अधिकता तो प्रकट होती है पर विवेक-शून्य की दृष्टि से लक्ष्मण की अप्रतिष्ठा-सी होती है।

> नयननीलिमा के लघु नभ में अलि किस सुषमा का संसार।
> विरल इन्द्रधनुषी बादल सा बदल रहा निज रूप अपार। पंत

यह 'स्वप्न' शीर्षक कविता का एक पद्य है। आँखों की नीलिमा में स्वप्न इन्द्रधनुषवाले बादल के समान रंग बदलते नहीं आते। स्वप्न प्रत्यक्ष करना नीलिमा का काम नहीं, मानस का है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कवि जब अलंकार या कल्पना के कारण परवश हो जाता है तब अपनी कविता के प्रति सच्चा नहीं रह पाता।

आधुनिक कवि प्रभाव-साम्य के समक्ष सादृश्य और साधर्म्य की अधिकतर उपेक्षा करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्रभाव-साम्य को लेकर की गयी अप्रस्तुत-योजना हृदयग्राही होती है। एक दो उदाहरण लें—

> जल उठा स्नेह दीपक सा नवनीत हृदय था मेरा।
> अब शेष धूम रेखा से चित्रित कर रहा अँधेरा। प्रसाद

(धूम-रेखा = धुंधुली स्मृति, अंधेरा = हृदय का अँधकार) अभिप्राय यह कि मेरा हृदय मक्खन के समान स्निग्ध था जिससे प्रिय का अनुराग दीपक सा जल उठा। अब प्रिय के वियोग में हृदय अंधकारमय हो गया। अब केवल धुँधुली पुरानी स्मृतियाँ ही रह

गयी हैं, जो उसी प्रकार बल खाती हुई उठ रही हैं जैसे बुझे हुए दीपक की धूमरेखा बल खाती हुई उठती है।

यहाँ साम्य का आधार बहुत ही कम है। केवल प्रभाव-साम्य के नाम मात्र का संकेत पाकर अप्रस्तुत की योजना कर दी गयी है।

सुरीले ढीले अधरों बीच अधूरा उसका लचका गान।
विकच बचपन को मन को खींच उचित बन जाता था उपमान। पंत

(इसमें कहा गया है कि उस बालिका का गान ही बाल्यावस्था और उसके भोले मन का उपमान बन जाता था। अर्थात् वह गान स्वत: शैशव और उसकी उमंग ही था। इसमें उपमान और उपमेय के बीच व्यंग्य-व्यञ्जक-भाव का ही सम्बन्ध है। रूप-साम्य कुछ भी नहीं। शुक्ल जी) यह अप्रस्तुत योजना के नये ढंग का उदाहरण है।

यह शैशव का सरल हास है सहसा उर से है आ जाता।
वह ऊषा का नव विकाश है जो रज को है रजत बनाता।
यह लघु लहरों का विकास है कलानाथ जिसमें खिंच आता। पंत

भावार्थ यह कि जिस प्रकार ऊषा के विकास में—अरुणोदय-काल में रज-कण चमक उठते हैं; जिस प्रकार लघु लहरों में चाँद लहराने लगता है उसी प्रकार बाल्यावस्था में बाल-हृदय को सारा संसार सुन्दर, सरल और उमंग भरा दिखाई पड़ता है।

इसमें बहुत ही अर्थगर्भित व्यञ्जक-साम्य है जो लक्षणा के प्रभाव से स्फुटित होता है।

पंतजी की अप्रस्तुत-योजना नवीन ही नहीं, रंगीन भी होते हैं और अपूर्व ही नहीं विचित्र भी। उनमें अलंकार की अस्फुट झाँकी दीख पड़ती है। जैसे,

रूप का राशि राशि वह रास! दृगों की यमुना श्याम,
तुम्हारे स्वर का वेणुविलास हृदय का वृन्दाधाम।
देवि! वह मथुरा का आमोद दैव! ब्रज भर यह विरह विषाद!
आह! वे दिन द्वापर की बात! भूति! भारत को ज्ञात!! पंत

यह प्रभाव-साम्य की महिमा का निदर्शन है।

छठी छाया

अलंकार के कार्य

'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति अलंकार है।' शुक्लजी

इसीके अन्तर्गत प्रभावोत्पादकता और प्रेषणीयता भी आ जाती है। इस प्रकार अलंकारों के दो कार्य हुए—१ पहला है भावों का उत्कर्ष दिखाना तथा २ दूसरा है वस्तुओं के (क) रूपानुभव को (ख) गुणानुभव को और (ग) क्रियानुभव को तीव्र करना।

१ भावों की उत्कर्ष-व्यञ्जना में सहायक अलंकार—

प्रिय पति वह मेरा प्राण-प्यारा कहाँ है ?
दुख-जलनिधि-डूबी का सहारा कहाँ है ?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नेत्र-तारा कहाँ है ? हरिऔध

इसमें प्राण-प्यारा, नेत्रतारा, हृदय हमारा आदि में जो उपमा और रूपक अलंकार आये हैं उनसे यशोदा की विकलता तीव्र से तीव्रतर हो रही है।

तरल मोती से नयन भरे
मानस से ले उठे स्नेह-घन कसक विद्यु-पुलकों के हिमकण
सुधि स्वाती की छाँह पलक की सीपी में उतरे। महादेवी

यहाँ का रूपकालंकार अश्रुओं को वह रूप देता है जिससे हृदय की विह्वलता पराकाष्ठा को पहुँच जाती है।

लिख कर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा !
व्योम-सिन्धु सखि देख, तारक बुद्बुद दे रहा। गुप्तजी

दिनान्त में पश्चिम की ओर ललाई दौड़ जाती है और फिर आकाश में तारे दिखाई पड़ते हैं। दिन का ललाई रूप में लिखित लोहित लेख अंगार सा दाहक है, जो ऊर्मिला की मार्मिक पीड़ा का द्योतन करता है। यहाँ करुण में रूपक भावोत्कर्ष का सहायक है।

कोई प्यारा कुसुम कुम्हला भौन में जो पड़ा हो,
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसे तू।
यों देना ऐ पवन बतला फूल सी एक बाला,
म्लाना हो हो कमल पग को चूमना चाहती है। हरिऔध

यहाँ 'फूल-सी एक बाला' के उपमा अलंकार ने प्रेम-परायण हृदय की उत्कण्ठा के भाव को बड़े ही मनोरम रूप में व्यंजित ही नहीं किया है उसको उत्कृष्ट भी बना दिया है।

२--(क) वस्तुओं के रूप का अनुभव तीव्र कराने में सहायक अलंकार—

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदु अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग। प्रसाद

इसमें 'श्रद्धा' की रूप-ज्वाला उपमा अलंकार से और भी भभक उठी है।

लता भवन ते प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु युग विमल विधु जलद पटल बिलगाइ। तुलसी

लता-भवन से प्रगट होते हुए दोनों भाइयों पर मेघ-पटल से निकलते हुए दो चन्द्रमाओं की उत्प्रेक्षा की गई है। यह अलंकार प्रस्तुत दृश्य के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देता है।

सब ने रानी की ओर अचानक देखा, वैधव्य तुषारावृता यथा विधुलेखा।
बैठी थी अचल तथापि असंख्य-तरंगा, अब वह सिंही थी हहा गोमुखी गंगा। सा०

विधवा रानी तुषारावृत विधुलेखा-सी धुँधली पड़ गयी थी। कहाँ वह सिंही थी और अब कहाँ गोमुखी गंगा।

यहाँ का रूपक-गर्भित उपमा अलंकार रानी की दशा के चित्रण में ऐसा सहायक हुआ है कि भाव उत्कृष्ट ही नहीं सजीव हो उठा है।

धूप और छाया वहाँ खेलती हैं हँसती,
सत्य और माया मानो मुदित हृदय से
खेले जनमानस में धूपछाँह बनके। वियोगी

धूप और छाया के लिये सत्य और माया यथायोग्य प्रति-रूप हैं। माया का प्रभाव जब बढ़ता है तब अन्धकार छा जाता है और सत्य का प्रकाश होते ही माया का आवरण हट जाता है। यहाँ के उत्प्रेक्षालंकार ने हवा से हिलती पत्तियों के कारण कभी छाया का तो कभी प्रकाश का जो आविर्भाव होता है उसके रूप को ऊपर उठा दिया है।

(ख) गुणानुभव को उत्कृष्ट बनानेवाले अलंकार—

सुख भोग खोजने आते सब आये तुम करने सत्य खोज।
जग की मिट्टी के पुतले जन तुम आत्मा के मन के मनोज। पंत

यहाँ का व्यतिरेक अलंकार महात्मा जी के अलौकिक गुणों का अनुभव कराने में सहायक है।

अयोध्या के अजिर को व्योम जानो, उदित जिसमें हुए सुरवैद्य मानो।
कमल दल से बिछाते भूमितल में, गये दोनों विमाता के महल में। सा०

दशरथजी की दु:ख-दशा दूर करने में राम ही एक मात्र सहायक हैं, इसको सुर-वैद्य की उत्प्रेक्षा पुष्ट करती है और कमल-दल की उपमा राम-लक्ष्मण के चरण-कमल की कोमलता, सुन्दरता तथा अरुणिमा के अनुभव को तीव्र बनाती हैं।

संत हृदय नवनीत समाना, कहा कविन पै कहइ न जाना।
निज परिताप द्रवै नवनीता, पर दुख द्रवै सुसंत पुनीता। तुलसी

यहाँ का व्यतिरेकालंकार सुसंत को पृथक् करके उनके गुणों का अनुभव तीव्रता के साथ करा रहा है।

ओ चिन्ता की पहली रेखा अरे विश्व बन की व्याली।
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कम्प सी मतवाली।
हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल लेखा। प्रसाद

इसके रूपक के रूप में अप्रस्तुत-योजना चिन्ता की प्रारम्भिक अवस्था की भीषणता का अनुभव कराने में अत्यन्त सहायक है।

(ग) क्रिया के अनुभव को तीव्र करने में सहायक अलंकार—

उषा सुनहले तीर बरसती जयलक्ष्मी सी उदित हुई।
उधर पराजित काल रात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई। प्रसाद

यहाँ के रूपक और उपमा ऊषा के उदय की तीव्रता का अनुभव कराने में सहायक हैं। सुनहरे तीरों के सामने भला कालरात्रि की बिसात ही क्या, भागकर छिप ही तो गई।

ऊर्मिला भी कुछ लजा कर हँस पड़ी, वह हँसी थी मोतियों की सी लड़ी।

× × ×

दम्पती चौंके, पवन मण्डल हिला, चंचला सी छिटक छूटी ऊर्मिला।

मोतियों की लड़ी-सी जो उपमा है वह हँसने की क्रिया को जैसे तीव्रता प्रदान करती है वैसे ही उज्ज्वलता, दिव्यता और सुन्दरता की अनुभूति की भी वृद्धि करती है।

लक्ष्मण के क्रोड़ से ऊर्मिला के छिटक छूटने की क्रिया में जो तीव्रता है उसको भी चञ्चला की उपमा तीव्रतर कर देती है।

कुछ खुले मुख की सुषमामयी, यह हँसी जननी मनरंजिनी।
लसित यों मुखमंडल पै रही, विकच पंकज ऊपर ज्यों कला। उपा०

यहाँ की उपमा मुख-सौन्दर्य के अनुभव को तीव्र कर रही है।

बाल रजनी-सी अलक थी डोलती भ्रमित सी शशि के बदन के बीच में।
अचल रेखांकित कभी थी कर रही प्रमुखता मुख की सुछवि की काव्य में। पन्त

यहाँ अलक के डोलने की क्रिया को रेखाङ्कित की उत्प्रेक्षा काव्य-सम्पत्ति के साथ अत्यन्त तीव्र कर रही है।

कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोंहि राम। तुलसी

पूर्वार्द्ध की दोनों उपमाएँ राम के प्रिय लगने के अनुभव को तीव्र बना रही हैं।

जहाँ अलंकार इन कार्यों को करने में समर्थ हो वहीं उनकी सार्थकता है। स्वभावत: रचना में जहाँ अलंकार फूट पड़ते हैं वहीं उनका सौन्दर्य निखर आता है और जहाँ उनमें कृत्रिमता आयी वहाँ वे अपना स्वारस्य खो देते हैं। क्योंकि उनमें रसोत्कर्षता नहीं रह जाती।

पन्तजी की आलंकारिक भाषा में अलंकार का यह रूप है—

"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिये नहीं; वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिये, राग की परिपूर्णता के लिये, आवश्यक उपादान हैं; वे वाणी के आचार, व्यवहार और रीतिनीति हैं; पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झंकारें विशेष घटना से टकराकर जैसे फेनाकार हो गयी हों; विशेष भावों के झोंके खाकर बाल लहरियाँ, तरुण तरंगों में फूट गयी हों; कल्पना के विशेष बहाव में पड़ आवर्तों में नृत्य करने लगी हों। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिये बुनी जाती है वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण-जड़ता में बँधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है"। पल्लव की भूमिका

सातवीं छाया

अलंकारों का आडम्बर

प्रारंभ के चार अलंकार भेदोपभेदों में विभक्त होकर आज लग-भग डेढ़ सौ संख्या तक पहुँच चुके हैं। पर यहीं इनकी इतिश्री नहीं होती। भले ही इनके विषय में सभी एकमत न हों, भले ही अनेकों के लक्षणों और उदाहरणों में अनेक स्थानों पर भिन्नता पायी जाय। संख्यावृद्धि की इस होड़ा-होड़ी में अलंकारों का आग्रह इतना बढ़ा कि वे साधन-स्वरूप होकर भी साध्य बन गये। रीतिकाल यही बतलाता है। अलंकार-वादियों ने अलंकार को इतना महत्त्व दिया कि उसे काव्य की आत्मा बना डाला। अलंकार ही को सर्वस्व समझ बैठे।

यह ठीक है कि अलंकारों की कोई संख्या निश्चित नहीं की जा सकती, किन्तु संख्यावृद्धि का यह भी उद्देश्य न होना चाहिये कि अलंकार का अलंकारत्व ही नष्ट हो जाय; वह अपने उद्देश्य से ही च्युत हो जाय। इसी कारण साधारण अलंकारिकों की कौन कहे, आचार्यों के भी अनेकों अलंकार पुस्तकों में ही पड़े रह गये। जैसे कि रुद्रट के जाति, भाव, अवसर, मत, पूर्व आदि अलंकार। निरर्थक अलंकारों के नमूने देखें।

१ आठ प्रकार के 'प्रमाण' अलंकारों में एक संभव भी है। यह वहाँ होता है जहाँ किसी बात का होना संभव हो। जैसे,

सुनी न देखी तुव सरिस हे वृषभानु कुमारि।
जानत हौं कहुँ होयगी विपुला धरणि बिचारि॥

इसमें राधा सी नायिका के पृथ्वी पर कहीं न कहीं होने की संभावना की गयी है। इसमें अलंकार की क्या बात है? संभावना से कोई चमत्कार तो इसमें आता नहीं, बल्कि राधा की सी नायिका के होने की संभावना करके उसके सौन्दर्य के महत्त्व का ह्रास ही कर दिया गया है।

२ इसका भाई एक संभावना अलंकार भी है। 'यदि ऐसा होता तो ऐसा होता', यही इसका लक्षण है। जैसे,

उगै जो कातिक अंत की छनदा छाड़ि कलंक।
तो कहुँ तेरे वदन की समता लहै मयंक॥

इसमें वही बात है जो कहना चाहते हैं। वाच्यार्थ में कोई

चमत्कार नहीं है। इनमें यह भेद भी दिखा दिया गया है कि पहले में निश्चय नहीं रहता और इसमें रहता है।

३ असंभव भी इसीके आगे-पीछे है।

को जाने था गोप सुत गिरि धारैगो आज।

यहाँ 'को जानै था' वाक्यांश असंभवता सूचित करता है। यहाँ भी कुछ चमत्कार नहीं है। संभव-असंभव की बात कहना अलंकार-कोटि में नहीं आ सकता।

४ एक भाविक अलंकार है जिसमें भूत और भविष्य के भावों का वर्तमान में वर्णन किया जाता है। जैसे,

अवलोकते ही हरि सहित अपने समक्ष उन्हें खड़े,
फिर धर्मराज विषाद से विचलित उसी क्षण हो गये।
वे यत्न से रोके हुए शोकाश्रु फिर गिरने लगे
फिर दुःख के वे दृश्य उनकी दृष्टि में फिरने लगे। गुप्तजी

यहाँ भूतकालिक दुःख का प्रत्यक्ष की भाँति वर्णन किया गया है। इसमें अलंकार के लिये क्या रक्खा है? अनुभूत भूतकालिक भाव का कारण-विशेष से जाग्रत होना ही तो है। इसमें चमत्कार क्या है? भाविक अलंकार से इसकी क्या विभूति बढ़ती है?

५ तद्गुण अलंकार का तमाशा देखिये—

लखत नीलमनि होत अलि कर विद्रुम दिखरात।
मुकता को मुकुता बहुरि लख्यो तोहि मुसुकात॥

मोती को जब देखती है तब नीलमनि, हाथ में लेती है तब मूँगा और जब हँसती है तब फिर मोती हो जाता है।

दूसरे के गुण ग्रहण करने के कारण तद्गुण अलंकार माना गया है पर बाल की खाल निकालनेवाले कुवलयानन्दकार मोती के फिर श्वेत होने के कारण पूर्वरूप अलंकार मानते हैं।

इस वर्णन में अतिशयोक्ति कुछ मात्रा में है पर भाव में तीव्रता कहाँ आती है? एक तमाशा खड़ा किया गया है। इस तमाशे को अतद्गुण और अनुगुण भेद करके और खेलवाड़ बना दिया गया है।

ऐसे अलंकारों पर ध्यान देने से यह कहना कुछ संगत-सा प्रतीत होता है कि अलंकार की सार्थकता पृथक् रूप से रहकर ही भाव को तीव्र बनाने में है। पर यह इसीसे मान्य नहीं हो सकता। पृथक्

न रहकर भी अलंकार भावोत्तेजन में योग दे सकते हैं। एक उदाहरण लें—

> सुनहु श्याम ब्रज में जगी दसम दसा की जोति।
> जँह मुँदरी अँगुरीन की कर में ढीली होति॥

यहाँ अल्प अलंकार है। छोटे आधेय की अपेक्षा बड़े आधार का भी छोटा वर्णन किया गया है। इसमें अतिशयोक्ति है, चमत्कार भी है। उक्तिवैचित्र्य भी है। इससे विरह-दशा की प्रेषणीयता बढ़ जाती है।

दूसरी बात यह कि पृथक् रूप से भावोत्तेजन का सिद्धान्त ग्रहण करने से अलंकार शास्त्र पर ही हड़ताल फिर जायगी। किन्तु इससे अलंकारों का अनावश्यक विस्तार का भी समर्थन नहीं किया जा सकता।

आठवीं छाया

अलंकारों की अनन्तता और वर्गीकरण

अलंकारों की कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती और न कोई उसकी संख्या ही निर्धारित की जा सकती। प्रतिभा ईश्वरीय देन है। उसके अनन्त प्रकार हैं[1], उसके स्फुरण की इयत्ता नहीं। इससे अलंकार भी अनन्त[2] हैं।

दण्डी ने लिखा है अलंकारों की आज भी सृष्टि हो रही है। अतः संपूर्णतः कौन उनकी गणना कर सकता है[3]। अलंकार के लक्षण में ध्वनिकार के इस मत का उल्लेख किया गया है कि वाग्विकल्प—कथन के प्रकार अनन्त हैं और वे ही अलंकार हैं। इसीको रुद्रट स्पष्ट करते हैं कि हृदयाह्लादक जितने अर्थ हैं वे सभी अलंकार[4] हैं। इससे अब निःसन्देह कहा जा सकता है कि अलंकार काव्य का सौंदर्य हैं।

रुद्रट ने अर्थालंकारों को चार वर्गों में बाँटा है—वास्तव, औपम्य,

---

१ प्रतिभानन्त्यात्। लोचन

२ अलंकाराणाम् अनन्तत्वात्। ध्वन्यालोक

३ ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति। काव्यादर्श

४ ततो यावन्तो हृदयावर्जका अर्थप्रकाराः तावन्तः अलंकाराः। काव्यालंकार

अतिशय और श्लेष। अभिप्राय यह कि इन्हीं चारों भेदों के द्वारा अर्थ विभूषित होता है। इन्हीं के भेद अन्य सभी अलंकार[1] हैं।

वस्तु के स्वरूप का कथन वास्तव है। इसमें व्यतिरेक, विषम, पर्याय आदि अलंकार आते हैं। जहाँ प्रस्तुत वस्तु की तुलना के लिये अप्रस्तुत-योजना होती है वहाँ औपम्य होता है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकार इसके अन्तर्गत हैं। जहाँ अर्थ और धम के नियमों का विपर्यय हो वहाँ अतिशय होता है। इसमें विषम, विरोध, असंगति, विभावना आदि अलंकार आते हैं। जहाँ वाक्य अनेकार्थ हों वहाँ श्लेष होता है। इसमें व्याजोक्ति, विरोधाभास आदि अलंकार आते हैं।

इसी प्रकार विद्यानाथ ने भी चार भेद किये हैं—१ वस्तु प्रतीति-वाले २ औपम्य प्रतीतिवाले ३ रस-भाव प्रतीतिवाले और ४ अस्फुट प्रतीतिवाले[2]। पहले में समासोक्ति, आक्षेप, आदि; दूसरे में रूपक, उत्प्रेक्षा आदि; तीसरे में रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वित् आदि और चौथे में उपमा, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार आते हैं।

राजानक रुय्यक ने अलंकारों को सात वर्गों में विभक्त किया है जो इस प्रकार हैं—१ सादृश्यगर्भ २ विरोधगर्भ ३ शृङ्खलाबद्ध ४ तर्कन्यायमूल ५ वाक्यन्यायमूल ६ लोकन्यायमूल और ७ गूढ़ार्थप्रतीतिमूल। इनके भी अवान्तर भेद हैं जिनके भीतर अन्य अलंकार आते हैं। एकावली में विद्याधर ने भी इन्हीं का अनुकरण करके वर्गीकरण किया है।

(१) सादृश्यगर्भ या औपम्यगर्भ में २८ अलंकार आते हैं। १ भेदाभेद-तुल्यप्रधान ४ हैं—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण। २ अभेद-प्रधान ८ हैं (क) आरोपमूल ६ हैं—रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख और अपह्नुति (ख) अध्यवसायमूल २ हैं—उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति। ३ गम्यमान औपम्य १७ हैं—(क) पदार्थगत २ हैं—तुल्ययोगिता और दीपक। (ख) वाक्यार्थगत ३ हैं—प्रति-वस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना। (ग) भेदप्रधान २ हैं—व्यतिरेक,

---

१ अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषाः अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः। काव्यालंकार

२ केचित्प्रतीयमानवस्तवः, केचित्प्रतीयमानौपम्याः,
केचित्प्रतीयमानरसभावादयः, केचिदस्फुटप्रतीयमानाः। प्रतापरुद्रीय

और सहोक्ति। (घ) विशेषण-वैचित्र्यवाले २ हैं—समासोक्ति और परिकर। (ङ) विशेषण-विशेष्य-वैचित्र्य का १ श्लेष है। शेष ६ हैं विनोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति और आक्षेप।

(२) विरोधमूल १२ अलंकार हैं—विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति (कार्यकारण-पौर्वापर्य) असंगति और विषम।

(३) शृङ्खलाबद्ध ४ अलंकार हैं—कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार।

(४) तर्कन्यायमूल २ अलंकार हैं—काव्यलिङ्ग और अनुमान।

(५) वाक्यन्यायमूल ८ अलंकार हैं—यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय और समाधि।

(६) लोकन्यायमूल ८ अलंकार हैं—प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर, प्रश्नोत्तर।

(७) गूढ़ार्थप्रतीतिमूल ७ अलंकार हैं—सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, संसृष्टि और संकर।

विद्यानाथ ने अर्थालंकारों को नौ भागों में विभक्त किया है। वे हैं—साधर्म्यमूल, अध्यवसायमूल, विरोधमूल, वाक्यन्यायमूल, लोकव्यवहारमूल, तर्कन्यायमूल, शृङ्खलाँ-वैचित्र्यमूल, अपह्नवमूल और विशेषणवैचित्र्यमूल।

इन वर्गीकरणों में आचार्यों का मतभेद है। कारण यह कि उनका दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह वर्गीकरण वैज्ञानिक है। क्योंकि इनमें एकसूत्रता है। विशुद्ध मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण हो सकता है पर वह काव्य में विशेषतः सहायक न होने के कारण उपेक्षणीय नहीं तो आवश्यक भी नहीं है।

नवीं छाया

अलंकार और मनोविज्ञान

अधिकांश अलंकार मनोविज्ञान पर निर्भर करते हैं। क्योंकि वे रस-भाव के सहायक हैं; उनके प्रभावोत्पादन में समर्थ हैं। रस-भाव का मन से गहरा सम्बन्ध है। 'रस और मनोविज्ञान' शीर्षक में

इसका विवेचन हो चुका है। अलंकार का जो वर्गीकरण किया गया है उसमें मनोवैज्ञानिक आधार विद्यमान है, चाहे उसमें मतभेद हो, या यथार्थता की कुछ कमी हो।

मनुष्य स्वभावतः सौन्दर्यप्रिय होता है। यह सौन्दर्यप्रियता शिशुकाल से ही लक्षित होती है। बच्चे रंगदार चीजों को झपटकर उठा लेते हैं। रंगीन चटक-मटक के खिलौने तो छोड़ना ही नहीं चाहते। बालक रंगदार कपड़े पहनना पसंद करते हैं। किशोरों, तरुणों और युवकों की तो कोई बात न पूछिये। उनका तो घर-कमरा, कपड़ा-लत्ता, खान-पान यान-वाहन सब कुछ सुन्दर चाहिये। पढ़ने-लिखने की बातों में भी सुन्दरता चाहिये। यह साहित्यिक सुन्दरता है जो केवल उन्हींको नहीं, सभी को प्रिय है। उसकी प्राप्ति काव्य से ही होती है। फिर क्यों न कवि अपनी रचना को साज-सँवार करके, सुन्दर बना करके संसार के सामने रक्खे जिससे वह सभी को पसंद हो, सभी उसका समादर करें और कवि की सुयशपताका उड़े। इस सौन्दर्य-सम्पादन में अलंकार का भी बहुत बड़ा हाथ है। इससे सिद्ध है कि अलंकार का मनोविज्ञान से घना संबंध है।

आचार्यों ने जो अलंकारों का वर्गीकरण किया है उसमें मनोवैज्ञानिक तत्त्व पाये जाते हैं। विद्याधर और विद्यानाथ उन कुछ अलंकारों के वर्गीकरण में एकमत हैं जो सादृश्यमूलक, विरोधमूलक आदि हैं। किन्तु यह वर्गीकरण, यथार्थ नहीं है। एकावली के टीकाकार मल्लिनाथ के सुपुत्र ने 'विनोक्ति' को 'गम्यौपम्य' के अन्तर्गत माना है पर कठिनता से उसमें इसका अन्तर्भाव हो सकता है। विद्यानाथ ने इसे लोक-व्यवहार-मूल के भेद में रक्खा है जो यथार्थ है। सम विरोध-गर्भ नहीं है। यह विषम के ठीक विपरीत है। विद्यानाथ ने इसे भी लोकव्यवहारमूल में ही रक्खा है। ऐसे ही अन्य कई अलंकार भी हैं। इस प्रकार का वर्गीकरण यथार्थ मनोवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इसमें बाह्य रूपों का भी मिश्रण पाया जाता है। किन्तु इसी बात से अलंकारों की मनोवैज्ञानिकता लुप्त नहीं हो जाती।

एक सादृश्य को ही लीजिये। एक देहाती भी लाल को अधिक लाल बताने की कोशिश में कहता है—आँखें 'ईंगुर का ठोप' हो गयी

हैं या वे एकरंगे-सी लाल हैं। इसमें उसकी यही मनोवृत्ति काम कर रही है कि सभी आँखों के अधिक लाल होने की बात समझ लें।

सभी सहृदय एक से नहीं होते। भावार्थ यह कि सभी की हृदय-वृत्तियाँ एक-सी नहीं होतीं। कोई कुछ पसंद करता है, कोई कुछ। सादृश्य में ऐसी मनोवृत्तियाँ प्रत्यक्ष दीख पड़ती हैं। कोई चन्द्रमा-सा (उपमा) मुख कहता है, कोई चन्द्रमुख (रूपक)। ऐसे ही कोई 'मुख' मानो चन्द्रमा ही है (उत्प्रेक्षा), कोई 'मुख' एक दूसरा चन्द्रमा है (अतिशयोक्ति), कोई यह उसका मुख है या चन्द्रमा (संदेह), कोई 'चन्द्रमा उसके मुख के समान है' (प्रतीप), और कोई 'यह चन्द्रमा है उसका मुख नहीं, (अपह्नुति) कहता है। ऐसे सादृश्य पर निर्भर अनेकों अलंकार हैं। भले ही इसे बाल की खाल निकालना कहा जाय पर अपनी-अपनी पसंद ही तो है। ऐसी मनोवृत्तियों को बुद्धि-बल का सहारा मिलता है।

भ्रान्तिमान् भी सादृश्यमूल अलंकार है। 'बलदेव सड़क पर पड़ी हुई रस्सी को साँप समझकर भय से उछल पड़ा' इस वाक्य में भ्रमालंकार मानते हुए शुक्लजी अपना विचार यों प्रकट करते हैं—अब थोड़ी देर के लिये मनोविज्ञान को भी साथ में ले लीजिये। यदि बलदेव को मालूम हो जाता कि सड़क पर पड़ी हुई रस्सी ही है, साँप नहीं, तो उसे भय नहीं होता। वह जानबूझकर नहीं उछलता। उसे साँप का वास्तविक भय हुआ था। यदि उसे यह बात मालूम रहती कि उसके उछलने से ही यहाँ भ्रमालंकार हो जाता है तो उसका भाव सत्य और विश्वसनीय न होता। उसका भय कल्पित नहीं वास्तविक है।

यदि इस उदाहरण पर विचार किया जाय तो बड़ा विस्तार हो जायगा। 'रज्जौ यथाहेर्भ्रमः' यह एक दार्शनिक उदाहरण है। इसमें भ्रम की बात स्पष्ट है। भ्रम के स्थान में ही भ्रान्तिमान होता है। उक्त उदाहरण में भ्रान्ति-मूलक ही भय है। वस्तु की ओर से वास्तविकता रस्सी की है और भ्रामकता उसी में है। उछलना भय का व्यापार है, भ्रान्ति का नहीं। भ्रान्ति के उदाहरण अनेकों प्रकार के हैं जिनमें अलंकारों के प्राण चमत्कार हैं।

नाक का मोती अधर की कान्ति से बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से।
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है सोचता है अन्य शुक यह कौन है? सा०

नाक के लाल बने मोती को अनारदाना समझकर शुक को यह सोच समा गया है कि यह दूसरा शुक कहाँ से आ गया। इसने नासिका को शुकचंचु समझ लिया है जो दाड़िम खा रहा है। यहाँ तो उछलना-कूदना नहीं, चमत्कार-प्राण भ्रान्ति ही है।

यदि कसाई को क्रूर, सज्जन को देवता या सरल वचनों को फूल झड़ना या कटु वचनों को आग उगलना कहते हैं तो उसके अन्तर में सादृश्य की ही मनोवृत्ति काम करती है। क्रूरता तथा सज्जनता का अतिरेक और सरलता तथा कटुता की अतिशयता ही वक्ता के हृदय में लक्षणा के ऐसे स्वरूप खड़ा करने को विवश कर देती है। इस प्रकार की उक्तियाँ प्रेषणीयता की—दूसरे को अनुभव कराने की शक्ति ला देती हैं और काव्य का आकार धारण कर लेती हैं। यहाँ पर हम क्रोचे के 'उक्ति ही काव्य है' इस कथन को मान लेते हैं। हमारे मानने का कारण लक्षणामूलक अविवक्षित वाच्य ध्वनि है।

विरोधमूलक अलंकारों में भी मनोवैज्ञानिकता है। क्योंकि इनके वैचित्र्य से मन में एक प्रकार का कुतूहल उत्पन्न होता है। इससे मनके किल्विष दूर हो जाते हैं, उसका भार हल्का हो जाता है। विरोध-मूलक अलंकार विरोधाभास, विषम, विशेषोक्ति, असंगति, विशेष, विचित्र, व्याघात आदि कई हैं जिनका पता आगे के वर्णन से लग जायगा।

एक उदाहरण लें—

पी ली मधुमदिरा किसने थीं बंद हमारी पलकें।

जब यहाँ कारण-कार्य की असंगति देख पड़ती है तब मन एक प्रकार से विस्मय-विमुग्ध हो उठता है।

जो लोग स्मरण आदि को एक कल्पित भाव-साहचर्य शीर्षक के भीतर रखते हैं उनको इसपर और विचार करना चाहिये। जब हम 'चंद्रमा को देखकर उसके मुख की याद आती है' कहते हैं तब सादृश्य ही हमारे सामने रहता है और इसकी गणना सादृश्य-मूल अलंकारों में ही होती है।

ऐसे ही बौद्धिक शृङ्खला की बात कहना भी बुद्धि की अजीर्णता है। आचार्यों का शृङ्खला-मूलक एक भेद तो है ही जिसमें सार आदि अलंकारों की गणना होती है।

स्मरण, भ्रम, संदेह, प्रहर्षण, विषाद, तिरस्कार आदि ऐसे कई अलंकार है जिनका सम्बन्ध सीधे मन से है।

यदि चमत्कार को ही अलंकार के प्राण मान लें और जहाँ चमत्कार अलंकारों में उपलब्ध हों वहाँ मन का सम्बन्ध आप ही आप हो उठता है। क्योंकि चमत्कृत मन ही होता है। इस प्रकार प्रायः सभी अलंकारों के साथ मनोविज्ञान का सम्बन्ध अपरिहार्य हो जाता है।

दसवीं छाया

शब्दार्थोभयालङ्कार

अलंकार नियमतः शब्द में, अर्थ में, और शब्द तथा अर्थ, दोनों में रहने के कारण शब्दगत, अर्थगत और उभयगत होते हैं।

अलंकारों का शब्दगत और अर्थगत विभाग अन्वय और व्यतिरेक पर निर्भर[1] है। जिसके रहने पर जो रहे वह अन्वय है। जैसे, जहाँ जहाँ धुँआ रहता है वहाँ-वहाँ आग भी रहती है। जिसके अभाव में जिसका अभाव हो वहाँ व्यतिरेक होता है। जैसे, जहाँ-जहाँ आग नहीं होती वहाँ-वहाँ धुँआ भी नहीं होता[2]। इसी प्रकार जो अलंकार जिस किसी विशेष शब्द के रहने पर ही रहे वह शब्दालंकार है और जिन शब्दों के द्वारा जो अलंकार सिद्ध होता है वह अलंकार शब्द-परिवर्तन से भी ज्यों का त्यों बना रहे वह अर्थालङ्कार होता है। अतः जिस अलंकार के साथ जिस शब्द या अर्थ का अन्वय या व्यतिरेक हो वही उस अलंकार के नामकरण का कारण होगा।

सारांश यह कि शब्द को चमत्कृत करनेवाले शब्दाश्रित अलंकार शब्दालंकार और अर्थ को चमत्कृत करनेवाले अर्थाश्रित अलंकार अर्थालंकार कहे जाते हैं। इनको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि अर्थ निरपेक्ष वर्णनिर्भर अलंकार शब्दालंकार और शब्दनिरपेक्ष अर्थनिर्भर अलंकार अर्थालंकार कहे जाते हैं।

---

१ इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः
स अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते। काव्यप्रकाश

२ यत्सत्वे यत्सत्वमन्वयः यदभावे यदभावो व्यतिरेकः। मुक्तावली

उभयालंकार के लिये यह कहा जा सकता है कि जो अलंकार शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित रहकर दोनों को चमत्कृत करते हैं वे उभयालङ्कार कहे जाते हैं। इसको यों भी कहा जा सकता है कि समान बल से शब्द और अर्थ पर निर्भर रहनेवाले अलंकार उभयालङ्कार कहे जाते हैं। शब्दपरिवर्तन के रूप में इसका लक्षण यों कहा जा सकता है कि जहाँ किसी शब्द का परिवर्तन कर देने से अलंकार ज्यों का त्यों बना रहे और किसी शब्द का परिवर्तन कर देने से अलंकारता नष्ट हो जाय वहाँ उभयालंकार होता[1] है। सारांश यह कि किसी शब्द के बदलने और किसी शब्द के न बदलने पर भी अलंकारत्व बना रहना ही उभयालंकारता है।

एक उदाहरण से समझें—

तलमध्य अनल-स्फोट से भूकंप होता है जहाँ
होते विकंपित से नहीं क्या अचल भूधर भी वहाँ?

यहाँ अचल—भूधर पुनरुक्त से मालूम पड़ते हैं। पर इनका अर्थ है डगमग न होनेवाला पर्वत। यह पुनरुक्तवदाभास अलंकार शब्द और अर्थ, दोनों को चमत्कृत करता है और दोनों पर निर्भर है। यहाँ अचल नहीं बदला जा सकता और भूधर बदला जा सकता है। क्योंकि अचल के स्थान पर अडिग रख देने से पुनरुक्ति नष्ट हो जाती है और भूधर के स्थान पर पर्वत रख देने से पुनरुक्ति बनी रहती है।

इसी प्रकार यमक, श्लेष, काकुवक्रोक्ति, आवृत्तिदीपक, निरुक्ति, परंपरित रूपक आदि शब्दार्थालंकार उभयालंकार के अन्तर्गत आते हैं। क्योंकि इनमें शब्द और अर्थ की तुल्यबलता मान्य है।

हिन्दी के आचार्यों ने संकर, संसृष्टि और उभयालंकार को ठीक से समझा नहीं है। देखिये एक आचार्य क्या कहते हैं—

भूषन इक तें अधिक जँह सो उभयालंकार।

—अलंकारमंजूषा

एक से अधिक अलंकार होने से उभयालंकार होता है। यदि एकाधिक शब्दालंकार ही हों या अर्थालंकार ही हों—तो उभयालंकार कैसे हो सकता है? संकर, संसृष्टि भले ही हों। इस प्रकार उभयालंकार को समझने की चेष्टा नहीं की गयी है।

---

१ इति शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यामस्योभयालङ्कारत्वम्। साहित्यदर्पण

संभवतः यह भ्रम मम्मट की इस उक्ति से—'एक ही विषय में दोनों शब्दार्थालंकार स्फुट हों[1]—फैला हो। यहाँ 'दोनों' शब्द भ्रामक है। पर यहाँ तो उभयालंकार का विषय ही नहीं। अन्य प्रकार के संकरालंकार की बात कही गयी है। फिर भी दीनजी ने शब्द और अर्थ, दोनों को एक साथ देखते हुए भी शब्द+शब्द और अर्थ+अर्थ को उभयालंकार कैसे मान लिया?

उभयालंकार होते हुए भी शब्दालंकारों में पुनरुक्तवदाभास, यमक आदि को शब्दालंकार में क्यों दिया? कारण यह कि इनमें जिसकी प्रधानता होती है, जिसमें अधिक चमत्कार होता है उसके नाम से वह उक्त होता है। जैसे, शब्दार्थोभयगत पुनरुक्तवदाभास और परंपरित रूपक। ये दोनों उभयालंकार हैं किन्तु शब्द-चमत्कार होने के कारण पहले को शब्दालंकारों और दूसरे को अर्थालंकारों में रख दिया। ऐसी स्थिति में वस्तुस्थिति की उपेक्षा कर दी जाती है। यह परंपरापालन ही है, जैसा कि दर्पणकार कहते हैं—प्राचीनों ने एक शब्दार्थालंकार अर्थात् उभयालंकार पुनरुक्तवदाभास को भी शब्दालंकारों में गिना दिया है, अतः उसे ही पहले कहते[2] हैं।

---

१ स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम्।
व्यवस्थितञ्च, तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्तितः॥ काव्यप्रकाश

२ शब्दार्थालंकारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरन्तनैः
शब्दालंकारमध्ये लक्षितत्वात् प्रथमं तमेवाह। साहित्यदर्पण

बारहवाँ प्रकाश

अलङ्कार

पहली छाया

शब्दालंकार

(Figure of speech in words)

अनुप्रास

शब्द के रूप हैं—ध्वनि (Sound) और अर्थ (Sense). ध्वनि को लेकर शब्दालंकार की सृष्टि होती है। यह काव्य का एक संगीत धर्म है। अर्थ को लेकर अर्थालंकार की सृष्टि होती है। यह काव्य का चित्र-धर्म है। इनके आधार पर प्रधानतः अलङ्कार के दो भेद हैं—शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार। जहाँ दोनों अलङ्कार होते हैं वहाँ उभयालङ्कार होता है।

शब्दों के कारण जहाँ चमत्कार हो वहाँ शब्दालङ्कार होता है। शब्दालङ्कार नाम पड़ने का कारण यह है कि जिस शब्द वा जिन शब्दों द्वारा चमत्कार पैदा होता है, तदर्थ-वाचक भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा वह चमत्कार रहने नहीं पाता। ऐसे अलंकार शब्दाश्रित होते हैं, अर्थाश्रित नहीं।

कुछ शब्दालङ्कार वर्णगत, कुछ शब्दगत और कुछ वाक्यगत होते हैं। छेकानुप्रास आदि शब्दगत और लाटानुप्रास आदि वाक्यगत होते हैं।

शब्दालङ्कार अनेक प्रकार के हैं। उनके मुख्य भेदों का यहाँ वर्णन किया जाता है।

१ अनुप्रास (Alliteration)

जहाँ व्यंजनों की समता हो वहाँ अनुप्रास होता है।

स्वर की विषमता में भी अनुप्रास होता है। इसके पाँच भेद होते

हैं—(१) छेकानुप्रास (२) वृत्त्यनुप्रास (३) श्रुत्यानुप्रास (४) लाटानुप्रास और (५) अन्त्यानुप्रास।

(१) जहाँ अनेक वर्णों की एक बार समता हो वहाँ छेकानुप्रास होता है। जैसे,

लपट से झट रूख जले-जले नदनदी घट सूख चले-चले
विकल ये मृग मीन मरे-मरे विकल ये दृग दीन भरे-भरे। **गुप्तजी**

इसमें पट-झट में 'ट' की, नद-नदी में 'द' की, मृग-मीन में 'म' की और दृग-दीन में 'द' की एक-एक बार आवृत्ति है।

मुक्ति मुकता को मोल माल ही कहाँ है जब
मोहन लला पै मन मानिक ही वार चुकी। **रतनाकर**

इसमें मुक्ति और मुकता में 'म' और 'क' की, मोल और माला में 'म' और 'ल' की, और मन-मानिक में 'म' और 'न' की समता है।

इसमें यदि देखा जाय तो 'म' की कई बार आवृत्ति है पर छेकानुप्रास ही है। क्योंकि एक तो एक संग दो-दो वर्णों की समता है और दूसरे पृथक्-पृथक् शब्दों को लेकर समता है। इससे अनेक बार की आवृत्ति की शंका मिथ्या है।

कुन्द इन्दु सम देह उमा रमण करुणा अयन।
जाहि दीन पर नेह करहु कृपा मर्दन मयन। **तुलसी**

यहाँ कुन्द-इन्दु में 'न्द' की रमण-करुणा में 'र' 'ण' की और करहु कृपा में 'क' की, मर्दन-मयन में 'म' 'न' की एक बार समानता है।

(२) जहाँ वृत्तिगत अनेक वर्णों या एक वर्णों की अनेक बार समता हो वहाँ वृत्त्यनुप्रास होता है।

भिन्न-भिन्न रसों के वर्णन में भिन्न-भिन्न वर्णों की रचना को वृत्ति कहते हैं।

वृत्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला।

१ माधुर्यगुण व्यंजक, ट ठ ड ढ को छोड़कर वर्णों की तथा सानुस्वार वर्णों की रचना को उपनागरिका वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति शृङ्गार, हास्य और करुण रस में प्रयुक्त होती है।

(क) तरणि के ही संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में। **पंत**

(ख) रघुनंद आनँद कंद कोशल-
चन्द दशरथ नन्दनं। तुलसी

(ग) रस सिंगार मज्जन किये कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनुहू बिना खंजन भंजनु नैन। बिहारी

२ ओज गुण-व्यंजक वर्णों की रचना को परुषा वृत्ति कहते हैं। इसमें ट, ठ, ड, ढ, द्वित्व वर्ण तथा संयुक्त वर्णों की अधिकता रहती है। इसका प्रयोग वीर, रौद्र और भयानक रसों में होता है।

निकला पड़ता वक्ष फोड़कर वीर हृदय था।
उधर धरातल छोड़ आज उड़ता सा हय था।
जैसा उनके क्षुब्ध हृदय में धड़ धड़ धड़ था।
वैसा ही उस वाजि-वेग में पड़ पड़ पड़ था।
फड़फड़ करने लगे जाग पेड़ों पर पक्षी
अपलक था आकाश चपल वल्गित-गति-लक्षी। गुप्तजी

३ जहाँ माधुर्य, ओज गुणवाले वर्णों से भिन्न प्रसाद गुणवाले वर्ण हों वहाँ कोमला वृत्ति होती है। इसका उपयोग शृङ्गार, शान्त और अद्भुत रस में होता है।

(क) नव-नव सुमनों से चुनकर धूलि सुरभि मधुरस हिमकण
मेरे उर की मृदु कलिका में भर दे कर दे विकसित मन। पंत

(ख) जोन्ह ते खाली छपाकर भो छन में छनदा अब चाहत चाली।
कूजि उठी चटकाली चहूँ दिशि फैल गयी नभ ऊपर लाली।
साली वियोग बिथा उर में निपटै निठुराई गहे बनमाली।
आली कहा कहिये कवि 'तोष' कहूँ प्रिय प्रीति नयी प्रतिपाली।

(३) श्रुत्यनुप्रास वहाँ होता है जहाँ कण्ठ, तालु आदि किसी एक ही स्थान से उच्चरित होनेवाले वर्णों में समानता पायी जाय। जैसे,

किस तपोवन से किस काल में सच बता मुरली कल नादिनी।
अवनि में तुझ को इतनी मिली मधुरता, मृदुता, मनहारिता। हरिऔध

अन्तिम चरण में दन्त्य वर्णों की समता है।

झाँक न झंझा के झोंके में झुक कर खुले झरोखे से। गुप्तजी

झकार का तालुस्थान होने से यह श्रुत्यनुप्रास है।

(४) लाटानुप्रास वहाँ होता है जहाँ शब्द और अर्थ की आवृत्ति में अभिप्राय मात्र की भिन्नता होती है।

काल करत कलिकाल में नहि तुरकन को काल।
काल करत तुरकान को सिव सरजा करवाल। भूषण

इसमें 'काल करत' शब्दार्थ की आवृत्ति है। तात्पर्य में भेद है।

पराधीन को है नहीं स्वाभिमान सुख स्वप्न।
पराधीन जो है नहीं स्वाभिमान सुख स्वप्न।

पराधीन व्यक्ति को स्वाभिमान का सुख स्वप्न नहीं है और स्वतंत्र व्यक्ति को, जो पराधीन नहीं है, स्वाभिमान का सुख-स्वप्न है अर्थात् उसका सुख उसे प्राप्त है। यहाँ वाक्यावृत्ति में तात्पर्य का भेद है।

(५) छन्द के अन्त में जब अनुप्रास होता है तब अन्त्यानुप्रास कहलाता है।

इसके अनेक भेद होते हैं—१ सर्वान्त्य सवैया में होता है, २ समान्त्य-विषमान्त्य, सोरठा के पहले, तीसरे और दूसरे चौथे चरणों में होता है, ३ समान्त्य समान चरणों में होता है। ४ विषमान्त्य विषम चरणों में होता है, ५ समविषमान्त्य, चौपाई में होता है। और ६ भिन्न तुकान्त में तुक की परवाह नहीं की जाती। सारा प्रिय-प्रवास भिन्नतुकान्त वा भिन्नान्त्य या अतुकान्त ही है। नवीन कवि अनुप्रास वा तुक को अपने लिये बन्धन समझते हैं। उदाहरण सर्वत्र उपलब्ध हैं।

२ यमक (Repetition of same words or syllables similar in sounds.)

जहाँ निरर्थक वर्णों वा भिन्नार्थक सार्थक वर्णों की पुनरावृत्ति हो वा उनकी पुनः श्रुति हो वहाँ यमक अलंकार होता है।

अनुराग के रंगनि रूप तरंगिनि अंगनि मोद मनो उफनी।
कवि 'देव' हिये सियरानी सबै सियरानी को देख सोहागसनी।
वर धामनि वाम चढ़ी बरसैं मुसुकानि सुधा घनसार घनी।
सखियान के आनन इन्दुनतें अँखियान ते बन्दनवार वनी।

इसमें एक 'सियरानी' का अर्थ सकुचा गयीं और दूसरी 'सिय-

रानी' का अथ 'सीता रानी' हैं। एकाकार के शब्द है पर अर्थ भिन्न हैं। 'रंगनि और तरंगनि में रंगनि एक सा है पर 'तरंगनि' का 'रंगनि' निरर्थक है। 'सखियान' और 'अँखियान' में 'खयान' निरर्थक हैं।

२ चतुर है चतुरानन सा वही सुभग-भाग्य-विभूषित भाल है।
सुन! जिसे मन में पर काव्य की रुचिरता चिरतापकरी न-हो। उपा०

यहाँ 'रुचिरता' तथा 'चिरताप' में से 'चिरता' को अलग करने से कोई अर्थ नहीं होता।

३ मर मिटें, रण में पर राम को हम न दे सकते जनकात्मजा।
सुन कपे जग में बस वीर के सुयश का रण कारण मुख्य है। उपा०
इसमें 'का' 'रण' और 'कारण' सभी सार्थक हैं।

४ जग जाँचिये को उन जाँचिये जो जिय जाँचिये जानकी जानहि रे?
जेहि जाचत जाचकता जरि जाय जो जारति जोर जहानहि रे। तु०

यहाँ जाँचिये का भिन्नार्थ नहीं है, फिर भी प्रसंगवाह्य न होने से इनको यमक कहने में कुण्ठा का अवसर नहीं। च, ज, के उच्चारण का एक स्थान होने से श्रुत्यनुप्रास भी है।

पादावृति और भागावृत्ति इसके दो मुख्य भेद होते हैं। जहाँ पूरे पाद की—आवृत्ति हो वहाँ पादावृत्ति और जहाँ पाद के आधे, तीसरे या चौथे भाग की आवृत्ति हो वहाँ भागावृत्ति होती है। इनके भी कई भेदोपभेद होते हैं। हिन्दी में सिंहावलोकन यमक होता है जिसे मुक्तपदग्राह्य भी कहते हैं।

५ लाल है भाल सिंदूर भर्यो मुख सिन्धुर चारु औ बाँह विशाल हैं!
शाल है शत्रुन को कवि 'देव' सुशोभित सोमकला धरे भाल हैं।
भाल है दीपत सूरज कोटि सो काटत कोटि कुसंकट जाल हैं।
जाल है बुद्धि विवेकन को यह पारवती के लड़ायतो लाल हैं।

यह आदि अन्त के 'लाल' हैं और प्रत्येक चरण के अन्तिम शब्द आवृत्त होकर आये हैं। इसमे सिंहावलोकन के तुल्य—सिंह के ऐसा मुड़-मुड़कर देखने के समान मुक्त पद ग्राह्य हुए हैं।

३ पुनरुक्ति (Tantology)

भाव को अधिक रुचिकर बनाने के लिये जहाँ एक ही बात को बार-बार कहा जाय वहाँ पुनरुक्ति होती है।

१ विहग विहग
फिर चहक उठे ये पुंज पुंज
चिर सुभग सुभग। पंत

२ इसमें उपजा यह नीरज सित,
कोमल कोमल लज्जित मीलित,
सौरभ सी लेकर मधुर पीर। महादेवी

३ निर्मल जल अन्तस्तल भर के
उछल उछल कर छल छल करके
थल थल तरके कल कल झरके। गुप्तजी

४ पुनरुक्तवदाभास (Similar Tantology)

जहाँ विभिन्न अर्थ वाले भिन्नाकार के पद सुनने में समानार्थी प्रतीत हों वहाँ यह अलंकार होता है।

समय जा रहा और काल है आ रहा,
सचमुच उलटा भाव भुवन में छा रहा। गुप्तजी

यहाँ समय और काल पर्यायवाची हैं पर यहाँ काल का अर्थ मृत्यु लिया गया है।

अली भौंर गूँजन लगे होन लगे दल-पात।
जहँ तहँ फूले रूख तरु प्रिय प्रीतम किमि जात। प्राचीन

यहाँ समानार्थक 'अली' का 'सखी' 'पात' का अर्थ 'गिरना' 'रूख' का 'सूखा' और 'प्रिय' का 'प्यारा' अर्थ लिया गया है।

अंबर-बास-सने बसन हरि ले चढ़े कदंब। प्राचीन

इसमें अंबर, बास और वसन एकार्थवाची से प्रतीत होते हैं पर इनका अर्थ होता है अंबर नामक सुगन्ध पदार्थ की बास से—सुगन्ध से सने कपड़े लेकर कदंब पर जा चढ़े।

५ वीप्सा (Repetition)

जहाँ आदर, घृणा आदि किसी आकस्मिक भाव को प्रभावित करने के लिये शब्दों की आवृत्ति की जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

१ हाय ! आर्य रहिये रहिये, मत कहिये, यह मत कहिये,
हम संकट को देख डरें या उसका उपहास करें। गुप्तजी

राम के अपने को अन्यायी कहने पर लक्ष्मण के ये आवृत्ति-रूप में उद्गार हैं। वीप्सा से राम की उक्ति असह्य प्रतीत होती है।

२ बहू तनिक अक्षत रोली तिलक लगा दूँ, माँ बोली,
जियो, जियो, बेटा आवो, पूजा का प्रसाद पावो। गुप्तजी

इस उदाहरण में दुहराये गये शब्दों से वात्सल्य फूटा पड़ता है।

टिप्पणी—पुनरुक्ति से वक्तव्य की पुष्टि होती है और वीप्सा से मन का एक आकस्मिक भाव झलकता है, यही इनमें सामान्य अंतर है।

६ वक्रोक्ति (The crooked speech)

जहाँ कोई किसी बात को जिस मतलब से कहे दूसरा उसका और ही अर्थ लगावे तो वक्रोक्ति अलंकार होता है।

इसके १ श्लेषवक्रोक्ति और २ काकुवक्रोक्ति दो भेद होते हैं।

१ श्लेषवक्रोक्ति तब होती है जब अनेकार्थवाची शब्दों से दूसरा अर्थ निकाला जाय। जैसे,

एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहाँ अपर है?
उसने कहा अपर कैसा? उड़ है गया सपर है। भक्त

सलीम ने 'अपर' से दूसरे कबूतर के बारे में पूछा पर मेहरुन्निसा ने 'अपर' का 'पर रहित' अर्थ लगा कर उत्तर दिया कि वह अपर नहीं, सपर—पर सहित होने के कारण उड़ गया है।

को तुम? हरि प्यारी! कहाँ बानर को पुर काम?
श्याम सलोनी? श्याम कपि क्यों न डरे तब बाम। प्राचीन

इसमें हरि और श्याम कृष्ण नाम के लिये आये हैं पर उत्तर करने में इनका बानर और साँवला अर्थ लिया गया है।

२ काकुवक्रोक्ति वहाँ होती है जहाँ काकु से अर्थात् कण्ठध्वनि की विशेषता से भिन्न अर्थ किया जाय।

मानस सलिल सुधा प्रतिपाली, जियइ कि लवण पयोधि मराली।
नव रसालवन विहरणशीला, सोह कि कोकिल विपिन करीला। तु०

इस प्रश्नात्मक चौपाई का अर्थ काकु से उत्तर रूप में कहा जाय तो यही निकलेगा कि हंसिनी लवण-समुद्र में नहीं जी सकती और कोयल करील-कानन में कभी शोभा नहीं पा सकती। यह काकु-उक्ति से आक्षिप्त व्यंग्य है जो गुणीभूत व्यंग्य का एक भेद है।

टिप्पणी—यह काकु-वक्रोक्ति वहीं होती है जहाँ एक व्यक्ति के कथन का अन्य व्यक्ति द्वारा अन्यार्थ कल्पित किया जाय। जहाँ स्वोक्ति में ही काकु-उक्ति होती है वहाँ काकु व्यंग्य होता है। जैसे,

हर जिसे दशकंधर ने लिया कब भला फिर फेर उसे दिया।
खल किसे न हुआ मम त्रास है निडर हो करता परिहास है। रा० उपा०

इसके उत्तरार्द्ध से यह भासित है कि मेरा डर सब किसी को है। तू मुझसे हँसी मत कर।

प्रथम उदाहरण में स्वोक्ति नहीं कही जा सकती। क्योंकि वहाँ राम को लक्ष्य कर कौशल्या ने कहा है और एक के कहने का दूसरे की ओर से विपरीत अर्थ किया गया है।

कण्ठ-ध्वनि की विशेषता से ही अर्थ का हेर-फेर होता है और कण्ठ-ध्वनि शब्द की ही विशेषता रखता है, इससे शब्दालंकार में इसकी गणना होती है। अर्थमूलक काकु-वक्रोक्ति भी होती है।

७ श्लेष (Paronomasia)

श्लेष अलंकार वहाँ होता है जहाँ श्लिष्ट शब्दों से अनेक अर्थ का विधान किया जाय। अभंग और सभंग भेद से यह दो प्रकार का होता है।

(क) अभंग श्लेष वह है जिसमें शब्दों के दो अर्थ करने के लिये उसका भंग—टुकड़ा न किया जाय।

१ विमाता बन गयी आँधी भयावह।
हुआ चंचल न फिर भी श्याम घन वह।
पिता को देख तापित भूमितल सा
बरसने लग गया वह वाक्य जल सा। गुप्तजी

इसमें श्याम घन के दो अर्थ हैं—श्याम राम और श्याम घन—मेघ। इस श्लेष से ही यहाँ रूपक की रचना है।

२ रहिमन पानी राखिये बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरे मुकता मानक चून।

इसमें 'पानी' के तीन अर्थ हैं—मोती के पक्ष में कान्ति, चमक, मानव के पक्ष में प्रतिष्ठा, मर्यादा और चूना के पक्ष में पानी। बिना पानी के चूना सूख जाता है, काम का नहीं रह जाता।

२ जो पहाड़ को तोड़-फोड़कर बाहर कढ़ता।
निर्मल जीवन वही सदा जो आगे बढ़ता।

पहाड़ को तोड़-फोड़कर निकलनेवाला जीवन—पानी प्रवाहित होता हुआ निर्मल हुआ करता है। यहाँ जीवन शब्द के श्लेष से यह भी अर्थ निकलता है कि मनुष्य का वही जीवन धन्य है जो पहाड़ जैसी विपत्तियों को भी रौंदकर आगे बढ़ता ही जाता है। इनमें श्लेष अभंग है।

(ख) सभंग श्लेष वह है जिसमें शब्दों का भंग किया जाय।

बहुरि शक्र सम विनवौं तोही संतत सुरानीक हित जेही।

इन्द्र के पक्ष में सुरानीक का अर्थ है सुरों अर्थात् देवताओं की अनीक—सेना और दुष्ट के पक्ष में सुरा, मदिरा, नीक अच्छा अर्थ है। यहाँ दो अर्थ के लिये सुरानीक शब्द का भंग है।

को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के वीर।

वृषभानुजा=राधा और बैल की बहन, हलधर=बलराम और बैल। पहले में सभंग और दूसरे में अभंग श्लेष है।

शब्दालंकारों में प्रहेलिका, चित्र आदि भी शब्दालंकार हैं।

दूसरी छाया

अर्थालंकार

(Figure of Speech in Sense)

जिन शब्दों द्वारा जिस अलंकार की सृष्टि होती हो उन शब्दों के बदलने पर भी वह अलंकार बना रहे तो अर्थालंकार होता है।

व्यासजी कहते हैं कि जो अर्थों को अलंकृत करते हैं वे अर्थालंकार हैं। अर्थालंकार के विना शब्द-सौन्दर्य भी मनोहर नहीं होता[1]।

---

१ अलङ्करणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते।
तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्। अग्निपुराण

सादृश्यगर्भ भेदाभेद-प्रधान में चार अलंकार हैं—

अर्थालंकारों में सादृश्यमूलक अलंकार प्रधान हैं और उनका प्राणोपम उपमा अलंकार है।

१ उपमा (Simile)

दो पदार्थों के उपमान-उपमेय भाव से समान धर्म के कथन करने को उपमा अलंकार कहते हैं।

अर्थात् जहाँ वस्तुओं में विभिन्नता रहते हुए भी उनके धर्म, रूप, गुण, रंग, स्वभाव, आकार आदि की समता का वर्णन किया जाय वहाँ यह उपमालंकार होता है।

वामनाचार्य कहते हैं कि 'उपमेय और उपमान में सादृश्य की योजना करनेवाले समान धर्म का नाम ही उपमा है' [१]।

उपमा अलंकार जानने के पूर्व उसके चारों अंगों को समझ लेना बहुत आवश्यक है। वे ये हैं—

१ उपमेय (The subject compared.)
२ उपमान (The object with which comparison is made.)
३ धर्म (Common attribute)
४ वाचक (The word implying comparison)

हिन्दी में १ उपमेय को वर्णनीय, वर्ण्य, प्रस्तुत, विषय और प्रकृत २ उपमान को अवर्णनीय, अवर्ण्य, अप्रस्तुत, अप्रकृत, विषयी और ३ धर्म को साधारण धर्म भी कहते हैं। एक उदाहरण से समझें।

आनन सुन्दर चन्द्र-सा

इसमें 'आनन' उपमेय है अर्थात् उपमा देने के योग्य है। इसीको उपमा दी गयी है और यही चन्द्र के समान कहा गया है या इसीकी समता की गयी है। इसमें चन्द्र उपमान है अर्थात् उपमा देने की वस्तु है। इसीसे उपमा दी गयी है और इसीसे समता की गयी है।

इसमें सुन्दर समान धर्म है। यही उपमान और उपमेय दोनों में

---

१ सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धोऽह्युपमा। का० प्र० बालबोधिनी

समानता से रहता है। समान धर्म से गुण, क्रिया आदि का ग्रहण होता है। सुन्दरता मुख और चन्द्र दोनों में है।

इसमें उपमा वाचक सा शब्द है। यह उपमान और उपमेय की समानता सूचित करता है। यही मुख और चन्द्र की समानता को बतलाता है।

उपमा के दो भेद होते हैं—१ पूर्णोपमा और २ लुप्तोपमा। इनके भी अनेक भेद होते हैं।

पूर्णोपमा (Complete simile)

जहाँ उपमान, उपमेय, धर्म और वाचक, चारों ही शब्द द्वारा उक्त हों वहाँ पूर्णोपमा होती है। जैसे—

तापस बाला सी गंगा कल शशि मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरें उर पर कोमल कुन्तल
गोरे अंगों पर सिहर सिहर, लहराता तरल तरल सुन्दर
चंचल अंचल सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी है वर्तुल मृदुल लहर। पंत

इसमें गंगा, नीलाम्बर और लहर उपमेय, तापस-बाला, अंचल और साड़ी की सिकुड़न उपमान, कल, लहराता और सिमटी साधारण धर्म तथा सी, सा वाचक हैं।

चूमता था भूमितल को अर्ध विधु सा भाल।
बिछ रहे थे प्रेम के दृगजाल बन कर बाल।
छत्र सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ।
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ। गुप्तजी

इसमें भाल और हाथ उपमेय, विधु और छत्र उपमान, सा वाचक और चूमता तथा उठा था समान धर्म हैं। पहली और तीसरी पंक्तियों में इस प्रकार पूर्णोपमा है।

नीलोत्पल के बीच सजाये मोती से आँसू के बूँद
हृदय सुधानिधि से निकले हो सब न तुम्हें पहचान सके। प्रसाद

इसमें बूँद उपमेय, मोती उपमान, से वाचक और सजाना साधारण धर्म हैं।

माला पूर्णोपमा

हो हो कर हुई न पूरी ऐसी अभिलाषा सी,
कुछ अटकी आशा सी, भटकी भावुक की भाषा सी।
सत्य धर्म रक्षा हो जिससे ऐसी मर्म मृषा सी,
कलश कूप में पाश हाथ में ऐसी भ्रान्त तृषा सी। गुप्तजी

गोपियों की गोष्ठी की ऐसी पूर्णोपमा और लुप्तोपमा की अनेक पद्यों में गुँथी हुई माला 'द्वापर' में द्रष्टव्य है।

कहो कौन हो दमयन्ती सी तुम तरु के नीचे सोई,
हाय तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि नल सा निष्ठुर कोई?

× × ×

गूढ़ कल्पना सी कवियों की अज्ञाता के विस्मय सी,
ऋषियों के गंभीर हृदय सी बच्चों के तुतले भय सी। पंत

× × ×

ये 'छाया' नामक कविता की पंक्तियाँ हैं जिनमें पूर्णोपमा और लुप्तोपमा की माला सी गुँथी हुई है।

फूलि उठे कमल से अमल हितू के नैन
कहै रघुनाथ भरे चैन रस सियरे।
दौरि आये भौंर से गुनी गुन करत गान
सिद्ध से सुजान सुख सागर सों नियरे।
सुरभी सी खुलन सुकवि की सुमति लागी
चिरिया सी जागी चिन्ता जनक के जियरे।
धनुष पै ठाढ़े राम रवि से लसत आज
भोर के से नखत नरेन्द्र भये पियरे।

इन पद्यों के उपमान, उपमेय, वाचक और समान धर्म को समझ लेना कोई कठिन बात नहीं।

लुप्तोपमा (Incomplete simile)

जहाँ उपमा, उपमेय, धर्म और वाचक इन चारों में से एक, दो, अथवा तीनों का लोप हो—कथन न किया जाय वहाँ लुप्तोपमा होती है।

(क) धर्मलुप्ता— प्रति दिन जिसको मैं अंक में नाथ लेके,
निज सकल कुअंकों की क्रिया कीलती थी !
अति प्रिय जिसका है वस्त्र पीला निराला,
यह किसलय के से अंगवाला कहाँ है ? हरिऔध

यहाँ अंग उपमेय, किसलय उपमान, से वाचक शब्द तो हैं पर साधारण धर्म कोमलता उक्त नहीं है।

(ख) उपमानलुप्ता— तीन लोक झाँकी ऐसी दूसरी न झाँकी जैसी
झाँकी हम झाँकी जैसी युगल किसोर की। पजनेस

इसमें झाँकी उपमेय, बाँकी धर्म और ऐसी वाचक शब्द हैं पर दूसरी न झाँकी से उपमान लुप्त है।

(ग) वाचकलुप्ता—नील-सरोरुह श्याम तरुण अरुण वारिज नयन,
करौ सो मम उर धाम सदा क्षीर सागर सयन। तुलसी

शरीर और नयन उपमेय, नील सरोरुह और तरुण वारिज उपमान तथा अरुण और श्याम धर्म हैं पर उपमावाचक शब्द नहीं है।

(घ) उपमेयलुप्ता—पड़ी थी बिजली सी विकराल लपेटे थे घन जैसे बाल।
कौन छेड़े ये काले साँप अवनिपति उठे अचानक काँप। गुप्तजी

इसमें उपमेय कैकेयी लुप्त है। पर इसका संकेत हो जाता है। क्योंकि उपमेय के विना इस अलंकार का अस्तित्व ही नहीं रह सकता।

(ङ) वाचकधर्मलुप्ता—धीरे बोली परम दुख से जीवनाधार जावो,
दोनों भैया मुख शशि हमें लौट आके दिखावो। हरि०

इसमें मुख उपमेय और शशि उपमान हैं पर वाचक और धर्म उक्त नहीं हैं। ऐसा ही उदाहरण यह भी है—

रहहु भवन अस हृदय बिचारी, चन्द्रबदनि दुख कानन भारी।

(च) धर्मोपमानलुप्ता—यद्यपि जग में बहुत हैं, सुख-साधक सामान।
तदपि कहूँ कोई नहीं काव्यानन्द समान। राम

अंतिम पंक्ति में उपमेय और वाचक शब्द हैं पर अन्य सुख साधन उपमान और सुख धर्म का लोप है।

(छ) वाचकोपमेयलुप्ता—इत ते उत उतते इतै छिन न कहूँ ठहराति।
जक न परत चकई भई फिरि आवति फिरि जाति। बिहारी

इसमें चकई उपमान, फिरि फिरि जात धर्म तो हैं पर उपमान नायिका और वाचक शब्द का लोप है।

(ज) वाचकोपमानलुप्ता—चितवनि चारु मारु मद हरणी
भावत हृदय जात नहिं बरनी। तुलसी

यहाँ चितवनि उपमेय और चारु धर्म हैं पर उपमान और वाचक का लोप है। 'जाति नहिं बरनी' उपमान का अभाव सूचित करता है।

बढ़े प्रथम कर कोमल दो।

इसमें कर और कोमल उपमेय और धर्म हैं पर उपमान और वाचक नहीं हैं।

(झ) धर्मोपमान-वाचकलुप्ता—

तुम्हारी आँखों का आकाश सरल आँखों का नीलाकाश।
खो गया मेरा खग अनजान मृगेक्षणि इसमें खग अनजान! पंत

इसमें 'मृगेक्षणि' का अर्थ होता है 'मृग सी बड़ी आँखोंवाली'। आखें मृग सी नहीं होतीं, बल्कि मृग की आँखों सी होती हैं। अतः इसमें उपमान, वाचक और धर्म तीनों का लोप है।

ऐसे ही 'वृषभ-कंध केहरि-ठवनि' में कंध का उपमान वृषभ नहीं, बल्कि वृषभकंध, और ठवनि गति का उपमान केहरि—सिंह नहीं, बल्कि सिंह की गति है। अतः यहाँ भी तीनों का लोप है।

वाचक-धर्म-उपमेय-लुप्तोपमा

मत्त गयंद, हंस तुम सोहैं कहा दुरावति हमसों
केहरि कनक कलश अमृत के कैसे दुरे दुरावति
विद्रुम हेम वज्र के किनुका नाहिन हमें सुनावति। सूरदास

इसमें गयंद, हंस, केहरि, कनक कलस आदि उपमान ही हैं और इनसे नायिका के गति, कटि, स्तन, रंग, आदि उपमेय की सुन्दरता वर्णित है। "अद्भुत एक अनुपम बाग", जैसे नायिका के शरीर को लेकर कोई रूपक नहीं बाँधा गया है जिससे यहाँ रूपकातिशयोक्ति नहीं कही जा सकती।

इनके अतिरिक्त उपमा अलंकार के और भी भेद होते हैं—

श्लेषोपमा

श्लिष्ट शब्द द्वारा समान धर्म के कथन में श्लिष्टोपमा अलंकार होता है।

उदयाचल से निकल मंजु मुसुकान कर
वसुधा मन्दिर को सुन्दर आलोक से,
भर देने वाली नवीन पहली उषा
के समान ही जिसका सुन्दर नाम है। कुसुम

इसमें 'उषा' शब्द के श्लेष से राजकन्या उषा भी वैसे ही मुसुकान के प्रकाश से वसुधा-मन्दिर को भर देनेवाली प्रतीत होती है जैसी कि उषा—प्रातः काल की अरुण किरणमाला।

समुच्चयोपमा

जहाँ उपमान के धर्मों का समुच्चय—जमाव हो वहाँ यह अलंकार होता है। जैसे

दिव्य, सुखद, शीतल, रुचिर तव दर्शन विधु-रूप।

इसमें उपमान विधु के चार धर्मों से दर्शन की उपमा दी गई है।

रसनोपमा

जहाँ उपमेय एक दूसरे के उपमान होते चले जाँय वहाँ रसनोपमा अलंकार होता है। जैसे,

यति सी नति नति सी बिनति बिनती सी रति चारु।
रति सी गति गति सी भगति तो में पवन कुमार। प्राचीन

इसमें नति, विनति आदि उपमेय उपमान होते चले गये हैं।

मालोपमा

जहाँ एक उपमेय के अनेक उपमान कहे जायँ वहाँ मालोपमा होती है। इसके तीन भेद हैं

(क) समानधर्मा—जहाँ अनेक उपमानों का एक ही धर्म उक्त हो।

१ हृदय-मन्मथ सौख्य से श्लथ विसुध गृह आज मैं री,
छहरता सा चल तरल जल लहर सा तन मन तरंगित। भट्ट

इसमें तरंगित तन मन के लिये दो उपमान कहे गये हैं।

२ उनमें क्या था, श्वास मात्र ही था बस आता जाता !
ललित तंत्र सा, चलित यंत्र सा, फलित मंत्र सा भाता ! गुप्तजी

इसमें साँस के आने-जाने के तीन उपमान दिये गये हैं।

३ पछतावे की परछाँही सी तुम भूपर छायी हो कौन ?
दुर्बलता सी अँगड़ाई सी अपराधी सी भय से मौन। पन्त

यहाँ छाया के चार उपमान समान धर्म के कहे गये हैं।

४ कुंद सी कविंद सी कुमुद सी कपूरिका सी
कंजन की कलिका कलप तरु केलि सी।
चपला सी चक्र सी चमर सी और चन्दन सी,
चन्द्रमा सी चाँदनी सी, चाँदी सी चमेली सी। हनुमान

राम-सुयश उपमेय के लिये एक साथ अनेक उपमान दिये गये हैं जिन्होंने माला का सचमुच आकार धारण कर लिया है।

(ख) भिन्न-धर्मा मालोपमा—जिसमें भिन्न-भिन्न धर्म के उपमान हों।

१ मरुत कोटि शत विपुल बल रवि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सो सीतल समन सकल भवत्रास।
काल कोटि सत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूम-केतु सत कोटि सम दुराधरख भगवंत। तुलसी

इसमें राम उपमेय के भिन्न भिन्न उपमान मरुत, रवि आदि के विपुल वल, कोटि प्रकाश आदि भिन्न-भिन्न धर्म कहे गये हैं।

२ धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश मधुर मुरली सी फिर भी मौन ?
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना दूती सी तुम कौन। प्रसाद

यहाँ तुम उपमेय की भिन्न-भिन्न धर्मवाली प्रार्थना, मुरली और वेदना की उपमायें दी गयी हैं।

(ग) लुप्तधर्मा मालोपमा—जिसमें समान धर्म का कथन न हो।

इन्द्र जिमि जंभ पर, बाड़व सुअंब पर
रावन सुदंभ पर रघुकुल राज हैं।
पौन वारिवाह पर शम्भु रतिनाह पर,
त्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं।
दावा द्रुम दंड पर चीता मृग झुंड पर
'भूषन' वितुण्ड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तिमिरंश पर कान्ह जिमि कंस पर
त्यों मलेच्छ वंस पर सेर सिवराज हैं।

यहाँ सिवराज उपमेय के उपमान तो कहे गये पर उनके साधारण धर्म नहीं कहे गये। इससे लुप्तधर्मा है।

लक्ष्योपमा

जहाँ उपमानोपमेय की समता के द्योतक शब्दों को न लाकर ऐसे शब्द लाये जायँ या उनका ऐसा कथन किया जाय जिससे उपमेय और उपमान में समता सूचक भाव प्रगट हो वहाँ लक्ष्योपमा होती है।

लक्षणा से काम लेने के कारण इसे लक्ष्योपमा, सुन्दर होने के कारण ललितोपमा और उपमा की संकीर्णता के कारण संकीर्णोपमा भी कहते हैं।

१ कैसा उसका भुवन-विमोहन वेष था।
झेप रही थी वदन देख कर चन्द्रिका।
× × ×
२ बंकिम-भ्रू-प्रहरण-पालित युग नेत्र से
थे कुरंग भी आँख लड़ा सकते नहीं। कुसुम

यहाँ झेप रही थी और लड़ा सकते नहीं, से उपमानोपमेय की समता का भाव प्रगट है। यह ढंग पुराना है।

३ चिढ़ जाता था वसन्त का कोकिल भी सुन कर वह बोली,
सिहर उठा करता था मलयज इन श्वासों के मलयज सौरभ से। प्रसाद

४ विकसित सरसिज वनवैभव मधु-ऊषा के अंचल में,
उपहास करावे अपना जो हँसी देख ले पल में। प्रसाद

इनमें चिढ़ जाता था, सिहर उठता था, उपहास करावे, आदि शब्द ऐसे हैं जो उपमा का काम करते हैं। इनमें लाक्षणिक चमत्कार भी अपूर्व हैं।

अर्थालंकारों के प्राणभूत इसी उपमा पर अनेक अलंकारों की सृष्टि हुई है। इसीसे अप्पयदीक्षित कहते हैं कि 'काव्य की रंगभूमि में विभिन्न भूमिका के भेद से नाना रूपों में आकर के नृत्य करती हुई उपमा नटी काव्य-मर्मज्ञों का मनोरंजन करती हैं[१]'। जैसे,

---

१ उपमैषा शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदात्।
रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः। चित्रमीमांसा

१ उपमेयोपमा—चन्द्रमा सा मुख है और मुख सा चन्द्रमा।

२ अनन्वय—उसका मुख उसके मुख सा ही है।

३ प्रतीप—मुख सा चन्द्रमा है।

४ रूपक—मुख ही चन्द्रमा है।

५ सन्देह—यह मुख है वा चन्द्रमा।

६ अपह्नुति—यह मुख नहीं चन्द्रमा है।

७ भ्रान्ति—चंद्रमा समझकर चकोर उसके मुख को देख रहा है।

८ उत्प्रेक्षा—मुख मानों चन्द्रमा है।

९ स्मरण—चंद्रमा को देखकर उसके मुख की याद आती है।

१० दीपक—मुख सुखमा से और चंद्रमा चंद्रिका से शोभता है।

११ प्रतिवस्तूपमा—मुख पृथ्वी पर सुशोभित है और चंद्रमा आकाश में चमकता है।

१२ दृष्टान्त—मुख अपने सौंदर्य से दर्शकों को प्रसन्न करता है और चंद्रमा अपनी चंद्रिका से संसार को सुशीतल करता है।

१३ व्यतिरेक—चन्द्र कलंकित है और उसका मुख निष्कलंक है।

१४ निदर्शना—उसके मुख में चन्द्रमा की सुखमा है।

१५ अप्रस्तुतप्रशंसा—चन्द्रमा उसके मुख के सम्मुख मलिन है।

१६ अतिशयोक्ति—वह मुख एक दूसरा चन्द्रमा है।

१७ तुल्ययोगिता—चन्द्रमा और कमल उसके मुख के कारण हीन, मलीन और विलीन हुए।

इसी प्रकार अनेकों सादृश्य-मूलक अलंकारों का मूल उपमा अलंकार है। इनके भी अनेकों भेदोपभेद हैं। ये साधारण उदाहरण हैं।

२ उपमेयोपमा (Reciprocal Comparison)

जहाँ उपमेय और उपमान (एक दूसरे के उत्कर्ष के लिये एक वही उपमान मिलने के कारण) परस्पर उपमान और उपमेय हों वहाँ उपमेयोपमा होती है।

१ दो सिंहों का मनो अचानक हुआ समागम।
राक्षस से था न्यून न कपि या कपि से था वह कम। रा० च० उ०

२ सब मन रंजन हैं खंजन से नैन आली
नैनन से खंजन हू लागत चपल हैं!
मीनन से महा मनमोहन हैं मोहिबे को
मीन इनहीं से नीके सोहत अमल हैं।
मृगन के लोचन से लोचन हैं रोचन ये
मृग दृग इनहीं से सोहे पलापल हैं।
'सूरति' निहारि देखी नीके ऐरी प्यारीजू के
कमल से नैन अरु नैन से कमल हैं!

३ अनन्वय (Self comparison)

जहाँ (उपमान के अभाव में) एक ही वस्तु को उपमान और उपमेय भाव से कहा जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

उस काल दोनों में परस्पर युद्ध वह ऐसा हुआ
है योग्य बस कहना यही अद्भुत वही ऐसा हुआ। गुप्तजी

उस युद्ध के ऐसा वही युद्ध था, यह जो उक्त है उससे इसमें परस्पर अनन्वयात्मक उपमोपमेय भाव है।

४ स्मरण (Reminiscence)

पूर्वानुभूत वस्तु के समान किसी वस्तु (उपमान) के देखने आदि से उसका (उपमेय) जहाँ स्मरण हो वहाँ स्मरण अलंकार होता है।

देखता हूँ जब पतला इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूँघुट बादल का खोलती है कुमुद-कला
तुम्हारे मुख का ही तो ध्यान मुझे तब करता अन्तर्धान। पंत

यहाँ पूर्वदृष्ट मुख का कुमुद-कला से बादल के रेशमी घूँघुट के हटने का दृश्य देखकर स्मरण हो आता है।

मैं पाता हूँ मधुर ध्वनि में कूजने में खगों के
मीठी तानें परम प्रिय की मोहिनी वंशिका की। हरिऔध

यहाँ पक्षियों का कलरव सुनकर कृष्ण की वंशी-ध्वनि की स्मृति हो आती है।

छू देती है मृदु पवन जो पास आ गात मेरा
तो होजाती परम सुधि है श्याम प्यारे करों की। हरिऔध

इसमें अनुभवात्मक स्मरण है।

तीसरी छाया

आरोपमूल अभेदप्रधान

जहाँ उपमेय और उपमान के साधर्म्य में अभेद रहता है वहाँ सादृश्यगर्भ अभेद-प्रधान भेद होता है। इसके दो भेद होते हैं— आरोपमूल और अध्यवसायमूल। पहले में रूपक आदि छ और दूसरे मे उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति दो अलंकार आते हैं।

५ रूपक (Metaphor)

उपमेय में उपमान के निषेध-रहित आरोप को रूपक अलंकार कहते हैं।

अभेद रूपक

जहाँ उपमेय में अभेद-रूप से उपमान का आरोप किया जाता है वहाँ अभेद रूपक होता है।

आरोप का अर्थ है एक वस्तु में दूसरी वस्तु की कल्पना कर लेना। इस प्रकार उपमेय और उपमान की एकरूपता होने से— भिन्नता का कोई भाव नहीं रहने से, रूपक अलंकार होता है।

रूपक में उपमेय का निषेध नहीं किया जाता है जैसा कि अपह्नुति में उपमेय का किया जाता है। दोनों के आरोप में यही अन्तर है। उपमा में उपमेय और उपमान का भेद बना रहता है पर रूपक में भिन्न होते हुए भी दोनों एकरूपता को प्राप्त कर लेते हैं। उपमा में दोनों का सादृश्य रहता है और इसमें एकरूपता रहती है। वाचक-धर्मलुप्तोपमा में उपमान पहले रक्खा जाता है, जैसे चन्द्रमुख। अर्थ होता है चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख पर रूपक में उपमेय पहले रक्खा जाता है, जैसे मुखचन्द्र। दोनों में यही अन्तर है।

अभेद दो प्रकार का होता है—आहार्य और वास्तव। जहाँ अभेद न होने पर भी अभेद मान लिया जाता है वहाँ आहार्य और जहाँ वस्तुत: अभेद की कल्पना की जाती है वहाँ वास्तव अभेद होते हैं। रूपक में आहार्य होता है। जैसे—

रामचन्द्र मुखचन्द्र निहारी

इसमें 'मुखचन्द्र' का अर्थ है, मुख ही चन्द्रमा है। यहाँ मुख और चन्द्रमा दो वस्तुएँ पृथक्-पृथक् हैं पर आहार्य अभेद से एकरूप मान लिया गया है। वास्तव अभेद भ्रान्तिमान अलंकार में होता है।

अभेद के तीन भेद होते हैं—सम, अधिक और न्यून।

(१) जहाँ उपमेय में उपमान की न्यूनता या अधिकता के बिना ज्यों का त्यों आरोप होता है वहाँ सम अभेद रूपक होता है। जैसे

बीती विभावरी जाग री।
अंबर-पनघट में डुबो रही तारा-घट ऊषा-नागरी। प्रसाद

इसमें तीन रूपक हैं। अंबर में पनघट का, तारा में घट का और ऊषा में नागरी का सम अभेद रूप से आरोप किया गया है।

संपति चकई भरत चक मुनि आयसु खेलवार।
तेहि निशि आश्रम पींजरा राखे भा भिनसार। तुलसी

इसमें भी समान रूप से अभेद का आरोप है।

(२) जहाँ उपमेय में उपमान के आरोप के अनन्तर कुछ अधिकता कही जाती है वहाँ अधिक रूपक है और (३) जहाँ न्यूनता कही जाती है वहाँ न्यून रूपक होता है। यह एक प्रकार का व्यतिरेकालङ्कार है।

जगत की सुन्दरता का चाँद सजा लांछन को भी अवदात।
सुहाता बदल बदल दिन रात नवलता ही जग का आह्लाद। पन्त

सुन्दरता में चन्द्रमा का आरोप है पर यह चाँद लांछन को भी अवदात बना देता है। यही अधिकता है।

नव विधु विमल तात जस तोरा, रघुवर किंकर कुमुद चकोरा।
उदित सदा अथइहि कबहूँ ना, घट ही न जग नभ दिन-दिन दूना।

यहाँ यश में नये चन्द्रमा का आरोप है। चन्द्रमा घटता-बढ़ता है पर यश: रूप चन्द्रमा सदा उदित रहता है, कभी अस्त नहीं होता। उपमेय की यही अधिकता है।

उषा रंगीली, किन्तु, सजनि उसमें वह अनुराग नहीं।
निर्झर में अक्षय स्वर-प्रवाह है पर वह विकल विराग नहीं।
ज्योत्स्ना में उज्ज्वलता है पर वह प्राणों का मुसकान नहीं।
फूलों में हैं वे अधर, किन्तु उनमें वह मादक गान नहीं। मिलिंद

यहाँ उपमान अधर आदि की स्वाभाविक अवस्था से कुछ न्यूनता दिखायी गयी है।

विना सरोवर के खिला देखो वदन-सरोज।
बाहुलता मृदु मंजु है सुमन न पाया खोज। राम

यहाँ सरोवर और सुमन की न्यूनता वर्णित है।

सम अभेद रूपक के तीन भेद होते हैं—सावयव, निरवयव और परंपरित।

सावयव (साङ्ग) रूपक

उपमेय के अवयवों के सहित उपमान के अवयवों के आरोप किये जाने को सावयव रूपक अलंकार कहते हैं।

इसके दो भेद होते हैं—समस्त-वस्तु-विषय और एकदेशविवर्ति।

१ समस्त-वस्तु-विषय वह है जिसमें सभी आरोप्यमाणों—उपमानों और सभी आरोप के विषय—उपमेयों का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाय।

१ मेरी आशा नवल लतिका थी बड़ी ही मनोज्ञा।
नीले पत्ते सकल उसके नीलमों के बने थे।
हीरे के थे कुसुम, फल थे लाल गोमेदकों के
पन्नों द्वारा रचित उसकी सुन्दरी डंटियाँ थीं। हरिऔध

इसमें आशा उपमेय की नवललतिका उपमान में एकरूपता मान कर आरोप्यमाणों—नीलम, हीरा, गोमेद, पन्ना का और आरोप के विषयों—पत्ता, फूल, फल, डंटी का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है।

टंकार ही निर्घोष था, शरवृष्टि ही जलवृष्टि थी।
जलती हुई रोषाग्नि से उद्दीप्त विद्युत् दृष्टि थी।
गांडीव रोहित रूप था रथ ही सशक्त समीर था।
उस काल अर्जुन वीरवर अद्भुत जलद गम्भीर था। गुप्तजी

यहाँ अर्जुन और बादल में अभिन्नता बतला करके शब्द द्वारा सर्वत्र उपमेयों में उपमानों की स्पष्टतः स्थापना की गयी है।

आनन अमल चन्द्र चन्द्रिका पटीर पंक दसन अमंद कुंद कलिका सुढंग की।
खंजन नयन पदपाँति मृदु कंजनि के मंजुल मराल चाल चलत उमंग की।
कवि 'जयदेव' नभ नखत समेत सोई ओढ़े चारु चूनरि नवीन नील रंग की।
लाज भरि आज ब्रजराज के रिझाइबे को सुन्दरी सरद सिधाई सुचि अंग की।

इसमें शरद की सारी सामग्री—चन्द्र, चन्द्रिका आदि में नायिका के अंगों—मुख, नयन, दशन आदि का आरोप है। इस प्रकार शरद् ऋतु में सुन्दरी नायिका का रूपक है।

(२) एक-देश-विवर्ति रूपक वह है जिसमें कुछ आरोप्यमाण वा आरोप के विषय तो शब्दतः स्पष्ट कहे जायँ और कुछ अर्थ के बल से आक्षिप्त होते हों।

जीवन की चंचल सरिता में फेंकी मैंने मन की जाली,
फँस गईं मनोहर भावों की मछलियाँ सुघर भोलीभाली। पन्त

इसमें मछलियाँ फँसाने के सभी साधन हैं। सावयव उपमेय और उपमानों को शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है पर मैंने का उपमान उक्त नहीं है। पर मछली फँसाने का काम होने से मैंने के स्थान पर धीवर उपमान का सहज ही आक्षेप हो जाता है।

नाम पहरुआ दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन पद निज यंत्रिका प्राण जाहिं केहि बाट। तुलसी

यहाँ शब्द द्वारा औरों का स्पष्ट कथन तो है पर बन्दी उपमान का आरोप शब्दतः उक्त नहीं पर उसका आक्षेप अर्थ-बल से हो जाता है।

तरल मोती से नयन भरे
मानस से ले उठे स्नेह घन, कसक-विद्यु-पलकों के हिमकण,
सुधि स्वाती की छाँह पलक की सीपी में उतरे। महादेवी

इसमें आँसू पर तरल मोती का आरोप है। आँसू उपमेय का शब्द से कथन नहीं है पर अन्य आरोपों के द्वारा उपमेय आँसू स्वतः आक्षिप्त हो जाता है। इसके अन्य अवयवों—स्नेह-घन, कसक-विद्यु, सुधि-स्वाती, पलक-सीपी का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है। इससे यह भी एकादेशविवर्ति रूपक है।

निरवयव (निरङ्ग) रूपक

अवयवों से रहित उपमान का जहाँ उपमेय में आरोप किया जाता है वहाँ यह अलंकार होता है।

इसके दो भेद होते हैं—१ शुद्ध और २ मालारूप।

१ शुद्ध रूप वह है जिसमें अवयवों के बिना उपमान का उपमेय में आरोप हो।

इस हृदय-कमल का घिरना अलि-अलकों की उलझन में।
आँसू-मरन्द का गिरना मिलना निःश्वास-पवन में। प्रसाद

इसमें चार रूपक हैं जो निरवयव हैं।

हरि मुख-पंकज, भ्रू-धनुष लोचन-खंजन मित्त।
अधर-बिंब कुंडल-मकर बसे रहत मो चित्त। प्राचीन

मुख-पंकज, भ्रू-धनुष, कुण्डल-मकर आदि में सामान्य गुणों को लेकर रूपक बाँधा गया है। इनमें अङ्गों का वर्णन नहीं है।

कनक-छाया में जब कि सकाल खोलती कलिका उर के द्वार।
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल तड़प बन जाते हैं गुंजार। पंत

इसमें निरवयव रूपक का भिन्न रूप है। उर में द्वार का रूपक है और मधुपों के बाल में गुंजार का रूपक है।

२ माला-रूपक वह है जिसमें एक उपमेय में अवयवों के बिना अनेक उपमानों का आरोप हो।

ओ चिंता की पहली रेखा, अरे विश्ववन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कंप सी मतवाली।
हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल रेखा। प्रसाद

यहाँ चिंता में विश्व वन की व्याली आदि उपमानों का आरोप किया गया है जो निरवयव हैं।

धूम धुँआरे काजर कारे हम ही बिकरारे बादर
मदनराज के वीर बहादुर पावस के उड़ते फणधर। पन्त

यहाँ बादर में दूसरी पंक्ति के दो निरवयव उपमानों का आरोप है।

वे वीर थे, वे धीर थे, थे क्षीर-सागर धर्म के।
ज्ञानीन्द्र थे मानीन्द्र थे वे थे धराधर कर्म के।

× × ×

वे क्रोध में यमराज वे लावण्य में रतिनाथ थे।
भूमीश्वरों के नाथ थे सुरलोक पति के हाथ थे। रा० च०

एक राजा दशरथ उपमेय में इन अनेक निरवयव उपमानों का आरोप किया गया है।

परंपरित रूपक

जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप का कारण हो, वहाँ यह अलंकार होता है।

इसमें एक उपमेय में किसी उपमान का आरोप पहले होता है। पीछे उसके आधार पर दूसरे रूपक का निरूपण होता है। पहला कारण रूप और दूसरा कार्य रूप होता है। परंपरित का अर्थ है कार्य-कारण-रूप से आरोपों का परंपरा होना। यह दो प्रकार का है।

१ श्लिष्ट शब्द-मूलक अर्थात् श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग में जहाँ रूपक हो।

खर-वाण-धारा-रूप जिसकी प्रज्वलित ज्वाला हुई।
जो वैरियों के व्यूह को अत्यन्त विकराला हुई।
श्री कृष्ण रूपी वायु से प्रेरित धनञ्जय ने वहाँ,
कौरव चमू वन कर दिया तत्काल नष्ट जहाँ तहाँ। गुप्तजी

यहाँ धनञ्जय अर्जुन में धनञ्जय अग्नि का आरोप ही कारण है कि ज्वाला और वायु के रूपक बाँधने पड़े हैं। यहाँ धनञ्जय शब्द श्लिष्ट है।

२. भिन्न-शब्द-मूलक वह है जिसमें बिना श्लेष के भिन्न-भिन्न शब्दों में आरोप हो।

तिर रही अतृप्ति जलधि में नीलम की नाव निराली।
काला पानी वेला सी है अंजन रेखा काली। प्रसाद

अतृप्ति में जलधि का जो आरोप है वही रूपकातिशयोक्ति से आँखों में नाव और अंजन-रेखा में काला पानी वेला के आरोप का हेतु है।

वाड़व-ज्वाला सोती थी इस प्रणय-सिन्धु के तल में।
प्यासी मछली सी आँखें थीं विकल रूप के जल में। प्रसाद

आँखों में मछली का आरोप ही रूप में जल के रूपक का कारण है। यहाँ सी उपमा का भ्रामक है। पर उपमा है नहीं। रूपक ही है।

तुम बिनु रघुकुल-कुमुद विधु सुरपुर नरक समान,

यहाँ रघुकुल में कुमुद के आरोप के कारण ही रामचंद्र में विधु का आरोप किया गया है जो समस्त पद से है।

ताद्रूप्य रूपक

उपमेय को उपमान का जहाँ दूसरा रूप कहा जाता है वहाँ तद्रूप होने से यह अलंकार होता है।

अर्थात् उपमेय उपमान का रूप ग्रहण करता है पर उससे भिन्न कहा जाता है।

यह कोकनद-मद-हरिणी क्यों उड़ गयी मुख-लालिमा।
क्यों नील-नीरज-लोचनों की छा गयी यह कालिमा।
क्यों आज नीरस दल सदृश मुख-रंग पीला पड़ गया।
क्यों चन्द्रिका से हीन है यह चन्द्रमा होकर नया। पुरो०

दमयन्ती के मुख को नया चन्द्रमा बताकर तद्रूपता दिखायी गयी है पर चन्द्रिका से हीन कहने के कारण उसमें न्यूनता भी प्रगट कर दी गयी है।

दुइ भुज के हरि रघुवर सुन्दर भेस।
एक जीभ के लछिमन दूसर सेस। तुलसी

लछुमन को दूसरा शेष तो बताया गया पर एक जीभ के कहने से न्यूनता भी दिखा दी गयी। अधिक और सम भी इसके भेद होते हैं।

६ परिणाम (Commutation)

जहाँ असमर्थ उपमान उपमेय से अभिन्न होकर किसी कार्य के साधन में समर्थ होता है वहाँ परिणाम अलंकार होता है।

मेरा शिशु संसार वह दूध पिये परिपुष्ट हो।
पानी के ही पात्र तुम प्रभो रुष्ट वा तुष्ट हो। गुप्तजी

यहाँ संसार उपमान जब तक उपमेय (शिशु) से एकरूप नहीं होता तब तक उपमान का दूध पीना कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता।

पद-पंकज ते चलत वा कर-पंकज लै कंजु।
मुख-पंकज ते कहत हरि वचन रचन मुद मंजु। प्राचीन

इससे पंकज जब तक पद, कर और मुख से एकरूप नहीं हो

जाता तब तक चलने, लेने और कहने का कार्य नहीं सिद्ध हो सकता।

टिप्पणी—जहाँ उपमान स्वयं काय करने में समर्थ होता है वहाँ रूपक होता है। जैसे, पुलक-कदम्ब खिले थे और जहाँ उपमान उपमेय में एकरूप होकर किसी कार्य के करने में समर्थ होता है वहाँ परिणाम होता है।

७ सन्देह (Doubt)

जहाँ किसी वस्तु के सम्बन्ध में सादृश्य-मूलक सन्देह हो वहाँ यह अलंकार होता है।

कि, क्या, किंवा, धौं, किधौं आदि शब्दों द्वारा सन्देह प्रकट किया जाता है। कहीं ये नहीं भी रहते।

१ कज्जल के कूट पर दीप-शिखा सोती है कि,
श्याम घन-मण्डल में दामिनी की धारा है?
यामिनी के अञ्चल में कलाधर की कोर है कि,
राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है?
'शङ्कर' कसौटी पर कञ्चन की लीक है कि,
तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है?
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि,
ढाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा है?

सुन्दरी की माँग के निर्णय में यहाँ सन्देह है।

२ क्षन भर में देखी रमणी ने एक श्याम आभा बाँकी।
क्या शस्य-श्यामला भूतल ने दिखलाई निज नर-झाँकी?
किंवा उतर पड़ा अवनी पर कामरूप कोई घन था?
एक अपूर्व ज्योति थी जिसमें जीवन का गहरापन था। गुप्तजी

राम के सम्बन्ध में शूर्पणखा का सन्देह है।

३ निद्रा के उस अलसित वन में वह क्या भावी की छाया?
दृग पलकों में विचर रही या वन्य देवियों की माया? पंत

पंत के सन्देह का निराला ही ढंग है।

४ कहूँ मानवी यदि मैं तुमको तो वैसा संकोच कहाँ?
कहूँ दानवी तो उसमें है यह लावण्य की लोच कहाँ?
वनदेवी समझूँ तो वह तो होती है भोली भाली?
तुम्हीं बताओ अतः कौन तुम हे रंजित रहस्य वाली। गुप्तजी

इसमें अनेक संकल्प-विकल्प के बाद भी सन्देह बना रहता है। इसमें सन्देह-वाचक शब्द नहीं है।

८ भ्रान्ति या भ्रम (Mistake or Error)

जहाँ भ्रम से किसी अन्य वस्तु को अन्य वस्तु मान लें वहाँ भ्रान्ति या भ्रम अलंकार होता है।

१ अति सशंकित और सभीत हो मन कभी यह था अनुमानता।
व्रज समूल विनाशन को खड़े यह निशाचर हैं नृप कंस के। हरिऔध

२ कुसुम जानि शुक चोंच पर भ्रमर गिर्‌यो मँडराय।
सोहू तेहि चाहत धरन जामुन फल ठहराय। अनुवाद

३ वृन्दावन विहरत फिरैं राधा नन्दकिशोर।
नीरद यामिनि जानि सँग डोलैं बोलैं मोर। प्राचीन

१ले में निशाचर का, २रे में कुसुम तथा जामुन फल का और ३रे में सघन मेघ का भ्रम है।

९ उल्लेख (Representation)

जहाँ एक ही वर्णनीय विषय का निमित्त-भेद से अनेक प्रकार का वर्णन हो वहाँ उल्लेख अलंकार होता है।

(क) ज्ञाताओं के भेद से एक ही पदार्थ का जहाँ भिन्न-भिन्न विधि से उल्लेख हो वहाँ प्रथम उल्लेख होता है। जैसे,

घनघोष समझ मयूर लगे कूकने। समझी गजेन्द्र ने दहाड़ मृगराज की
सागर ने समझी प्रभंजन की गर्जना, पर्वतों ने समझी कड़क महावज्र की।
गंगाधर चौंके जयघोष को समझके, गंगा आ रही है ब्रह्मलोक से गरजती।
'आर्यावर्त' महाकाव्य से

यहाँ जयघोष को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न रूप से समझा है।

(ख) जहाँ एक ही व्यक्ति विषय-भेद के कारण किसी पदार्थ को अनेक रूपों में देखता है वहाँ दूसरा उल्लेख होता है।

बिन्दु में थीं तुम सिन्धु अनन्त एक सुर में समस्त संगीत।
एक कलिका में अखिल वसंत धरा पर थीं तुम स्वर्ग पुनीत। पंत

यहाँ एक ही व्यक्ति ने प्रिया को अनेक रूपों में जाना-माना है।

तू रूप है किरन में सौन्दर्य है सुमन में,
तू प्राण है पवन में विस्तार है गगन में।
तू ज्ञान हिन्दुओं में ईमान मुस्लिमों में,
तू प्रेम क्रिश्चियन में है सत्य तू सुजन में। रा० न० त्रि०

यहाँ एक ही कवि ने परमात्मा को अनेक रूपों में देखा है।

१० अपह्नुति (Concealment)

अपह्नुति का अर्थ है गोपन, छिपाना, वारण, निषेध आदि।

जहाँ प्रकृत (उपमेय) का निषेध करके अप्रकृत (उपमान) का स्थापन (आरोप) किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

इसमें सच्ची बात को छिपाकर दूसरी बात कही जाती है। कहीं-कहीं उपमेयोपमान-भाव के विना भी अपह्नुति होती है। अपह्नुति का अर्थ है गोपन (छिपाना) या निषेध। अपह्नुति सात प्रकार की होती है।

१ शुद्धापह्नुति—वह है जिसमें वास्तविक उपमेय का निषेधात्मक शब्द द्वारा छिपा करके उपमान का आरोप किया जाय। इसको शाब्दी अपह्नुति कहते हैं।

दुख अनल शिखायें व्योम में फूटती हैं,
यह किस दुखिया का है कलेजा जलातीं।
अहह अहह देखो टूटता है न तारा
पतन दिल जले के गात का हो रहा है। हरिऔध

यहाँ उपमेय तारा का निषेध करके गात के पतन रूप उपमान का आरोप किया गया है। यहाँ शब्दतः निषेध है।

चिवुक देख फिर चरण चूमने चला चित्त चिर चेरा।
वे दो ओंठ न थे राधे था एक फटा उर तेरा। गुप्तजी

यहाँ भी शब्दतः ओठ का निषेध करके फटे उर का आरोप किया गया है।

२ कैतवापह्नुति—वह है जिसमें उपमेय का प्रत्यक्ष निषेध न करके कैतव से अर्थात् मिस, व्याज, छल आदि शब्दों द्वारा निषेध किया जाय। इसको आर्थी अपह्नुति भी कहते हैं।

कहै रघुनाथ ब्रजनाथ को जनम जानि,
फूली केलि विटप गगन घन रहे झूमि।
साथ लै सुरनि सुनासीर सो विमान भारे,
कैतव सलिल बारै कलपलता के फूल।

इसमें जल का निषेध करके पुष्प का आरोप है। कैतव शब्द के बल से निषेध है, प्रत्यक्त नहीं।

श्रीकृष्ण के सुन बचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे।
सब शोक अपना भूल कर करतल युगल मलने लगे।
मुख बाल रवि सम लाल होकर ज्वाल सा बोधित हुआ।
प्रलयार्थ उनके मिस वहाँ क्या काल ही क्रोधित हुआ? गुप्तजी

यहाँ अर्जुन उपमेय का मिस शब्द के अर्थ-बल से निषेध करके काल का आरोप किया गया है।

३ हेत्वपह्नुति—वह है जिसमें कारण सहित उपमेय का निषेध करके उपमान का स्थापन होता है।

पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे।
छींटे वही उड़े थे बड़े-बड़े अश्रु वे कब थे? गुप्तजी

इसमें कारण के साथ अश्रु का निषेध करके छींटों की स्थापना की गयी है।

श्याम रंग यह श्वेत रंग है रमणी-दृग का रूप नहीं।
गरल और अमृत ये दोनों भरे हुए हैं सत्य यहीं।
सहृदय जन पर जब होता है इनका देखो गाढ़ निपात।
बेसुध और मुदित क्यों होते अगर नहीं होती यह बात। पोद्दार

इसमें प्रकृत श्याम और श्वेत रंग का निषेध करके उनमें गरल और अमृत का आरोप किया गया है जिसका कारण उत्तरार्द्ध में स्पष्ट है।

४ भ्रांतापह्नुति—वह है जिसमें सत्य बात को प्रकट करके किसी की शंका को दूर किया जाता है। भ्रान्तापह्नुति को 'निश्चय' के नाम से एक स्वतंत्र अलंकार भी माना गया है।

यह नहीं है प्रेम यह उन्माद की है रूप गर्हित,
देख सुन्दरता किसी की वासना आकृष्ट होती।
प्रेम अनुभव के पुलक में स्रोत सा आनन्द में भर,
प्राण को मन को न्हिलाता बिसुध सा करके···। भट्ट

कृष्ण ने राधा के प्रेम को वासना बता कर उसके प्रेम की भ्रांति को मिटा दिया है और सच्चे प्रेम के रूप को भी स्पष्ट कर दिया है।

आनन है अरविंद न फूले अलीगन भूलि कहाँ मड़रातु हौ।
कीर तुम्हें कहाँ वायु लगी भ्रम बिंब से ओठनु को ललचातु हौ।
'दास' जू व्याली न बेनी रची तुम पापी कलापी कहा इतरातु हौ।
बोलत बाल न बाजत बीन कहा सिगरे मृग घेरत जातु हौ।

यहाँ आनन, ओठ, बेनी और बाला की वाणी की यथार्थता को प्रकट करके कमल, बिंबाफल, साँपिन और वीणावादन होने का भ्रम दूर किया गया है।

५ पर्यस्तापह्नुति—में किसी वस्तु के धर्म का निषेध दूसरी वस्तु में उसके आरोप के लिये किया जाता है।

पर्यस्त का अर्थ ही है फेंका हुआ। इसमें एक वस्तु का धर्म दूसरी वस्तु पर फेंका जाता है, आरोपित किया जाता है। अतः जिस वस्तु के धर्म का निषेध किया जाता है प्रायः वह दो बार आता है।

धनी नहीं धनवान हैं संतोषी धनवान।
निधन दीन नहिं दीन हैं क्षुद्र-हृदय जन मान। राम

संतोषी में धनवान के धर्म का आरोप करने के लिये धनी में धनवान के धर्म का निषेध किया गया है। ऐसे ही क्षुद्र-हृदय जन में दीनता का आरोप करने के लिये निधन में दीनता का निषेध किया गया है।

नहीं सक्र सुरपति अहैं सुरपति नन्दकुमार।
रतनाकर सागर न है मथुरा नगर बजार। प्रेमी

इसमें शक्र का इसलिये निषेध है कि उसका धर्म नंदकुमार में आरोप करना अभीष्ट है। ऐसे ही सागर के धर्म का निषेध करके उसका बाजार में आरोप किया गया है।

६ छेकापह्नुति—में अपनी गुप्त बात प्रकट होने पर मिथ्या समाधान द्वारा उसे छिपाया जाता है।

ऐनक दिये तने रहते हैं अपने मन साहब बनते हैं।
उनका मन औरों के काबू क्यों सखि सज्जन? ना सखि बाबू। उपा०

अपने सज्जन के संबंध में गुप्त रहस्य प्रकट हो जाने के कारण उसे 'बाबू' के मिथ्या समाधान से छिपाया गया है।

भयो निपट मो मन मगन सखी लखत घनश्याम।
लख्यौ कहाँ नँदलाल नहिं जलधर दीपति धाम। प्राचीन

जब अंतरंग सखी से नायिका ने यह कहा कि मेरा मन घनश्याम को देखते ही मगन हो गया तब उसकी सखी ने पूछा कि नंदलाल को कहाँ देखा ? इससे नायिका ने अपने रहस्य को प्रकट होता जानकर इस मिथ्या उत्तर से कि मैं काले मेघ के विषय में कह रही हूँ, सत्य को छिपाया है।

७ विशेषापह्नुति—में विशेष प्रकार से अपह्नुति—गोपन के कार्य का वर्णन किया जाता है।

(क) पुलक प्रकट करती है धरणी हरित तृणों की नोकों से।
मानो झीम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोंकों से। गुप्तजी

यहाँ न तो शब्दत: निषेध है और न मिस आदि शब्दों के अर्थ द्वारा ही। फिर भी हरित तृणों की नोंको को छिपाकर पृथ्वी के पुलक की स्थापना की गयी है। यहाँ अर्थ आक्षिप्त है।

(ख) रोकर रज में लोटो न भरत, ओ भाई
यह छाती ठंढी करो सुमुख सुखदायी।
मानस के मोती यों न बिखेरो, आओ
उपहार रूप यह हार मुझे पहनाओ। गुप्तजी

यहाँ आँसू की बूँदों को हार कहकर छिपाया गया है। पर यह न तो शाब्दी और न आर्थी अपह्नुति का रूप है। आँसू को मोती कहने में रूपकातिशयोक्ति है।

(ग) वे मुस्कुराते फूल नहीं, जिनको आता है मुरझाना।
वे तारों के दीप नहीं, जिनको भाता है बुझ जाना।
वे नीलम से मेघ नहीं, जिनको है घुलने की चाह।
वह अनन्त ऋतुराज नहीं, जिसने देखी जाने की राह। महादेवी

इसमें निषेध का रूप तो है पर आरोप का रूप नहीं।

चौथी छाया

अभेद-प्रधान (अध्यवसायमूल)

११ उत्प्रेक्षा (Poetical fancy)

जहाँ प्रस्तुत की—उपमेय की अप्रस्तुत-रूप में—उपमान-रूप में संभावना की जाय वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।

उपमा में उपमेय और उपमान की समता दिखलायी जाती है, रूपक में उनकी एकरूपता कर दी जाती है और उत्प्रेक्षा में उनकी समानता की संभावना संशय रूप से की जाती है। उपमा में दोनों की भिन्नता पूरी-पूरी प्रतीत होती है, रूपक में वह प्रायः नहीं ही रहती और उत्प्रेक्षा में वह कम हो जाती है। जैसे, चन्द्रमा-सा मुख है उपमा, मुख ही चन्द्रमा है—रूपक और मुख मानो चन्द्रमा है—उत्प्रेक्षा।

उत्प्रेक्षालंकार के दो प्रधान भेद होते है—१ वाच्या और २ प्रतीयमाना। जहाँ मनु, मानो, जनु, इव, प्रायः, क्या आदि वाचक शब्दों में कोई हो वहाँ वाच्या और जहाँ वाचक शब्द न हो वहाँ प्रतीयमाना होती है। जहाँ उपमेय और उपमान भाव के विना केवल संभावना-वाचक शब्द हों वहाँ उत्प्रेक्षा नहीं होती। ज्यों, यथा, जैसे, सी आदि वाचक शब्दों का उत्प्रेक्षा में प्रयोग दोष समझा जाता है। क्योंकि ये समानता के बोधक हैं। इनका प्रयोग साधर्म्य-बोधक अलंकारों में ही होता है।

हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में विना उपमेय-उपमान-भाव के ही उत्प्रेक्षा होती है। लक्षण में सामान्यतः प्रस्तुत-अप्रस्तुत का निर्देश है। उसको उपलक्षण-मात्र कहा जा सकता है।

वाच्योत्प्रेक्षा तीन प्रकार की होती है—वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा। इनके भी दो-दो उपभेद होते हैं—उक्तविषया या उक्तास्पदा और अनुक्तविषया वा अनुक्तास्पदा।

जिसकी संभावना की जाय वह संभाव्यमाना और जिसमें संभावना की जाय सो संभाव्य वा आस्पद वा विषय वा प्रश्रय कहलाता है। जहाँ दोनों रहते हैं वहाँ उत्प्रेक्षा उक्तास्पदा होती है और जहाँ

केवल संभाव्यमान—जिसकी उत्प्रेक्षा की जाती है, वही रहे तो वहाँ अनुक्तास्पदा उत्प्रेक्षा होती है।

वस्तूत्प्रेक्षा

एक वस्तु की दूसरी वस्तु के रूप में संभावना करने को वस्तूत्प्रेक्षा कहते हैं।

१ उक्तविषया—

> इसके अनन्तर अंक में रक्खे हुए सुस्नेह से,
> शोभित हुई इस भाँति वह निर्जीव पति के देह से,
> मानो निदाघारंभ में संतप्त आतप-जाल से,
> छादित हुई विपिनस्थली नव पतित किंशुकशाल से। गुप्तजी

इसमें जो उत्प्रेक्षा है उसके विषय—उत्तरा और निर्जीव देह उक्त हैं। क्योंकि इन्हीं पर विपिनस्थली और किंशुकशाल की संभावना की गयी है।

> रानी पहने थी पीत चीनांशुक उसमें,
> शोभती थी जर की किनारी नेत्र-रंजिनी।
> मानो शची रानी घिरी सोने की घटाओं से
> और लिपटी हो जलधर-धौत दामिनी। आर्यावर्त

यहाँ प्रस्तुत चीनांशुक और जर की किनारी में अप्रस्तुत सोने की घटा और दामिनी की संभावना से उत्प्रेक्षा है। विषय उक्त है।

> सूर्योद्भासित कनक कलश पर केतु था,
> यह उत्तर को फहर रहा किस हेतु था।
> कहता सा था दिखा दिखा कर कर कला—
> यह जंगम साकेत देव-मन्दिर चला। गुप्तजी

इसमें पताका उड़ने पर 'यह जंगम साकेत जा रहा है' यही उत्प्रेक्षा की गयी है। इसमें विषय उक्त नहीं है।

> आयी मोद-पूरिता सोहागवती रजनी,
> चाँदनी का आँचल सम्हालती सकुचती,
> गोद में खेलाती चन्द्र चन्द्रमुख चूमती,
> झिल्ली रव गूँजा, चलीं मानो वनदेवियाँ
> लेने को बलैया निशारानी के सलोने की। वियोगी

वनदेवियों के बलैया लेने में अनुपम उत्प्रेक्षा है। इसमें उत्प्रेक्षा का विषय उक्त नहीं है।

हेतूत्प्रेक्षा

अहेतु में हेतु की अर्थात् अकारण को कारण मानकर जो उत्प्रेक्षा की जाती है वह हेतूत्प्रेक्षा कही जाती है।

इसके दो भेद होते हैं—सिद्धविषया और असिद्धविषया। जहाँ उत्प्रेक्षा का विषय सिद्ध अर्थात् संभव हो वहाँ पहली और जहाँ विषय असिद्ध अर्थात् असंभव हो वहाँ दूसरी होती है।

१ सिद्धविषया—

दुर्जन टले सज्जन मिले दो लाभ हों जो साथ ही
तो बुध विवेकी चित्त में आह्लाद क्यों पावें नहीं।
रजनीश जाता है चला दिवसेश आता है यहाँ
मानो इसीसे पक्षियों का वृन्द गाता है यहाँ। रा० च० उपा०

यहाँ पक्षियों के गाने की जो उत्प्रेक्षा की गयी है उसका प्रातःकाल कारण हो सकता है।

सारा नीला सलिल सरि का शोक-छाया-पगा था।
कंजो में से मधुप कढ़ के घूमते से भ्रमे से।
मानो खोटी विरह घटिका सामने देख के ही।
कोई भी थी अवनतमुखी कान्ति-हीना मलीना। हरिऔध

किसी के कान्तिहीन, मलीन और नम्रमुखी होने की उत्प्रेक्षा का कारण यह घटिका हो सकती है।

२ असिद्धविषया—

मोर मुकुट की चन्द्रकनि यों राजत नँदनंद।
मनु ससि सेखर को अकस किय सेखर सत चन्द। बिहारी

इसमें शेखर शतचन्द का जो कारण शशि-शेखर की प्रतिद्वन्द्विता कहा गया है वह असिद्ध है।

करते हुए गर्जन गगन में दौड़ते हैं घन यथा
हय, गज, रथादिक शब्द करते चल पड़े अगणित तथा।
उड़ने लगी सब ओर, रज होने लगी कंपित धरा,
मानों न सह कर भार यह ऊपर चली करके त्वरा। गुप्तजी

धूल के रूप में पृथ्वी के ऊपर उड़ने की जो उत्प्रेक्षा की गयी है उसका हय, गज आदि का भार न सहना कारण नहीं हो सकता। अतः असिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा है।

फलोत्प्रेक्षा

जहाँ अफल में फल की संभावना की जाय वहाँ फलोत्प्रेक्षा होती है।

हेतूत्प्रेक्षा के समान इसके भी दो भेद होते हैं।

१ सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा—

> क्या लोक-निद्रा भंग कर यह वाक्य कुक्कुट ने कहा—
> 'जागो, उठो, देखो कि नभ मुक्तावली बरसा रहा।
> तमचर उलूकादिक छिपे जो गर्जते थे रात में,
> पाकर अँधेरा ही अधम जन घूमते हैं घात में। गुप्तजी

सवेरा होने पर सब कोई जाग ही जाते हैं, यह विषय सिद्ध है। कुक्कुट के बोलने में जगाना रूप फल की जो उत्प्रेक्षा की गयी है वह सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा है।

> धीरे-धीरे पवन ढिग जा फूलवाले द्रुमों के,
> शाखाओं से कुसुम-चय को थी धरा पै गिराती।
> मानो यों थी हरण करती फुल्लता पादपों की,
> जो थी प्यारी न ब्रज जग को आज न्यारी व्यथा से। हरिऔध

हवा से फूल झड़ता ही है, यह विषय सिद्ध है। पादपों की फुल्लता हरण करना रूप फूल की जो इस प्रकार उत्प्रेक्षा है वह सिद्धविषया है।

२ असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा—

> बहु भाँति सुन कर सुप्रशंसा और उसमें मन दिये,
> सुरपुर गये हो नाथ क्या तुम अप्सराओं के लिये।
> पर जान पड़ती है मुझे यह बात मन में भ्रम भरी,
> मेरे समान न मानते थे तुम किसी को सुन्दरी। गुप्तजी

अप्सरा-प्राप्ति-रूप फल की जो यहाँ उत्प्रेक्षा है उसका विषय सुरपुर जाना—मरना असिद्ध है। युद्ध में मरने का वही फल हो, कहा नहीं जा सकता।

नाना सरोवर खिले नव पंकजों को
ले अंक में बिहँसते मन मोहते थे।
मानो प्रसार अपने शतशः करों को
वे माँगते शरद से सुविभूतियाँ थे। हरिऔध

यहाँ सुविभूतियाँ माँगना रूप फल के लिये सरोवर का नव पंकज रूप कर फैलाना विषय असिद्ध है।

प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा

कह आये हैं कि जहाँ वाचक शब्द न हो वहाँ प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा होती है।

१ प्रतीयमाना हेतूत्प्रेक्षा

यह थी एक विशाल मोतियों की लड़ी।
स्वर्ग कंठ से छूट धरा पर गिर पड़ी।
सह न सकी भवताप अचानक गल गयी;
हिम होकर भी द्रवित रही कल जलमयी। गुप्तजी

इसमें गंगा पर उत्प्रेक्षा की गयी है, पर 'मानो' आदि वाचक शब्द नहीं। इसीसे प्रतीयमाना है। गंगा को जो गली हुई मोतियों की माला कही गयी है वह गंगाजल का कारण नहीं है।

२ प्रतीयमाना फलोत्प्रेक्षा

'रोज भ्हात है क्षीरधि मैं ससि तो मुख की समता लहिबे को'

इसी प्राचीन उक्ति पर यह नवीन उक्ति है—

नित्य ही नहाता क्षीर-सिन्धु में कलाधर है
सुन्दर तवानन की समता की इच्छा से।

समता की इच्छा रूप जो यहाँ फल-कामना है उसकी उत्प्रेक्षा की गयी है। वह वाचक न रहने से प्रतीयमाना है।

सापह्नवोत्प्रेक्षा

जहाँ अपह्नुति-सहित उत्प्रेक्षा की जाती है वहाँ यह अलंकार होता है।

इसके अनेक भेद हो सकते हैं।

विकलता लख के व्रज देवि की रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिस ओस के नयन से गिरता बहु वारि था। हरि०

यहाँ ओस का निषेध करके उसमें रात के आँसू की उत्प्रेक्षा होने से सापह्नवोत्प्रेक्षा है।

जन प्राची जननी ने, शशि शिशु को जो दिया डिठौना है,
उसको कलंक कहना यह भी मानो कठोर टौना है।

यहाँ कलंक का निषेध करके मा का डिठौना के रूप में उसकी उत्प्रेक्षा की गयी है।

१२ अतिशयोक्ति (Hyperbole)

जहाँ लोक-मर्यादा के विरुद्ध वर्णन करने को—प्रस्तुत को बढ़ा-चढ़ाकर कहने को अतिशयोक्ति अलंकार कहते हैं।

प्रारंभ में कहा गया है कि प्रायः प्रत्येक अलंकार के मूल में अतिशयोक्ति रहती है, जो चमत्कार का कारण है। चमत्कार की विशेषता से ही अलंकारों के भिन्न-भिन्न नाम दिये गये हैं। अतिशयोक्ति के अन्तर्गत अनेक अलंकार अनेक रूप में आते हैं जिनका अभी तक नामकरण नहीं हुआ है। वर्तमान हिन्दी-साहित्य ऐसे अलंकारों का जनक हो रहा है।

इसके मुख्य पाँच भेद हैं—१ रूपकातिशयोक्ति २ भेदकातिशयोक्ति ३ सम्बन्धातिशयोक्ति ४ असम्बन्धातिशयोक्ति ५ कारणातिशयोक्ति।

१ रूपकातिशयोक्ति—जहाँ केवल उपमान के द्वारा उपमेय का वर्णन किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

बाँधा विधु को किसने इन काली जंजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ है हीरों से। प्रसाद

प्रिया का मुख शशि के समान सुन्दर था और काले बाल व्याल-से थे। इनमें उपमेयों का निर्देश न करके केवल उपमानों का ही निर्देश है। मोतियों से माँग भरी हुई थी, उस पर कवि कहता है कि फणि—सर्प तो स्वयं मणिवाला है, फिर उसका मुख हीरों से क्यों भरा है? केवल उपमान-निर्देश के कारण यहाँ रूपकातिशयोक्ति है।

विद्रुम-सीपी-संपुट में मोती के दाने कैसे?
है हंस न, पर शुक फिर क्यों चुगने को मुक्ता ऐसे। प्रसाद

इसमें ओठ, दाँत तथा नाक उपमेयों को छोड़ दिया है और विद्रुम-सीपी, मोती तथा शुक उपमानों को ही लिया है जिससे यहाँ उक्त अलंकार है।

२ भेदकातिशयोक्ति—उपमेय के अन्यत्व-वर्णन में—अभिन्नता होने पर भी भिन्नता के कथन में—भेदकातिशयोक्ति होती है। इसके नया, अन्य, और, न्यारा, अनोखा आदि वाचक शब्द हैं।

> नयी अरुणिमा जगी अनल में नवलोज्ज्वलता जल में,
> नभ में नव्य नीलिमा, नूतन हरियाली भूतल में।
> नया रंग आया समीर में नया गंध गुण छाया,
> प्राण तुल्य पाँचों तत्त्वों में वह पीताम्बर आया। गुप्तजी

यहाँ अनल आदि में अरुणिमा आदि की नवीनता वर्णित है पर इनमें नूतनता कुछ भी नहीं होती। अत: अभेद होने पर भी भेद—अन्यत्व उक्त है। अत: इसमें यह अलंकार है।

> अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान।
> वह चितवनि औरे कछू जेहि बश होत सुजान। बिहारी

इसमें 'औरे' वाच्य शब्द द्वारा उपमान से उपमेय को भिन्न कहा गया है।

३ सम्बन्धातिशयोक्ति—जहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध की कल्पना की जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

> भरत होकर यहाँ क्या आज करते, स्वयं ही लाज से वे डूब मरते।
> तुम्हें सुतभक्षिणी साँपिन समझते, निशा को मुँह छिपाते दिन समझते। सा०

भरतजी का रात को दिन, माँ को सुतभक्षिणी समझना असम्बन्ध में सम्बन्ध-कल्पना है। समझना शब्द से एक प्रकार का निश्चय है। इससे निर्णीयमाना है।

> करतल परस्पर शोक से उनके स्वयं घर्षित हुए।
> तब विस्फुरित होते हुए भुज दंड यों दर्शित हुए।
> दो पद्म शुंडों में लिये दो शुंड वाला गज कहीं,
> मर्दन करे उनको परस्पर तो मिले समता कहीं। गुप्तजी

यहाँ कहीं शब्द से दो शुंडोंवाले हाथी की असम्भव कल्पना है जो असम्बन्ध में सम्बन्ध स्थापित करता है। इससे यह सम्भाव्यमाना है।

४ असंबन्धातिशयोक्ति—जहाँ सम्बन्ध में असंबन्ध की कल्पना हो वहाँ यह अलंकार होता है।

बन्दनीय यह पुण्यभूमि है, महा श्रेष्ठ है क्षत्रिय-वंश;
जिसमे लेकर जन्म बन गये जो अनुपम नृप-कुल-अवतंश।
जिनके चरित कथन में होते कवि-पुंगव भी नहीं समर्थ,
उनकी गाथाओं के गुम्फन का प्रयास है मेरा व्यर्थ। पुरोहित

यहाँ रचना का प्रयास है, फिर भी उसे व्यर्थ कहा गया है। सम्बन्ध में असम्बन्ध उक्त है।

औषधालय भी अयोध्या में बने तो थे सही।
किन्तु उनमें रोगियों का नाम तक भी था नही। रा० च० उ०

औषधालय के होने रूप संबंध में रोगियों का न रहना रूप असंबंध की कल्पना की गयी है।

५ कारणातिशयोक्ति—कारण और कार्य के पूर्वापर की विपरीतता में कारणातिशयोक्ति अलंकार होता है। इसके तीन भेद हैं।

(१) अक्रमातिशयोक्ति में कार्य और कारण का एक ही काल में होना कहा जाता है।

क्षण भर उसे संधानने में वे यथा शोभित हुए,
है भाल-नेत्र-ज्वाल हर ज्यों छोड़ते क्षोभित हुए।
वह शर इधर गाण्डीव गुण से भिन्न जैसे ही हुआ,
धड़ से जयद्रथ का उधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ। गुप्तजी

इसमें एक ओर बाण का छूटना और दूसरी ओर सिर का कटना—कारण-कार्य का एककालिक वर्णन है।

(२) चपलातिशयोक्ति में कारण के ज्ञान-मात्र से कार्य का होना वर्णित होता है।

१ चण्डि सुनकर ही जिसे सातंक चुभ उठे सौ बिच्छुओं के डंक।
दण्ड क्या उस दुष्टता का स्वल्प? है तुषानल तो कमलदल तल्प। गुप्तजी
२ मैं जभी तोलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूँ।
भुजलता फँसा कर नर-तरु से झूले सी झोंके खाती हूँ। प्रसाद

पहले में दुष्टता के सुनने मात्र से सौ बिच्छुओं के डंक चुभ उठना और दूसरे में तौलने के उपचारमात्र से तुल जाना कारण के ज्ञान मात्र से कार्य का होना है।

(३) अत्यंतातिशयोक्ति में कारण के प्रथम ही कार्य का होना वर्णित होता है।

शर खींच उसने तूण से कब किधर संधाना उन्हें,
बस विद्ध होकर ही विपक्षी वृन्द ने जाना उन्हें। गुप्तजी

यहाँ विपक्षी का वेधन रूप कार्य पहले होता है, पीछे शर-संधान कारण का ज्ञान होता है।

दोनों रथी इस शीघ्रता से थे शरों को छोड़ते;
जाना न जाता था कि वे कब थे धनुष पर जोड़ते।

यहाँ भी कार्य के पश्चात् कारण वर्णित है। इसका यह एक नया ही रूप है।

पाँचवीं छाया

गम्यौपम्याश्रय (पदार्थगत)

कई अलंकारों में औपम्य अर्थात, उपमेय-उपमान-भाव छिपा रहता है। इससे सादृश्य-गर्भ का यह गम्यौपम्याश्रय नामक तीसरा भेद होता है। इसके बारह भेद होते हैं। १ पहले पदार्थगत में तुल्ययोगिता और दीपक, दो अलंकार आते हैं।

१३ तुल्ययोगिता (Equal pairing)

जहाँ गुण वा क्रिया के द्वारा अनेक प्रस्तुतों—उपमेयों वा अप्रस्तुतों—उपमानों का एक ही धर्म कहा जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

अनेक उपमेयों वा उपमानों का एक ही धर्म कहे जाने को प्रथम तुल्ययोगिता कहते हैं।

(क) उपमेयों का एक धर्म—

सीता सुषमा सुधा सिन्धु में अज्ञ भूपसुत डूबे,
वीर, धीर, मतिमान, जितेन्द्रिय मन में तनिक न ऊबे।
मन में हर्षित हुए विवेकी महिमा देख प्रकृति की
हरि भक्तों पर कभी न चलती माया काम-विकृति की। रा० च०

यहाँ उपमेय वीर, धीर, मतिमान और जितेन्द्रिय राजाओं का एक ही धम 'न ऊबना' कहा गया है।

(ख) उपमानों का एक धर्म—

इसी बीच में नृप आज्ञा से सीता गयी बुलायी,
सखियों सहित लिये जयमाला तुरत वहाँ वह आयी।
रति, रंभा, भारती, भवानी उसके तुल्य नहीं हैं,
सकुनिसुता त्रिभुवन में कोई हंसी तुल्य कहीं है। रा० च०

यहाँ रति, रम्भा, आदि उपमानों का तुल्य न होना एक ही धर्म उक्त है।

२ हित-अनहित में तुल्य वृत्ति के वर्णन करने को दूसरी तुल्ययोगिता कहते हैं—

राम-भाव अभिषेक समय जैसा रहा,
वन जाते भी सहज सौम्य वैसा रहा।
वर्षा हो वा ग्रीष्म सिन्धु रहता वही,
मर्यादा की सदा साक्षिणी है मही। गुप्तजी

इसमें 'राज्याभिषेक' और 'वनवास' जैसे हिताहित में राम के मुख का भाव एक-सा बना रहा।

३ उपमेय की उत्कृष्ट गुणवालों के साथ गणना करने को तीसरी तुल्ययोगिता कहते हैं।

शिवि दधीचि के सम सुयश इसी भूर्ज तरु ने किया
जड़ भी होकर के अहो त्वचा-दान इसने दिया। रा० च०

यहाँ उपमेय भूर्ज-तरु को शिवि-दधीचि जैसे उत्कृष्ट गुणवालों के समान बताकर वर्णन किया गया है।

१४ दीपक (Illuminator)

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के एक धर्म कहने को दीपक अलंकार कहते हैं।

थाह न पैहै गँभीर बड़ो है सदा ही रहै परिपूरन पानी।
एकै विलोकि कै 'श्री पुत दास जू' होत उमाहिल मैं अनुमानी।
आदि वही मरजाद लिये रहै है जिनकी महिमा जग जानी।
काहु के केहू घटाये घटै नहिं सागर औ गुन आगर प्रानी।

इसमें 'सागर' और 'गुन आगर प्राणी' प्रस्तुत-अप्रस्तुतों का 'घटाये

घटै नहिं' आदि एक ही धर्म कहा गया है। श्लेष से दोनों के गुण और कार्य एकसमान ही हैं।

रहिमन पानी राखिये विन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरै मुक्ता मानिक चून।

इसमें चूना प्रस्तुत और मुक्ता, मानिक अप्रस्तुत के 'न ऊबरे' एक ही धर्म उक्त है।

नृप मद सो गज दान सों शोभा लहत विशेष।

'शोभा लहत' दोनों का एक धर्म कहा गया है।

टिप्पणी—तुल्य योगिता में केवल उपमेयों वा उपमानों का एक धर्म कहा जाता है और दीपक में दोनों का एक धर्म उक्त होता है। किन्तु चमत्कार न होने के कारण इसको तुल्ययोगिता का ही एक भेद मानना उचित प्रतीत होता है।

कारकदीपक—अनेक क्रियाओं में एक ही कारक के योग को कारक-दीपक अलंकार कहते हैं।

हेम पुंज हेमन्त काल के इस आतप पर वारूँ,
प्रिय स्पर्श का पुलकावलि मैं कैसे आज बिसारूँ।
किन्तु शिशिर में ठंढी साँसें हाय कहाँ तक धारूँ?
तन जारूँ, मन मारूँ पर क्या मैं जीवन भी हारूँ। **गुप्तजी**

इसमें अनेक क्रियाओं का 'मैं' एक ही कर्ता हैं।

देहलीदीपक—दो वाक्यों के बीच में जहाँ एक ही क्रिया आती है वहाँ देहली-दीपक अलंकार होता है।

कहा राम ने अनुज करो तैयार चिता को,
उस गति को दूँ इसे मिली जो नहीं पिता को।
पिता मरण का शोक न सीता हर जाने का,
लक्ष्मण हा! है शोक गृध्र के मर जाने का। रा० च०

इसमें 'शोक न' यह वाक्य में दोनों ओर लगता है जिससे 'सीता हरने का शोक न' यह अर्थ होता है।

विष से भरी वासना है यह सुधापूर्ण वह प्रीति नहीं।
रीति नहीं अनरीति, और यह अनीति है नीति नहीं। **गुप्तजी**

इसमें 'है' क्रिया रीति नहीं (है) अनरीति (है) और नीति नहीं (है) के साथ भी लगती है।

सोहत भूपति दान सों फल-फूलन आराम।

मालादीपक—पूर्वोक्त वस्तुओं से उपर्युक्त वस्तुओं का एक धर्म से संबंध कहने को मालादीपक अलंकार कहते हैं।

काव्य में सुन्दर बिजली सी बिजली में चपल चमक सी,
आँखों में काली पुतली से पुतली सी श्याम झलक सी,
प्रतिमा में सजीवता सी बस गयी सुछवि आँखों में
थी एक लकीर हृदय में जो अलग रही लाखों में। प्रसाद

यहाँ पूर्व कथित घन में उत्तर कथित बिजली का, फिर पूर्वोक्त बिजली का उत्तर कथित चमक का और ऐसे ही आँखों में पुतली का फिर पुतली में श्यामता का 'बस गई सुछवि आँखों में' इस एक क्रिया-रूप धर्म से सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

आवृत्तिदीपक—जहाँ पद, अर्थ और पद तथा अर्थ की आवृत्ति हो वहाँ यह अलंकार होता है। इसके तीन भेद होते हैं—

(क) पदावृत्ति दीपक में भिन्न-भिन्न अर्थवाले पदों की विशेषत: क्रिया की आवृत्ति होती है।

दीन जानि सब दीन नहिं कछु राख्यो वीरवर।

इसमें 'दीन' का 'गरीब' और 'दे दिया' यह भी अर्थ होता है। एक संज्ञा है और एक क्रिया।

(ख) अर्थावृत्ति दीपक में एक ही अर्थवाले भिन्न-भिन्न पदों की आवृत्ति होती है।

सर सरजा तव दान को को करि सकत बखान।
बढ़त नदी-गन दानजल उमड़त नद गज दान। प्राचीन

इसमें बढ़त और उमड़त शब्द भिन्न हैं पर अथ एक ही है। यहाँ 'दान' में पदावृत्ति भी है। क्योंकि इस एक ही शब्द का दान देना और गजमद दो अर्थ हैं। ऐसे स्थानों में अनुप्रास भी होता है।

(ज) जहाँ पद और अर्थ दोनों की आवृत्ति हो वहाँ पदार्थावृत्ति दीपक अलंकार होता है।

...... एक साथ शंख सौ
वामा-दल ने बजाये और किये चाप सौ
टंकारित सातंका सुलंका कँपी शंका-से
नागों पर निषादी, सादी कँपे अश्वों पै

सुरथी रथों में कँपे भूप सिंहासन पै
नारियाँ वरों में कँपी पक्षी कँपें नीड़ों में। मेघनादवध

इसमें 'कँपें' एक ही शब्द बार-बार आया है जिसका अर्थ भी एक ही है। ऐसे स्थानों में पुनरुक्ति, अनवीकृत दोष आ जाते हैं।

छठी छाया

गम्यौपम्याश्रय (वाक्यगत)

दूसरे वाक्यार्थगत में तीन अलंकार—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना—आते हैं।

१५. प्रतिवस्तूपमा (Typical Comparison)

जहाँ उपमान और उपमेय वाक्यों का विभिन्न शब्दों द्वारा एक ही धर्म कहा जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

एक समय जो ग्राह्य दूसरे समय त्याज्य होता है।
उष्मा में हिम के कंबल का भार कौन ढोता है। गुप्तजी

इसमें 'त्याज्य' और 'भार कौन ढोता है' दूसरे-दूसरे शब्दों में एक ही धम कहा गया है। दोनों में उपमेय-उपमान भाव है।

मानस में ही हंस-किशोरी सुख पाती है
चारु चाँदनी सदा चकोरी को भाती है।
सिंह-सुता क्या कभी स्यार से प्यार करेगी?
क्या पर-नर का हाथ कुल-स्त्री कभी धरेगी। रा० च० उ०

यहाँ चौथी पंक्ति उपमेय वाक्य और तीसरी पंक्ति उपमान वाक्य हैं। 'प्यार करना' और 'नर का हाथ धरना' इन दोनों शब्द-भेदों से एक ही धर्म स्त्री अन्य पुरुष से कभी प्रेम नहीं करती, कहा गया है। ऐसे ही पहली और दूसरी पंक्तियों में भी उपमेय उपमान भाव है और भिन्न-भिन्न पदों 'सुख पाना' और 'भाना'—द्वारा एक ही धर्म कहा गया है।

चटक न छाड़त घटत हूँ सज्जन नेह गभीर।
फीको परै न बरु फटै, रंग्यौ चोल रंग चीर। बिहारी

पूर्वार्द्ध उपमेय वाक्य और उत्तरार्द्ध उपमान वाक्य है। 'चटक न

छाँड़त' और 'फीको परै न' इन दोनों विभिन्न पदों द्वारा 'कम न होना' एक ही धर्म कहा गया है।

१६ दृष्टान्त (Examplification)

जहाँ उपमेय, उपमान और साधारण धर्म का बिम्ब-प्रतिबिंब भाव हो वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है।

दृष्टान्त अलंकार से किसी कही हुई बात का निश्चय कराया जाता है। इसमें धर्म का पार्थक्य होते हुए भी भाव का साम्य देखा जाता है। अर्थात् दोनों का साधारण धर्म एक न होने पर भी दोनों की समता दिखायी देती है।

प्रतिवस्तूपमा में एक ही समान धर्म शब्द-भेद द्वारा कहा जाता है और दृष्टान्त में उपमेय-उपमान के वाक्यों में भिन्न-भिन्न समान धर्म का कथन होता है।

एक राज्य न हो बहुत से हों जहाँ राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ।
बहुत तारे थे अँधेरा कब मिटा सूर्य का आना सुना जब तब मिटा। गुप्तजी

पूर्वार्द्ध में राष्ट्र के बल बिखरने की एक बात है और उत्तरार्द्ध में बहुत तारों के रहने की पर दोनों के साधारण धर्म भिन्न-भिन्न हैं। सादृश्यवाचक शब्द नहीं है। इस प्रकार इनका बिंब-प्रतिबिंब भाव है।

सकल सम्पति है मम हाथ में सुख-सुधानिधि है तब हाथ में।
जलधि में मणि माणिक शुक्ति हैं, सुरधुनी कर में पर मुक्ति है। उपा०

यहाँ भी बिंब-प्रतिबिंब भाव होने से दृष्टान्त है।

माला दृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टान्त भी होते हैं।

मुनियों की दुर्दशा देख रघुपति घबरायें;
निज दुख मन से तुरत उन्होंने दूर भगाये।
वज्रपात के तुल्य कभी शरपात नहीं हैं;
ग्रीष्मपात सा दुसह कभी हिमपात नहीं है।
रा० च० उपा०

पूर्वार्द्ध उपमेय के उत्तरार्द्ध की दो पंक्तियों में माला रूप से दो दृष्टान्त दिये गये हैं।

किन्तु उसे उपदेश व्यर्थ है जो विनाश से बाध्य हुआ।
तूर्ण मरण ही मंगल उसका जिसका रोग असाध्य हुआ।

यहाँ उपदेश की व्यर्थता और मंगल, दोनों समानधर्मा नहीं हैं।

सुख दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन।
फिर घन में ओझल हो शशि फिर शशि से ओझल हो घन। पंत

इसमें सुख-दुख और शशि-घन का उपमेयोपमेय-भाव है और साधारण धर्म का भी बिंब-प्रतिबिंब भाव है। यह दृष्टान्त का एक नया रूप है।

१७ निदर्शना (Ellustration)

जहाँ वस्तुओं का परस्पर संबंध उनके बिंब-प्रतिबिंब-भाव का बोध करे वहाँ निदर्शना अलंकार होता है।

किसी ने दो, किसी ने तीन और किसी ने पाँच तक हिन्दी में इसके भेद कर डाले हैं।

१ प्रथम निदर्शना—जहाँ वाक्य या पदार्थ में असंभव संबंध के लिये उपमा की कल्पना की जाय वहाँ प्रथम निदर्शना होती है।

निदर्शना अलंकार में उपमेय और उपमान वाक्यों का असम्भव सम्बन्ध की असम्भवता दूर करने के लिये अन्त में इनका पर्यवसान उपमा में होता है। अर्थात् उपमा की कल्पना से उनका सम्बन्ध स्थापित होता है।

सन्धि का प्रश्न तो उठता ही नहीं—सोच लें
देश-द्रोहियों से सन्धि ! यह आत्मघात है !
चुप बैठ जाना द्रोहियों से सन्धि करके,
आँगन में सोना है लगा के आग घर में। वियोगी

तीसरी पंक्ति उपमेय वाक्य है और चौथी उपमान वाक्य। दोनों में असंभव संबन्ध है। क्योंकि द्रोहियों से सन्धि और आग लगाकर सोना दोनों दो कार्य हैं। एक दूसरा नहीं हो सकता। अतः द्रोहियों के साथ सन्धि करके बैठ जाना वैसा ही घातक होता है जैसा कि आग लगाकर आँगन में सोना। इस कल्पित उपमा से सम्बन्ध बैठ जाता है।

दृष्टान्त में दो निरपेक्ष वाक्य रहते हैं और दृष्टान्त दिखाकर उपमान से उपमेय की पुष्टि की जाती है। निदर्शना में दोनों वाक्य

सापेक्ष रहते हैं। क्योंकि उपमेय वाक्य में उपमान वाक्य के अर्थ का आरोप किये जाने के कारण उनका संबंध बना रहता है।

श्री राम के हयमेध से अपमान अपना मान के,
मख अश्व जब लव और कुश ने जय किया रण ठान के।
अभिमन्यु षोड़श वर्ष का फिर क्यों लड़े रिपु से नहीं,
क्या आर्यवीर विपक्ष-वैभव देख कर डरते कहीं? गुप्तजी

तीसरी पंक्ति में उपमेय वाक्य और पूर्वार्द्ध में उपमान वाक्य है। शेष बातें पहले की सी हैं।

जो, सो, तो, जे, ते आदि वाचक शब्द द्वारा दो असमान वाक्यों की एकता भी दिखायी जाती है। पिछले उदाहरण में 'जब' भी वाचक माना जा सकता है।

भरिबो है समुद्र को संबुक मैं छिति को छिगुनी पर धारिबो है।
बँधिबो है मृनाल सों मत्त करी जुहि फूल सौं सैल बिदारिबो है॥
गनिबो है सितारन को कवि 'शंकर' रेनु सौं तेल निकारिबो है।
कविता समुझाइबो मूढ़न को सविता गहि भूमि पै डारिबो है।

मूढ़ों को कविता समझाना उपमेय वाक्य और शंबुक में समुद्र को भरना आदि उपमान वाक्य हैं। इनका उपमानोपमेय से मालारूप में निदर्शना है।

२ द्वितीय निदर्शना—अपने स्वरूप और उसके कारण का संबंध अपनी सत्-असत् क्रिया द्वारा सत्, असत् का बोध कराने को द्वितीय निदर्शना अलंकार कहते हैं।

पास पास ये उभय वृक्ष देखो अहा!
फूल रहा है एक दूसरा झड़ रहा।
है ऐसी ही दशा प्रिये, नरलोक की।
कहीं हर्ष की बात कहीं पर शोक की। गुप्तजी

यहाँ पर वृक्ष अपने फूलने और झड़ने की क्रिया से जगत् की सुख-दु:खात्मक गति का निर्देश करते हैं।

कुअंगजों की बहु कष्टदायिता बता रही थी जन नेत्रवान को।
स्वकंटकों से स्वयमेव सर्वदा विदारिता हो बदरी द्रुमावली। हरिऔध

अपने कंटकों से ही अपने को छिन्न-भिन्न होते हुए बैर के पेड़

कुपुत्रों की कष्टकारिता को मानो बता रहे हैं। यहाँ अपनी असत् क्रिया से असत् बोध कराया गया है।

> मधुप त्रिभंगी हम तजी प्रगट परम करि प्रीति।
> प्रगट करत सब जगत में कटु कुटिलन की रीति। प्राचीन

त्रिभंगी कृष्ण ने गोपियों को प्रेम करके छोड़ दिया और इस प्रकार वे कुटिलों की क्रूर करतूत को सारे संसार में प्रकट कर रहे हैं।

३ तीसरी निदर्शना—जहाँ उपमेय का गुण उपमान में अथवा उपमान का गुण उपमेय में आरोपित हो वहाँ यह भेद होता है।

> जिस की आँखों पर निज आँखें रख विशालता नापी है।
> विजय गर्व से पुलकित होकर मन ही मन फिर काँपी है।
> वह भी तुझको ताक रहा है लखने को उत्फुल्ल बदन।
> तुझे देख कर भूल गया है भरना भी चौकड़ी हिरन। भक्त

बेगम को आँखों की नाप-जोख में जो विजय मिली उससे स्पष्ट है कि हिरन की आँखों से उसकी आँखें बड़ी-बड़ी हैं। यहाँ उपमान का गुण उपमेय में है।

> भारती को देखा नहीं कैसी है रमा का रूप,
> केवल कथाओं में ही सुने चले आते हैं।
> सीता जी का शील सत्य वैभव शची का कहीं,
> किसी ने लखा ही नहीं ग्रन्थ ही बताते हैं।
> दीन दमयंती की सहन-शीलता की कथा,
> झूठी है कि सच्ची कौन जाने कवि गाते हैं।
> इन्दुपुर वासिनी प्रकाशनी मल्हार वंश,
> मातु श्री अहिल्या में सभी के गुण पाते हैं।

यहाँ अहिल्या बाई उपमेय में भारती आदि उपमानों के गुण का कथन है।

सातवीं छाया

गम्यौपम्याश्रय (भेदप्रधान)

तीसरे भेद-प्रधान में व्यक्तिरेक और सहोक्ति दो अलंकार आते हैं।

१८. व्यतिरेक (Dissimilitude, Contrast)

उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष-वर्णन को व्यतिरेक अलंकार कहते हैं।

इसके प्रधानतः चार भेद होते हैं।

१ उपमेय का उत्कर्ष और उपमान का अपकर्ष कहा जाना—

स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ किन्तु सुरससरिता कहाँ सरयू कहाँ ?
वह मरों को मात्र पार उतारती यह यहीं से जीवितों को तारती। सा०

इसमें उपमेय सरयू के उत्कर्ष का तथा उपमान सुरसरिता का कारण-निर्देश-पूर्वक अपकर्ष का वर्णन है।

सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग लखि कोमल कनक कठोर। तुलसी

इसमें भी उपमेय-उपमान के उत्कर्षापकर्ष का निर्देश है।

२ उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष का न कहा जाना—

तब कर्ण द्रोणाचार्य से साश्चर्य यों कहने लगा।
आचार्य देखो तो नया यह सिंह सोते से जगा।
रघुवर विशिख से सिंधु सम सब सैन्य इससे व्यस्त है,
यह पार्थनंदन पार्थ से भी धीर वीर प्रशस्त है। गुप्तजी

इसमें अभिमन्यु का आधिक्य वर्णित है पर अर्जुन और अभिमन्यु के उत्कर्षापकर्ष का कारण अनुक्त है।

सरयू-सलिल की स्वर-सुधा समता न पा सकती कभी,
साकेत के माहात्म्य को वाणी न गा सकती कभी।

प्रथम पंक्ति में सरयू-सलिल की विशेषता तो वर्णित है पर इसका तथा सुधा के अपकर्ष का कारण उक्त नहीं है।

३ केवल उपमेय के उत्कर्ष के कारण का कहा जाना—

मृदुल कुसुम सा है औ तुने तूल सा है,
नव किसलय सा है स्नेह के उत्स सा है।

सदय हृदय ऊधो श्याम का है बड़ा ही,
अहह हृदय मा के तुल्य तो भी नहीं है। हरिऔध

यहाँ माधव के हृदय उपमेय के बड़े होने के कारण स्नेह के उत्स आदि तो कहे गये हैं पर उपमान मा के हृदय के तुल्य न होने का कारण नहीं कहा गया है।

ज्ञान योग से हमें हमारा यही वियोग भला है।
जिसमें आकृति, प्रकृति, रूप, गुण, नाट्य, कवित्व कला है। गुप्तजी

यहाँ उपमेय का ही उत्कर्ष कहा गया है, उपमान ज्ञान-योग के हीन होने का कारण उक्त नहीं है।

४ केवल उपमान के अपकर्ष के कारण का कहा जाना—

गिरा मुखर तनु अरध भवानी, रति अति दुखित अतनुपति जानी।
विष बारुनी बन्धु प्रिय जेही, कहिय रमा सम किमु वैदेही। तु०

यहाँ उपमान गिरा, भवानी, रति और रमा उपमानों के अपकर्ष के कारणों का उल्लेख है पर वैदेही के उत्कर्ष का कारण नहीं लिखा गया है।

व्यतिरेक के उल्लिखित उदाहरणों में कहीं शाब्दी, कहीं आर्थी और कहीं आक्षिप्त उपमा द्वारा उत्कर्ष तथा अपकर्ष का व्यतिरेक निर्दिष्ट हुआ है।

आचार्यों ने उपमेय की अपेक्षा उपमानों के उत्कर्ष में भी व्यतिरेक माना है।

विजन निशा में सहज गले तुम लगती हो फिर तरुवर के,
आनन्दित होती हो सखि नित उसकी पदसेवा कर के।
और हाय! मैं रोती फिरती रहती हूँ निशि दिन वन वन,
नहीं सुनाई देती फिर भी वह वंशी-ध्वनि मनमोहन। पंत

इसके पूर्वार्द्ध में वर्णित उपमान की उत्तरार्द्ध में वर्णित उपमेय की अपेक्षा विशेषता दिखायी गयी है।

१६. सहोक्ति (Connected Description)

'सह' अर्थ-बोधक शब्दों के बल से जहाँ एक ही शब्द दो अर्थों का बोधक होता है वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है।

फूलन के सँग फूलि हैं रोम परागन के सँग लाज उड़ाइहैं।
पल्लव पुंज के संग अली हियरो अनुराग के रँग रँगाइहैं।
आयो बसंत न कंत हितू अब बीर बदौंगी जो धीर धराइहैं।
साथ तरून के पातन के तरुनीन के कोप निपात ह्वै जाइहैं। दास

यहाँ साथ और संग शब्द द्वारा फूलिहैं आदि का सम्बन्ध कहा गया है।

निज पलक मेरी विकलता साथ ही
अवनि से उर से मृगेक्षणि ने उठा,
एक पल निज शस्य श्यामल दृष्टि से,
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप से। पंत

यहाँ साथ ही शब्द के बल से उठने का एक सम्बन्ध कथित है।

आठवीं छाया

गम्यौपम्याश्रय (विशेषण-वैचित्र्य आदि)

चौथे विशेषण-वैचित्र्य में समासोक्ति और परिकर दो अलंकार आते हैं।

२० समासोक्ति (Speech of Brevity)

प्रस्तुत के वर्णन द्वारा समान विशेषणों से—श्लिष्ट हों वा साधारण—जहाँ अप्रस्तुत का स्फुरण हो वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है।

"ऐसी बेदर्द है वह! घंटों पलकें बिछायीं, मिन्नतें कीं तो कहीं अटपटी सी, अनमनी सी आ गयी। आयी भी तो क्या आयी! ऐसे आने की ऐसी तैसी! आँख भी नहीं भरती तो जी क्या भरेगा—

'वो आना वो फिर जल्द जाना किसी का
न जाना कभी हमने आना किसी का'

यह नहीं कि हमने उसकी नाजबरदारी में कोई कमी की। पलँग डसायी, तलवे सहलाये, बेनिया डुलायी, क्या क्या नहीं किये! मगर वह काहे को सुने! वह तो अपनी जिद से एक तिल भी नहीं हिलती। काश, कोई भी रात वह

मेरा पहलू गर्म करती। रात आते वह आती और रात जाते वह जाती—ऐसी न कभी कोई रात आयी और न कोई प्रात आया।......"

—राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह

नींद न आने का यह ऐसा वर्णन है जो प्रेयसी के न आने का भी भान कराता है। लिङ्ग तो मुख्य है ही। श्लिष्ट वर्णन भी उसपर सर्वांशतः लागू हो जाता है।

जग के दुख-दैन्य-शयन पर यह रुग्णा बाला,
रे कब से जाग रही वह आँसू की नीरव माला।
पीली पड़ निर्बल कोमल देहलता कुम्हलाई
विवसना लाज में लिपटी साँसों में शून्य समाई। पंत

इसमें लिंग की समता के कारण चाँदनी के वर्णन से रुग्णा बाला का या रुग्णा बाला के वर्णन से चाँदनी के वर्णन का स्फुरण होता है।

अरुण पूर्व उतार तारक हार मलिन सा सित शून्य अंबर धार,
प्रकृति रंजन हीन दीन अजस्र प्रकृति विधवा थी भरे हिम अस्त्रा गुप्तजी

श्लिष्ट विशेषणों के द्वारा इस प्रकृति-वर्णन से विधवा का स्फुरण होता है। इसमें अंबर, दीन, तारकहार आदि श्लिष्ट विशेषण हैं।

२१ परिकर (Insinuaton, the significant)

जहाँ साभिप्राय विशेषणों से विशेष्य का कथन किया जाय अर्थात् वक्ता का अभिप्राय विशेषण से प्रकट हो वहाँ परिकर अलंकार होता है।

१ स्वसुतरक्षण औ पर पुत्र के दलन की यह निर्मम प्रार्थना।
बहुत संभव है यदि यों कहें सुन नहीं सकती जगदंबिका। ह० औ०

यहाँ 'जगदंबिका' साभिप्राय विशेषण है। जगदंबा होने से एक के पुत्र का मारण और दूसरे के पुत्र का रक्षण संभव नहीं। उसके लिये दोनों समान हैं।

२ किन्तु विरह वृश्चिक ने आकर अब यह मुझको घेरा।
गुणी गारुनिक दूर खड़ा तू कौतुक देख न मेरा। गुप्तजी

गारुड़िक अर्थात् तन्त्र-मन्त्रज्ञ विशेषण से यह व्यक्त होता है कि विरह-वृश्चिक के दंशन से मुक्त करने में तू ही समर्थ है।

पाँचवे विशेष-विच्छित्याश्रय में यही एक अलंकार है।

२२ परिकरांकुर (Sprout of an Insinuator)

साभिप्राय विशेष्य-कथन को परिकरांकुर अलंकार कहते हैं।

निकले भाग्य हमारे सूने वत्स दे गया तू दुख दूने
किया मुझे कैकेयी तूने, हा कलंक यह काला। गुप्तजी

यहाँ 'कैकेयी' साभिप्राय विशेष्य है जो गौतम के महाभिनिष्क्रमण—तपस्या के लिये जाने—पर उनकी माता महाप्रजावती ने कहा है।

रसमयी लख वस्तु अनेक की सरसता अति भूतल व्यापिनी
समझ था पड़ता बरसात में उदक का रस नाम यथार्थ है। ह० औ०

यहाँ 'रस' विशेष्य साभिप्राय है क्योंकि 'रस' होने से ही वस्तुयें रसमयी होती हैं।

छठे विशेषण-विशेष्य-विच्छित्याश्रय में यही एक अलंकार है।

२३ अर्थश्लेष (Paronomasia)

जहाँ स्वाभाविक एकार्थ शब्दों में अनेक अर्थ हों वहाँ अर्थ-श्लेषालंकार होता है। जैसे

करते तुलसीदास भी कैसे मानस नाद ?
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद। गुप्तजी

यहाँ महावीर और प्रसाद अएकार्थक शब्द हैं पर इनसे अन्य अर्थ भी निकलता है। एक अर्थ स्पष्ट ही है। दूसरा अर्थ यह निकलता है कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का प्रसाद नहीं पाते तो गुप्तजी आज जैसे सुप्रसिद्ध कवि न होते।

साधु चरित शुभ सरिस कपासू,
निरस बिसद गुणमय फल जासू। तुलसी

इसमें नीरस, विशद और गुणमय ऐसे एकार्थक शब्द हैं जिनके अनेक अर्थ क्रमशः सूखा और रूखा; उजला और निर्मल; धागेवाले और गुणवाले हैं जो साधु-चरित और कपास दोनों के विशेषण होते हैं।

शब्द-श्लेष में श्लिष्ट अर्थात् द्व्यर्थक शब्द प्रयुक्त होते हैं और अर्थ-श्लेष में एकार्थक शब्द के अनेक अर्थों का कथन किया जाता है।

नवीं छाया

गम्यौपम्याश्रय के शेष भेद

शेष छ भेदों में पृथक्-पृथक् अप्रस्तुतप्रशंसा आदि छ अलंकार हैं।

२४ अप्रस्तुतप्रशंसा (Indirect Description)

जहाँ प्रस्तुत के वर्णन के लिये प्रस्तुत के आश्रित अप्रस्तुत का वर्णन किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

अभिप्राय यह कि प्रासंगिक बात को छोड़कर अप्रासंगिक बात के वर्णन द्वारा उसका बोध कराना ही अप्रस्तुतप्रशंसा है। इसके मुख्य पाँच प्रकार हैं। उनमें कार्य कारण, सामान्य-विशेष और सारुप्य नामक तीन सम्बन्ध होते हैं।

(१) कार्यनिबन्धना—प्रस्तुत कारण के लिये अप्रस्तुत कार्य का बोध कराना।

है चन्द्र हृदय में बैठा उस शीतल किरण सहारे।
सौन्दर्य-सुधा बलिहारी चुगता चकोर अंगारे। प्रसाद

इस पद्य द्वारा इतना ही कहना अभीष्ट है कि सच्चा प्रेम ऐसा है जो प्रेमी को अमर बना देता है। यहाँ वर्णित कार्य द्वारा अप्रस्तुत प्रेम कारण का बोध कराया गया है।

नित्य ही मानव तरंगों में अतल मग्न होते हैं कई पर इस तरह।
अमृत की जीवित लहर के बाँह में जगत में कितने अभी झूले भला। पंत

नायक अपने सौभाग्य पर फूला नहीं समाता। इस कारण को उसने वर्णित कार्य द्वारा प्रकट किया है।

राधिका को बदन सवाँरि विधि धोये हाथ
ताते भयो चन्द कर झारे भये तारे हैं।

यहाँ राधा के मुख का सौन्दर्य-वर्णन अभीष्ट है जो कारण-स्वरूप है। उसका वर्णन न करके हाथ धोने और झारने से चन्द्रमा और तारों की उत्पत्ति रूप कार्य द्वारा उसका निर्देश किया गया।

(२) कारणनिबन्धना—प्रस्तुत कार्य के लिये अप्रस्तुत कारण का बोध कराना।

जो चन्द्रमुख ठंढी हवा से सूखता है गेह में,
वह घाम में लू से झुलस कर हा मिलेगा खेह में।

चंपाकली सी देह वह क्यों खुरखरी भूपर कभी,
कब सो सकेगी, सो रही है फूल ऊपर जो अभी। रा० च०

राम ने सीता से 'मेरे साथ वन न चलो' इस प्रस्तुत कार्य को स्पष्ट न कहकर के उसके अप्रस्तुत बाधक कारण का ही उल्लेख पद्य में किया है। इससे यहाँ कारणनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा है।

उसके घर के सभी भिखारी? यह सच है तो जाऊँ।
पर क्या माँग तुच्छ विषयों की भिक्षा उसे लजाऊँ? गुप्तजी

यहाँ न जाने रूप कार्य का निषेध कारण निर्देश करके प्रकट किया गया है। इससे यहाँ भी पूर्ववत् कारण-निबन्धना अप्रस्तुत-प्रशंसा है।

(३) सामान्यनिबन्धना—अप्रस्तुत सामान्य कथन के द्वारा प्रस्तुत विशेष का बोध कराना।

री आवेगा फिर भी वसन्त, जैसे मेरे प्रिय प्रेमवन्त।
दुःखों का भी है एक अन्त हो रहिये दुर्दिन देख मूक। गुप्तजी

यहाँ अप्रस्तुत इस सामान्य कथन से 'सबै दिन नाहि बराबर जात' इस प्रस्तुत विशेष का कथन किया गया है।

जगजीवन में है सुख-दुख सुख-दुख में है जग-जीवन
हैं बँधे विछोह मिलन दो देकर चिर स्नेहालिंगन। पंत

इस पद्य में भी वही बात है।

सर्वसाधारण से सम्बन्ध रखने के कारण समान्य है।

(४) विशेषनिबन्धना—अप्रस्तुत विशेष के कथन से प्रस्तुत सामान्य का बोध कराना।

एक दम से इन्दु तम का नाश कर सकता नहीं।
किन्तु रवि के सामने तम का पता चलता नहीं। रा०च०उपा०

इस अप्रस्तुत विशेष कथन से 'दुष्ट उग्रता की नीति से ही मानते हैं' इस प्रस्तुत सामान्य का कथन किया गया है।

'दास' परस्पर प्रेम लखो गुन छीर को नीर मिले सरसातु है।
नीरै बँचावत आपने मोल जहाँ जहाँ जाय के छीर बिकातु है।
पावक जारन छीरै लगै तब नीर जरावत आपनो गात है!
नीर की पीर निबारन कारण छीर घरी ही घरी उफनातु है।

यहाँ अप्रस्तुत छीर-नीर के विशेष वर्णन से कवि इस सामान्य प्रस्तुत का बोध कराता है कि प्रीति हो तो नीर-छीर जैसी हो।

'चन्द्र-सूर्य' और 'नीर-छीर' विशेष इस लिये हैं कि इनका सम्बन्ध इनके ही साथ है, अन्य से नहीं है।

(५) सारुप्यनिबन्धना—प्रस्तुत का कथन न कहकर तद्रूप अप्रस्तुत का वर्णन करना।

कठघरे में रोक रखता है तुम्हें कोई कहीं,
तो वहाँ भी धन्य तुमको दीनता आती नहीं।
छूटते ही गर्जता है पूर्व के उत्साह से,
सिंह जा निज बन्धुओं को भेंटता है चाह से। रा०च०उपा०

यहाँ अप्रस्तुत सिंह के सहारे प्रस्तुत किसी ऐसे नजरबन्द वीर के लिये यह बात कही गयी है जो पराधीन होकर भी दीन नहीं बनता।

सागर के लहर लहर में है हास स्वर्णकिरणों का।
सागर के अन्तस्तल में अवसाद अवाक कणों का। पंत

यहाँ अप्रस्तुत सागर के वर्णन से प्रस्तुत धीर, वीर, गम्भीर व्यक्ति का वर्णन है जो दुख-सुख में समान रहता है। सागर की चंचलता या अवसाद उसके कार्य नहीं, बल्कि लहरों और कणों का है।

भौंरा ये दिन कठिन हैं दुख सुख सहो सरीर।
जब लग फूल न केतकी तब लगि बिलम करीर। प्राचीन

इसमें अप्रस्तुत भौंरे के वर्णन से प्रस्तुत दुखी जन का बोध किया गया है। सारुप्य-निबन्धना को अन्योक्ति अलंकार भी कहते हैं।

२५ अर्थान्तरन्यास (Corroboration)

जहाँ विशेष से सामान्य का या सामान्य से विशेष्य का साधर्म्य वा वैधर्म्य के द्वारा समर्थन किया जाय वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।

१ विशेष का सामान्य से साधर्म्य द्वारा समर्थन

जगत की सुन्दरता का चाँद सजा लांछन को भी अवदात।
सुहाता बदल-बदल दिन-रात नवलता ही जग का आह्लाद। पन्त

इसमें चौथे चरण की सामान्य बात से पूर्व की विशेष बात का समर्थन है।

प्रबला दुष्टा जान ताड़का को तुम मारो,
स्त्री-हत्या का पाप तनिक भी नहीं विचारो।

क्यों न सिंहिनी और सर्पिणी मारी जावे?
जिससे देश समाज अकारण ही दुख पावे। रा० च० उपा०

यहाँ सर्पिणी के मारने की सामान्य बात से विशेष ताड़का के मारने की बात की पुष्टि की गयी है।

२ विशेष से सामान्य का साधर्म्य से समर्थन—

सामनय से दुष्ट सीधे मार्ग पर जाते नहीं,
हाथ में आते न जब तक दण्ड वे पाते नहीं।
तप्त हो जब तक घनों की चोट खाता है नहीं,
काम में तब तक हमारे लौह आता है नहीं। रा० च० उपा०

इसमें लौह की विशेषता से सामान्य दुष्ट के दण्ड की बात का समर्थन है।

सुनकर गजों का घोष उसको समझ निज अपयश-कथा;
उनपर झपटता सिंह-शिशु भी रोषकर जब सर्वथा।
फिर व्यूह-भेदन के लिये अभिमन्यु उद्यत क्यों न हो,
क्या वीर बालक शत्रु का अभिमान सह सकते कहीं। गुप्तजी

इसकी तीसरी पंक्ति की विशेष बात का चौथी पंक्ति की सामान्य बात से समर्थन किया गया है।

३ सामान्य से विशेष्य का वैधर्म्य द्वारा समर्थन—

सुकुमार तुमको जानकर भी युद्ध में जाने दिया,
फल योग्य ही है पुत्र! उसका शीघ्र हमने पा लिया।
परिणाम को सोचे बिना जो लोग करते काम हैं,
वे दुःख में पड़कर कभी पाते नहीं विश्राम हैं। गुप्तजी

इसमें योग्य फल पाना और विश्राम नहीं पाना, इस वैधर्म्य द्वारा पूर्वार्द्ध के विशेष्य का उत्तरार्द्ध के सामान्य से समर्थन है।

जैसा होवे उचित कर तू साथ मेरे कहूँ क्या
ज्ञानी मानी स्वकुल-महिमा को नहीं भूलते हैं। रा०च०उ०

प्रथम पंक्ति के विशेष का दूसरी पंक्ति के सामान्य से करना और भूलना वैधर्म्य द्वारा समर्थन है।

४ विशेष्य से सामान्य का वैधर्म्य द्वारा समर्थन—

जीवन में सुख दुःख निरन्तर आते जाते रहते हैं,
सुख तो सभी भोग लेते हैं दुःख धीर ही सहते हैं।

मनुज दुग्ध से, दनुज रुधिर से अमर सुधा से जीते हैं,
किन्तु हलाहल भवसागर का शिव-शंकर ही पीते हैं। गुप्तजी

इसमें शंकर के हलाहल पीने की विशेषता से धीरों के दुःख सहने की सामान्य बात का—सहना और पीने के वैधर्म्य द्वारा समर्थन है।

सामान्य से सामान्य का भी समर्थन होता है—

नीच को न कभी स्वमस्तक पर चढ़ाना चाहिये,
स्नेह करके मन नहीं उसका बढ़ाना चाहिये।
तेल इत्रों से उन्हें यद्यपि बढ़ाते हैं सभी,
केश तो भी वक्रता को छोड़ते हैं क्या कभी। रा० च० उपा०

विशेष से विशेष का समर्थन भी देखा जाता है—

सुभग लगता है सहज गुलाब सदा, क्या उषामय का पुनः कहना भला ?
लालिमा ही से नहीं क्या टपकती, सेव की चिर सरसता सुकुमारता। पन्त

पहले में नीच और केश दोनों सामान्य और दूसरे में पुष्प-विशेष गुलाब और फल-विशेष सेव का परस्पर समर्थन है।

टिप्पणी—दृष्टान्त में उपमेयोपमान भाव से दो समान वाक्य होते है और दोनों में समानता सूचक साधारण धर्म बिंब-प्रतिबिंब भाव से मिलते-जुलते हैं और इसमें ये बाते नहीं होतीं, । एक का समर्थन दूसरे से किया जाता है।

२६ पर्यायोक्त (Periphrasis)

अभिलषित अर्थ का विशेष-भङ्गी से कथन करने को पर्यायोक्त अलंकार कहते हैं।

प्रथम पर्यायोक्त—अपने अभीष्ट अर्थ को सीधे न कहकर प्रकारान्तर से, घुमा-फिराकर कहने को पर्यायोक्त कहते हैं।

वचनों से ही तृप्त हो गये हम सखे !
करो हमारे लिये न अब कुछ श्रम सखे !
वन का व्रत हम आज तोड़ सकते कहीं,
तो भाभी की भेंट छोड़ सकते नहीं। गुप्तजी

यहाँ राम ने गुह से सीधे यह न कहकर कि हम तुम्हारे घर नहीं जा सकते, इसीको प्रकारान्तर से कहा।

कौन मरेगा नहीं ? मृत्यु से कभी न डरना,
हँसते मरना तात ! चित्त को दुखी न करना।
जिसने तुमको दुःख दिया वह नहीं रहेगा,
तुमसे निज वृत्तान्त स्वर्ग में स्वयं कहेगा। रा० च० उपा०

रामने जटायु से यह नहीं कहा कि रावण को मार डालूँगा किन्तु अन्तिम चरण से यही बात प्रकट होती है।

दूसरा पर्यायोक्त—अपने इष्टार्थ की सिद्धि के लिये प्रकारान्तर से कथन किये जाने को द्वितीय पर्यायोक्त कहते हैं।

नाथ लखन पुर देखन चहहीं प्रभु सँकोच उर प्रगट न कहहीं,
जो राउर अनुशासन पाऊँ ! नगर दिखाय तुरत लै आऊँ। तुलसी

यहाँ रामचन्द्र को स्वयं नगर-दर्शन की अभिलाषा है पर लक्ष्मण की इच्छा का कथन करके अपना अभीष्ट सिद्ध किया।

व्याज से—बहाने से किसी इष्ट का साधन किये जाने को भी पर्यायोक्त मानते हैं।

देखन मिस मृग विहँग तरु फिरहिं बहोरि बहोरि।

इसमें मृग आदि देखने के व्याज से जानकी का राम की छवि का निरखना अभीष्ट है।

यहि घाट ते थोरिक दूर अहै कटि लौं जल थाह दिखाइहौं जू,
परसै पग धूरि तबै तरनी घरनी घर को समझाइहौं जू।
तुलसी अवलम्ब न और कछू लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू,
बरु मारिये मोहिं विना पग धोये हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू।

इसमें केवट ने चरण धोने की अभिलाषा को सीधे न कहकर यों घुमा-फिरा कर कहा।

टिप्पणी—इस अलंकार में भंग्यन्तर से कथन व्यंग्यार्थ सा प्रतीत होता है पर जैसे वह अवाच्य होता है वैसे यहाँ यह अवाच्य नहीं है। बलिक शब्द द्वारा इसमें कथन होता है। कैतवापह्नुति में एक वस्तु के छिपाने के लिये मिस या व्याज का प्रयोग होता है और इसमें मिस या व्याज इच्छित कार्य के साधन के लिये ही होता है।

२७ व्याजस्तुति (Artful praise or Irony)

स्तुति के वाक्यों द्वारा निन्दा और निन्दा के वाक्यों द्वारा स्तुति करने को व्याजस्तुति अलंकार कहते हैं।

स्तुति में निन्दा—

आत्म-ज्ञान-हीन वह मुग्धा वही ज्ञान तुम लाये।
धन्यवाद है बड़ी कृपा की कष्ट उठाकर आये। गुप्तजी

उद्धव के प्रति गोपी की इस उक्ति में है तो स्तुति पर इसके द्वारा उनकी यह निन्दा है कि तुम अविवेकी हो और तुम्हारा इसके लिये आना व्यर्थ है।

जो बरमाला लिये आपही तुमको बरने आयी हो,
अपना तन, मन, धन सब तुमको अर्पण करने आयी हो,
मज्जागत लज्जा तजकर भी तिस पर करे स्वयं प्रस्ताव।
कर सकते हो तुम किस मन से उससे भी ऐसा बर्ताव। गुप्तजी

लक्ष्मण को लक्ष्य कर कही गयी सीता की इस उक्ति में सूर्पणखा की प्रशंसा तो झलकती है पर परपति से वासना की परितृप्ति करने की कामना रखने के कारण उसकी निन्दा है।

निन्दा में स्तुति—

राज-भोग से तृप्त न होकर मानों वे इस बार।
हाथ पसार रहे हैं जाकर जिसके तिसके द्वार।
छोड़कर निज कुल और समाज। गुप्तजी

यशोधरा की उक्ति यद्यपि अनुमान रूप में है, सती स्पष्ट रूप में कैसे कहे, तथापि उससे बुद्धदेव की निन्दा झलकती है पर इसके द्वारा बुद्धदेव के संसार से विराग, ममता, त्याग तथा समदर्शिता के भाव की ही प्रशंसा है।

मोहि करि नंगा अंग अंगन भुजंगा बाँधे
ऐरी मेरी गंगा तेरी अद्भुत लहर है। प्राचीन

इसमें प्रत्यक्ष तो गंगाजी की निन्दा है पर तुम सबको शिव-स्वरूप बना देती हो यह प्रशंसा फटी पड़ती है।

व्याज स्तुति के दो अन्य रूप भी देखे जाते हैं—

१ जहाँ दूसरे की स्तुति से दूसरे की स्तुति प्रतीत हो।

समरविज्ञ प्रभंजनपूत हूँ। क्षितिप मैं रघुनायक दूत हूँ।
इसलिये मम बात सुनो सही। तुम बड़े बुध हो शिशु हो नहीं। रा०

यहाँ रघुनायक दूत कहने से हनुमान की प्रशंसा के साथ राम की भी अत्यधिक प्रशंसा इस रूप में होती है कि जिसका दूत ऐसा है उसका मालिक कैसा प्रबल होगा।

२ जहाँ दूसरे की निन्दा से दूसरे की निन्दा हो—

तेरा घनश्याम-धन हरने पवन दूत बन आया।
काम क्रूर अक्रूर नाम है वंचक बना बनाया। गुप्तजी

काम की क्रूरता से अक्रूर की निन्दा तो है ही साथ ही साथ अक्रूर नाम रखनेवाले की भी निन्दा है।

२८ आक्षेप (Paralepsis)

जहाँ विवक्षित वस्तु की विशेषता प्रतिपादन करने के लिये निषेध वा विधि का आभास हो वहाँ आक्षेपालंकार होता है।

आक्षेप शब्द का अर्थ है—एक प्रकार से दोष लगाना, बाधा डालना वा निषेध करना। जब निषेधात्मक चमत्कार होता है तभी अलंकार होता है, अन्यथा नहीं। यह निषेधात्मक ही नहीं, विध्यात्मक भी होता है।

प्रथम आक्षेप—विवक्षित अर्थ के निषेध-सा किये जाने को प्रथम आक्षेप कहते हैं। वक्ष्यमाण निषेधाभास—

बात कहूँगी विरहिनी की मैं सुन लो यार।
तुम से निर्दय हृदय को कहना भी बेकार। अनुवाद

यहाँ विरहिनी की बात कहना है जो वक्ष्यमाण है। वह 'कहूँगी' से प्रकट है। उत्तरार्द्ध में जो निषेध है वह निर्दय-हृदय से कहना व्यर्थ है, इस विशेष कथन की इच्छा से है। अतः निषेध का आभास है। इस निषेध से विवक्षित की विशेषता बढ़ जाती है।

उक्त निषेधाभास—

अबला तेरे विरह में कैसे काटे रात।
निर्दय तुमसे व्यर्थ है कहना भी वह बात। अनुवाद

यहाँ विरहव्यथानिवेदन विवक्षित है जो पूर्वार्द्ध में उक्त है। उसीका उत्तरार्द्ध में निषेध है। यह निषेधाभास विरह की विशेषता द्योतन करने के लिये ही है।

हौं नहिं दूती अगिनि ते तिय तन ताप विशेषि।

इसमें दूती न होने की बात निषेधाभास है। क्योंकि विरहनिवेदन

जो दूती का कार्य है, वही किया गया है। इससे दूती की विशेषता प्रकट होती है। यह उक्त निषेधाभास है।

द्वितीय आक्षेप—कथित अर्थ का पक्षान्तर से—दूसरे दृष्टिकोण से निषेध किये जाने को द्वितीय आक्षेप कहते हैं।

छोड़ छोड़ फूल मत तोड़ आली! देख मेरा
हाथ लगते ही यह कैसे कुम्हलाये हैं।
कितना विनाश निज क्षणिक विनोद में है,
दुःखिनी लता के लाल आसुओं में छाये हैं।
किन्तु नहीं चुन ले खिले खिले फूल सब,
रूप, गुण, गंध से जो तेरे मन आये हैं।
जाये नहीं लाल लतिका ने झड़ने के लिये,
गौरव के संग चढ़ने के लिये जाये हैं। गुप्तजी

यहाँ पूर्वार्द्ध में जिस फूल के तोड़ने का निषेध है उत्तरार्द्ध में दूसरे दृष्टिकोण से तोड़ने को कहा है।

मेरे नाथ जहाँ तुम होते दासी वहीं सुखी होती।
किंतु विश्व की भ्रातृ-भावना यहाँ निराश्रित ही रोती। गुप्तजी

यहाँ पूर्वार्द्ध में भरत के साथ माण्डवी के जाने की बात कही गयी है पर पक्षान्तर ग्रहण करके जाने का निषेध ध्वनित है। यदि भरत चले जाते तो भ्रातृभावना निराश्रित हो रोती रहती, इसीसे नहीं गये, यह निषेध-सा लगता है। भरत भ्रातृभावना की मूर्ति हैं, यह बात बढ़ जाती है।

तृतीय आक्षेप—अनिष्ट वस्तु का जहाँ विधान आभासित होता हो वहाँ तीसरा आक्षेप होता है।

तुम मुझसे पूछते हो जाऊँ मैं क्या जवाब दूँ तुम्हीं कहो।
जा कहती रुकती है जबान किस मुँह से तुम्हें कहूँ रहो। सु० कु० चौ०

यहाँ नायिका के कहने से ज्ञात होता है कि वह बिदा तो देना चाहती है पर कैसे बिदा दे, यह समझ नहीं पाती। इससे बिदा-जैसी अनिष्ट वस्तु में विधान आभासित है। पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है।

अलंकार मंजूषा में उक्ताक्षेप, निबंधाक्षेप और व्यक्ताक्षेप, इनके नाम दिये गये हैं जो सदोष हैं। हिन्दी में इनके निम्नलिखित चार भेद भी देखे जाते हैं।

निषेधात्मक आक्षेप—जहाँ विचार करने से अपने कथन में दोष पाया जाय।

सानुज पठइय मोहि वन, कीजिय सबहिं सनाथ।
न तरु फेरिये बन्धु दोउ, नाथ चलौं मैं साथ। तुलसी

यहाँ प्रथम तो भरत ने शत्रुघ्न सहित वन भेजने को कहा पर उसका विरोध कर स्वयं साथ चलने को विचार कर कहा। विचार करने से बात पहले से बढ़कर कही गयी है। इससे पहले का निषेध कर दिया गया।

निषेधाभासात्मक आक्षेप—जहाँ निषेध का आभास मात्र देख पड़े। जैसे—

भरत विनय सादर सुनिय करिय विचार बहोरि।
करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥ तुलसी

यहाँ वशिष्ठजी की उक्ति में सहसा कुछ न करने का आभास है।

विधिनिषेधात्मक आक्षेप—जहाँ प्रत्यक्ष विधान में गुप्त रूप से निषेध पाया जाय।

तात जाऊँ बलि कीन्हेउ नीका। पितु आयसु सब धर्म का टीका॥
राज देन कहि दीन वन, मोहि न शोच लवलेश।
तुम बिनु भरतहिं भूपतिहिं, प्रजहि प्रचंड कलेश॥ तुलसी

इसमें कौशल्या प्रत्यक्ष में राम का वन जाना अनुमोदन करती है पर भरत, राजा और प्रजा के दुख की बात कहकर एक प्रकार गुप्त रूप से निषेध भी करती है।

निषेध-विध्यात्मक आक्षेप—जहाँ पहले तो किसी बात का निषेध हो पर पीछे किसी प्रकार उसका विधान किया जाय। जैसे—

अकथनीय तेरो सुयश बरनौ मति अनुसार।

यहाँ सुयश को पहले तो अकथनीय कहा पर मति अनुसार वर्णन से उसका विधान भी किया गया।

२९ विनोक्ति (Speech of absence)

जहाँ एक के विना दूसरे को शोभित वा अशोभित कहा जाय वहाँ विनोक्ति अलंकार होता है।

विना, रहित, हीन आदि शब्द इसके वाचक हैं।

प्राणनाथ तुम बिनु जगमाहीं, मो कहँ कतहुँ सुखद कछु नाहीं।
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी, तैसई नाथ पुरुष बिनु नारी। तुलसी

इसमें 'बिनु' की सहायता से देह, नदी और सीता का अशोभित होना वर्णित है।

मातृ सत्य पितृ सिद्ध सभी, मुझ अर्धांगी बिना अभी।
हैं अर्धाङ्ग अधूरे ही, सिद्ध करो तो पूरे ही। गुप्तजी

अर्धाङ्गी सीता के बिना मातृ, सत्य आदि की अपूर्णता वर्णित है।

कहा कहौं छवि आज की भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवे धनुष बान लो हाथ।

इसमें 'बिना' शब्द नहीं है फिर भी यह अर्थ होता है कि धनुष बान लिये बिना मैं प्रणाम न करूँगा। यहाँ बिना की ध्वनि है।

दशवीं छाया

विरोधमूल अलंकार

विरोधगर्भ में विरोधात्मक वर्णन रहता है। ऐसे विरोध-मूलक विरोधाभास आदि बारह अलंकार हैं—

३० विरोधाभास (Contradiction)

जहाँ यथार्थतः विरोध न होकर विरोध के आभास का वर्णन हो वहाँ यह अलंकार होता है।

विरोधाभास जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य में होने के कारण इसके दस प्रकार होते हैं। व्यक्ति में भी विरोधाभास देखा जाता है।

जिस कुल के कर लाल काल दोनों रहते हैं,
जिसके दृग से सूर्य शशी परिभव सहते हैं,
जिस कुल में है दया सुधा सी क्रोध अनल है,
जिस कुल में है शास्त्र शस्त्र विद्या का बल है,
मैं उसी विप्र-कुल-कमल के लिये बना दिननाथ हूँ।
तू मुझे न भिक्षुक जानता नरनाथों का नाथ हूँ। रा० च० उपा०

इसकी तीसरी पंक्ति में गुण का, चौथी में जाति का विरोधाभास है। पहली और दूसरी पंक्तियों में व्यक्ति का विरोधाभास है। विप्र कुल की महत्ता से सब का परिहार हो जाता है।

तुम मांसहीन तुम रक्तहीन हे अस्थिशेष तुम अस्थिहीन,
तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल हे चिर पुराण हे चिर नवीन। पंत

दूसरे चरण में द्रव्य-द्रव्य का और चौथे में गुण-गुण का विरोधाभास है जिसका परिहार गाँधीजी के व्यक्तित्व से हो जाता है।

अपने दिन-रात हुए उनके क्षण ही भर में छवि देख यहाँ
सुलगी अनुराग की आग वहाँ जल से भरपूर तड़ाग जहाँ। रा०न०त्रि०

यहाँ आग-पानी जैसी विरोधिनी वस्तुओं में एकत्र स्थिति दिखायी गयी है जिसका परिहार प्रेम का वर्णन होने से हो जाता है।

३१ विभावना (Peculiar Causation)

विभावना अलंकार में कारणान्तर की कल्पना की जाती है।

इसके छ भेद होते हैं।

१ प्रथम विभावना अलंकार वहाँ होता है जहाँ प्रसिद्ध कारण के अभाव में भी कार्योत्पत्ति का वर्णन होता है।

सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ किन्तु समझो रात का जाना हुआ।
क्योंकि उसके अंग पीले पड़ चुके रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले। गुप्तजी

सूर्योदय कारण के अभाव में भी रात्रि-प्रयाण का कार्य वर्णित है। अंग पीला पड़ना आदि रात के जाने के कारण की कल्पना है। इससे उक्तनिमित्ता विभावना है।

किन्तु आज आकुल है मन में जैसी वह व्रजरानी।
दासी ने घर बैठे उसकी मर्मवेदना जानी। गुप्तजी

घर बैठे—विना व्रज में गये कारण के बिना व्रज की रानी—राधा की मर्मवेदना जानना कार्य वर्णित है। निमित्त उक्त न होने से अनुक्तनिमित्ता है।

विनु पद चलै सुनै विनु काना कर विनु कर्म करै विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी विनु बानी बकता बड़ योगी। तुलसी

कर आदि के विना चलना आदि कार्य वर्णित है।

२ दूसरी विभावना वहाँ होती है जहाँ कारण के अपूर्ण रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति वर्णित हो।

तुमने भौंरों की गुंजितज्या कुसुमों का लीलायुध थाम।
अखिल भुवन के रोम रोम में केशर शर भर दिये सकाम। पंत

इसमें कार्य की दृष्टि से कारण की अपूर्णता वर्णित है।

दीन न हो गोपे सुनो दीन नहीं नारी कभी
भूत-दया-मूर्त्ति वह मन से शरीर से।
क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेष जब
मुझको बचाया मातृ-जाति ने ही खीर से।
आया जब मार मुझे मारने को बार-बार
अप्सरा-अनीकिनी सजाये हेम-तीर से,
तुम तो यहाँ थी ध्यान धीर ही तुम्हारा वहाँ
जूझा मुझे पीछे कर पंच शर वीर से। गुप्तजी

यशोधरा के ध्यान-मात्र असमग्र कारण से कामदेव विजय का कार्य कहा गया है।

मंत्र परम लघु जासु बस विधि हरि हर सुर सर्व।
महा मत्त गजराज कहँ बस कर अंकुस खर्व। तुलसी

विधि आदि सब सुरों और गजराज को वस करने जैसे कठिन कार्य के लिये मंत्र और अंकुश जैसे लघु और खर्व कारण का कथन है।

३ तीसरी विभावना वहाँ होती है जहाँ प्रतिबंधक होते हुए भी कार्य का होना वर्णित हो।

श्यामा बातें श्रवण करके बालिका एक रोयी,
रोते रोते अरुण उसके हो गये नेत्र दोनों।
ज्यों ज्यों लज्जा विवश वह थी रोकती वारिधारा,
त्यों त्यों आँसू अधिकतर थे लोचनों मध्य आते। हरिऔध

लाजवश रोकने का प्रतिबंध रहते भी आँसू का उमड़-उमड़ आना कार्य वर्णित है।

मानत लाज लगाम नहिं नेक न गहत मरोर।
होत तोहिं लखि बाल के दृग तुरंग मुँह जोर। बिहारी

यहाँ लाज और मरोड़ के प्रतिबंधक होते भी नायिका के दृगतुरंग मुँहजोर हो जाते हैं, वश में नहीं रहते, यह कार्य पूर्ण हुआ।

४ चौथी विभावना वहाँ होती है जहाँ किसी वस्तु की सिद्धि का अकारण से अर्थात् उसका कारण नहीं होने पर भी, होना वर्णित होता है।

जिनका गहन था गेह जिनका था बना वल्कल वसन,
मृदु मूल दल या फूल फल या जल रहा जिनका अशन।
कामाग्नि में जल-भुन गये वे भी बेचारे कूद कर,
फिर खीर खोये चाभ कर स्मर से बचेगा कौन नर। रा०

कामाग्नि में जलने का कारण वनवास और फलाहार नहीं हो सकता। फिर भी मुनियों का कामाग्नि में जलना वर्णित है।

जो हिन्दू-पति तेग तुव पानिप भरी सदाहिं,
अचरज या की आँच सों अरिगन जरि जरि जाहिं। भूषन

यहाँ शान चढ़ी तलवार की आँच से शत्रु का जलना अकारण से कार्य कहा गया है।

५ पाँचवीं विभावना में विरुद्ध कारण से कार्य का होना वर्णित होता है।

दुख इस मानव आत्मा का रे नित का मधुमय भोजन।
दुख के तम को खा खाकर भरती प्रकाश से वह मन। पंत

इसमें तम खाकर विरुद्ध कारण से प्रकाश से मन भरना कार्य वर्णित है।

निर्मल नभ यह शरच्चन्द्र से चमक रहा है,
यह गिरि कनक समान मनोहर दमक रहा है।
किन्तु प्रिये यह जगत तमोमय मुझे हुआ है,
तुमसे रहकर अलग महा भय मुझे हुआ है। रा० च० उ०

विरही राम को चाँदनी से चमकता हुआ भी जगत् तमोमय प्रतीत होता जो विरुद्ध कारण से कार्य है।

चुभते ही तेरा अरुण बान
बहते कन-कन से फूट फूट मधु के निर्झर से सजल गान। महा०

इसमें बान लगने से गान का निकलना विरुद्ध कारण से कार्य वर्णित है।

६ छठी विभावना में कार्य से कारण का उत्पन्न होना वर्णित होता है।

चरण कमल से निकली गंगा विष्णुपदी कहलायी।

कमल होने का कारण जल है पर यहाँ कमलचरण से गंगा के निकलने का कार्य वर्णित है।

तेरो मुख अरविन्द से बरसत सुखमा नीर।

यहाँ नीर कारण कार्य कमल से उत्पन्न होना उक्त है।

हाय उपाय न जाय कियो ब्रज बूड़त है विनु पावस पानी।
धारन ते अँसुवान की है चख मीनन ते सरिता सरसानी। प्राचीन

यहाँ मीन कार्य से सरिता का सरसाना कारण कहा गया है।

३२ विशेषोक्ति (Peculiar Allegation)

प्रबल कारण के होते हुए भी कार्य सिद्ध न होने के वर्णन को विशेषोक्ति कहते हैं।

इसके तीन भेद होते हैं।

१ अनुक्तनिमित्ता वह है जिसमें निमित्त उक्त न हो। जैसे,

फिर विनय अनुनय किया पादान्त समझाया बहुत कुछ
किन्तु मैं तो सत्य ही पाणिग्रहण से विरत ही थी। पु० शं० भट्ट

राधा के प्रेमी का उक्त पादान्त प्रणत रूप कारण के रहते भी राधा का विवाह से विरत होना वर्णित है। यहाँ निमित्त उक्त नहीं है।

२ उक्तनिमित्ता वह है जिसमें निमित्त उक्त हो। जैसे

आली इन लोयनन को उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नित प्रति रहै तऊ न प्यास बुझाय। प्राचीन

नीर कारण के रहते प्यास का न बुझना कार्य वर्णित है।

३ अचिन्त्यनिमित्ता वह है जिसमें निमित्त अचिन्त्य रहता है।

रूप सुधापान से न नेक भी हुई है कम।
प्रत्युत हुई है तीव्र कैसी यह प्यास है।

सुधापान कारण के होते हुए भी प्यास का और बढ़ना, कार्य न होना वर्णित है। 'कैसी यह प्यास है' इससे निमित्त अचिन्त्य सूचित होता है।

३३ असंगति (Disconnection)

विरोध के आभास सहित कारण-कार्य की स्वाभाविक संगति के त्याग को असंगति अलंकार कहते हैं।

इसके तीन भेद होते हैं—

१ एक ही काल में कारण और कार्य के पृथक्-पृथक् होने को प्रथम असंगति कहते हैं। जैसे—

मेरे जीवन की उलझन बिखरी थीं उनकी अलकें।
पी ली मधु मदिरा किसने थी बन्द हमारी पलकें। प्रसाद

अलकें तो बिखरी थीं दूसरों की दूसरे बेचारे की जान सासत में थी। मदिरा तो पी ली किसी ने और पलकें बंद हुईं दूसरे की। एक ही काल में कारण कार्य के भिन्न-भिन्न स्थान हैं और विरोध का आभास भी।

कारन कहुँ कारज कहूँ अचरज कहत बनै न।
असि तो पीवति रकत पै होत रकत तुव नैन। प्राचीन

इसमें भी विरोध के आभास सहित कार्य कारण का त्याग वर्णित है।

२ दूसरी असंगति वह है जिसमें अन्यत्र कर्तव्य कार्य का अन्यत्र किया जाना वर्णित हो।

बंसी धुनि सुनि व्रज बधू चली बिसार विचार।
भुज भूषन पहिरे पगनि भुजन लपेटे हार। प्राचीन

हाथ के भूषणों को पैरों में पहनना और हार का हाथों में लपेटना कहा गया है जो अपने-अपने उचित स्थानों के योग्य नहीं हैं।

३ जहाँ जिस कार्य के करने में प्रवृत्ति हो उसके विरुद्ध कार्य करने को तृतीय असंगति कहते हैं।

तात पितहिं तुम प्राण पियारे, देखि मुदित नित चरित तुम्हारे।
राज देन कहँ सुभ दिन साधा, कहेउ जान वन केहि अपराधा। तुलसी

यहाँ राज देने के विरुद्ध वनवास देना वर्णित है।

आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास।

यहाँ जो कर्तव्य कार्य था नहीं किया गया।

३४ विषम (Incongruity)

जहाँ विषम घटना का अर्थात् बे-मेल का वर्णन हो वहाँ विषम अलंकार होता है।

इसके तीन भेद होते हैं—

१ **प्रथम विषम**—जहाँ एक दूसरे के विरुद्ध होने के कारण सम्बन्ध न घटे वहाँ यह अलंकार होता है।

कहाँ मेघ औ हंस ? किन्तु तुम भेज चुके संदेश अजान ?
तुड़ा मरालों से मंदर धनु जुड़ा चुके तुम अगणित प्राण । पंत

यहाँ मेघ द्वारा संवाद भेजना मरालों से विशाल धनुष तुड़वाना सम्बन्ध की अयोग्यता सूचित करता है।

काले कुत्सित कीट का कुसुम में कोई नहीं काम था
काँटे से कमनीयता कमल में क्या है न कोई कभी ?
दंडों में कब ईख के विपुलता है ग्रंथियों की भली
हा दुर्दैव प्रगल्भते अपटुता तूने कहाँ की नहीं । हरिऔध

यहाँ के सम्बन्ध का वर्णन भी अयोग्य है।

२ द्वितीय विषम—जहाँ क्रिया के विपरीत फल की प्राप्ति होती है वहाँ द्वितीय विषम अलंकार होता है

नहीं तत्वतः कुछ भी मेरे आगे जीना मरना,
किन्तु आत्मघाती होना है घात किसी का करना । गुप्तजी

इसमें किसी के मारने की क्रिया से आत्मघाती होना रूप अर्थ की प्राप्ति होती है।

३ तृतीय विषम— कार्य और कारण के गुणों और क्रियाओं के एक दूसरे के विरुद्ध वर्णन करने को तृतीय विषम कहते हैं।

माँग मैंने ही लिया कुल-केतु, राज-सिंहासन तुम्हारे हेतु,
'हा हतोऽस्मि' हुए भरत हत बोध, 'हूँ' कहा शत्रुघ्न ने सक्रोध । गुप्तजी

यहाँ राजसिंहासन माँगने की कारण-क्रिया से भरत के हतबोध होना रूप क्रियाविरुद्ध कार्य वर्णित है।

हिन्दी के कुछ आलंकारिक कारण कार्य की रूप-भिन्नता को भी विषम अलंकार कहते हैं। जैसे,

दीप सिखा रँग पीतते धूम कढ़त अति श्याम।
सेत सुजस छाये जगत प्रगट आपते श्याम।

यहाँ पीले से श्याम और श्याम से सेत होना कार्य कारण की विषमता है पर यह पाँचवीं विभावना से प्रायः मिल जाता है।

टिप्पणी—विरोधाभास में जो विरोध रहता है वह आभास मात्र होता है। किन्तु विषम अलंकार में विरोध सत्य होता है। असंगति अलंकार में कार्य-कारण की एककालिक भिन्न-भिन्न स्थान पर असंगति वर्णित होती है और विरोध में जो विरोध है वह एक स्थान में ही होता है।

३५ सम (Equal)

यह विषम के विपरीत है। इससे इसकी गणना इस श्रेणी में की गयी है।

इसके तीन भेद हैं।

१ प्रथम सम—यथायोग्य सम्बन्ध वर्णन को प्रथम सम अलंकार कहते हैं।

> धन्य उसे है हमको तुमको जिसने सुघर बनाया,
> हमें मिलाकर और सुगन्धित स्वर्ण मनो दिखलाया।
> हो अभिराम राम से भी तुम इसमें नहीं कसर है,
> तुम्हें छोड़ कर और न कोई मेरे लायक वर है। रा० च० उ०

सम अलंकार का यह अपूर्व उदाहरण है। अन्तर्दृष्टि से समानता प्रतीत भले ही न हो पर समता के वर्णन में अपूर्व चमत्कार है।

राम सरिस वर दुलहिन सीता। समधी दशरथ जनक पुनीता।

जैसे सम अलंकार में कोई चमत्कार नहीं है।

२ द्वितीय सम—कारण के अनुकूल जहाँ कार्य का वर्णन किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

> राघव तेरे ही योग्य कथन है तेरा,
> दृढ़ बाल हठी तू वही राम है मेरा।
> देखें हम तेरा अवधि मार्ग सब सहकर,
> कौशल्या चुप हो गयी आप यह कहकर। गुप्तजी

यहाँ राम के योग्य ही उनके कथन का—अयोध्या लौट न चलने का वर्णन है।

३ तृतीय सम—बिना विघ्न कार्यसिद्धि होने के वर्णन यह भेद होता है।

> हे राम! तुम हो धन्य जग में धर्म के अवतार हो।
> तुम ज्ञान के आगार हो विज्ञान के भण्डार हो।
> तुम क्यों न मानोगे पिता के वाक्य को सत्प्रेम से
> घर से अधिक ही सर्वदा वन में रहोगे क्षेम से। रा० च० उ०

इसमें राम के वनगमन तथा उनके वहाँ शान्तिपूर्वक निवास का निर्विघ्न होना वर्णित है।

अधिक (Exceeding)

जहाँ आधार और आधेय का न्यूनाधिक्य वर्णन हो वहाँ अधिक अलंकार होता है।

१ जहाँ आधार से अधिक आधेय हो वहाँ प्रथम अधिक अलंकार होता है। जैसे—

नयी तरंगें थीं यमुना में नयी उमंगें व्रज में।
तीन लोक से दीख रहे थे लोट पोट इस रज में। गुप्तजी

रज में तीनों लोक का दीख पड़ना आधार से अधिक आधेय है।

२ जहाँ आधेय से आधार अधिक वर्णित हो वहाँ द्वितीय अधिक अलंकार होता है। जैसे,

अथवा अपने पैरों पर ही खड़ा आप वह नटवर।
बची रसातल जाने से यह धरा वहीं पद धरकर। गुप्तजी

यहाँ नटवर श्रीकृष्ण आधेय से धरा आधार का अधिक वर्णन है।

३६ अल्प (Smallness)

छोटे आधेय की अपेक्षा बड़े आधार का भी जहाँ वर्णन किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

अब जीवन की हे कपि आस न मोहिं।
कनगुरिया की मुँदरी कंकन होहिं। तुलसी

अंगूठी, वह भी कनगुरिया की, छोटी-सी छोटी आधेय वस्तु है। उसके लिये बड़ा से बड़ा आधार है। उसमें भी अंगूठी कंकण बन जाती है। इस प्रकार छोटे से आधेय की अपेक्षा हाथ आधेय का और छोटा वर्णन किया गया है। सीता की दुर्बलता दिखाना ही कवि का अभीष्ट है।

मन यद्यपि अनुरूप है तऊ न छूटति संक।
टूटि परै जनि भार ते निपट पातरी लंक॥ मतिराम

यहाँ मन सूक्ष्म आधेय से कमर आधेय के टूटने की शंका से मन की अपेक्षा कमर का पतली होना वर्णित है। इसमें सूक्ष्मता ही प्रधान है।

अन्योन्य (Reciprocal)

जहाँ दो वस्तुओं का अन्योन्य सामान्य सम्बन्ध बतलाया जाय, अर्थात् पारस्परिक कारणता, पारस्परिक उपकार अथवा सामान्य व्यवहार का वर्णन हो वहाँ यह अलंकार होता है।

रामचन्द्र बिनु सिय दुखी सिय बिनु उत रघुराय।

यहाँ एक ही कारण है जो एक के बिना दूसरा दुखी है।

कल्पना तुममें एकाकार कल्पना में तुम आठ याम।
तुम्हारी छवि में प्रेम अपार प्रेम में छवि अविराम। पंत

इसमें एक क्रिया से पारस्परिक उपकार वर्णित है।

मैं ढूँढ़ता तुम्हें था जब कुंज और वन में।
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में।
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था।
मैं था तुझे बुलाता संगीत में भजन में। रा० न० त्रिपाठी

यहाँ व्यवहार की समानता दिखलायी गयी है।

३७ विशेष (Extra-ordinary)

जहाँ किसी विशेषता—विलक्षणता का वर्णन हो वहाँ यह अलंकार होता है।

प्रथम विशेष—जहाँ प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति का वर्णन किया जाय वहाँ प्रथम विशेष अलंकार होता है।

आज पतिहीना हुई शोक नहीं इसका
अक्षय सुहाग हुआ मेरे आर्यपुत्र तो
अजर अमर हैं सुयश के शरीर में। वियोगी

यहाँ पति आधार के बिना अक्षय सुहाग रूप आधेय का वर्णन विलक्षण है।

चलो लाल वाकी दशा लखौ कही नहीं जाय।
हियरे है सुधि रावरी हियरो गयो हिराय। प्राचीन

यहाँ हृदय में सुधि का रहना और उसी का भूल जाना बिना आधार के आधेय का वर्णन है।

द्वितीय विशेष—जहाँ एक ही समय में एक ही रीति से किसी वस्तु का अनेक स्थानों में होने का वर्णन हो वहाँ द्वितीय विशेष होता है।

आँखों की नीरव भिक्षा में आँसू के मिटते दागों में,
ओठों की हँसती पीड़ा में आहों के बिखरे त्यागों में,
कन-कन में बिखरा है निर्मम, मेरे मानस का सूनापन। महादेवी

यहाँ एक ही काल में एक ही स्वभाव से सूनेपन का अनेक स्थानों में होना वर्णित है।

प्रियमतमय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ
फिर तो वही रहा मन में नयनों में प्रत्युत जग भर में।
कहाँ रहा तब द्वेष किसी से क्योंकि विश्व ही प्रियतम है। प्रसाद

यहाँ प्रियतम की मन आदि अनेक आधारों में एक ही समय की स्थिति कही गयी है।

तृतीय विशेष—जहाँ किसी कार्य को करते हुए किसी अशक्य कार्य का होना भी वर्णित हो वहाँ यह अलंकार होता है।

धो ली गुह ने धूल अहिल्या-तारिणी
कवि का मानस-कोप-विभूति विहारिणी।
प्रभु पद धोकर भक्त आप भी धो गया;
कर चरणामृत पान अमर वह हो गया। गुप्तजी

चरणामृत पान करते हुए अमर हो जाना अशक्य कार्य भी यहाँ वर्णित है, जिससे यह विशेष अलंकार है।

तीसरे विशेष का यह भी लक्षण किया जाता है—थोड़े-से प्रयास से जहाँ बहुत लाभ हो। जैसे,

पाइ चुके फल चारहू, करि गंगा जल-पान।

३८ व्याघात (Frustration)

जहाँ जिस उपाय से कोई कार्य सिद्ध होता हो वहाँ उसी उपाय से उसके विपरीत कार्य हो वहाँ व्याघात होता है।

वंदो संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय, बीच कछु बरना।
मिलत एक दारुन दुख देही। बिछुरत एक प्रान हर लेहीं। तुलसी

यहाँ जिस चरण की प्राप्ति से दारुण दुख देने की बात कही गयी

है, उसीके बिछुड़ने से प्राण जाने की बात कही गयी है। इसका मूल संत-असंत का भेद ही है।

जासों काटत जगत के बंधन दीनदयाल।
ता चितवनि सों तियन के मन बाँधत गोपाल॥ प्राचीन

यहाँ एक ही से सुकार्य के विरुद्ध भी कार्य होता है।

यदि कारण को उलटा सिद्ध करके भी कोई सुगमता से कार्य हो तो भी व्याघात अलंकार होता है।

लोभी धन संचै करै दारिद को डर मानि।
'दास' यहै डर मानि कै दान देत है दानि।

यहाँ 'दारिद के डर मानि' कारण से ही उलटा दान देने का कार्य सिद्ध किया गया है।

छल किया भाग्य ने मुझे अयश देने का
बल दिया उसीने भूल मान लेने का। गुप्तजी

एक ही वस्तु के दो विरुद्ध कार्य करने के कारण यहाँ भी एक प्रकार का व्याघात है।

३९ विचित्र (Strange)

जहाँ इच्छा के विपरीत प्रयत्न करने का वर्णन हो वहाँ विचित्र अलंकार होता है।

अमर बनें, इस लोभ से रण में मरते वीर।
भवसागर के पार को बूड़ें गंगा-नीर॥ राम
उन्नत होने के लिये विनत बनो तुम जान
पाने को सम्मान के मन से छोड़ो मान॥ राम

इनमें अमर आदि होने के लिये मरना आदि इच्छा के विपरीत प्रयत्न है।

भोली भाली व्रज अवनि क्या योग की रीति जानें।
कैसे बूझे अबुध अबला ज्ञान विज्ञान बातें।
देते क्यों हो कथन करके बात ऐसी व्यथाएँ?
देखूँ प्यारा वदन जिनसे यत्न ऐसे बता दो। हरिऔध

लक्षणानुसार यहाँ विचित्र अलंकार है पर उक्त उदाहरणों ऐसा इसमें वैचित्र्य नहीं।

कारण और कार्य के पौर्वापर्यविपर्ययात्मक अतिशयोक्ति का पहले ही उल्लेख हो चुका है।

ग्यारहवीं छाया

शृङ्खलामूलक अलंकार

शृङ्खलाबद्ध अलंकारों में चार अलंकार हैं—कारणमाला, एकावली, सार और मालादीपक। इनमें पद या वाक्य का साँकल-सा लगा रहता है।

४० कारणमाला (Garland of Causes)

जहाँ कारण और कार्य की परंपरा कही जाय, अर्थात् पहले का कहा हुआ बाद के कथन का कारण होता जाय वहाँ यह अलंकार होता है। जैसे,

होत लोभ ते मोह, मोहहिं ते उपजे गरब।
गरब बढ़ावे कोह कोह कलह कलहहु व्यथा। प्राचीन

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीवन लह बिश्राम। तुलसी

इन दोनों में पूर्व-पूर्व कथित पदार्थ उत्तरोत्तर कथित पदार्थ के कारण हैं। यह इसका पहला भेद है।

है सुख संपति सुमति ते सुमति पढ़े से होइ।
पढ़त होत अभ्यास ते ताहि तजइ मति कोइ। प्राचीन

राम कृपा ते परम पद कहत पुराने लोय।
राम कृपा है भक्ति ते भक्ति भाग्य ते होय। प्राचीन

यहाँ उत्तरोत्तर कथित पदार्थ पूर्व-पूर्व कथित पदार्थों के कारण हैं।

४१ एकावली (Necklace)

जहाँ वस्तुओं के ग्रहण और त्याग की एक श्रेणी बन जाय, वह विशेषण भाव से हो या निषेध भाव से, वहाँ यह अलंकार होता है।

मैं इस झरने के निर्झर में प्रियवर सुनता हूँ वह गान।
कौन गान ? जिसकी तानों से परिपूरित हैं मेरे प्राण।
कौन प्राण ? जिनको निशि वासर रहता एक तुम्हारा ध्यान।
कौन ध्यान ? जीवन सरसिज को जो सदैव रखता अम्लान।

रायकृष्ण दास

इसमें गान, प्राण, ध्यान के ग्रहण त्याग की एक श्रेणी है।

वृन्दावन में नव मधु आया, मधु में मन्मथ आया।
उसमें तन, तन में मन, मन में एक मनोरथ आया। गुप्तजी

इसमें मधु, मन्मथ, तन, मन और मनोरथ की एक श्रेणी हो गयी है। इन दोनों में त्याग और ग्रहण विशेषण भाव से है।

सोभति सो न सभा जहँ वृद्ध न वृद्ध न ते जु पढ़े कछु नाहीं।
ते न पढ़े जिन साधु न साधित दीह दया न हिये जिन माँहीं।
सो न दया जु न धर्म धरै धर धर्म न सो जहँ दान वृथा ही।
दान न सो जहँ साँच न 'केसव' साँच न सो जु बसै छल छाँहीं।

इसमें वह सभा नहीं जिसमें वृद्ध नहीं, इस प्रकार निषेधात्मक शृंखला बँधती गयी है।

४२ सार (Climax)

पूर्व-पूर्व कथित वस्तु की अपेक्षा उत्तरोत्तर कथित वस्तु का उत्कर्ष वा अपकर्ष दिखलाना सार अलंकार है।

जग में मानवतन दुर्लभ है, उसमें विद्या भी दुर्लभ है।
विद्या में कविता है दुर्लभ, उसमें शक्ति और है दुर्लभ। अनुवाद

इसमें एक से दूसरे का उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखलाया गया है।

रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहले वे मरे जिन मुख निकसत नाहिं।

इसमें उत्तरोत्तर कथित वस्तु का अपकर्ष वर्णित है।

मालादीपक का वर्णन दीपक अलंकर में हो चुका है।

बारहवीं छाया

तर्कन्यायमूल अलंकार

तर्कन्यायमूल में काव्यलिङ्ग और अनुमान दो अलंकार हैं।

४३ काव्यलिङ्ग (Poetical Reason or Cause)

जहाँ किसी बात को सिद्ध करने लिये उसका कारण कहा जाय वहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार होता है।

क्षमा करो इस भाँति न तुम तज दो मुझे,
स्वर्ण नहीं हे राम, चरणरज दो मुझे।
जड़ भी चेतन मूर्त्ति हुई पाकर जिसे,
उसे छोड़ पाषाण भला भावे किसे। गुप्तजी

यहाँ चरणरज पाने की अभिलाषा सिद्ध करने को तीसरी पंक्ति में कारण कहा गया है। इसमें वाक्यार्थ में कारण है।

और भोले प्रेम! क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से? जहाँ
झूमते गज से विचरते हो, वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है! पन्तजी

यहाँ प्रेम का वेदना के हाथों द्वारा बना होना सिद्ध करने के लिये चौथी पंक्ति में कारण उक्त है। इसमें पृथक्-पृथक् पदों में कारण उक्त है।

श्याम गौर किमि कहौं बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी।

प्रशंसा की असमर्थता का अपूर्व कारण पूरे वाक्य में उक्त है।

टिप्पणी—परिकर अलंकार में पदार्थ या वाक्यार्थ के बल से जो अर्थ प्रतीत होता है उसीसे वाच्यार्थ पुष्ट होता है और काव्यलिंग में पदार्थ या वाक्यार्थ ही कारण होता है। उसमें अर्थान्तर की आकांक्षा नहीं रहती।

अर्थान्तरन्यास में अपने कथन को युक्तियुक्त बनाने के लिये समर्थन होता है और काव्यलिङ्ग में कार्यकारण सम्बन्ध रहता है जिससे एक का दूसरे से समर्थन होता है। इसमें सभी आचार्य एकमत नहीं हैं।

४४ अनुमान (Inference)

हेतु द्वारा साध्य का चमत्कारपूर्वक ज्ञान कराये जाने को अनुमान अलंकार कहते हैं।

हाँ वह कोमल है सचमुच ही वह कोमल है कितना
मैं इतना ही कह सकता हूँ तेरा मक्खन जितना।
बना उसी से तो उसका तन तूने आप बनाया।
तब तो ताप देख अपनों का पिघल उठा उठ धाया। गुप्तजी

यहाँ मक्खन से बने होने के कारण ताप से पिघल उठना रूप साध्य का चमत्कारपूर्ण वर्णन है।

तेरहवीं छाया

वाक्य-न्यायमूल अलंकार

वाक्य-न्यायमूल में १ यथासंख्य २ पर्याय ३ परिवृत्ति ४ परिसंख्या ५ अर्थापत्ति ६ विकल्प ७ समुच्चय और ८ समाधि, ये आठ अलंकार हैं।

४५ यथासंख्य या क्रम (Relative Order)

क्रमशः कहे हुए पदार्थों का उसी क्रम से जहाँ अन्वय होता है वहाँ यथासंख्य, यथाक्रम वा क्रम अलंकार होता है।

पा चंचल अधिकार शत्रु, मित्र औ बन्धु का।
बुरा, भला, सत्कार किया न तो फिर क्या किया? अनुवाद

यहाँ शत्रु, मित्र और बन्धु के साथ बुरा, भला और सत्कार का क्रमशः सम्बन्ध जोड़ा गया है।

रमा भारती कालिका करति कलोल असेस।
बिलसति बोधति संहरति जहँ सोई मम देस। वियोगी हरि

इसमें रमा, भारती और कालिका का बिलसति, बोधति, संहरति इन क्रियाओं से क्रमशः सम्बन्ध उक्त है।

अमी हलाहल मद भरे सेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत जेहि चितवत इक बार। प्राचीन

यहाँ एक ही आँख में अमृत, विष, मद तीनों वस्तुओं, श्वेत, श्याम

और लाल तीनों रंगों तथा जीना, मरना और झुक-झुक पड़ना इन तीनों गुणों का क्रमानुसार वर्णन है। इसमें एक ही आश्रय में अनेक आधेय होने के कारण द्वितीय पर्याय अलंकार भी है।

४६ पर्याय (Sequence)

जहाँ एक ही वस्तु का अर्थात् एक आधेय का अनेक आधारों में होना पर्याय से वर्णित होता है वहाँ पर्याय अलंकार होता है।

प्रथम पर्याय—जहाँ एक वस्तु की पर्याय से—अनुक्रम से अनेक स्थानों में स्थिति वर्णित हो वहाँ प्रथम पर्याय होता है।

तेरी आभा का कण नभ को देता अगणित दीपक दान।
दिन को कनक-राशि पहनाता विधु को चाँदी का परिधान। महादेवी

यहाँ एक आभा का तारों में, दिन के प्रकाश में और चन्द्रमा की उज्ज्वलता में होना वर्णित है।

हालाहल तोहि नित नये किन बतराये ऐन।
अंबुधि हिय पुनि संभुगर अब निवसत खल बैन। प्राचीन

यहाँ एक ही हालाहल विष के समुद्र का हृदय, शिवजी का कंठ और खल के वचन रूप अनेक आधार कहे गये हैं।

अलि, कहाँ संदेश भेजूँ मैं किसे संदेश भेजूँ
नयनपथ से स्वप्न में मिल प्यास में घुल,
प्रिय मुझी में खो गया अब दूत को किस देश भेजूँ। महादेवी

यहाँ एक ही आधेय प्रिय का क्रम से अनेक आधारों में होना वर्णित है।

दूसरा पर्याय—जहाँ अनेक वस्तुओं अर्थात् आधेयों का एक आधार में होना वर्णित हो वहाँ दूसरा पर्याय होता है।

उसी देह में लरिकई पुनि तरुनाई जोर
बिरधाई आई अजहुँ भजि ले नंद किशोर। प्राचीन

यहाँ एक आधेय शरीर में लरिकाई आदि अनेक आधारों का होना वर्णित है।

जहाँ लाल साड़ी थी तन में बना चर्म का चीर वहाँ।

जैसा एक का भी पर्याय देखा जाता है।

४७ परिवृत्ति वा विनिमय (Barter)

पदार्थों का सम और असम के साथ विनिमय—अदल-बदल को परिवृत्ति अलंकार कहते हैं।

१ सम परिवृत्ति—उत्तम वस्तु देकर उत्तम वस्तु लेना—

जो देवों का भाग उसे हम सादर उनको देंगे।
और ले सकेंगे जो उनसे हम कृतज्ञ हो लेंगे। गुप्तजी
मुझको करने योग्य काम बतलाओ।
दो अहो ! नव्यता और भव्यता पाओ। गुप्तजी

इन दोनों में उत्तम वस्तुओं का सम आदान-प्रदान है।

२ सम परिवृत्ति—न्यून वस्तु देकर न्यून वस्तु लेना—

श्री शंकर की सेवा में रत भक्त अनेक दिखाते हैं
किन्तु वस्तुतः उनसे क्या वे कुछ भी लाभ उठाते हैं।
अस्थि-माल-मय अपने तन को अर्पण वे करते हैं;
मुंड-माल-मय तन उनसे बस परिवर्तन में लेते हैं। पोद्दार

इसमें अस्थि-माल-मय—मनुष्य देह शिवजी को अर्पण करके मुण्डमालवाला शरीर—शिव रूप प्राप्त करना वर्णित है। हाड़ों की माला और मुण्डमाला दोनों न्यून वस्तुएँ हैं। इसमें शिवजी की एक प्रकार से प्रशंसा है, जिससे व्याज-स्तुति भी है।

३ विषम परिवृत्ति—उत्तम के साथ न्यून का विनिमय—

क्रांति हो चुकी श्रांति मेट अब आ मैं व्यजन करूँगी।
मोती न्यौछावर करके, वे श्रमकण बीन धरूँगी।

इसमें मोती उत्तम वस्तु के साथ, श्रमकण न्यून वस्तु का विनिमय है।

कासों कहिये आपनी यह अजान जदुराय।
मानमानिक दीन्हों तुमहिं लीन्हीं विरह बलाय। प्राचीन

यहाँ भी मानिक देकर बलाय मोल लेना उत्तम से न्यून का विनिमय है।

४ विषम परिवृत्ति—न्यून के साथ उत्तम का विनिमय—

मेरा अतिथिदेव आवे तो मैं सिर-माथे लूँगी।
उसने मुझको देह दिया मैं उसे प्राण भी दूँगी। गुप्तजी

यहाँ देह न्यून से उत्तम प्राण का विषम विनिमय है।

देखो त्रिपुरारि की उदारता अपार जहाँ
पैये फल चारि एक फूल दै धतूरे का। प्राचीन

४८ परिसंख्या (Special Mention)

जहाँ किसी वस्तु का एक स्थान से निषेध करके किसी दूसरे स्थान में स्थापन हो वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है।

१ प्रश्नरहित प्रतीयमान निषेध—

देह में पुलक, उरों में भार, भ्रुवों में भंग, दृगों में बाण,
अधर में अमृत, हृदय में प्यार, गिरा में लाज, प्रणय में मान। पंत

इसमें एक-एक स्थान पर भार, भंग आदि के स्थापन से इनका अन्यत्र प्रश्नरहित निषेध व्यंग है।

२ प्रश्नरहित वाच्यनिषेध—

जहाँ वक्रता सर्प के चाल में थी, प्रजा में नहीं थी न भूपाल में थी।
नरों में नहीं, कालिमा थी घनों में, जनों में नहीं शुष्कता थी बनों में।
रा० च० उपाध्याय

इसमें एक स्थान से गुण का अन्यत्र स्थापन है जो स्पष्ट है। अतः यहाँ प्रश्नरहित निषेध वाच्य है।

३ प्रश्नपूर्वक प्रतीयमान निषेध—

क्या गाने के योग्य है मोहन के गुणगीत।
ध्यान योग्य क्या है कहो हरिपद पद्म पुनीत। अनुवाद

यहाँ जो प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं वे सप्रमाण हैं। इन उत्तरों से अन्य गीत या अन्य वस्तु न गाने के योग्य और न ध्यान देने के योग्य हैं, यह प्रश्नपूर्वक निषेध व्यंग्य है।

४ प्रश्नपूर्वक वाच्यनिषेध—

क्या कर भूषण! दान रत्न जड़ित कंकण नहीं।
धन क्या है सम्मान कंचन मणिमुक्ता नहीं। अनुवाद

क्या भूषण और दान हैं? इनके उत्तर में दान और सम्मान जो कहे गये हैं वे कंकण आदि के निषेधार्थक हैं जो वाच्य हैं। अतः यहाँ प्रश्नपूर्वक वाच्य-निषेध है।

दंड जतिन कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतौ मनसिज सुनिय अस रामचंद्र के राज। प्राचीन

इसमें 'दंड' और 'भेद' श्लिष्ट हैं। अर्थात् दण्ड (सजा) कहीं नहीं। केवल संन्यासियों के ही हाथ में दण्ड (संन्यास की छड़ी) है। ऐसे ही 'भेद' को भी जानना चाहिये।

४६ काव्यार्थापत्ति

(Presumption or necessary Conclusion)

जिसके द्वारा दुष्कर कार्य की सिद्धि हो उसके द्वारा सुगम कार्य की सिद्धि क्या कठिन है, ऐसा जहाँ वर्णन हो वहाँ यह अलंकार होता है।

यहाँ 'आपत्ति' का अर्थ 'आ पड़ना' है।

देखो यह कपोत कण्ठ, बाहु बल्ली कर सरोज
उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—
नितम्ब भार—चरण सुकुमार—गति मंद मंद
छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियों का
देवों-भोगियों की तो बात ही निराली है। निराला

ऋषि-मुनियों के धैर्य छूट जाने की सामर्थ्य से भोगियों के धैर्य छूट जाना स्वतः सिद्ध हो जाता है।

प्रभु ने भाई को पकड़ हृदय पर खींचा,
रोदन जल से सविनोद उन्हें फिर सींचा।
उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ?
जनकर जननी भी जान न पायी जिसको। गुप्तजी

भरत को जन्म देनेवाली जननी भी जिनके आशय को जान न सकी, इस अर्थ की प्रबलता से और किसी को उनके आशय का न जानना स्वतः सिद्ध है।

अति प्यारा है तनय देख तू अपनी माँ का।
सुर-विजयी हूँ मेघनाद मैं वीर लड़ाका।
मेरा तेरा युद्ध भला कैसे होवेगा ?
जो न भगेगा अभी समर में मर सोवेगा। रा० च० उपा०

सुरविजयी के अर्थसामर्थ्य से मनुष्य के साथ युद्ध की असंभवता आप ही आप आ पड़ती है।

५० विकल्प (Alternative)

जहाँ दो समान बलवाली विरुद्ध बातों के एक ही काल और एक ही स्थिति में विरोध होता हो अर्थात् या तो यह या वह, इस प्रकार का कथन किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

आते यहाँ नाथ निहारने हमें उद्धारने या सखि तारने हमें।
या जानने को किस भाँति जी रहे, तो जान लें वे हम अश्रु पी रहे। गुप्तजी

यहाँ तुल्यबलवाली विरोधी वस्तुओं के एकत्र एककालिक विरोध होने से विकल्प अलंकार है।

प्रभु सौख्य दो स्वातंत्र्य का अथवा हमें अब मुक्ति दो।

यहाँ 'अथवा' शब्द से दोनों से एक ही काल में विरोध उक्त है। यही बात नीचे की अर्धाली में भी है।

जनम कोटि लगि रगर हमारी। बरौं सभु नतु रहौं कुमारी।

अथवा, नतु, न तरु, या, कै, कि, कितौ आदि इस के वाचक है।

५१ समुच्चय (Conjunction)

जहाँ समुदाय का एकत्र होना वर्णित हो वहाँ यह अलंकार होता है।

१ **प्रथम समुच्चय**—जहाँ एक कार्य की सिद्धि के लिये एक साधन ही पर्याप्त हो, वहाँ अन्यान्य साधनों का वर्णन होने से यह अलंकार होता है।

माँ की स्पृहा पिता का प्रण, नष्ट करूँ करके सत्रण,
प्राप्त परम गौरव छोड़ूँ, धर्म बेंच कर धन जोड़ूँ। गुप्तजी

इसमे राम-वन-गमन के लिये मा की स्पृहा ही पर्याप्त साधन हैं वहाँ पिता का प्रण आदि अन्यान्य साधन भी एकत्र वर्णित हैं।

कृष्ण के संग ही तुम्हारा नाम होगा, धाम होगा,
प्राण होगा, कर्म होगा, विभव होगा; कामना भी। भट्ट

इसमें जहाँ राधिका के अनन्य अनुराग का प्रदर्शन प्रथम साधन से ही हो जाता है वहाँ अन्यान्य साधनों का समुच्चय हो गया है।

२ द्वितीय समुच्चय—जहाँ गुण-क्रिया के वा गुण अथवा क्रिया के एक साथ वा पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाय वहाँ यह भेद होता है।

आली तू ही बता दे इस विजन विना मैं कहाँ आज जाऊँ
दीना, हीना, अधीना, ठहर कर जहाँ शान्ति दूँ और पाऊँ। गुप्तजी

यहाँ ऊर्मिला में दीना, हीना आदि गुणों का एकत्र एक काल में वर्णन है। दूँ और पाऊँ क्रिया का भी एक ही काल में समुच्चय है।

५२ समाधि वा समाहित (Facilitation)

जहाँ अचानक और कारणों के आ पड़ने से काम सुगम हो जाय वहाँ समाधि अलंकार होता है।

विनय यशोदा करति हैं गृह चलिये गोपाल।
घन गरज्यो बरसा भई भागि चले नँदलाल। प्राचीन.

यहाँ यशोदा के विनय के समय ही घन गरज कर जो वर्षा होने लगी उससे कृष्ण के घर चलने का काम आसानी से हो गया।

निरखन को मम वदन छवि पठई दीठि मुरारि।
दूत हा ! चपल समीरनैं घूँघट दियो उघारि। प्राचीन

वायु के झोंके से घूँघट खुल जाने के कारण मुँह देखने का कार्य सहज हो गया।

चौदहवीं छाया

लोकन्यायमूल अलंकार

लोकन्यायमूल अलंकारों में १ प्रत्यनीक, २ प्रतीप ३ मीलित ४ सामान्य ५ तद्गुण ६ अतद्गुण ७ प्रश्न ८ उत्तर ९ प्रश्नोत्तर और १० गूढ़ोत्तरा ये दस अलंकार हैं।

५३ प्रत्यनीक (Rivalry)

शत्रु को जीतने में असमर्थ होने के कारण उसके पक्षवालों से वैर निकालने को प्रत्यनीक अलंकार कहते हैं।

शान्त हुआ लंकेश अनुज की सुनकर बातें,
जब तब खल भी साम पेच में हैं आ जाते।

सस्मित बोला असुर पुच्छ प्रिय है बानर को,
उसे जला दो, अभी दिखावे जा कर नर को।
तब लज्जित हो तपसी स्वयं या डर कर भग जायगा।
या वह मेरे कर निधन हो यम के कर लग जायगा। रा० च०

यहाँ राम से वैर सधाने में असमर्थ रावण के उनके निजी दूत हनुमान से वैर निकालने का वर्णन है।

मित्र पक्षवालों के साथ मित्रता का वर्ताव करने में भी प्रत्यनीक होता है।

तेज मंद रवि ने कियो बस न चल्यो तेहि संग।
दुहुँन नाम एकै समुझि जारत दिया पतंग।

सूर्य ने दीपक का प्रकाश कम किया पर जब उनसे कुछ वश नहीं चला तो पतंग (सूर्य) फतिंगा को एक नाम का समझकर उसे ही जलाता है।

पादांकपूत अयि धूलि प्रशंसनीया, मैं बाँधती समुद अंचल में तुझे है।
होगी मुझे सतत तू बहु शान्ति दाता, देगी प्रकाश तम में तिरते दृगों को।
हरिऔध

यहाँ कृष्ण के पदाङ्क से पूत होने के कारण व्रजाङ्गना की धूल से आत्मीयता प्रकट की गयी है।

५४ प्रतीप (Converse)

प्रतीप का अर्थ है विपरीत—उलटा। इस अलंकार में उपमान को उपमेय कल्पना करना आदि अनेक प्रकार की विपरीतता दिखायी जाती है।

१ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय कल्पना करना प्रथम प्रतीप है।

है दाँतों की झलक मुझको दीखती दाड़िमों में।
बिंबाओं में वर अधर सी राजती लालिमा है।
मैं केलों में जघन युग की देखती मंजुता हूँ।
गुल्फों की सी ललित सुखमा है गुलों में दिखाती। हरिऔध

इसमें सभी प्रसिद्ध उपमानों को उपमेय कल्पित किया गया है।

देख वे दो तारे शून्य नभ में है झलके,
गैरिक दुकूलिनी ज्यों तेरे अश्रु छलके। गुप्तजी

यहाँ संध्या और तारे उपमानों को उपमेय कहा गया है।

अधरों की लाली से चुपके कोमल गुलाब के गाल लजा,
आया, पंखड़ियों को काले पीले धब्बों से सहज सजा। पंत

इसमें गुलाब उपमान उपमेय कल्पित है।

२ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय कल्पना करके वर्णनीय उपमेय का निरादर किये जाने को तृतीय प्रतीप कहते हैं।

सुकवि 'गुलाब' हेर्यो हास्य हरिनाच्छिन में,
हीरा बहु खानिन में हिम हिमथान में।
राम ! जस रावरो गुमान करे कौन हेतु,
याके सम देखो लसै चंद आसमान में।

इसमें चन्द्रमा आदि प्रसिद्ध उपमानों को उपमेय बताकर वर्णनीय उपमान राजा रामसिंह के यश का अनादर किया गया है।

का घूँघुट मुख मूँदहु अबला नारि।
चन्द सरग पर सोहत यहि अनुहारि। प्राचीन

यहाँ प्रसिद्ध उपमान चन्द को उपमेय बताकर वर्णनीय उपमेय मुख का यह कहकर अनादर किया गया है कि घूँघट में तेरा मुँह छिपाना व्यर्थ है।

३ प्रसिद्ध उपमेय को उपमान कल्पना करके प्रसिद्ध उपमान का निरादर किया जाना दूसरा प्रतीप है।

मृगियों ने दृग मूँद लिये दृग देख सिया के बाँके,
गमन देख हँसी ने छोड़ा चलना चाल बना के।
जातरूप सा रूप देख कर चम्पक भी कुम्हलाये,
देख सिया को गर्वीले बनवासी सभी लजाये। रा० च० उपा०

इसमें उपमेय दृग, गमन आदि को उपमान कल्पित करके प्रसिद्ध मृगदृग, हंसगति आदि उपमान का निरादर है। ललितोपमा भी है।

जिसकी आँखों पर निज आँखें रख विशालता नापी है।
विजय गर्व से पुलकित होकर मन ही मन फिर काँपी है। भक्त

यहाँ उपमेय बेगम की आँखों को उपमान मानकर उपमान मृग-नयन को विजित बताकर उसका निरादर किया गया है।

४ उपमान को उपमेय की उपमा के अयोग्य कहा जाना।

दोनों का तन तेज एक से एक प्रखर था,
इनके आगे पड़ा हुआ दिनकर फीका था। रा० च०

यहाँ उपमान दिनकर को उपमेय कल्पित करके दोनों के तन तेज के सादृश्य के अयोग्य कहा गया है।

तो मुख ऐसो पंकसुत अरु मयंक यह बात।
बरनै सदा असंक कवि बुद्धिरंक विख्यात। **प्राचीन**

यहाँ कमल और चंद्र जैसे प्रसिद्ध उपमानों को उपमेय मान कर किये गये वर्णन को बुद्धिरंक कवि का वर्णन बताना उपमा के अयोग्य ठहराना है।

बोली वह 'पूछा तो तुमने मुझे चाहती हो तुम क्या'?
इन दसनों अधरों के आगे क्या मुक्ता है विद्रुम क्या? **गुप्तजी**

इसमें उपमान मुक्ता और विद्रुम को उपमेय दशनों और अधरों की उपमा के अयोग्य ठहराया गया है।

५ जहाँ उपमान का कार्य करने के लिए उपमेय ही पर्याप्त है, फिर उपमान की क्या आवश्यकता, ऐसा वर्णन करके उपमान का तिरस्कार किया जाय वहाँ पाँचवा प्रतीप होता है।

जगत तपे तव ताप से क्या दिनकर का काम।
तेरा यश शीतल सुखद फिर सुधांशु बेकाम। **राम**

इसमें दिनकर और सुधांशु उपमान के काम प्रताप और यश उपमेयों के सामर्थ्य से ही होना बताया गया है जिससे उपमानों का निरादर सूचित होता है।

जहँ राधा आनन उदित निसिवासर सानन्द।
तहाँ कहा अरविन्द है कहा बापुरो चन्द। **प्राचीन**

यहाँ उपमेय मुख की सामर्थ्य से उपमान चन्द्रमा की अनावश्यकता बताकर उसका अनादर किया गया है।

५५ मीलित (Lost)

जहाँ दो पदार्थों में सादृश्य न लक्षित हो वहाँ यह अलंकार होता है।

पान पीक अधरान में सखी लखी ना जाय।
कजरारी अँखियान में कजरा री न लखाय। **प्राचीन**

लाल ओठों में पान की पीक और काली आँखों में काजल मिलकर एकरंग हो गये हैं।

वे आभा बन खो जाते शशि-किरणों की उलझन में,
जिससे उनको कण कण में ढूँढ़ूँ पहिचान न पाऊँ। महादेवी

यहाँ वे (रहस्यमय प्रिय) चन्द्रमा की चाँदनी में ऐसे एकरंग हो खो जाते हैं कि मैं ढूँढ नहीं पाती।

नीचे का अलंकार इसीके संबंध का है।

५६ उन्मीलित (Unlost)

जहाँ दो पदार्थों के सादृश्य में भेद न होने पर भी किसी कारण भेद का पता लग जाने का वर्णन हो वहाँ उन्मीलित अलंकार होता है।

चंपक हरवा गर मिलि अधिक सोहाय।
जानि परै सिय हियरे जब कुम्हिलाय। तुलसी

गले के रंग में मिला चंपकहार कुम्हलाने पर ही गोरे अंग से पृथक् लक्षित होता है।

सम्मिलित उदाहरण—

भर गयी अमल धवल चारु चन्द्रिका,
मानो भरा दुग्धफेन भूतल से नभ लौं।
रात बनी मूर्तिमती 'शुक्लाभिसारिका'।
आ रही है निज को छिपाये सित वस्त्र में,
अलंकार मीलिता सदेह देखा कवि ने
किन्तु नीलिमा थी निशानाथ के कलंक के
वह उन्मीलिता का सहज स्वरूप था। आर्यावर्त

धवल चाँदनी में शुक्लाभिसारिका बनी रात सित वस्त्र में अपने को छिपाये जो आती है तो वह मीलित अलंकार का सदेह उदाहरण हो जाती है पर चन्द्रमा की नीलिमा रात को उन्मीलिता का उदाहरण बना देती है।

५७ सामान्य (Sameness)

जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत में गुण-समानता के कारण एकात्मता का वर्णन हो वहाँ यह अलंकार होता है।

भरत राम एकै अनुहारी, सहसा लखि न सकै नर नारी।
लखन शत्रुसूदन एकरूपा, नख सिख ते सब अंग अनूपा। तु०

यहाँ भरत-राम और लखन-शत्रुहन में भेद रहते हुए भी एकात्मता का वर्णन है।

मिल गया मेरा मुझे तू राम, तू वही है भिन्न केवल नाम।
एक सुहृदय और एक सुगात्र, एक सोने के बने दो पात्र। गुप्तजी

कौशल्या ने भेद रहते हुए भी दोनों को एक ही मान लिया है।

इसी संबंध का एक नीचे का अलंकार है।

५८ विशेषक (Unsameness)

प्रस्तुत और अप्रस्तुत में गुण-सामान्य होने पर भी किसी प्रकार भेद लक्षित होने से विशेषक अलंकार होता है।

कोयल काली कौआ काला क्या इनमें कुछ भेद निराला
पर कोयल कोयल वसन्त में कौआ कौआ रहा अन्त में। अनुवाद

यहाँ काक और पिक समान हैं पर इनका भेद वसन्त में खुल जाता है। काक पिक के समान नहीं बोल सकते।

५९ तद्गुण (Borrower)

जहाँ अपना गुण छोड़कर संगी के गुण-ग्रहण का वर्णन हो वहाँ यह अलंकार होता है। जैसे,

यह शैशव का सरल हास है, सहसा उर से है आ जाता।
यह ऊषा का नव विकास है, जो रज को है रजत बनाता।
यह लघु लहरी का विकास है, कलानाथ जिसमें खिच आता। पंत

यहाँ रज अपना रंग छोड़कर ऊषा का रंग ग्रहण करता है।

अधर धरत हरि के परत ओठ दीठि पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष छवि देति। बिहारी

यहाँ हरित बाँसुरी का ओठ, दृष्टि और पट के लाल, उज्ज्वल और पीत रंग ग्रहण करना वर्णित है।

अति सुन्दर दोनों कानों में जो कहलाते शोभागार,
एक एक था भूषण जिसमें जड़े हुए थे रत्न अपार।
कर्णपूर प्रतिबिम्ब युक्त था कांत कपोल युग्म उस काल,
कभी श्वेत था, कभी हरा था, कभी कभी होता था लाल। पुरोहित

इसमें दमयन्ती के कपोलों का अपना गुण छोड़कर रत्नजटित कर्णाभरण के श्वेत, नील और रक्त गुण का ग्रहण वर्णित है।

६० अतद्गुण (Non-borrower)

जहाँ दूसरे का संग रहने पर भी उसका गुण ग्रहण न किया जाय वहाँ अतद्गुण अलंकार होता है। जैसे,

पूरी यह तेरी दई, क्यों हूँ प्रकृति न जाइ।
नेह भरे हिय राखिये, तू रूखिये लखाइ। **विहारी**

यहाँ नायक के नेह-भरे हृदय में रहने से नायिका को स्निग्ध हो जाना चाहिये सो नहीं होती, रूखी की रूखी ही दीख पड़ती है।

राधा हरि बन गई हाय यदि हरि राधा बन पाते।
तो उद्धव मधुवन से उलटे तुम मधुपुर ही जाते। **गुप्तजी**

इसमें राधा का संग होने पर भी कृष्ण तद्गुण-रूप न हो सके।

६१ प्रश्न (Question)

जहाँ किसी अज्ञात जिज्ञासा की शान्ति के लिये प्रश्न मात्र किया जाता है वहाँ यह अलंकार होता है।

१ वे कहते हैं उनको मैं अपनी पुतली में देखूँ
यह कौन बता जायेगा किसमें पुतली को देखूँ ? **महादेवी**

२ अहे विश्व ! ऐ विश्व व्यथित मन-किधर बह रहा है यह जीवन ?
यह लघु पोत, पात, तृण, रजकण, अस्थिर भीरु वितान,
किधर ? किस ओर ? अपार, अजान डोलता है यह दुर्बल यान। **पंत**

३ मादक भाव सामने सुन्दर, एक चित्र-सा कौन यहाँ ?
जिसे देखने को यह जीवन, मर-मरकर सौ बार जिये। **प्रसाद**

वर्तमान साहित्य का रहस्यवाद ऐसे प्रश्नों का अत्यंत महत्त्व रखता है। इससे प्रश्न ने अलंकार का रूप ग्रहण कर लिया है।

६२ उत्तर (Reply)

चमत्कारक उत्तर होने से उत्तर अलंकार होता है।

यह दो प्रकार का होता है।

(१) जहाँ उत्तर के श्रवणमात्र से प्रश्न का अनुमान कर लिया जाय अथवा अनुमित प्रश्न का संदिग्ध वा असंभाव्य उत्तर दिया जाय वहाँ प्रथम उत्तर अलंकार होता है। जैसे,

१ तुम मुझमें प्रिय फिर परिचय क्या !
तेरा अधर-विचुम्बित प्याला, तेरी ही स्मृति-मिश्रित हाला
तेरा ही मानस मधुशाला,
फिर पूछूँ मैं मेरे साकी देते हो मधुमय विषमय क्या ? महादेवी

२ हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ? यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो, क्या हो, इसका तो भार विचार न सह सकता।
हे विराट हे विश्वदेव तुम कुछ हो ऐसा होता भान। प्रसाद

पहले का उत्तर ऐसा प्रतीत होता है जैसे किसी ने इस उत्तर को लिये प्रश्न किया हो और दूसरे का जो उत्तर है वह संदिग्ध वा असंभाव्य है। दोनों उत्तर चमत्कारपूर्ण हैं।

(२) प्रश्न के वाक्य में ही उत्तर या अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर दिया जाना द्वितीय उत्तर अलंकार वा प्रश्नोत्तर अलंकार है। यह **चित्रोत्तर** अलंकार भी कहा जाता है। जैसे,

सरद चन्द की चाँदनी को कहिये प्रतिकूल ?
सरद चन्द की चाँदनी कोक हिये प्रतिकूल। प्राचीन

यहाँ द्वितीय पद में 'कहिये' के 'क' को प्रश्न के 'को' के साथ मिला दिया तो उत्तर हो गया कि 'कोक' के 'हिये' के प्रतिकूल चाँदनी है।

पान सड़ा घोड़ा अड़ा क्यों, कहिये ? फेरे बिना।
गधा दुखी ब्राह्मण दुखी क्यों कहिये ? लोटे बिना।

दोनों पंक्तियों में दोनों का उत्तर एक ही बात में दे दिया गया है। इसे प्रश्नोत्तरालंकार भी कहते हैं। इसे संस्कृत में **अन्तर्लापिका** कहता जाता है।

उत्तरालंकार का एक भेद 'गूढ़ोत्तर' भी होता है। यह वहाँ होता है जहाँ किसी अभिप्राय के साथ उत्तर दिया जाय। जैसे,

कह दसकंठ कवन तैं बन्दर।
मैं रघुबीर दूत दस कंधर।

इसमें रावण के निरादर-सूचक 'बन्दर' शब्द द्वारा प्रश्न करने पर हनुमानजी का 'रघुवीर दूत' से उत्तर देनसाभिप्राय है। अर्थात् मैं उस राम का दूत हूँ जिन्होंने मारीच आदि राक्षसों को मारा है। मुझे साधारण बंदर न समझना। मैं भी अपने स्वामी के समान कुछ कर दिखा सकता हूँ।

पन्द्रहवीं छाया

गूढ़ार्थ-प्रतीतिमूल अलंकार

६३ व्याजोक्ति (Dissembler)

जहाँ खुले या खुलते हुए किसी गुप्त भेद या रहस्य को छिपाने के लिए कोई बहाना किया जाय वहाँ व्याजोक्ति अलंकार होता है।

बैठी हुती ब्रज की बनितान में आइ गयो कहुँ मोहनलाल हैं।
है गई देखते मोदमयी सुनिहाल भई वह बाल रसाल है।
रोम उठे तन काँप्यो कछू मुसक्यात लख्यौ सखियान को जाल है।
सीरी बयारि बही सजनी उठि यों कहि कै उन ओढ्यो जु साल है। प्राचीन

ठंढी हवा वहने के वहाने नायिका ने नायक के देखने से कंप आदि जो सात्विक भाव उठे थे उन्हें साल ओढ़कर छिपा लिया है।

टिप्पणी—अपह्नुति अलंकार में कही हुई बात निषेधपूर्वक छिपायी जाती है और छेकापह्नुति में कही हुई बात अन्यार्थ द्वारा निषेधपूर्वक छिपायी जाती है और इसमें ये दोनों बातें—वक्ता द्वारा किसी बात का पहले कहा जाना और निषेध—नहीं होतीं।

६४ अर्थवक्रोक्ति (Crooked speech or Periphrasis)

अन्य अभिप्राय से उक्त बात का अन्य व्यक्ति द्वारा अर्थश्लेष से अन्य अर्थ लगाने को अर्थवक्रोक्ति अलंकार कहते हैं।

भिक्षुक गो कितको गिरिजे ! वह माँगन को बलिद्वार गयो री।
नाच नच्यों कित हो भव बाम, कलिंदसुता तट नीको ठयो री।
भाजि गयो वृषपाल सुजानति, गोधन संग सदा सुछयो री।
सागर शैल सुतान के आजु यों आपस में परिहास भयो री। प्राचीन

इसमें भिक्षुक, नाच नच्यो और वृषपाल शब्दों के स्थान पर इनके पर्याय रखने पर भी अर्थ ज्यों-का-त्यों बना रहेगा और लक्ष्मी तथा पार्वती के परिहास में अन्तर न आवेगा।

क्या लिया बस सब यही हैं शल्य किन्तु मेरा भी यही वात्सल्य।
सब बचाती हैं सुतों के गात्र किन्तु देती हैं दिठौना मात्र।
नील से मुँह पोत मेरा सर्व कर रही वात्सल्य का तू गर्व।
खर मँगा वाहन वही अनुरूप देख लें सब—है यही वह भूप। गुप्तजी

यहाँ कैकेयी ने जिस भाव से 'वात्सल्य' शब्द का प्रयोग किया है भरत ने उसके अन्यार्थ की कल्पना करके उत्तर दिया है।

६५ सूक्ष्म (Subtle)

जहाँ किसी संकेत—चेष्टा आदि और आकार से लक्षित रहस्य को किसी युक्ति से सूचित किया जाय वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है।

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुणा ऐन चितै जानकी लखन तन। तुलसी

यहाँ राम के हँसने से यह भाव प्रकट होता है कि केवट के भाव को तो मैं समझ ही गया, तुमलोग भी समझ गये होगे।

'छत्रपती' भनि लै मुरली कर आइ गये तहँ कुंज विहारी,
देखत ही चख लाल के बाल प्रबाल की माल गले बिच डारी।

लाल नेत्र देखते ही नायिका ने यह जान लिया कि कृष्ण रात्रि में अन्यत्र जगे हुए थे। इस रहस्य को उसने प्रबाल की माला गले में डालकर खोल दिया।

६६ स्वभावोक्ति (Natural Description)

बालक आदि की स्वाभाविक चेष्टा आदि के चमत्कारक वर्णन में स्वभावोक्ति अलंकार होता है।

माँ! अलमोड़े में आये थे जब राजर्षि विवेकानन्द
मग में मखमल बिछवाया दीपावलि की विपुल अमंद।
विना पाँवड़े पथ में क्या वे जननि नहीं चल सकते हैं?
दीपावलि क्यों की? क्या वे माँ! मंद दृष्टि कुछ रखते हैं? पंत

इसमें बाल-स्वभाव-सुलभ आशंका का चमत्कारक वर्णन है।

चढ़ कर गिर कर फिर उठकर कहता तू अमर कहानी
गिरि के अंचल में करता कूजित कल्याणी वाणी। भा० आत्मा

झरने का यह स्वाभाविक वर्णन है।

कपि होकर के क्रुद्ध किलक कर पुच्छ पटक कर
लड़ने उससे लगा झपट कर और उपट कर। रा०च०

इसमें हनुमान जी का असुरों के संग लड़ने का स्वाभाविक वर्णन है।

६७ भाविक (Vision)

जहाँ भूत और भविष्य के भावों का वर्तमान की भाँति वर्णन किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

भरे मधुर है कष्ट पूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियाँ,
जब निःसंबल होकर कोई जोड़ रहा बिखरी कड़ियाँ। महादेवी

इसमें भूत का वर्तमान के समान वर्णन है।

अरुण अधरों की पल्लव प्रात, मोतियों सा हिलता हिम हास।
इन्द्रधनुषी पट से ढँक गात, बाल विद्युत का पावस लास।
हृदय में खिल उठता तत्काल अधखिले अंगों का मधुमास।
तुम्हारी छवि का कर अनुमान प्रिये प्राणों की प्राण। पंत

इसमें भावी पत्नी के भावी भावों के हृदय में वर्तमानकालिक विकास से भाविक अलंकार है।

मेंहदी दीन्हीं ही जु कर सो वह अजौं लखात।
दीवे हैं अंजन दृगनि दियो सो जानै जात। प्राचीन

यहाँ हाथ में दी हुई मेंहदी का न होने पर भी दिखाई पड़ना, और आँख में अंजन देना है पर वह दिये हुए के समान दिखाई पड़ना भूत और भावी का प्रत्यक्ष वर्णन है। इसका कारण हाथ की ललाई और आँखों की कालिमा है।

वर्गीकरण में रहने के कारण ही ऐसे अलंकारों का उल्लेख किया गया है। अन्यथा इनमें आलंकारिक चमत्कार नहीं है।

सम्मिलित अलंकार

(Figures of speech in words and sense)

सम्मिलित अलंकारों को आचार्यों ने उभयालंकार का नाम दिया है पर उनका लक्षण-समन्वय नहीं होता। जब संसृष्टि शब्दालंकारों की होती है तब वह उभयालंकार कैसे कहा जा सकता है। क्योंकि उसमें अर्थालंकार तो होता नहीं। इससे अलंकारों का जहाँ संमिश्रण

हो उसे सम्मिलित वा संयुक्त अलंकार ही कहना उपयुक्त है। ऐसे अलंकार दो प्रकार के देखे जाते हैं।

६८ संसृष्टि अलंकार

तिलतण्डुल न्याय के अनुरूप अर्थात् तिल और तण्डुल मिश्रित होने पर भी जैसे पृथक्-पृथक् लक्षित होते हैं उसके समान जहाँ अलंकारों की एकत्र स्थिति हो वहाँ संसृष्टि अलंकार होता है।

१ शब्दालंकार-संसृष्टि २ अर्थालंकार-संसृष्टि और ३ शब्दार्थालंकार-संसृष्टि।

१ जहाँ केवल शब्दालंकारों की एक ही स्थान पर पृथक्-पृथक स्थिति प्रतीत हो वहाँ यह भेद होता है।

मर मिटें रण में पर राम के हम न दे सकते जनकात्मजा।
सुन कपे जग में बस वीर के सुयश का रण कारण मुख्य है। रा०च०

इसके पहले चरण में र और म की आवृत्ति से वृत्त्यनुप्रास है और चौथे चरण में यमक है।

२ जहाँ केवल अर्थालंकारों की एक ही स्थान पर परस्पर-निरपेक्ष स्थिति हो वहाँ यह भेद होता है।

सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह
छाँह सी अंबरपथ से चली। निराला

इसमें 'छाँह सी' में उपमा और 'नीरवता के कंधे पर' तथा 'अंबर-पथ' में रूपक अलंकार हैं जो एकत्र पृथक्-पृथक् हैं।

खुले केश अशेष शोभा भर रहे
पृष्ठ ग्रीवा बाहु उर पर तिर रहे
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे
ज्योति की तन्वी तड़ित् द्युति ने क्षमा माँगी। निराला

ऊपर की तीन पंक्तियों में उत्प्रेक्षा है और चौथी में लक्ष्योपमा जो पृथक्-पृथक् हैं।

३ जहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकार, दोनों की निरपेक्ष एकत्र स्थिति हो वहाँ वह तीसरा भेद होता है।

जीवन प्रात समीरण सा लघु विचरण निरत करो।
तरु तोरण तृण-तृण की कविता छवि मधु सुरभि भरो। निराला

पूर्वार्द्ध में उपमा और उत्तरार्द्ध में त, र, ण का वृत्त्यनुप्रास है। छवि मधु में रूपक भी है जिसकी स्थिति भी अलग है।

६६ सङ्कर अलंकार

नीर-क्षीर-न्याय के समान अर्थात् दूध में जल मिल जाने की तरह मिले हुए अलंकारों को संकर अलंकार कहते हैं।

इसके निम्नलिखित तीन भेद होते हैं—

१ अंगांगि-भाव-संकर--जहाँ अनेक अलंकार अन्योन्याश्रित होते हैं वहाँ अंगांगिभाव-संकर होता है।

करुणामय को भाता है तम के परदे से आना।
ओ नभ की दीपावलियो तुम छन भर को बुझ जाना। महादेवी

इसमें दो रूपक हैं—एक 'तम के परदे' में है और दूसरा 'नभ की दीपावलियो' में है। ये दोनों परस्पर उपकारक हैं—एक के विना दूसरे की स्थिति संभव नहीं। अतः यहाँ उक्त भेद है।

नयन-नीलिमा के लघु नभ में अलि किस सुषमा का संसार,
विरल इन्द्रधनुषी बादल सा बदल रहा निज रूप अपार। पंत

इसका रूपक 'बादल सा' उपमा के विना अशोभन मालूम होता है और उपमा की स्थिति के विना रूपक असंभव ही है।

२ सन्देह-संकर—अनेक अलंकारों की स्थिति में किसी एक अलंकार का निर्णय न होना सन्देह संकर होता है।

जब शान्त मिलन संध्या को हम हेमजाल पहनाते।
काली चादर के स्तर का खुलना न देखने पाते। प्रसाद

इसमें संध्या की लाली और रात्रि आगमन के स्थान पर 'हेमजाल' और 'काली चादर' होने से रूपकातिशयोक्ति है। दूसरा गुण 'हेम' के साथ दोष 'काली चादर' का वर्णन होने से उल्लास अलंकार भी है। यहाँ संध्या कहने से हेमजाल और काली चादर की रूपकातिशयोक्ति स्पष्ट हो जाती है और इन्हीं से गुण-दोष का साथ हो जाता है जिससे उल्लास हटता नहीं। इससे दोनों के निर्णय में संदेह है।

काली आँखों में कितनी यौवन के मद की लाली,
मानिक मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली। प्रसाद

यहाँ यह संदेह है कि काली आँखों का 'नीलम की प्याली' और मद की लाली का 'मानिक मदिरा' रूपक है या लाली भरी काली आँखें मानिक मदिरा से भरी नीलम की प्याली सी सुन्दर हैं, लक्ष्योपमा है।

३ एक वाचकानुप्रवेश संकर—जहाँ एक ही आश्रय में अनेक अलंकारों की स्थिति हो वहाँ यह भेद होता है।

ऊपर के दूसरे उदाहरण में 'मानिक मदिरा' इसका उदाहरण है। क्योंकि यहाँ एक आश्रय में अनुप्रास भी हैं और मानिक के समान लाल मदिरा, अर्थ करने से वाचकधर्मलुप्तोपमा है।

तुम तुङ्ग हिमालय शृङ्ग और मैं चंचल गति सुरसरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कान्त-कामिनी-कविता। निराला

यहाँ कान्त-कामिनी-कविता में अनुप्रास और रूपक दोनों अलंकार हैं।

ऐसे ही "भींगी मनमधुकर की पाँखें" और 'केलि-कलि-अलियों की सुकुमार' आदि उदाहरण हैं।

सोलहवीं छाया

कुछ अन्य अलंकार

वर्गीकरण के अतिरिक्त कुछ प्रसिद्ध चमत्कारक अलंकारों का निर्देश किया जाता है।

७० ललित (Artful Indication)

वर्णनीय वृत्तान्त को स्पष्ट न कहकर उसके प्रतिबिंब वा छाया के वर्णन किये जाने को ललित अलंकार कहते हैं।

अरे विहंग लौट अब तेरा नीड़ रहा इस बन में।
छोड़ उच्च पद की उड़ान वह क्या है शून्य गगन में? गुप्तजी

गोपी ने स्पष्ट यह न कहकर कि मथुरा का राज-विलास छोड़कर हे कृष्ण गोकुल चले आवो, छाया के रूप में वर्णन किया गया है।

सुनिय सुधा देखिय गरल सब करतूति कराल।
जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल। तुलसी

यहाँ यह न कहकर कि कहाँ राम का राज्य होनेवाला था और कहाँ हो गया वनवास। 'सुनिय सुधा' आदि के रूप में यही कहा गया है जो प्रतिबिंब मात्र है।

७१ अत्युक्ति (Exaggeration)

सम्पत्ति, सौन्दर्य, शौर्य, औदार्य, सौकुमार्य आदि गुणों के मिथ्या वर्णन को अत्युक्ति अलंकार कहते हैं।

भूली नहीं अभी मैं वह दिन कल ही की तो है यह बात,
सोने की घड़ियाँ थीं अपनी चाँदी की थी प्यारी रात।
मैं जमीन पर पाँव न धरती छिलते थे मखमल पर पैर,
आँखें बिछ जाती थीं पथ में मैं जब करने जाती सैर। भक्त

सम्पत्ति और सौकुमार्य के वर्णन में अत्युक्ति है।

वह मृदु मुकुलों के मुख में भरती मोती के चुंबन ?
लहरों के चल करतल में चाँदी के चंचल उडुगण। पंत

चाँदनी का अत्युक्ति-पूर्ण वर्णन है। पर है अनुपम और अपूर्व।

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल।
देख बिखरती है मणिराजी अरी उठा बेसुध चंचल। प्रसाद

रात्रि का मानिनी-रूप में यह अत्युक्ति-पूर्ण वर्णन है। नये कवियों ने इसके नये रूप दे डाले हैं।

७२ उल्लास (Abondonment)

एक के गुण-दोष से दूसरे को गुण-दोष होने के वर्णन को उल्लास अलंकार कहते हैं।

१ गुण से गुण—

सठ सुधरहिं सठ संगति पाई।
पारस परसि कुधातु सुहाई। तु०

यहाँ सज्जन तथा पारस के संसर्ग से शठ और कुधातु के सुधरने की बात है।

फूल सुगन्धित करता है देखो युग्म हाथों को। रा० च०

इसमें फूल की सुगंध से हाथ के सुगन्धित होने की बात है।

२ दोष से दोष—

जा मलयानिल लौट जा यहाँ अवधि का शाप।
लगे न लू होकर कहीं तू अपने को आप। गुप्तजी

इसमें विरहिणी ऊर्मिला के विरह-संताप से मलयानिल के तापित होने की बात कही गयी है।

३ गुण से दोष—

जो काहू के देखहिं विपती
सुखी भये मानहु जगनृपती।

यहाँ दूसरे की विपत्ति (दोष) से सुखी होना (गुण) वर्णित है।

४ दोष से गुण—

व्यथा भरी बातों ही में रहता है कुछ सार भरा।
तप में तप कर ही वर्षा में होती है उर्वरा धरा।

यहाँ धरा के ताप में तप्त होना रूप दोष से वर्षा में उर्वरा होना रूप गुण वर्णित है।

७३ अवज्ञा (Non-abondonment)

एक के गुण-दोष से दूसरे को गुण-दोष न होने को अवज्ञा अलंकार करते है।

१ गुण से गुण का न होना—

फूलै फलै न बेंत, जदपि सुधा बरखहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरंचि सम। तुलसी

यहाँ सुधा और ब्रह्मा तुल्य गुरु के गुण से बेंत का न फूलना-फलना और मूर्ख के हृदय में चेत न होना वर्णित है।

२ जहाँ एक के दोष से दूसरा दोषी न हो—

पड़ जाते कुसंग में सज्जन तो भी उसमें गुण रहता है।
अहि के सँग रहता है चंदन जन-संताप तदपि हरता है। रा० च०

यहाँ सर्प के दोष से चंदन का दूषित न होना वर्णित है।

हंसों ही के तुल्य वकों का भी शरीर है।
इनका भी आवास सदा ही सरस्तीर है।

चलते भी हैं, खूब बना कर चाल मराली
पर इनकी दुष्क्रिया घृणित है और निराली। रा० च०

इसमें हंस के संग से वक में हंस का गुण न आना वर्णित है।

७४ प्रहर्षण (Erraptuning)

प्रहर्षण का अर्थ है परमानन्द। इसमें परमानन्द-दायक पदार्थ की प्राप्ति का वर्णन होता है।

इसके तीन भेद होते हैं—

१ प्रथम प्रहर्षण वहाँ होता है जहाँ अभिलषित वस्तु की बिना प्रयास प्राप्ति का वर्णन हो।

मैं थी संध्या का पथ हेरे आ पहुँचे तुम सहज सबेरे
धन्य कपाट खुले ये मेरे हूँ क्या अब तब दान?
पधारो भव भव के भगवान। गुप्तजी

इसमें प्रतीक्षा के पूर्व ही बुद्धदेव के आगमन से यशोधरा का प्रकृष्ट हर्ष वर्णित है।

२ द्वितीय प्रहर्षण वह कहाता है जिसमें वांछित पदार्थ की अपेक्षा अधिकतर लाभ का वर्णन हो।

ज्यों एक जलकण के लिये चातक तरसता हो कहीं
उसकी दशा पर कर दया वारिद करे जलमय मही।
त्यों एक सुत के हेतु दशरथ थे तरसते नित्य ही,
पाये उन्होंने चार सुत, है धर्म का यह कृत्य ही। रा० च०

३ तृतीय प्रहर्षण वह है जिसमें उपाय का अन्वेषण करते ही—यत्न अपूर्ण रहते भी पूर्ण फल-लाभ का वर्णन हो।

सारा आर्य-देश आज नीचे आर्य-ध्वज के
उद्यत है मर मिटने को एक साथ ही
सीस ले हथेली पर भेद भाव भूल के।
यह दृश्य देखा कवि चन्द ने तो उसकी
फड़की भुजायें कड़ी तड़की कवच की। आर्यावर्त

युद्धार्थ साधारण उद्योग करते ही इतने बड़े भारी संगठन के हो जाने से कवि चंद को प्रहर्षण हुआ।

७५ विषादन (Despondency)

इच्छित अर्थ के विपरीत लाभ होने को विषादन अलंकार कहते हैं। जैसे,

श्री राम का अभिषेक होगा कुछ घड़ी में आज ही,
इस ध्यान-वारिधि में मनो सीता घुमकती सी रही।
आये वहाँ पर राम भी पर आस्य उनका खिन्न था,
था क्लिन्न भी वह स्वेद से वह नित्य से कुछ भिन्न था।
स्वामी-दशा को देख सीता काठ की सी हो गई!
हा खो गई उसकी प्रभा चिन्तान्गि में वह सो गई। रा० च०

'का सुनाइ विधि काहि दिखावा' होने से विषादन की विशेष मात्रा इसमें वर्तमान है।

निकट में अपने रखना तुम्हें—दुखद है समझा रघुनाथ ने।
जनकजे निज नाथ दिनेश से अब रहो वन के वनचारिणी। रा० च०

जहाँ तपोवन-दर्शन की लालसा से लालायित सीता को आनन्द का पारावार नहीं था वहाँ लक्ष्मण द्वारा वनवास की रामाज्ञा सुन उसपर वज्रपात-सा हो गया।

७६ विकस्वर (Expansion)

विशेष का सामान्य से समर्थन करके फिर सामान्य का विशेष से समर्थन करना विकस्वर अलंकार है।

अर्थान्तरन्यास से—

गुण गेह नृप में एक दुर्गुण आ गया तो क्या हुआ?
जैसे सुरों सँग राहु पूजा पा गया तो क्या हुआ?
रत्नाब्धि खारा है तदपि सम्मान मिलता है उसे
संसार में आकर भला लांछन न लगता है किसे? रा० च०

राजा में एक दुर्गुण का आना विशेष कथन है—रत्नाब्धि खारा है, इसके द्वारा उसका समर्थन है। फिर इस सामान्य कथन का समर्थन चौथी पंक्ति के अर्थान्तरन्यास से किया गया है।

उपमा से—

रत्नखान-हिमवान-हिम होता नहीं कलंक।
छिपे गुणों में दोष इक ज्यों मृगांक में अंक। अनुवाद

रत्न के आकर हिमवान का हिम कलंक नहीं होता। यह विशेष कथन बहुत-से गुणों में एक दोष छिप जाता, इस सामान्य कथन से समर्थित है। फिर इस कथन का जैसे चन्द्रमा में कलंक, इस उपमाभूत विशेष कथन से समर्थन किया गया है।

७७ मिथ्याध्यवसिति (False determination)

किसी झूठ को सिद्ध करने के लिये यदि किसी दूसरे झूठ की कल्पना की जाय तो यह अलंकार होता है।

सस सींग की करि लेखिनी मसि कुरँग-तृष्णा-नीर।
आकाश पत्रहिं पर लिख्यो कर हीन कोउ कवि वीर।
जनमांध पंगुर मूक बंध्या को जु सुत लै जाय,
जसवंत अपजस बधिर गन को है सुनावत जाय। ज० य० भू०

महाराज जसवंत सिंह के अयश को असत्य सिद्ध करने लिये शशशृङ्ग आदि अनेक असत्यों की कल्पनायें की गयी हैं।

मधुर वारिधि हो, कटु हो सुधा, अति निवारण हो विष से क्षुधा।
रवि सुशीतल, दाहक हो शशी, पर कभी अपनी न मृगीदृशी। रा० च०

सत्रहवीं छाया

पाश्चात्य अलंकार

साहित्य और कला का सदा साथ रहा। सदा कला कविता की एक महत्त्वपूर्ण अंग बनी रही। कला ने कविता में कई करामातें दिखलायीं। कभी कला ही काव्य मान ली गयी और कभी कला काव्य का एक उपादान समझी गयी। पाश्चात्य-शिक्षा-समीक्षा के प्रभाव से कला ने कई बार अपना कलेवर बदला।

हिन्दी-काव्यकला का विकास इस युग की बड़ी विशेषता है। यह विशेषता पाश्चात्य मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय और ध्वन्यर्थ-व्यञ्जना नामक अलंकारों में लक्षित हो रही है। इन अलंकारों को, आधुनिक कवियों ने हृदय से अपना लिया है।

प्राचीन हिन्दी-कविताओं में ये तीनों विशेषतायें थीं, किन्तु इनकी ओर कवियों का विशेष लक्ष्य नहीं था। ये अलंकार के रूप में कभी

नहीं मानी गयीं। संस्कृत कविता में भी इनका अभाव नहीं है।

१ मानवीकरण (Personification)

पर्सोनिफिकेशन से मानवी करण का अभिप्राय है। भावनाओं में मानव-गुणों—उसके अंगों के कार्यों—का आरोप करना। यह मूर्तिमत्ता काव्य की भाषा में वक्रता और चमत्कृति लाकर उसको प्रभावपूर्ण बना देती है।

सूरदास जी कहते हैं—

> ऊधो मन न भये दस बीस
> एकहु तो सो गयो श्याम सँग को अवराधे ईस।

तुलसीदास जी कहते हैं—

> कीन्हें प्राकृतजन गुण गाना सिर धुनि गिरा लगति पछिताना।

कवि देव ने भी कुछ इसी ढंग से कहा है—

> जोरत तोरत प्रीत तुही अब तेरी अनीत तुही सहि रे मन।

मन का जाना, वाणी का सिर धुनना, मन के द्वारा प्रीत का तोड़ना और जोड़ना आदि मानवोचित कार्यकलाप हैं।

रत्नाकरजी का एक पद्यरत्न देखें—

> गंग कह्यो उर भरि उमंग तौ गंग सही मैं
> निज तरंग बल जौ हरगिरि हरसंग मही मैं
> लै सवेग विक्रम पतालपुरि तुरत सिधाऊँ
> ब्रह्मलोक कै बहुरि पलटि कंदुक इव आऊँ।

गंगा का कहना, हरगिरि को पृथ्वी पर लाना, पाताल पुरी को जाना आदि मार्मिक मूर्तिमत्ता है।

आधुनिक काल में मानवीकरण वा नररूपक प्रधान अलंकार माना जाने लगा है और फलस्वरूप इसके प्रयोग अधिकाधिक होने लगे हैं। प्राचीन काल के प्रयोगों से आजकल के प्रयोगों में नवीनता भी अधिक झलकने लगी है। कुछ उदाहरण हैं—

> श्रुतिपुट लेकर पूर्व स्मृतियाँ खड़ी यहाँ पट खोल।
> देख आप ही अरुण हुए हैं उनके पाण्डु कपोल। गुप्तजी

श्रुतिपुट लेकर (उत्कर्ण होकर) पट खोल (उत्सुक) पाण्डु (विरहकृश)। यहाँ पूर्वस्मृति यों को नारी रूप देने से वर्णन में तीव्रता आ गयी है।

जिसके आगे पुलकित हो जीवन सिसकी भरता।
हाँ, मृत्यु नृत्य करती है मुसुकाती खड़ी अमरता ॥ प्रसाद

जीवन का सिसकी भरना, मृत्यु का नाचना, अमरता का मुसकाना विलक्षण मानवीकरण है।

प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें
अरुण पंख तरुण किरण खड़ी खोल रही द्वार।
जागो फिर एक बार। निराला

तारों का जगाते हुए हारना और खड़ी तरुण किरणों का द्वार खोलना नर रूप के सुन्दर उदाहरण हैं।

हँस देता जब प्रात सुनहले अन्चल में बिखरा रोली,
लहरों की बिछलन पर जब मचली पड़तीं किरणें भोली,
तब कलियाँ चुपचाप उठाकर पल्लव के घूँघट सुकुमार,
छलकी पलकों से कहती हैं कितना मादक है संसार! म० द० वर्मा

प्रात:काल का हँसना, रोली छींटना, लहरों का मचलना, कलियों का कहना आदि मानवीकरण है।

पर नहीं, तुम चपल हो अज्ञान हो, हृदय है मस्तिष्क रखते हो नहीं।
बस विना सोचे हृदय को छीनकर सौंप देते हो अपरिचित हाथ में। पंत

मानवी कार्य कराते हुए प्रेम का यह मानवीकरण अमूल्य है।

तुम चलो सुरसरि चले जिस ओर हो नरसिन्धु,
वह करे कलकल विकल स्वर, तुम पुकारो बन्धु।
वह करे स्वागत तुम्हारा तुम सुनाओ गान
—गान जिसका भाव मानव जाति का कल्याण। जा० व० शास्त्री

कविता का नर को बन्धु कहकर पुकारना और मानव-कल्याण-कारी गान गाना मानवीकरण है।

२ ध्वन्यर्थव्यंजना (Onomatopoeia)

ध्वन्यर्थव्यञ्जना अलंकार का अभिप्राय काव्यगत शब्दों की उस ध्वनि से है जो शब्द-सामर्थ्य से ही प्रसंग और अर्थ का उद्‌बोधन कराकर एक चित्र खड़ा कर देती है। यही नहीं, काव्य के आन्तरिक गुणों से अपरिचित रहने पर भी भाषा का बाह्य सौन्दर्य श्रोता और पाठक के हृदय में एक आकर्षण पैदा कर देता है। इसमें भाव और भाषा का सामञ्जस्य तथा स्वरैक्य की आवश्यकता है। यद्यपि

इसमें अनुप्रास और यमक का ही आभास है पर उससे यह एक विचित्र वस्तु है और इनके रहते हुए भी उनकी ओर ध्यान न जाकर ध्वन्यर्थ व्यञ्जना की ओर ही खिच जाता है। इसमें भावबोधकता होने से ध्वनि की ही प्रधानता मान्य हो जाती है।

प्राचीन हिन्दी काव्यों में भी इसकी बड़ी भरमार है। किन्तु आजकल जैसी इसको प्रधानता दी जाती है वैसी पहले नहीं दी जाती थी। प्राचीन और नवीन दोनों के उदाहरण दिये जाते हैं—

"कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि।"
"घन घमंड नभ गरजत घोरा।"

इनकी पृथक्-पृथक् ध्वनि से एक एक चित्र खड़ा हो जाता है और ज्ञात होता है जैसे कानों में नूपुर के मधुर रस टपकते हों तथा मानस में गरजन से तड़पन पैदा हो जाती हो।

डिगगि ऊर्बि अति गुर्बि सर्ब पब्बे समुद्र सर,
ब्याल बधिर तेहि काल विकल दिगपाल चराचर।
दिग्गयन्द लरखरत परत दसकंठ मुक्ख भर,
ब्रह्मंड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम शिवधनु दल्यो।

इस प्रसंग की तुलसीदास की इन पंक्तियों की भाषा-ध्वनि ऐसी है कि उससे दिग्दिगन्त ही तक विकल नहीं होता बल्कि पढ़ने-सुनने-वाले के मन में भी आतङ्क पैदा हो जाता है।

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बुंद मध्य मुक्ता मनि पोहति।
लोल लहर लहि पौन एक पै इक इमि आवत,
जिमि नरगनमन विविध मनोरथ करत मिटावत॥ भारतेन्दु

इसके पढ़ने से मन में मनोरथ करने और मिटाने की ही आकांक्षा प्रत्यक्ष नहीं होती, बल्कि लोल लहरियों पर हम लहराने भी लगते हैं।

दल बादल भिड़ गये धरा धस चली धमक से।
भड़क उठा क्षय कड़क तड़क से चमक दमक से॥ गुप्तजी

इन पक्तियों से शब्दों के तड़क-भड़क और चमक-दमक भी दमकने लगती है।

निराला की कुछ पंक्तियाँ पढ़िये—

१ झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर राग अमर अंबर में भर निज रोर।
झर झर झर निर्झर, गिरि, सर में, घर, मरु, तरु, मर्मर सागर में

× × ×

२ अरे वर्ष के हर्ष बरस तू बरस बरस रस धार
पार ले चल तू मुझको बहा, दिखा मुझको भी निज गर्जन भैरव संसार
उथल पुथल कर हृदय मचा हलचल चल रे चल मेरे पागल बादल।

कविता के ये शब्दबंध और नाद-सौन्दर्य अपने आप अपने भावों को अभिव्यक्त कर रहे हैं।

पपीहों की वह पीन पुकार निर्झरों की भारी झर झर,
झींगुरों की झीनी झनकार घनों की गुरु गंभीर घहर।
बिंदुओं की छनती छनकार दादुरों के वे दुहरे स्वर,
हृदय हरते थे विविध प्रकार शैल पावस के प्रश्नोत्तर। पंत

शब्दों का ऐसा सुन्दर संचय, सुगुम्फन और सुसंगीत पंत जी के ही सहज-साध्य हैं। क्योंकि वे शब्दों के अन्तरङ्ग में पैठकर उनके कलरव सुनते हैं और उनसे भावों को सँवारने-सिंगारने में सिद्धहस्त हैं। कवियों को चाहिये कि इस प्रकार की वर्णविन्यासकला को कण्ठाभरण बनावें।

३ विशेषणविपर्यय वा विशेषण व्यत्यय

"किसी कथन को विशेष अर्थगर्भित तथा गंभीर करने के विचार से विशेषण का विपर्यय कर दिया जाता है। अभिधावृत्ति से विशेषण की जहाँ जगह है वहाँ से हटाकर लक्षणा के सहारे उसे दूसरी जगह बैठा देने से काव्य का सौष्ठव कभी-कभी बहुत बढ़ जाता है। भावाधिक्य की व्यञ्जना के लिये विशेषण-विपर्यय अलंकार का व्यवहार बहुत सुन्दर है।" सुधांशु

"ह्वै है सोऊ उघरी भाग घरी अंनदघन
सुरस बरसि लाल देखि हौं हरी हमें।"

प्राचीन कविता की इस पंक्ति के 'सोऊ घरी भाग-उघरी' का विशेषणविपर्यय से 'खुले भाग्य वाली घड़ी में' यह अर्थ होता है।

अजातशत्रु नाटक की 'पद्मावती' 'उदयन' के तिरस्कार से जब वीणा बजाने में असमर्थ हो जाती है तब यह गीत गाती है—

निर्दय उँगली अरी ठहर जा, पल भर अनुकम्पा से भर जा,
यह मूर्च्छित मूर्च्छना आह सी निकलेगी निस्सार। प्रसाद

इसमें मूर्च्छना का विशेषण मूर्च्छित है। पद्मावती तिरस्कार के कारण अपने आप में नहीं है। वह विकलव्यथित ही नहीं मर्माहत भी है। इस दशा में मूर्च्छना का अस्वाभाविक अवस्था में निकलना ही संभव है। वह आह-सी लगेगी ही। इस प्रकार यथार्थ में मूर्च्छना मूर्च्छित नहीं। मूर्च्छित रूप में स्वयं पद्मावती ही है। इसमें विशेषण-विपर्यय से हार्दिक दुख-दैन्य का—मर्म-पीड़ा का—प्रकटीकरण जिस अलौकिक कोमलता, अकथनीय करुणा तथा अतुलनीय तीव्रता के साथ हुआ है वह अवर्णनीय है।

आधुनिक कवियों ने विशेषण-विपर्यय में 'मूर्च्छित' विशेषण का विशेष प्रयोग किया है। जैसे,

जब विमूर्च्छित नींद से मैं था जगा, कौन जाने किस तरह पीयूष सा
एक कोमल समव्यथित निःश्वास था पुनर्जीवन सा मुझे तब दे रहा। पंत

यहाँ मूर्च्छित नींद नहीं, जागनेवाला व्यक्ति मूर्च्छित है। इसके तृतीय चरण में मूर्त नायिका के लिये 'समव्यथित निःश्वास' से अमूर्त का मूर्त-विधान भी किया गया है।

है विषाद का राज तड़पता बंदी बनकर सुख मेरा।
कैसे मूर्च्छित उत्कण्ठा की दारुण प्यास बुझाऊँगा॥ द्विज

इसमें भी उत्कण्ठा मूर्च्छित नहीं। किन्तु विषाद के राज में दुखी व्यक्ति ही मूर्च्छित है। क्योंकि दुखिया अपनी इच्छा-पूर्ति न होने से मूर्च्छित—विकल तो होगा ही।

कल्पने आवो सजनि उस प्रेम की
सजल सुधि में मग्न हो जावें पुनः। पंत

यहाँ सुधि का सजल विशेषण उस व्यक्ति को संमुख ला देती है जो अपनी सुधबुध खोकर आँसू बहा रहा है। बिछुड़े प्रिय पात्र की प्रिय स्मृति में आँखों का सजल होना स्वाभाविक है। सजल को नेत्रों से हटाकर 'सुधि' के साथ लगा देने से भाषा की अर्थव्यञ्जकता बहुत बढ़ गयी है।

तैरती स्वप्नों में दिन रात मोहिनी छवि सी तुम अम्लान।
कि जिसके पीछे पीछे नारि रहे फिर मेरे भिक्षुक गान। दिनकर

यहाँ गान भिक्षुक नहीं, कवि ही भिक्षुक है। सौन्दर्य-पिपासा—कवि के गाने की लालसा—उसे भिक्षुक बनाये हुई है। यहाँ विशेषण-विपर्यय से कविता की मार्मिकता बढ़ गयी है।

यह दुर्बल दीनता रहे उलझी चाहे ठुकरावो। प्रसाद

यहाँ दुर्बल की दीनता से अभिप्राय है।

अकेली आकुलता सी प्राण कहीं तब करती मृदु आघात। पंत

निर्जीव होने से आकुलता अकेली या निःसंग नहीं हो सकती अतः अकेलेपन की आकुलता के लिये विशेषण-व्यत्यय से 'अकेली' शब्द लाया गया है।

नृत्य करेगी गान विकलता परदे के उस पार। प्रसाद

यहाँ के विशेषण-विपर्यय से यह अभिप्राय प्रगट होता है कि मैं इतनी विकल हो जाऊँगी कि सभी मेरी विकलता को लक्ष्य करेंगे। विकलता के साथ का 'नग्न' विशेषण विकल व्यक्ति की विकलता का आधिक्य द्योतन करता है।

कभी किसी वत्सल अञ्चल ने लिया तुम्हें यदि पाल। मिलिन्द

अञ्चल वत्सल नहीं हो सकता। माता ही वात्सल्य रसवाली हो सकती है। यहाँ का विशेषण-विपर्यय वत्सला मा के वात्सल्य की तीव्रता प्रगट करता है। वात्सल्य ही है जो अनाथ बालक पर अञ्चल की छाया करने के लिये मा को प्रेरित करता है और दोनों को प्रेमसूत्र में बाँध देता है।

॥ इति शिवम् ॥



अनुक्रमणिका

१ ग्रन्थकार

ग

घ

च

छ

ज

ट

ड

त

---

२. ग्रन्थ

३ सहायक ग्रन्थों की सूची

(क) संस्कृत

१ अप्पयदीक्षित—कुवलयानन्द, वृत्तिवार्तिक
२ अभिनवगुप्त—लोचन, अभिनवभारती
३ आनन्दवर्द्धन—ध्वन्यालोक
४ आप्टे (वा० शि०)—संस्कृत और अंग्रेजी कोष
५ उद्भट—काव्यालंकारसंग्रह
६ कर्णपूर गोस्वामी—अलंकारकौस्तुभ
७ कृष्ण कवि—मन्दारमरन्दचंपू
८ कुन्तक—वक्रोक्तिजीवित
९ क्षेमेन्द्र—औचित्यविचारचर्चा
१० जगन्नाथ—रसगंगाधर
११ जयदेव—चन्द्रालोक
१२ धनञ्जय - दशरूपक
१३ नागेश—मञ्जूषा, का० प्र० टीका
१४ भरत—नाट्यशास्त्र
१५ भानुदत्त—रसतरंगिणी
१६ भामह—काव्यालंकार
१७ भोज—सरस्वतीकंठाभरण, शृङ्गारप्रकाश
१८ मंखक—श्रीकण्ठचरित
१९ मधुसूदन गोस्वामी—भगवद्भक्तिरसायन
२० महिम भट्ट०—व्यक्तिविवेक
२१ महर्षि यास्क—निरुक्त
२२ मम्मट भट्ट—काव्यप्रकाश, शब्दव्यापारविचार
२३ राजशेखर—काव्यमीमांसा
२४ रुद्रट—काव्यालंकार
२५ रुय्यक और मंखक—अलंकारसर्वस्व
२६ वामन —काव्यालंकारसूत्र
२७ विश्वनाथ—साहित्यदर्पण
२८ विधाधर—एकावली
२९ वेद-व्यास—अग्निपुराण
३० हेमचन्द्र—काव्यानुशासन

(ख) हिन्दी

१ अलंकार मंजूषा—लाला भगवान दीन
२ अलंकारपीयूष—रमाशंकर शुक्ल
३ आधुनिक साहित्य का इतिहास—कृष्णशंकर शुक्ल
४ ,, ,, ,,—डा० कृष्णलाल
५ आधुनिक हिन्दी नाटक—डा० नगेन्द्र
६ इंदौर का भाषण—रामचन्द्र शुक्ल
७ काव्यकल्पद्रुम—(दो भाग) सेठ कन्हैयालाल पोद्दार
८ काव्य कला और अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद
९ काव्यनिर्णय—भिखारीदास
१० काव्यप्रभाकर—भानु कवि
११ काव्यप्रदीप—रामबहोरी शुक्ल
१२ काव्य में रहस्यवाद—रामचन्द्र शुक्ल
१३ काव्य में अभिव्यञ्जनावाद—सुधांशु
१४ काव्यसर्वस्व—परमानन्द शास्त्री
१५ काव्यालोक—रामदहिन मिश्र
१६ गोस्वामी तुलसीदास—रामचन्द्र शुक्ल
१७ चिन्तामणि—रामचन्द्र शुक्ल
१८ जायसीग्रन्थावली भूमिका—रामचन्द्र शुक्ल
१९ जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त—सुधांशु
२० नवरस—गुलाब राय
२१ पल्लव की भूमिका
२२ प्रसादजी की कला—गुलाब राय
२३ प्राचीन और नवीन काव्यधारा—सूर्यबली सिंह
२४ प्रा० भा० का कलाविलास—हजारी प्रसाद द्विवेदी
२५ पुरुषार्थ—डा० भगवान दास
२६ महादेवी की रहस्य-साधना—मानव
२७ रसरत्नाकर—हरिशंकर शर्मा
२८ रसकुसुमाकर—राजा प्रतापनारायण सिंह
२९ वाङ्मयविमर्श—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
३० विहारी की सतसई—पद्मसिंह शर्म्मा

३१ साकेत-एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र
३२ साहित्यदर्पण—सटीक, शालिग्राम शास्त्री, काशी
३३ साहित्यदर्शन—जानकीवल्लभ शास्त्री
३४ साहित्यसिद्धान्त—सीताराम शास्त्री
३५ साहित्यमीमांसा—सूर्यकान्त शास्त्री
३६ साहित्यालोचन—श्यामसुन्दर दास
३७ सिद्धान्त और अध्ययन—गुलाब राय
३८ हिन्दी-साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल
३९ हिन्दी रसगंगाधर—पु० श० चतुर्वेदी
इनके अतिरिक्त अन्यान्य आधुनिक छोटे मोटे समालोचनात्मक ग्रन्थ।

हिन्दी मासिक

१ नागरीप्रचारिणीपत्रिका २. माधुरी ३ विशाल भारत ४ विश्वभारती ५ सरस्वती ६ साहित्यसन्देश ७ हंस। इनके अतिरिक्त अन्यान्य अनेकों मासिक और साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओं के एतद्विषयक लेख।

(ग) बँगला

१ आधुनिक बँगला साहित्य—मोहितलाल मजुमदार
२ इंग्रेजी साहित्येर इतिहास—डा० श्रीकुमार वन्द्योपाध्याय
३ कवितार प्रकृति—नवेन्दु बसु
४ काव्यविचार—डा० सुरेन्द्रनाथ दाश गुप्त
५ काव्यजिज्ञासा—अतुलचन्द्र गुप्त
६ काव्यालोक—सुधीरकुमार दाश गुप्त
७ नाट्यसाहित्येर भूमिका—विभास राय चौधरी
८ प्राचीन साहित्य—रवीन्द्रनाथ
९ साहित्य ”
१० साहित्येर स्वरूप— ”
११ साहित्यदर्शन—श्रीशचन्द्र दाश
१२ मासिकपत्र—(क) प्रवासी (ख) भारतवर्ष (ग) वसुमती (घ) वङ्गश्री (ङ) शनिवारेर चीठी तथा अन्यान्य कुछ पत्र।

(घ) मराठी

१ अभिनव काव्यप्रकाश—रा० भी० जोग

२ काव्यालोचन—दत्तात्रेय केशव केलकर

३ माराठीचें साहित्य-शास्त्र—माधव गोपाल देशमुख

४ रसविमर्श—डा० के० ना० वाटवे

५ सौन्दर्यशोध व आनन्दबोध—रा० श्री० जोग

(ङ) अंग्रेजी

1. Abercrombie(L)—The Idea of Great Poetry. The Theory of Poetry.
2. Aristotle—the Poetics.
3. Bradley (A. C.) Oxford Lectures on Poetry. 'Poetry for Poetry's sake.
4. Butcher (S. H.) Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art.
5. Croce (B.) Aesthetic.
6. Eliot (T.S.) The use of Poetry. Selected Essays.
7. Greening Lamborn (E. A.)—The Rudiments of Criticism.
8. Hudson—(W. H.) An Introduction to the Study of Literature.
9. Ogden (c.k.)—The A B C of Psychology.
10. Pater Walter—Appreciations, Style.
11. Richards (I. A.)— Practical Criticism, Principles of Literary criticism.
12. Scott-James (R. A.).— The Making of Literature.
13. Shelley (P. B) —A Defence of Poetry.
14. Winchester (C. T.) —Some Principles of Literary Criticism.
15. Wordsworth(W)—Poetry and Poetic Diction.

अन्यान्य अनेकों पुस्तकें जिनका उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है।

शुद्धि-पत्र

प्रकाशन की शीघ्रता, असावधानता तथा मुद्रणदोष से अनेक अशुद्धियाँ हो गयी हैं। इनमें दो-चार को छोड़कर ऐसी अशुद्धियाँ नहीं हैं जो साधारण पाठकों को भी पढ़ने के समय मालूम न हो जायँ। शुद्धि-पत्र को शायद ही कोई देखता हो। फिर भी उनका निर्देश आवश्यक और कर्तव्य है।

'रेफ' और 'अनुस्वार' 'ब' और 'व' की अशुद्धियाँ प्राय. छोड़ दी गयी हैं। प, घ और म भ की अशुद्धियाँ आवश्यक स्थानों पर ठीक कर दी गयी हैं। अधिकांश अशुद्धियाँ ऊपरी भाग के टूटने के कारण हुई हैं।

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
देशिक	दैशिक	२	८
मंखक	मंखक	३	७
व	न	३	टि ३
स्याम	स्याम्	६	१६
को	को यह	८	६
होव	होय	८	११
कव्वालियो	कव्वालों	८	१२
अपने	आप	८	२३
का ना ता	के ने ते	१०	११
णवा	णाव	१३	टि १
शलिनी	शालिनी	१५	१६
खलु	काव्य	१६	टि २
काव्यं	काव्ये	१६	टि ४
हा सखा हा	हो सखा हो	२१	३
ये	वे	३६	१४
आहा	आह्वा	४०	६
करने	होने	४८	७
का ही	ही	४३	१३
को	यों को भी	५५	८ ६
इसमें	......	७५	४
अंग	रंग	७६	२३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ
१७	१७ चकित	८०
तिरछे	तिरीछे	८२
महादेवी	आरसी	८६
और	औ	६०
जाग्रद्	जाग्रद	६६
दर्शक	दर्शन	१०२
System	Systum	है११०
होती हैं	होते हैं	१०६
को तो	तो	११५
होंगी	होंगे	१२०
वात्सल्य रस	वात्सल्य	१२५
आवना	भावना	१२८
कथ्यान्ते	कथ्यन्ते	१३६
आयी है	आये है	[illegible]
सार:	प्राय:	[illegible]
होता है	रूप में [illegible] होते हैं	[illegible]
कला	कलाओं	१५८
हमें	हम	[illegible]
किया	न किया	[illegible]
साधारण	साधारण	[illegible]

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
शेष	शेषस्वीकार	१६६	टि २
इनना	इतना	१७०	५
की एक	की	१७५	२५
संस्लेय	संश्लेष	१७६	२०
वीभो	वीभ	१७६	२६
से उसे	से	१६१	१२
नींव	नीयं	१६५	टि १
ज्ञान	ज्ञान के	१६७	६
एन्द्रिय	ऐन्द्रिय	१६८	५
वह	उसे	२००	२८
मचलना	मिचलना	२०३	६
सकते	ले सकते	२०६	२
मासौ	भासौ	२०८	टि १
स्वयम्	रसम्	२१६	टि ४
अनल,दिव्य ज्वाल,भव्य		२२१	२३,२४
सह	सह	२२८	३
में व्याप्त	व्याप्त	२२६	१८
भ, न्त्यः	म,न्तः	२२८	टि २
में जो	में	२३२	३
पर	पर	२३२	२६
प्रणाय	प्रणय	२३६	१४
प्रारम्भ	आरम्भ	२३८	टि ८
तैक्ष्ण	तैक्ष्ण्य	२३६	टि ३
रस	रस का	२४२	६
कोरि	कोटि	२४३	टि ३
Chivelory	Chivalry	२४४	२८
लेता है	लेते हैं	२४४	३१
सामग्री	सामग्रियो	२४७	६
मन्थन	मत्थन	२४८	४
राम	परशुराम	२५०	१६
और उस	उस	२५०	२६
को	वार्घो को	२५२	१२
जाती है	जाता है	२५६	८
परमित	परिमित	२६०	१७
......	प्रधान हैं	२६७	१३
वम्भ	दम्भ	२६८	२५
रतिक	रसिक	२७०	१७
भुज्जीय	भुञ्जीय	२७३	टि २
यथार्थता का	यथार्थता	२७७	५
द्विपयक	द्विषयक	२८२	१०
रसगंगाधर	काव्यप्रकाश	२८२	टि ३
औसुक्य	औत्सुक्य	२८५	२२
तुतुराना	तुतुरात	२८६	६
अस	जस	२६४	१६
उद्दुद्द	उद्बुद्ध	२६७	३०
लुनत	सुनत	२६८	२७
भवा	भाव	२६६	२३
अमि	अभि	२६६	१८
दूसरा तीसरा	दूसरे तीसरे	२६६	२४
छिन	छिन्न	३०४	१२
नयग	नयन	३१३	१४
रहती	रहता	३३२	१५
उत्यो है	उठ्यो	३३८	२
मूर्त	मूर्ति	३३८	१३
निश्चत	निश्चित	३३६	३
भी	भी वे	३३६	२४
इस	इस सोते	३३६	२७
हिलाकर	हिला	३४०	३
रखती हैं	रखते हैं	३४४	२०
जो	जिससे	३४७	२६
सयौक्तिक	सयुक्तिक	३४८	३१
नलिनी	जयनाथ	३४६	१६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
जयन्त	'नलिन	३४६	१७
पूरी	पूरा	३५७	१२
देता	देती	३५७	१९
हुआ	हुई	३६०	१०
विभाग	विभिन्न	३६५	८
छन्दोबिद्ध	छन्दोबद्ध	३६६	१०
समिन्विति	समन्विति	३६६	२८
तीसरे	दूसरे	३६६	२४
कल्माणी	कल्याणी	३६६	टि २
स्तजा	सजा	३७६	२१
पुनरक्त	पुनरुक्त	३९२	१५
जाहूँ	जाऊँ	३९३	२४
अचल	अंचल	४१४	४
इतने	इतनेई	४१५	१७
मनीषिणम्	मनीषिणः	४२०	टि ५
शैली	शाली	४२२	३०
कार	कार ने	४२३	३२
होते हैं	होती हैं	४३०	२१
मृदु	मृदुल	४३२	१०
सवत्व	सत्त्व	४४३	टि ३
म्या	म्या	४४४	टि १
यह	यहाँ	४५०	२५
तरल	तार	४५६	१३
कर	कर जो	४५७	२
यह	वह	४५८	४
जैसी	बाँकी	४५८	८
अंब	अंभ	४६१	२५
सुदंभ	सदंभ	४६१	२६
त्यों	ज्यों	४६१	२८
तिमिरंश	तम अंश	४६१	३१
रंजयनि	रंजयति	४६२	टि २
मेप	मेय	४७१	२९
की	कि	४७२	२६
को	को है	४८२	२०
को	...	४८३	२१
उपमयो	उपमेयो	४८६	१६
श्रीपुत	श्रीयुत	४८७	२७
काव्य	घन	४८९	४
से, सी,	सी, में	४८९	५
उपेमेय	उपमेय	४९०	१०
क्ा	क्या	४९०	१९
गारुनिक	गारुड़िक	४९८	२८
अए	अने	४९९	१८
सारुप्य	सारूप्य	५०२	३,१९
अक्कर	अक्रूर	५०७	३
कहती	कहते	५०८	२५
ची०	चौ०	५०८	२५
यु, प्रणत	उ, प्रणति	५१४	१२,१३
वर्णन	वर्णन में	५१७	२४
आठ	आठों	५१९	७
श्लिष्ठ	श्लिष्ट	५२६	१
अथथा	अथवा	५३१	१
है	हूँ	५३८	८
कहता	कहा	५३८	२२
वह	उसका	५४१	२०
मुरुय	मुख्य	५४२	१३
यहाँ वह	वहाँ यह	५४२	२६
वर्णन किया	कहा	५४४	२७
छाती	जाती	५४५	१०
Abond	Aband	५४५	१६
प्रकष्ट	प्रकृष्ट	५४७	१४
उघरी, घरी	घरी, उघरी	५५३	२५

इन पृष्ठों (१ली सख्या) और पंक्तियों (२री संख्या) में 'का के' अशुद्धियाँ
हैं—१,२।४६,२६।२० ६,७ । २१६,६।२६०,३।२५८,३।४०४,३१।४३७,११। 'का की'
की अशु २२६,२३।२३२,३।४२३,१२।४७०,११। 'की को' की अशु-१३-११,१४।८६—
८.१७।२५४,१६। 'के की' की अशु० ६४,२६।२१७ १२।३५१,२०। 'की का' की
४५,५।१०१,१।५४६,१८। 'को का' १५०,२४।३४४,७। 'को के' १४६,२४।५३८,८।
'की के' ५८,२२।२६५,१०। 'के का' १३६,८।१६०,३२। 'को की' २०८,१८।२६८,
४। 'का को' २,२४। 'के को' ६,५।

'आ' के होने न होने की अशुद्धियाँ। १०,१८।११,२०।११,२७।२१,३।३३.४।
४०,११।१६४,२१। १६५,२५।१६७,२२।१८०-१८,२०।१८३,१७।२००,१४।२०२,२२।
२१२ ६।२२३,२१।२३२,६।२६०,५।२६४,८।३२७,१५।३३८,३०।३७१ टि ६।३६४
२६।४१८,२५।४६८,३२।४७१,६।५०१,२०।५०७,१५।५२७,२५।५३१,२२।५३८,२८।

'उस' 'उन' की अशुद्धियाँ। ४२,२१।१२४.२५।११६,२३।१४४,३२।१५३,६।
१४६,१६।१७०,५।२०२,१५।१६५,२३।२२०,३२।२२८,१६।२२६,१३।३२३,२६।

ट ठ की अशुद्धियाँ। २,६।१२,३।४६,१०।१६८,४ टि। १७७,६।२४३,७।३१४,
१७।३४१,२६।३७४,१८। र ड की भूले ३७,१५ और ६०,१० में हैं।

संभव है, दृष्टिदोष से कुछ अन्य अशुद्धियाँ छूट गयी हों। पाठक सुधार-
समझ कर पढ़ने की कृपा करे।

भूमिका की कुछ मुख्य अशुद्धियाँ

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
स्थायी	क्षणस्थायी	६	२०	संपृक्तो	संपृक्तौ	५६	टि ७
काव्यांक	काव्याङ्ग	१४	१	वह्नि	वह्निः	८५	टि १०
दलित	दलति	२१	टि ६	मूल	भूत	८७	२१
उद्द	उद्बुद्ध	३१	१८	कृतीः	कृती	८८	टि ३
तच्छब्दो	स शब्दो	३४	टि १				

